# निरुक्त में आए आचार्यादि के नाम ।


| नाम | निरुक्त |
| --- | --- |
| आग्रायण | १०।८ |
| आचार्य | ७।२२ |
| एके=कई | ३।३;३।४;३।६;५।३;७।१३;८।२१ |
| ऐतिहासिक | २।१६;१२।१;१२।१० |
| औदुम्बरायण | १।१ |
| औपमन्यव | १।१;२।२;२।६;२।११;३।८;३।११;३।१८;३।१९;६।३०;१०।८ |
| और्णवाभ | २।२६;७।१५;१२।१;१२।१९ |
| काठक | १०।५ |
| कात्थक्य | ८।५;८।७; ८।१०;८।१८;९।४१ |
| कौत्स | १।१५ |
| क्रौष्टुकि | ८।२ |
| गार्ग्य | १।३;१।१२;३।१३ |
| गालव | ४।३ |
| चर्म शिरा | ३।१५ |
| तैटीकि | ४।३ |
| नैदान | ६।९;७।१२ |
| नैरुक्त | १।१२;२।१४;२।१६;३।८; ३।१४;३।१९;४।२४;५।११;६।१;६।३;६।११;७।४;७।५;८।१६;९।४;११।१९; ११।२९; ११।३१;१२।१०;१२।४१;१३।९ |
| पूर्व याज्ञिक | ७।२३ |
| ब्राह्मण | १।१६;३।२०;६।३१; ७।१२;७।१३;७।१८;७।२३; ७।२४;७।२८, ८।४; ८।२२;१२।८;१२।१४;१२।४१;१३।१० |
| याज्ञिक | ५।११;७।४;११।२९;११।३१;११।४२;११।४३;१३।९ |
| वार्ष्यायणि | १।२ |
| वैयाकरण | ९।५; १३।९ |
| शतवलाक्ष मौद्गल्य | ११।६ |
| शाकटायन | १।३;१।१२ |
| शाकपूणि | २।८;३।११;३।१३;३।१९;४।३;४।१५;५।१३;५।२८;७।२३;७।२८; ८।२;८।४;८।५;८।७; ८।१०; ८।१४;८।१७; ८।१८; १२।१९;१२।४०; १३।१० |
| शाकल्य | ६।२८ |
| स्थौलाष्ठीवि | १०।२ |
| हारिद्रविक | १०।५ |

जिस २ वेद का जो २ मन्त्र वा मन्त्र खण्ड निरुक्त में जहां२ आया है, इसकी सूची—

# ऋग्वेद ( मण्डल, सूक्त, मन्त्र )

| मण्डल १ | निरुक्त | मण्डल १ | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| १।१ | ७।१५ | २७।१० | १०।८ |
| १।२ | ७।१६ | २८।७ | ९।३६ |
| १।९ | ३।२१ | ३०।४ | १।१० |
| २।१ | १०।२ | ३१।१६ | ६।२० |
| ३।७ | १२।४० | ३२।५ | ६।१७ |
| ३।८ | ५।४ | ३२।६ | ६।४ |
| ३।१० | ११।२६ | ३२।१० | २।१० |
| ३।१२ | ११।२७ | ३२।११ | २।१७ |
| ६।७ | ४।१२ | ३३।३ | ६।२२ |
| ७।६ | ६।१६ | ३३।१२ | ६।१९ |
| ७।७ | ६।१८ | ३३।१३ | ६।१६ |
| ९।२ | १।१० | ३८।१० | ६।२३ |
| १०।१ | ४।५ | ४५।३ | ३।१७ |
| १५।७ | ८।२ | ४६।४ | ५।२४ |
| १८।१ | ६।१० | ५०।५–७ | ११।२२-२५ |
| १८।२ | ३।२१ | ५१।१४ | ६।३१ |
| २२।१ | १२।४ | ५४।२ | ६।१८ |
| २२।१५ | ९।३२ | ५४।५ | ५।१६ |
| २२।१७ | १२।१९ | ५६।३ | ६।१४ |
| २४।१० | ३।२० | ५९।६ | ७।२३ |
| २४।११ | २।१ | ६१।१ | ५।११ |
| २४।१५ | २।१३ | ६१।१२ | ६।२० |
| २७।१ | १।२० | ६२।६ | १।१५ |

# मन्त्र सूची

| मण्डल १ | निरुक्त |
|---|---|
| ६६।७-८ | १०।२१ |
| ८०।१६ | १२।३४ |
| ८४।७ | ४।१७ |
| ८४।८ | ५।१७ |
| ८४।१५ | ४।२५ |
| ८४।१६-१९ | १४।२५-२८ |
| ८४।२० | १४।३७ |
| ८७।६ | ४।१६ |
| ८८।१ | ११।१४ |
| ८८।५ | ५।४ |
| ८९।१ | ४।१९ |
| ८९।२ | १२।३९ |
| ९०।१ | ६।२१ |
| ९२।१ | १२।७ |
| ९३।१२ | १२।६ |
| ९४।२ | ४।२५ |
| ९४।७ | ३।११ |
| ९४।१५ | ११।२४ |
| ९६।१ | ८।२ |
| ९६।७ | ४।१७ |
| ९८।१ | ७।२२ |
| ९९।१ | १४।३४ |
| १०१।१ | ४।२४ |
| १०१।४ | ५।१५ |
| १०१।१० | ६।१७ |
| १०४।१ | १।१७ |
| १०४।५ | ५।१६ |
| १०५।८ | ४।१६ |
| १०५।१७ | ६।२७ |
| १०५।१८ | ५४।२१ |
| १०५।१९ | ५।११ |
| १०८।१० | १२।३१ |
| १०९।२ | ६।९ |
| ११०।४ | ११।१६ |
| ११३।१-२ | २।१९-२० |
| ११५।१ | १२।१६ |
| ११५।४ | ४।११ |
| ११६।८ | ६।३६ |
| ११६।१६ | ५।२१ |
| ११७।८ | ६।६ |
| ११७।१६ | ५।२१ |
| ११७।२१ | ६।२६ |
| ११८।११ | ६।७ |
| १२२।४ | ६।२१ |
| १२४।४ | ४।१६ |
| १२४।७ | ३।५ |
| १२५।२ | ५।१९ |
| १२६।१ | ९।१० |
| १२६।६ | ५।१२ |
| १२६।७ | ३।२० |
| १२७।१ | ६।८ |
| १२९।६ | १०।४२ |
| १२९।८ | ६।४ |
| १३८।४ | ४।२५ |
| १४२।१० | ६।२१ |
| १४३।४ | ४।२३ |
| १४७।२ | ३।२० |
| १५०।१ | ५।७ |

| मण्डल १ | निरुक्त | मण्डल ६ | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| १५१।७ | ६।८ | १६४।४० | ११।४४ |
| १५३।४ | ४।१९ | १६४।४१ | ११।४० |
| १५४।६ | २।१७ | १६४।४२ | ११।४१ |
| १५५।२ | ११।८ | १६४।४४ | १२।२७ |
| १६१।११ | ११।१६ | १६४।४५ | १३।८ |
| १६२।१ | ९।३ | १६४।४६ | ७।१८. |
| १६२।७ | ६।२२ | | |
| १६३।२ | ४।१३ | १६४।४७ | ७.२४ |
| १६३।७ | ६।८ | १६४।४८ | ४।२७ |
| १६३।१० | ४।१३ | १६४।५० | १२।४१ |
| १६४।१ | ४।२६ | १६४।५१ | ७।२३ |
| १६४।२ | ४।२७ | १६५।१३ | ४।४ |
| १६४।११ | ४।२७ | १६६।६ | ६।३० |
| १६४।१२ | ४।२७ | १६२।३ | ६।१५ |
| १६४।१३ | ४।२७ | १७०।१ | १।६ |
| १६४।१५ | १४।१८ | १७४।२ | ६।३१ |
| १६४।१६ | १४।२० | १७९.४ | ५।२ |
| १६४।२० | १४।३० | १७९।५ | ६।४ |
| १६४।२१ | ३।१२ | १८१।४ | १२।३ |
| १६४।२६ | ११।४३ | १८५।१ | ३।२२ |
| १६४।२७ | ११।४५ | १८७।१ | ८।२५ |
| १६४।२८ | ११।४२ | १९०।१ | ६।२३ |
| १६४।२९ | २।९ | १९०।५ | ४।२५ |
| १६४।३१ | १४।३ | मण्डल २ | |
| १६४।३२ | २।८ | १।१ | ६।१ |
| १६४।३३ | ४।२१ | ४।५ | ६।१७ |
| १६४।३६ | १४।२१ | ७।६ | ८।२ |
| १६४।३७ | ७।३,१४।२२ | ११।२१ | १।७ |
| १६४।३८ | १४।२३ | १२।१ | १०।१० |
| १६४।३९ | १३।१० | १२।३ | ८।२ |

| मण्डल ३ | निरुक्त |
|---|---|
| १४।१ | ५।१ |
| १४।११ | ३।२० |
| २३।८ | ३।११ |
| २४।३ | ५।१६ |
| २४।४ | १०।१४ |
| २७।१ | १२।३६ |
| २८।४ | १।७ |
| २८।६ | १३।१ |
| ३८।४ | ११।३१ |
| ३२।६ | ११।३२ |
| ३५।१० | ३।१६ |
| ३७।३ | ८।३ |
| ३७।४ | ८.२ |
| ३८।४ | ४।११ |
| ४१।६ | ५।१३ |
| ४१।१२ | ६।१ |
| ४१।२० | ९।३८ |
| ४१।२१ | ९।३७ |
| ४३।१ | ९।४ |

मण्डल ३

| | |
|---|---|
| १।१२ | ६।१७ |
| ३।४ | ५।२ |
| ८।१ | ८।१८ |
| ९।२ | ४।१४ |
| ९।८ | ४।१४ |
| १७।५ | ५।३ |
| २१।४ | ५।११ |
| २६।७ | १४।२ |
| २७।७ | ६।७ |

| मडषल ४ | निरुक्त |
|---|---|
| ३०।५ | ६।१ |
| ३०।८ | ६।१ |
| ३०।१० | ६।२ |
| ३०।१७ | ६।३ |
| ३०।१९ | ६।७ |
| ३१।१ | ३।४ |
| ३१।२ | ३।६ |
| ३३।१ | ९।३९ |
| ३३।५ | २।२५ |
| ३३।६ | २।२६ |
| ३३।१० | २।२७ |
| ३४।१ | ४।१७ |
| ३६।४ | ६।२५ |
| ३६।१० | ६।७ |
| ३८।१ | १२।४० |
| ४१।३ | ४।१९ |
| ४२।१ | ४।८ |
| ४९।२ | ५।१९ |
| ५३।३ | ४।१६ |
| ५३।८ | १०।१८ |
| ५३।१४ | ६।३२ |
| ५३।२३ | ४।१४ |
| ५४।७ | ४।२५ |
| ५५।१९ | १०।३४ |
| ५९।१ | १०।२३ |
| ५९।२ | २।१३ |
| ६२।१ | ५।१ |

मण्डल ४

| | |
|---|---|
| ४।१ | ६।१२ |

| मण्डल ५ | निरुक्त |
|---|---|
| ४।१४ | ५।१५ |
| ४।१५ | ४।२१ |
| ५।७ | ६।१८ |
| ७।३ | ३।२० |
| ७।८ | ६।१७ |
| ८।१ | ६।२१ |
| १६।११ | ५।१५ |
| १८।८ | ३।२० |
| २३।८ | १०।४१ |
| २६।७ | ११।२ |
| ३०।१० | ९।४७ |
| ३०।११ | ९।४८ |
| ३०।२४ | ६।३१ |
| ३२।२३ | ४।१५ |
| ३४।३ | ६।१६ |
| ३८।५ | ४।२४ |
| ३८।१० | १०।३१ |
| ४०।४ | २।२८ |
| ४०।५ | १४।२८ |
| ५१।१ | १।५ |
| ५७।१ | १०।१६ |
| ५७।२ | १०।१७ |
| ५७।५ | ८।४१ |
| ५८।१ | ७।१७ |
| ५८।३ | १३।७ |
| ५८।८ | ७।१७ |

| मण्डल ५ | निरुक्त |
|---|---|
| १।२ | ६।१३ |
| २।९ | ४।१८ |

| मण्डल ५ | निरुक्त |
|---|---|
| ४।१२ | ४।१ |
| १३।४ | ६।७ |
| १८।२ | ४।१८ |
| २४।३ | ५।२३ |
| ३१।२ | ३।२१ |
| ३२।१ | १०।८ |
| ३२।६ | ६।३ |
| ३३।३ | ६।१८ |
| ३७।१ | ५।७ |
| ३८।१ | ४।४ |
| ३८।२ | ४।१८ |
| ४०।४ | ५।११ |
| ४१।१८ | ११।३९ |
| ४४।१ | ३।१६ |
| ४४।८ | ६।१५ |
| ४६।७ | १२।४५ |
| ४६।८ | १२।४६ |
| ४८।१ | ५।१ |
| ५२।६ | ६।१६ |
| ५३।२ | ५।१ |
| ५४।६ | ६।४ |
| ५६।८ | ११।५० |
| ५७।१ | ११।१५ |
| ६२।८ | ३।५ |
| ७५।७ | ३।२० |
| ७७।२ | १५।५ |
| ७८।८ | ३।१५ |
| ८१।२ | १२।१३ |
| ८३।२ | १०।१० |

| मण्डल ६ | निरुक्त |
|---|---|
| ८४।१ | ११।३७ |
| ८५।३ | १०.४ |
| ८५।६ | ६।१३ |
| **मण्डल ६** | |
| १।४ | ४।१८ |
| ४।७ | १।१७ |
| ६।५ | ४।१७ |
| ८।६ | ६।३ |
| ८।४ | ७।२६ |
| ९।१ | २।२१ |
| १२।४ | ६।१५ |
| १९।१ | ६।१६, १७ |
| १९।१० | ६।६ |
| २१।३ | ५।१५ |
| २२।२ | ६।३ |
| २२।३ | ६।३ |
| २४।३ | १।४ |
| ३०।३ | ४।१७ |
| ३७।३ | १०।३ |
| ४४।२१ | ६।१७ |
| ४८।८ | ७।६ |
| ४७।१३ | ६।७ |
| ४७।१६ | ६।२२ |
| ४७।२६ | ८।१२ |
| ४७।२९ | ९।१३ |
| ४९।८ | १२।१८ |
| ५०।५ | ६।६ |
| ५०।१४ | १२।३३ |
| ५१।१ | ५।९ |
| ५१।५ | ३।१६ |
| **मण्डल ७** | **निरुक्त** |
| ५१।६ | ६।४ |
| ५६।३ | २।६ |
| ५८।१ | १२।१७ |
| ५९।२ | १०।२२ |
| ५९।४ | ५।२२ |
| ६१।२ | २।२४ |
| ६४।८ | ६।२९ |
| ६६।९ | ३।२१ |
| ७०।२ | ५।२ |
| ७१।२ | ६।७ |
| ७५।२ | ८।१७ |
| ७५।३ | ८।१८ |
| ७५।४ | ८।४० |
| ७५।५ | ८।१४ |
| ७५।६ | ८।१६ |
| ७५।११ | ९।१९ |
| ७५।१३ | ९।२० |
| ७५।१४ | ८।१५ |
| **मण्डल ७** | |
| १।१ | ५।१० |
| २।२ | ८।७ |
| ४.७ | ३।२ |
| ४।८ | ३।३ |
| ९।६ | ६।१७ |
| १६।१ | ३।२१ |
| १८।१५ | ६।६, ७।२ |
| १८।२१ | ६।३० |
| २१।५ | ४।१९ |
| २५।३ | ५।३ |

| मण्डल ७ | निरुक्त |
|---|---|
| २३।८ | ११।२० |
| ३३।११ | ५।१४ |
| ३४।१० | ६।७ |
| ३४।१६ | १०।४४ |
| ३४।१७ | १०।४५ |
| ३४।२२ | ६।१४ |
| ३८।७ | १२।४४ |
| ३९।२ | ५।२८ |
| ३९।३ | १२।४३ |
| ३९।४ | ६।१३ |
| ४१।२ | १२।१४ |
| ४७।३ | ५।६ |
| ४८।२ | ५।२ |
| ५५।१ | १०।१७ |
| ५८।५ | ४।१५ |
| ६०।७ | ६।२० |
| ६३।५ | ६।७ |
| ६९।४ | ६।४ |
| ७६।१ | ११।१० |
| ८२।१ | ५।२ |
| ९६।५ | १०।२५ |
| १००।५ | ५।९ |
| १००।६ | ५।८ |
| १०३।१ | ९।६ |
| १०४।१५ | ७।३ |
| १०४।२१ | ६।३० |
| मण्डल ८ | |
| १।१ | ७।२ |

| मण्डल ८ | निरुक्त |
|---|---|
| १।२० | ६।२४ |
| २।६ | ५।३ |
| २।१२ | १।४ |
| २।४० | ३।१६ |
| ३।२१ | ५।१५ |
| ४।३ | ३।३० |
| ४।१९ | ६।२२ |
| १३।२७ | ६।२१ |
| १७।१२ | ३।१० |
| १८।३७ | ४।१५ |
| २१।८ | ५।२३ |
| २५।१३ | ५।१ |
| २५।२२ | ५।१५ |
| २६।१६ | ५।१ |
| २७।१० | ६।१४ |
| २९।१ | १२।४० |
| ४५।१ | ६।१४ |
| ४५।२१ | ३।२१ |
| ४५।३१ | ४।२ |
| ४८।७ | ४।७ |
| ४८।१० | ६।४ |
| ५०।११ | ६।२५ |
| ५१।११ | १।४ |
| ५२।७ | ३।८ |
| ५५।८ | ५।२१ |
| ५५।१० | ६।२६ |
| ५६।५ | ६।२७ |
| ५७।१ | ५।३ |

| मण्डल १ | निरुक्त | मण्डल ९ | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| ५७।४ | १२।२१ | ९३।५ | ६।२७ |
| ५८।६ | ६।८ | ९६।५ | १४।१२ |
| ५८।१२ | ५।२७ | ९६।६ | १४।१३ |
| ५९।५ | १३।२ | ९७।३४ | १४।१४ |
| ६४।९ | ५।२३ | ९७।३५ | १४।१५ |
| ६६।४ | ५।११ | ९७।४० | १४।१६ |
| ६६।६ | ६।२४ | ९७।४१ | १६।१७ |
| ६६।१० | ५।४ | ९८।१२ | ५।१५ |
| ६६।११ | ६।३३ | १०७।९ | ५।३ |
| ७८।७ | ६।१४ | ११०।५ | ५।४ |
| ७९।६ | ५।२२ | ११२।३ | ६।६ |
| ८२।२२ | ५।१८ | ११२।४ | ९।२ |
| ८७।१ | ७।२ | **मण्डल १०** | |
| ८८।३ | ६।८ | ३।७ | ४।१८ |
| ८८।४ | ६।२३ | ४।२ | ५।१ |
| ८९।१० | ११।२८ | ४।४ | ६।८ |
| ८९।११ | ११।२९ | ४।६ | ३।१४ |
| ९१।११ | ४।१४ | ५।५ | ५।१ |
| ९१।२२ | ३।२० | ५।६ | ६।२७ |
| **मण्डल ९** | | ९।१ | ९।२७ |
| ३।५ | ६।२९ | १०।६ | ५।२ |
| ४६।४ | २।५ | १०।१० | ४।२० |
| ५८।१ | १३।६ | १०।१३ | ६।२८ |
| ६१।१४ | ११।१० | १०।१४ | ११।३४ |
| ६९।६ | ७।२ | ११।६ | ३।१६ |
| ७३।३ | १२।३२ | १२।२ | ६।४ |
| ७५।५ | ४।१५ | १४।१ | १०।२२ |
| ८६।३४ | ५।६ | १५।१ | ११।१८ |
| ८६।४१ | ५।२ | | |

| मण्डल १० | निरुक्त | मण्डल १० | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| १५।४ | ४।२१ | ५१।८ | ८।२२ |
| १५।९ | ६।१४ | ५१।९ | ८।२२ |
| १६।११ | १।४ | ५२।३ | ६।३५ |
| १७।१ | १२।११ | ५३।४ | ३।८ |
| १७।२ | १२।१० | ५५।५ | १४।१८ |
| १७।३ | ७।९ | ५९।५ | १०।४० |
| १८।१ | ११।७ | ६२।५ | ११।२७ |
| २२।२ | ६।२३ | ६३।१६ | ११।४६ |
| २६।४ | ६।२८ | ६४।५ | ११।२३ |
| २७।१३ | ६।६ | ६५।१३ | १२।३० |
| २७।२२ | २।६ | ६७।७ | ५।४ |
| २७।२४ | ५।१९ | ६८।८ | १०।१२ |
| २८।४ | ५।३ | ६९।४ | ६।१७ |
| २८।१ | ६।२८ | ७०।१० | ६।७ |
| ३०।१ | १०।१९ | ७१।२ | ४।१० |
| ३०।११ | ६।२२ | ७१।४ | ११।१९ |
| ३४।१ | ९।८ | ७१।५ | ११।२० |
| ३४।५ | १२।७ | ७१।७ | १।९ |
| ३९।४ | ४।१९ | ७१।८ | १३।१३ |
| ४०।२ | ३।१५ | ७१।११ | १।८ |
| ४२।७ | ५।२४ | ७२।४ | ११।२३ |
| ४३।५ | ५।२२ | ७३।११ | ४।३ |
| ४३।६ | ५।२२ | ७५।५ | ९।२६ |
| ४५।१ | ४।२४ | ७५।१० | ७।७ |
| ४८।७ | ३।१० | ७८।२ | ३।१५ |
| ५०।१ | ९।९ | ७८।१ | ७६।४ |
| ५०।६ | ५।२५ | ७९।३ | ५।३ |
| ५१।१ | ६।३५ | ८१।६ | १०।२७ |
|  |  | ८२।२ | १०।२६ |

| मण्डल १० | निरुक्त | मंडल १० | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| ८२।५ | ६।१५ | ९४।७ | ३।९ |
| ८२।७ | १४।१० | ९४।९ | २।५ |
| ८४।१ | १०।३० | ९५।५ | ३।२१ |
| ८४।२ | १।४,१७ | ९५।७ | १०।४७ |
| ८४।५ | ६।२९ | ९५।१० | ११।३६ |
| ८५।३ | ११।४ | ९५।१४ | ७।३ |
| ८५।५ | ११।५ | ९७।१ | ९।२८ |
| ८५।१९ | ११।६ | ९७।३ | ६।३ |
| ८५।२० | १२।८ | ९७।११ | ३।१५ |
| ८५।२७ | ३।२१ | ९८।५ | २।११ |
| ८५।३७ | ६।२१ | ९८।७ | २।१२ |
| ८५।३८ | ४।२५ | ९८।१२ | ५।३ |
| ८५।३० | १०।२१ | १०१।३ | ५।२८ |
| ८५।४२ | ११।६ | १०१।७ | ५।२६ |
| ८६।१ | १३।४ | १०१।१० | ४।१९ |
| ८६।९ | ६।३१ | १०१।५ | ९।२३ |
| ८६।११ | ११।३८ | १०२।९ | ९।२४ |
| ८६।१२ | ११।३९ | १०३।१ | १।१५ |
| ८६।१३ | १२।९ | १०३।१२ | ९।३३ |
| ८६।२१ | १२।२८ | १०५।१ | ५।१२ |
| ८६।२२ | १३।३ | १०६।६ | १३।५ |
| ८८।१ | ७।२५ | ११०।१-१० | ८।५-१७ |
| ८८।४ | ५।३ | ११४।४ | १०,४६ |
| ८८।५ | ५।१२ | ११६।७ | ७।६ |
| ८९।५ | ५।३ | ११६।८ | ६।१६ |
| ८९।१० | ७।२ | ११७।६ | ७।३ |
| ९०।१६ | १२।४१ | ११९।९ | १।५ |
| ९४।२ | ७।७ | १२०।१ | १४।२४ |

| मंडल १० | निरुक्त |
| --- | --- |
| १२०।६ | ११।२१ |
| १२१।१ | १०।२३ |
| १२१।१० | १०।४३ |
| १२३।१ | १०।३९ |
| १२८।५ | १०।४० |
| १२९।२-३ | ७।३ |
| १३३।१ | ३।२० |
| १३३।२ | १।१५ |
| १३५।१ | १२।२९ |
| १३६।१ | १२।२६ |
| १३८।१ | ४।२५ |
| १३९।६ | ५।१ |
| १४६।१ | ९।३० |
| १४९।१ | १०।३२ |
| १४९।५ | १०।३३ |
| १५१।१ | ९।३१ |
| १५२।४ | ७।२ |
| १५३।२ | ७।२ |
| १५५।१ | ६।३० |
| १६२।२ | ६।१२ |
| १६५।१ | ११।७ |
| १६६।२४ | १०।२४ |
| १६९।१ | ११।७ |
| १७३।२ | १।४ |
| १७८।१ | १०।२८ |
| १७८।३ | १०।२९ |
| १८०।२ | १।२० |
| १८७।१ | ५।५ |

## यजुर्वेद (वाजसनेय संहिता)

| अध्याय मन्त्र | निरुक्त |
| --- | --- |
| ३।२४ | ३।२२ |
| ३।२६ | ५।२३ |
| ३।२८ | ६।१० |
| ३।२९ | ३।२१ |
| ३।४८ | ४।१८ |
| ३।६० | १४।३५ |
| ३।६१ | ३।२१ |
| ३।६३ | १।१५ |
| ४।१ | १।१५ |
| ४।१९ | ५।५ |
| ४।२२ | ६।७ |
| ५।१५ | १२।१९ |
| ६।३ | २।७ |
| ६।१५ | १।१५ |
| ६।३७ | १४।२८ |
| ७।१६ | १०।३९ |
| ७।३२ | ६।१४ |
| ७।३८ | ४।८ |
| ७।३९ | ६।१६,१७ |
| ७।४१ | ११।१५ |
| ७।४२ | १२।१६ |
| ८।१८ | १२।४२ |
| ८।४४ | ७।२ |

| मण्डल १० | निरुक्त | मण्डल १० | निरुक्त |
|---|---|---|---|
| ८।१४ | ३।२८ | १८।४९ | २।१ |
| ८।१६ | १२।४४ | १८।६६ | १४।२ |
| १०।१६ | ३।५ | १८।६९ | ६।१ |
| १०।२० | १०।४३ | १८।७० | ७।२ |
| १०।२४ | १४।२९ | १८।७१ | १।२० |
| ११।२७ | ६।१ | १९।४९ | ११।१८ |
| ११।४७ | ६।३ | १९।५० | ११।१८ |
| ११।५० | ९।२७ | २०।१२ | ६।७ |
| ११।७४ | ३।३० | २०।८४ | ११।२६ |
| १२।३ | १२।१३ | २०।८६ | ११।२७ |
| १२।४ | १४।२९ | २३।१ | १०।२३ |
| १२।१२ | २।१३ | २३।१३ | ५।३ |
| १२।४२ | ३।२० | २४।३५ | १२।१३ |
| १२।६८ | ५।२८ | २५।१४ | ४।१९ |
| १२।७५ | ९।२८ | २५।१५ | १२।३९ |
| १३।४ | १०।२३ | २५।२४ | ८।३ |
| १३।९ | ६।१२ | २५।३० | ६।२२ |
| १५।३२ | ३।२१ | २९।१ | ४।२० |
| १७।२२ | १०।२७ | २९।२१ | ४।१३ |
| १७।२६ | १०।२६ | २८।२५-२६ | ८।५-२१ |
| १७।२८ | ६।१५ | २९।३९ | ९।१७ |
| १७।३१ | १४।१० | २९।४० | ८।१८ |
| १७।३३ | १।१५ | २९।४१ | ९।४० |
| १७।४४ | ९।३३ | २८।४२ | ९।१४ |
| १७।६८ | १३।८७ | २८।४३ | ८।१६ |
| १७।८९ | ७।१७ | २९।४७ | ९।१९ |
| १७।८१ | १३।७ | २९।५० | ९।२० |
| १७।८६ | ७।१७ | २९।५१ | ८।१५ |
| १८।४० | २।६ | | |

| सामवेद | निरुक्त |
|---|---|
| २९।५२ | ९।१२ |
| २९।५५ | ९।१३ |
| २९।५८ | १२।१३ |
| ३१।१६ | १२।४१ |
| ३३।२३ | ११।९ |
| ३३।३२ | १२।२२ |
| ३३।४१ | ६।८ |
| ३३।४४ | ५।२८ |
| ३३।८० | १४।२५ |
| ३३।९२ | ७।२३ |
| ३४।७ | ९।२५ |
| ३४।८ | ११।३० |
| ३४।१० | ११।३२ |
| ३४।३२ | ९।२९ |
| ३४।३३ | १२।६ |
| ३४।३५ | १२।१४ |
| ३४।४२ | १२।१८ |
| ३४।५३ | १२।३३ |
| ३४।५४ | १२।३६ |
| ३४।५५ | १२।३७ |
| ३५।७ | ११।७ |
| ३५।२१ | ८।३२ |
| ३६।१४ | ९।२७ |
| ३७।१७ | १४।३ |

| सामवेद का छन्द | आर्चिक |
|---|---|
| १।१।२।५ | १०।८ |
| १।१।२।६ | १०।३६ |
| १।१।२।७ | १।२० |
| १।१।३।११ | १२।१५ |

| सामवेद | निरुक्त |
|---|---|
| १।१।५।१ | ३।२१ |
| १।१।५।९ | ४।१४ |
| १।२।२।१० | ५।१० |
| १।२।३।३ | १२।१७ |
| १।२।५।५ | ४।१८ |
| २।१।१।१ | ५।६ |
| २।१।३।६ | ७।२ |
| २।१।४।९ | ६।१४ |
| २।१।५।५ | ६।१० |
| २।२।१।३ | ४।२५ |
| २।२।२।८ | १।१० |
| २।२।४।१० | १०।३५ |
| ३।१।३।४ | ६।४ |
| ३।१।३।५ | ६।२१ |
| ३।१।४।६ | ५।१२ |
| ३।१।५।१० | ७।२ |
| ३।२।१।५ | १४।२८ |
| ३।२।१।१० | ३।२० |
| ३।२।३।५ | ६।८ |
| ३।२।४।६ | १३।२ |
| ४।१।२।५ | ६।२४ |
| ४।१।३।३ | १०।९ |
| ४।१।३।७ | ४।३ |
| ४।१।३।९ | १।७ |
| ४।१।४।३ | १४।१७ |
| ४।१।५।१ | १०।२८ |
| ४।१।५।१० | १४।२५ |
| ४।२।१।४ | ४।४ |
| ४।२।२।३ | ५।३ |
| ४।२।३।५ | १२।२१ |

| सामवेद | निरुक्त |
| --- | --- |
| ४।२।४।११ | ४।२४ |
| ४।२।५।८ | ७।२ |
| ४।२।५।९ | ४।१७ |
| ४।२।५।१० | ५।१७ |
| ५।२।३।८ | ६।१२ |
| ५।२।४।२ | ११।१३ |
| ६।१।२।४ | १३।६ |
| ६।१।४।३ | १४।१४ |
| ६।१।४।५ | १४।१२ |
| ६।१।४।७ | १४।१६ |
| ६।१।५।१० | १४।१८ |

## सामवेद उत्तरार्चिक

| सामवेद | निरुक्त |
| --- | --- |
| १।२।५।२ | ३।१० |
| २।२।७।१ | ४।१२ |
| २।२।१०।२ | १४।१५ |
| ३।१।१९।२ | १४।१३ |
| ३।२।१२।२ | ५।३ |
| ४।२।१४।२ | ४।१८ |
| ५।२।७।४ | ६।२८ |
| ५।२।८।५ | ५।६ |
| ५।२।२०।२ | १।१० |
| ५।२।२३।१ | ५।५ |
| ६।१।९।३ | ७।३ |
| ६।२।१०।३ | ६।७ |

| सामवेद | निरुक्त |
| --- | --- |
| ६।२।१२।२ | ५।२२ |
| ६।२।१९।३ | ६।१४ |
| ६।३।१५।१ | ६।७ |
| ७।१।१।३ | ६।८ |
| ७।१।७।२ | ५।४ |
| ७।३।९।१ | १०।२७ |
| ७।३।१५।१ | ३।१० |
| ८।१।४।१ | ५।८ |
| ८।१।४।२ | ५।९ |
| ८।१।७।१ | १।२० |
| ८।२।५।१ | १२।१९ |
| ८।२।८।२ | ५।१५ |
| ८।२।१२।२ | ५।२१ |
| ८।३।५।२ | १४।३७ |
| ८।३।८।१ | १२।६ |
| ८।३।१३।२ | ६।१३ |
| ८।३।१४।१ | २।१८ |
| ८।३।१४।२ | २।२० |
| ८।३।१६।१ | १२।७ |
| ९।२।१४।१ | ३।२० |
| ९।२।१४।२ | ३।१५ |
| ९।२।१८।१ | ६।८ |
| ९।२।२०।१ | ९।२७ |
| ९।३।१।१ | १।१५ |
| ९।३।५।१ | ८।३३ |
| ९।३।९।१ | २।२० |

* इति *

# निघण्टु और निरुक्त में आये हुए पदों की अनुक्रमणिका

संकेत-इस में अंक निरुक्त के हैं। जो पद निघण्टु और निरुक्त दोनोंमें आयाहै, उस में निघ=निघण्टु, नि=निरुक्त है। पुं०=पुंलिंग, स्त्री =स्त्रीलिंग, न=नपुंसक लिंग । वि=विशेषण, क्रिया विन क्रिया विशेषण । धा=धातु, प्र=इस की प्रकृति । क्रि=क्रियापद । अ= अव्यय । उप=उपसर्ग । दे=देखो ।


अंश, पु० नाम, आदित्य विशेष २।१३;१२।३६।
अंशु, पु, २।५;४।११;१२।३६
अंसत्र, न, निघ०, ४।२; निरु० ५।२५
अंसत्र कोश; वि० ५।२६,
अंहति, स्त्री ४।२५;५।२३
अंहस्, न; ४।२५
अंहुर, वि; निघ ४।२५
अंहु वि; निघ; ४।३; निरु; ६।२७
अंहूरण, वि; ६।२७
अकूपार, वि; निघ; ४।१; नि; ४।१८
अक्तु, पुं; निघ; १।७; निरु; ५।२८; १२।२३
अक्र, पुं; निघ; ४।३; निरु; ६।१७
अक्ष्, धा; आप्नुवाण; निघ; २।१८; निरु; ३।१०
अक्ष, पुं; निघ; ५।३; निरु; ९।७
अक्षणवत्, वि; १।८; ५।१
अक्षर, वि; न; निघ; १।११; १२; निरु; १२।४१
अक्षाः, दे, प्र; क्षर,
अक्षि, न; १।९
अक्षित, वि; ५।११; ११।११; न, निघ; १।१२
अगन्, दे; प्र, गम्;
अगोह्य, वि; ११।१६
अग्नायी, स्त्री; निघ; ५।३, निरु; ८।३३; ३६; १२।४६
अग्नि, पुं; निघ; ५।१; ४ निरु ७।१४; १०।३५; ११।२३
अग्निरूप, वि; १०।३०
अग्मन्, न; निघ; २।१७
अग्र, न; ६।३
अग्रिय, वि; निघ; ४।३; निरु; ६।१६
अग्रू, स्त्री; निघ; १।१३; २।५;
अघ, न; ६।११
अघशंस, वि; ३।२४; निरु; ६।११
अघ्न्य, वि; स्त्री; निघ; २।११; ५।५ निरु; ११।४३।
अङ्कस्, न, २।२८
अङ्कुश, पुं; ५।२८
अङ्ग, अ; ५।१७; ६।८
अङ्ग, न; ४।३
अङ्गिरस्, नामवि, निघ; ५।५; नि ११।१६
अच्, धा; निघ; २।१४; अचति
अचक्ष्म, दे; प्र, चक्ष्

अचेतान, वि; ३।२
अच्छ, क्रिया वि; निघ;४.२; निरु २।२५;४।२४;५।२८
अज,पुं;निघ;१।१५;निरु;४।२५;६।४
अज एकपाद्, निघ;५।६;निरु;१२। २९;३३;
अजगन्, दे; प्र, गम्
अजर, वि; ४।२५;
अजाश्व, वि; ४।२७;७।२५
अजिर, वि; निघ १।१३;२।१५
अजीग; दे; प्र, गृ
अज्म, पुं; ४।१३
अज्मन्, न; निघ; २।१७;३।४;
अज्र, पुं; बहु, निघ; २।१५
अञ्ज्, धा; अञ्जते; १२।७ समञ्जन्ति; ६।३५
अणु, वि;६।२२;स्त्री, बहु;निघ;२।५
अत, धा; अतति; निघ; २।४
अतस्, न; ५।१२
अतिथि, पुं ४।५
अतूर्त, वि, ८।१०;१०।२२
अतूर्तपन्थस्, वि;११।२३
अत्क, पुं; निघ; २।२०
अत्य, पुं; निघ; १।१४;निरु ४।१३
अत्र, क्रिया, वि; ११।२
अथ. अ, ११।४४
अथर्यति, निघ; २।१४
अथर्यः,या;बहु;२।५(वाज,सं;३।३७)
अथर्यु वि, निघ;४।२;निरु; ५।१०
अथर्वन्, निघ; ५।५;६;निरु; ६;११। १८;१२।३३
अदिति, स्त्री; निघ;१।१;११;२।११; ३।३०;४।१; ५।५;नि, ४।२२;११।२२
अद्धा, अ; निघ;३।१०
अद्माति, पुं, स्त्री निघ; ३।१५
अद्भुत,वि;निघ;३।३;निरु;१।६;६।२१
अद्मन्, न; ४।१६;
अद्मसद्, पुं; स्त्री; निघ; ४।१; निरु; ४।१६
अद्य, क्रिया वि; १।६
अद्रि,पुं;निघं, १।१०; निरु;४।४;९।९
अद्रिवत्, वि; ४।४
अद्रुह्, वि; ८।१७
अध, ३।३
अधर, सर्वनाम; २।११
अधस्, क्रिया वि; २।११
अधि, उप;१।३
अध्रिगु, वि; निघ;४।२ निरु;५।११
अध्वन्, पुं; निघं; १।३
अध्वर, पुं; निघ; ३।१७ निरु; १।८;६।१३;१०।१९;न;निघ१।३
अध्वर्यु, पुं; १।८
अन्, धा; अनिति;निघ;२।१४;निरु; ११।४७
अनप्रस्, वि; ३।११
अनभिशस्ति, वि; निघ;३।८;
अनभिशस्त्य, वि; निघ ३।८
अनर्व, वि;४।२७

अनर्वन्,वि;निघ;४।३; निरु; ६।२३
अनर्शराति,वि; निघ;३।३;निरु;६।२३
अनवद्य, वि, निघ ३।८
अनवब्रव,वि;निघ;४।३; निरु;६।२९
अनवाय, वि;निघ;४।३;निरु;६।११
अनस्, न; ३।२७;११।४७
अनागस्, वि; १०।११
अनागस्त्व, न; ११।२४
अनानत, वि; १२।२१
अनिन्द्य, वि, निघ; ३।८
अनिन्द्र, वि; ३।१०
अनिमिषा, क्रिया वि; १०।२२
अनिमेषम्, क्रिया वि; ३।१२
अनिवेशन, वि; २।१६;
अनु, उप; १।३; ६।६
अनु, पुं; निघ; २।३;
अनुमति, स्त्री: निघ; ५।५;निरु ११।२;२९
अनुष्टुभ्, स्त्री; निघ; ३।११; निरु; ७।१२
अनुष्वधम्, क्रिया वि; ४।८
अनूप, वि; २।२२;५।३
अनृक्षर, वि; ९।३२
अनेद्य, वि;निघ;३।८;
अनेमन्, वि; निघ;३।८
अन्त, पुं;४।२५
अन्तम, वि; निघ; २।१६;
अन्तरिक्ष, न; निघ;१।३;निरु २।१०
अन्तिक, निघ, निघ २।१६ नि३।९
अन्ध, वि: ५।१
अन्धस्, न; निघ; २।७;४।२;निरु; ५।१;९।३६;११।९
अभ्र, न; निघ: १।१०; निरु: ३।९
अन्य, सर्वनाम; १।६
अन्वञ्च्, वि: २।२०
अप्, स्त्री: निघ:१।३:१२;५।३:निरु: ९।२६
अप, उप: १।३
अपत्य, न; निघ; २।२:निरु;३।१
अपरम, क्रिया वि: ११।३८
अपस्, न:निघ: २।१;निरु;७।२७
अपांनपात्,निघ:५।४;निरु;१०।१८
अपार, वि;निघ;३।३०;निरु;६।१
अपि, १।३
अपिकक्ष, न; २।२८
अपीच्य, वि;निघ;३।२५;निरु;४।२५
अपु, निघ; ३।२७
अपुष्प, वि;१।२०
अप्नवाना, द्वि, निघ; २।४
अप्नस्, न; निघ: २।१;२; ३।७;निरु; ३।११;
अप्व, वि; ११।३४;३९
अप्रतिष्कुत,वि;निघ;४।३; नि;६।१६
अप्रामादम्, क्रिया वि; १२।३७
अप्रायु, वि; निघ;४।१;निरु; ४।१९
अप्वा, स्त्री; निघ;४।३;५।३;निरु; ६।१५;९।३२
अप्सरस्, स्त्री; ५।१३
अप्सस् न, निघ,३।७ नि३।५;५।१३

अफल, वि; १।२०
अब्जा, वि; १०।४४
अभि, उप; १।३
अभिख्या, स्त्री; निघ; ३।९
अभिधेतन, दे; प्र, ध्यै
अभिपित्व, न; ३।१५
अभिभा, स्त्री; ९।४
अभिश्री, पुं; ७।२२
अभीक, न. नि२।१७; ३।२८ निरु३।२०
अभीशंण. नं; २।२५
अभीवृत. दे, प्र; वृ
अभीशु पुं; निघ; १।५; २। ४; ५; ५। ३; निरु; ३।९; ८।१५
अभ्यर्धयज्वन्, वि; निघ; ४।३; निरु; ६।६
अभ्यर्ष, दे, प्र; ऋष्
अभ्र, न; निघ; १।१०; निरु ५।५
अभ्रातृ, वि; ३।४; ५
अभ्व, वि; निघ; १।१०; १२; ३।३
अम, पुं; १०।२१
अमति, स्त्री; निघ; ३।७; ४।३; निरु; ६।१२
अमत्र, वि; निघ; ४।३; निरु; ६।२३ न, ५।१
अमन्द, वि; ९।१०
अमवत्, निघ; ४।३; निरु; ६।१२
अमा, क्रिया वि; निघ; ३।४; निरु; ५।१; ११।४६
अमिन, वि; निघ; ४।३; निरु६।१६
अमीवन्, पुं; निघ; ४।३; निरु ६।१२
अमीवहन्; वि; १०।१७
अमीवा, स्त्री; १२।४४
अमुथा, क्रिया वि; ३।१६; ५।५
अमूर, वि; निघ; ४।३; निरु; ६।८; ११।२
अमृत, वि; २।२०; ८।२०; न; निघ; १।२; १२; निरु; ३।१२; १०।३
अम्बर, न; निघ; १।३; २।१६;
अम्बु, पुं; न; निघ; १।१२; नि; ३।१०
अम्बुद, पुं; ३।१०
अम्भस्; न; निघ; १।१२; ३।३०
अम्भृण, वि; निघ; ३।३;
अम्यक्, दे; प्र, म्यक्ष्;
अयते, दे; प्र, इ
अयथु, दे; प्र, इ
अयस्, न; निघ; १।२
अयास्, वि; २।७
अयुत, न; ३।१०; ११।२;
अयुध्, दे, प्र; युध्
अयुधु, दे, प्र, युध्
अर, पुं; ४।२७
अरण, वि; ३।२; ११।४६
अरणि, स्त्री; ५।१०
अरण्य, न; ९।३०
अरण्यानी, स्त्री; निघ; ५।३; निरु९।२९
अरम, अरंकृत; १०।२
अरविन्द, न; निघ; १।१२;
अर्षति, दे; प्र, ऋष्
अराति, स्त्री; ३।११; ११।२

अराधस्, वि,५।१७
अराय,वि; स्त्री अरायी;६।२५;३०
अरि, पुं; ५।७
अरित्र, पुं; ९।४
अरुण, वि;५।२१ स्त्री; बहु;निघ; १।१५अरुण्य;
अरुष, वि;निघ; १।१४;३।७ (स्त्री) अरुषी १।८ निरु; १२।७
अरुपति, दे; प्र, ऋ
अरुष्यति, दे, प्र. ऋ
अरेपस, वि; १२।३
अर्क, पुं; निघ;२।७;२०;५।८;निरु; ५।४;६।२३
अर्च, धा; अर्चति; निघ; ३।१४
आर्चि, पु; निघ;१।१७;
अर्जुन, वि;२।२१; स्त्री; निघ;१। ८;न;३।७
अर्ण, वि; निघ;१।१३
अर्णव, पुं; १०।९
अर्णस्,न;निघ;१।१२;१।१७;२।१४
अर्थ, पुं; १।१८; न; ८।१९
अर्द्, धा; अर्दति निघ; २।१४; अर्दयति २।१९
अर्ध, वि; ३।२०
अर्बुद, न; ३।१०
अर्भक, वि; निघ; ३।२;२९; निरु ३।२०;४।१५
अर्य,वि;निघ;२।२२;निरु; ५।९
अर्यमन्, पुं; २।१३;६।२१;११।२३
अर्वन्, पुं;निघ;१।१४;निरु;१०।३१
अर्वाक, निघ;२।१६
अर्वाञ्च, वि; अर्वाक्; क्रिया वि; निरु; ५।१२;१२।४३
अलर्यति, निघ; २।१४
अलर्षि, दे; प्र, ऋ
अलातृण, पुं; निघ; ४।३;निरु;६।२
अल्प, वि ३।२
अल्पक, वि, निघ, ३।२
अव्; धा; अवति, अवते; निघ, २।१७; निरु, १।१४, १०।२०
अवन्तु ११।१८; अविष्यन् निघ, २।८;
अव, उप,.१।३
अवचाकशत्, दे,प्र, काश्
अवट, पुं, निघ, ३।२३, बाज, ११।६१;१३।७
अवत, पुं, निघ, ३।२३, निरु, ५।२६,१०।१३
अवतिरति, दे, प्र, तृ
अवत्त, दे, प्र, दा
अवनि, स्त्री, निघ, १।१; १३; २।५ निरु ३।९
अवभृथ, पु, ५।१८
अवम, वि, निघ, २।१६,
अवयुन, वि, ५।१५
अवर, वि, २।२४,११।१८
अववेति, दे, प्र, वी
अवस्, न, निघ, २।७, निरु१०।३२

अवस, न १।१७
अविचेतन, वि ११।२८
अविष्यन्, दे, प्र, अव्
अवीर, वि ६।३१
अवृक, वि ११।१८
अव्यथि, स्त्री, निघ १।१४
अश्, धा; अश्नुते, अशत्, आष्ट, आष्टः, निघ २।१८ आनट् नि ६।८;११२५
आनशुः ११।१६ आशिषःनिघ३।२१ आक्षिषुः,निरु४।१२आनशे;निघ २।१८ अश्यानट् निरु १२।१८
अश्न;पुं;निघ१।१०निरु४।२६;१०।१२
अश्नुते; दे, प्र, अश्
अश्म चक्र, वि, ५।२६
अश्मन्;पुं;निघ,१।१०निरु;६।१;८।२
अश्मन्मय, वि ४।१९
अश्मास्य; वि १०।१३
अश्व, पुं, निघ १।१४, ५।३ निरु १।१२;२;२७;२।१
अश्वपर्ण; वि ११।१३
अश्वाजनी; स्त्री; निघ; ५।३ निरु ९।१९
अश्विन्; वि, द्वि, निघ ५।६ निरु १२।१ स्त्री १२।४६
अष्टन्; संख्या ३।१०
अष्टापाद् ११।४०
अस्; धा२।१असत्५।१९,आसीत्, १०।२३,एधि१०।१७अश्यस्मि ३।१० अभि असाम ३।८
अस्; धा अस्तासि ६।१२
असक, वि; निघ ४।३ निरु ६।२९
असश्चत्, दे, प्र, सश्च्
असामि; वि; निघ ४।३निरु ६।२३
असिक्नी; स्त्री;=असित, निघ १।७ नाम वि, नि ९।२६
असिन्वत्; निघ ४।३ निरु ६।४
असु; पुं ३।९;३।८;११।१८
असुनीति;स्त्री;निघ५।४निरु१०।३९
असुर;पुं,निघ १।१० निरु ३।८
असुरत्व; न १०।३४
असूर्त;वि, निघ ४।३ निरु ६।१५
असृज्; न ४।१९
अस्कम्भन; वि १०।३२
अस्कृधोयु,वि; निघ ४।३ निरु६।३
अस्त; न, निघ ३।४ निरु १२।२८
अस्तमीके; सप्त,निघ २।१६
अस्त्य, न, निघ ३।४
अस्मयु, वि ६।२१
अस्मे;सर्वनाम,निघ४।३ निरु६।६।७
अस्येहिति; स्त्री ११।२५
अस्रेमन्, वि, निघ ३।८
अह,अ १।५; २।७
अहन्, अहर्, न, निघ १।९ निरु २।२०,८।९,११।६ द्वि ३।१२

अहना, स्त्री, निघ१।८,
अहि, पुं, निघ, १।१०;१२;५।४ नि १०।४३ अहिर्बुध्न्यः निघ ५।४ निरु १०।४४; १२ ३३
अहिगोपा, वि २।१७
अही, स्त्री, निघ २।११;३।३०
अहेलमान, वि, ४।२५
अन्हाय, अ, निघ ३।२७
अह्रयाण, वि, निघ ४।२ निरु५।१५
आ, उप, निघ ३।१३;४।२, निरु १।३;४;५।५;७
आकाश, न, निघ १।३
आकीम, निघ ३।१२,
आकृतम, निघ ३।१२,
आके, निघ, २।१६; ३।२६,
आकेनिप, पुं, निघ ३।१५,
आक्रन्दे, सप्त, निघ २।१७
आक्षाण, दे, प्र, अक्ष्
आखण्डल,वि,निघ २।१८निरु३।१०
आ गनीगन्ति, दे, प्र, गम्
आगस् ,न ११।२४
आघृणि, वि, निघ ४।२ निरु५।८
अङ्गूष, पुं, निघ ४।२ निरु ५।११
आचके, दे, प्र, कै
आचार्य, पुं, १।४
आजि,पुं,निघ,२।१७ नि ९।२३
आट्णा, र, पुं, १।१४
आणि, पुं, निघ, २।१७ नि ६।३२
आण्ड, पुं, न, ६।३२
आत्, अ, ६।८
आता, स्त्री, निघ १।६.
आतिरत्, दे, प्र, तृ
आत्मन्, पुं, ३।१५
आदघ्न, विशे, १।९
आदित्य, पुं, निघ, ५।६ नि २।१३; १२।३५
आदितेय, पुं, २।१३; ७।२९
आदुरि,वि, ६।३१
आधव, पुं निघ, ४।३ नि ६।२९
आधी, स्त्री, नि ४।६
आधीत, दे, प्र, ध्यै
आध्यात्मिक,विशे, ७।१
आप्,विशे, १२।१४
आनट्, दे, प्र, अश्
आनशे, प्र, अश्
आनुषक, क्रिया वि, निघ, ४।३ नि ६।१४
आप्,धा,आपानः,निघ२।१८नि३।१०
आपान्तमन्यु,विशे,निघ४।२नि५।१२
आप्त्य, पुं, निघ, ५।५ नि ११।२०
आप्य, न, ६।४
आप्री, स्त्री, ८।४
आयाजि, वि, ९।३६
आयती, द्वि, निघ २।४
आयु, पुं, निघ, २,२ नि ९।३; १०।४१; ११।४९

आयुध,न,निघ,१।१२, नि १०।६
आयुस्,न,निघ,२।७ नि १०।३५
आरित, दे, प्र, ऋ
आरे, क्रियावि, निघ ३।२६
आर्जीकीया, स्त्री, ९।२६
आर्ति,स्त्री,निघ, ५।२ नि९।३९
आर्य, क्रियावि, ६।२६
आर्यति, दे,प्र, ऋ
आर्ष्टिषेण, नाम वि, २।११
आवयति, दे, प्र, अव्
आवयाः, निघ, १।१२
आवह, पुं, ५।२६
आविष्ट्य, वि, ८।१५
आविस्,क्रियावि,४।१६,८।१५
आशा,स्त्री,निघ,१।६;४।२ नि ६।१
आशिषः, दे, प्र, अश्
आशीर्,स्त्री,निघ,४।२नि६।८;३२
आशिस्, स्त्री, निघ,४।२नि ६।८
आशु, वि, निघ १।१४; २।१५
नि ६।१; ९।९
आशुशुक्षणि,वि,निघ४।३नि६।१
आष्ट, आष्टः, दे,प्र, अश्
आष्ठा, स्त्री, निघ, १।६
आसा, निघ, २।१६
आसात्, क्रियावि, निघ, २।१६,
अस्थित्, २।२
आस्य,न, १।९
आहनस्, वि, निघ, ४।१; २ नि
४।१५; ५।२
आहव, पुं, २।१७
आहाव,पुं,निघ२।१७ नि,५।२६
आह्निकम्, ३।१२(पद आ।ह्नि।कम्)
आहुत, न, ११।३२

(इ)

इ, धा, एति, अयते, निघ २।१४
ईयु; नि ११।१८;१२।३७ईयसे
८।३; आयन् ११।३१ एयुषी
४।१६,परेहि९।३३परेयिवां
सम् १०।२०, पर्योति ९।१५
समेति १२।११
इत, १।९;४।११; २५; ५।८;
२६;६।१६;२०; २७; ९।१८
इत्था, निघ, ३।१०; ४।२ नि४।
२५; ५।५, ६।३; ११।३७
इदंयु, वि, निघ,४।३ नि ६।३१
इदम्, सर्वनाम, निघ १।१२;
एनम्,एनाम्, निघ, ४।२ नि
५।२८; एना, अया, निघ ३।
२९ नि६।११ अस्य, अस्याः
निघ ४।१नि ४।२५ अयोः ३।२२
इदा, क्रियावि, निघ ३।२८
इदानीम्, निघ ३।२८
इध्म, पुं, निघ ५।२ नि ८।४
इन, पुं, निघ २।२२ नि ३।११;१२
इनितमः ११।२१
इन्दु, धा, १०।८

इन्दु, पुं; १।१२;३।१७;५।४;१०।४१
इन्द्र, पुं, निघ ५।४ नि० १०।८
इन्द्रवत, वि, ११।१५
इन्द्रशत्रु, वि, २।१६
इन्द्राणी,स्त्री,निघ, ५।५ नि० ११।
३७;१२।४६
इन्द्रिय, न, निघ, २।१०
इन्ध्, धा, इद्धम् १०।२१
इन्व; धा, इन्वति, निघ २।१४;१८
इभ, पुं, ६।१२
इयक्षति, ( अक्ष्; अश् ) २।१४
इयति, दे, प्र, ऋ
इरज्यति (रज्) निघ २।२१,३।५
इरध्यति ( रध् राध् ) निघ ३।५
इरा, स्त्री, निघ २।७
इरावती, स्त्री, निघ, १।१३
इरिण, न, ९।८
इलीविश; पुं, निघ ४।३ नि ६।१९
इल, पुं, निघ, ५।२ नि, ८।७
इला, स्त्री, निघ, १।१;११;२।८;
११;५।५ नि ११।४८
इव, निघ३।१३ नि१।४;१०;८।३०।
इष्,धा,इषति,निघ,२।१४नि८।१८
इषितः। ८।८
इष् स्त्री, निघ,२।७ नि ६।२६;१०।
२६; ११।१४;२९
इषुवत, वि, १०।४२
इषिर, वि,निघ ४।१ नि ४।७
इषीका, स्त्री, ९।८
इषु, स्त्री, निघ ५।३ नि ९।१८
इषुधि, पुं, निघ, ५।३ नि ९।१८
इषुध्यति, निघ ३।१८
इष्ट, न, १०।२६
इष्टि, स्त्री, निघ ३।१७
इष्मिन्, वि, निघ ४।१ नि ४।१६

ई

ईक्षे, दे, प्र, ईश्
ईङ्ख, धा, ईङ्खते; निघ २।१४।
ईड्, धा,८।७ईळे ७।१५,ईळते८।२,
१०।१९ ईडेचः ७।१६;८।८
ईदृश् १०।१५
ईम्, निघ १।१२; ४।२ नि १।९;
४।१९;५।२८
ईमहे, प्र, या
ईर् धा, ईर्ते, निघ२।१४ परि१४।१
नि ४।२३
ईर्म, पुं, न ५।२५
ईर्मान्त, वि निघ ४।१ नि ४।१३
ईश्, धा, ईक्षे, निघ ४।३ नि ६।८
ईष्, धा, ईषति, निघ २।१४ईषते
नि ४।७; ९।८; १०।११
ईह्, धा, ईहते, निघ२।१४

उ

उ, १।५;९;१०।५; ११।३४
उक्थ्य, वि, निघ ३।८ नि ११।२१
उक्ष्, धा, १२।९
उक्षः, निघ, ३।३

उक्षन्, पुं, निघ ३।३ नि १२।९
उक्षित, दे, प्र, उक्ष्
उच्चा, क्रियावि ९ । ३६
उच्चैः श्रवस, पुं, निघ १ । १४
उच्चैस्, क्रियावि, ४ । २४
उत्, उप, १ । ३
उत, अ, १।१९; ४ । २४; ६।८; १०।
२३; २७; १२ । ५
उत्तर, वि, २ । ११
उत्तान, वि, ४ । २१
उत्स, पुं, निघ ३।२३ नि १०।८; १३
उदक, न, निघ १। १२ नि २ । २४
उदन्, न, १० । १२
उदन्यु, वि, ११।१५
उद्रिन्, वि, १० । १३
उद्धत, वि, १०।२०
उप; उप, १ । ३
उपकक्ष, वि, १ । ९
उपजिह्विका, स्त्री, निघ, ३।२९
नि ३ । २०
उपब्दि, पुं, निघ १ । ११
उपम, वि, निघ २ । १६
उपर, वि, निघ १।६; १० नि २।२२
उपल, पुं, निघ १।१०, नि २ । २२
उपलप्रक्षिणी, स्त्री, निघ ४।३ नि ६ । १
उपसि, निघ, ४ । ३ नि ६ । ६
उपस्थ, पुं, ७ । २६; ८ ।१५; १८;
८ । ३९; ४०
उपाक, वि, निघ २ । १६ उपाके
द्वि, नि, ८ । ११
उभ, वि, ४ । ४
उभय, वि, ८ । ७
उभयाहस्ति, वि, ४ । ४
उरण, पुं, ५ । २१
उराणः, निघ ४ । ३ नि ६ । १७
उरामथि, पुं, ५ । २१
उरु, वि, न, निघ ३।१ स्त्री १ । १;
१२; ३ । ३० नि २ । २६
उरूगाय, वि, २ । ७
उरूर्जि, वि, १२ । ४३
उरूण्यति, ५ । २३; ११ । ८
उर्वशी, स्त्री, निघ ४ । २; ५ ।५
नि ५ । १३; ११ । ३६; ४९
उर्विया, क्रियावि, ८ । १०
उलूखल; न, निघ ५।३; नि ९।२०
उलूखलमुसले, द्वि, निघ५।३ नि९।३५
उल्ब, न, निघ४।३ नि ६। ३५
उशिज्, वि, निघ ।६;३।१५नि६।१०
उशीर, न, २ । ५
उश्मसि, दे, प्र, वश्
उषस्, स्त्री, निघ १।८;५।५;६ नि २
१८;५।२८; ११ । ४६; १२।५
उषासानक्ता, द्वि, निघ५।२नि८।१०
उष्ण, न, २ । २
उष्णिह, स्त्री, ७ । १२
उष्णीष, न, ७ । १२

उस्र, पुं, स्त्री, निघ १।५;२। ११नि ४। १९;
उस्रिया,स्त्री, निघ२। ११नि ४।१९

ऊ

ऊति, स्त्री निघ ४ ।२ नि२।२;५।३
ऊधस्, न, निघ १।७ नि ६। १९
ऊर्ज्,, स्त्री, निघ २ । ७नि१। ८;९। २७; ४३; ११। २९
ऊर्जव्य, वि, ११ । ४९
ऊर्जस्वत, वि, ८ । २२ स्त्री, बहु, निघ १ । १३
ऊर्जाद, वि, ३ । ८
ऊर्जाहुती, = देवीऊर्जाहुती
ऊर्णा, स्त्री, ५ । २१
ऊर्दर, न, निघ ३।२९नि ३ । २०
अर्ध्व, वि,८। १५
ऊर्ध्वबुध्न, वि, १२ । ३८
ऊर्मि, स्त्री,५। २३
ऊर्म्या, स्त्री, निघ १ । ७
ऊर्व, पुं, ६ । ७
ऊह, धा, ऊहे, १२ ।३

ऋ

ऋ,धा,ऋण्वति,ऋणोति,अरुपति, मरूप्यति, आर्यति, निघ २।१४;ऋच्छति२ । ५ इयर्ति २ । १४ नि९ । ४ ऋणति, निघ २ । १४ अलर्षति २।१४ आरितः ४ ।२ नि ५ ।१५
ऋक्ष, पुं, निघ ३ । २९ नि ३।२०
ऋक्षर, पुं, ९ । ३२
ऋग्मिय, वि, नि ७ । २६
ऋच्, स्त्री. निघ १।११ नि १।८
ऋचीषम, वि, निघ४ ।३ नि६।२३
ऋच्छति, दे, प्र, ऋ
ऋजीष, न, ५ । १२
ऋजीषिन्, वि, ५। १२; ६। ७
ऋज्, धा० ऋज्यन्तः नि १० । ३
ऋजु, वि,६ । २१
ऋजुनीति,स्त्री,निघ४।३नि ६।२१
ऋजूयत्, १२ । ३८
ऋञ्ज, धा निघ ४ । ३नि ६ । २१
ऋणत्ति, दे, प्र, ऋ द्
ऋणद्धि, दे, प्र, ऋध्
ऋणर्ति, दे, प्र, ऋ
ऋणोति, दे, प्र, ऋ
ऋण्वति, दे, प्र, ऋ
ऋत,पुं, निघ ५।४ नि १०।४०; न, निघ, १।१२; २।१०;२५. ३।४; ४।१८;६।२२;८ ६; १९ ऋतस्य योनिः निघ १।१२
ऋतज्ञ, वि ११। १८
ऋतायु, वि, १०।४५
ऋतावन्, वि, २।२५
ऋतावृध्, वि, १२।३३
ऋतु, पुं,२।२५;८।३;१२।४६
ऋतुथा,' क्रियावि,८।१८; १२।२७

ऋद्, धा ऋणत्ति निघ २।१९
ऋदूदर, पुं, निघ ४।३ नि ६।४
ऋदूपे, द्वि, निघ ४।३ नि ६।४;३३
ऋदूवृध्, वि, ६।३३
ऋध्. धा, ऋणाद्धि, ऋध्नोति, निघ ३।५; ऋन्धन्, नि३।६;८।६
ऋधक्, क्रियावि,निघ४।१नि४।२५
ऋधीस, न, निघ ४।३ नि ६।३५
ऋभु. पुं,निघ ३।१५;५।५नि११।१५
ऋभुक्षिद, वि, निघ ३।३नि ८।३
ऋभ्व, वि, ११।२१
ऋश्यदात्, निघ ३।२३
ऋष्, धा, अर्षति निघ २।१४ अभ्यर्ष ३।३१
ऋष्टिमत्, वि, ११।१४
ऋष्टिषेण, नाम, २।११
ऋष्व, वि, निघ ३।३ नि ७।६
ऋहत्, वि, निघ ३।२

## ए

एक, वि, ३।१०
एकचक्र, वि, ४।२७
एकपाद्, वि, ११।४०
एज्, धा,एजति,निघ२।१४नि३।१६
एतग्व, पुं, नि १।१४
एतश, पुं, निघ १।१४
एति, प्र,३
एधमान द्विष्, वि, ६।२२
एहस्, न, ११।२४
एनी, स्त्री, निघ १।१३
एरिरे, प्र, ६२
एव, पुं, २।२५;१२।२१
एहः निघ २।१३

## ऐ

ऐकपदिक, न, ४।१

## ओ

ओकस्, न, ३।३
ओजस्, न,निघ १।१२;२।९निघ।८
ओणि (स्त्री) निघ ३।३०
ओदती, स्त्री, निघ १।८
ओदन, पुं, न, निघ १।१०नि६।३४
ओम, पुं, निघ ४ । ३ नि ६ । ९; १२ । ४०
ओमन्, पुं, निघ ४ । ३ नि ६ । ४
ओषम्, क्रियावि, निघ २ । १५
ओषधि,स्त्री, निघ ५ ।३ नि८।२७

## औ

औच्चथुवस, पुं, निघ १ । १४
औशिज, नामवि, ६ । २०

## क

क, नामवि, निघ ५। ४ नि १० । २२ कत्, निघ ३ । ६ नि ६ । २७ कम् १ । १२ ; ३ । ६ नि १। ९;१४; ४ । १८; ६ । ३५
ककुभ्,स्त्रीनिघ१।६नि७। १२
ककुद, ककुदस्तिना, निघ ३ । ३

कक्ष, पुं २ । २
कक्षीवत्, पुं, ६ । १०
कक्ष्या, स्त्री, निघ २ । ५ नि २ ।
२; ३ । ९; ६ । २८
कछ, पुं, ४ । १८
कच्छप, पुं ४ । १८
कण, धा, ६ । ३०
कण, वि, ६ । ३०
कण्डू, धा, निघ,२। १४ नि ९। २२
कण्टक, पुं, ८ । ३२
कण्व, नामवि,निघ ३ । १५
कत, दे, क
कत्पय, पुं; निघ ४ । ३ नि ६ । ३
कथा ३ । २२; ९ । ३०
कन्, धा, ।१५ कनति, कानिषत्,
निघ २ । ६ चाकन् ४। ३ नि
६ । २८ चाकनत्निघ२।६२ ।
११ कायमानःनिघ ४ । १निघ।१४
कनक,न,निघ १ । २
कनी, स्त्री १० । २१
कनीनिका, स्त्री ५ । १५
कन्या, स्त्री ४ । १५
कपना, स्त्री निघ ४ । ३ नि ६ । ४
कपिञ्जल, पुं, ३ । १८; ९ । ४; ५
कबन्ध=कवन्ध
कम्=क
कम्प्, धा, कम्पते
कम्बल, पुं, २ । २
कम्बोज, पुं, २ । २
करण, न,निघ २।१
करन्ती, दे० कृ
करस,न, निघ २।१
करस्न, पुं, निघ २ । ४ नि ६ ।१७
करिक्रत्, दे०कृ
करुण न, निघ २ । १
करूलतिन्, वि, निघ४। ३नि६।३०
कर्कोतर, पुं, निघ ३। २३
कर्ण, पुं, १ । ८
कर्त, पुं, निघ ३ । २३
कर्तु; दे, प्र, कृ
कर्त्व, न, निघ २ । १
कर्मन्, न, ३ । १
कर्वर, न, निघ २।१
कल, धा, कालयति, निघ२।१४नि
२ । २१
कलश, पुं ११ । १२
कला, स्त्री, ६ । ६; ११ । १२
कल्पते, दे, प्र, कृप्
कल्मलीकिन, न, निघ १। १७
कल्याण, वि. २ । ३
कल्याणवर्ण रूप, वि, २।३
कवच न, ५ । २५
कवते, दे, प्र, कु
कवन, न, १० । ४
कवन्ध, न, निघ १। १२नि १० । ४
कवासख, पुं,६ । १८
कवि, पुं, निघ ३ । १५नि१२ । १३
कविशस्त, वि,१२। ३३

कशस्, न, निघ, १ । १२
कशा, स्त्री, निघ १। ११ नि८।१९
कस्, धा, कसति
काकुद्,स्त्री,निघ१।११;४।२नि५।२६
काकुभ्, निघ १ । ११
काचित्कर, त्रि, १२ । ९
काञ्चन, न, निघ १ । २
काट; पुं, निघ ३ । २३
काण, वि; ६ । ३०
काणुका; निघ ४ । २ नि ५ । ११
कातु, पुं; निघ ३ । २३
कायमान, दे; प्र; कन्
कारु; पुं; निघ ३ । १६ नि २।२७; ६।६;८।१२
कारोतर; दे; प्र; करोतर
काल; पुं; २। २५
कालयति; दे; प्र; कल्
काश; धा;अवचाकशतनिघ३।११
काशि, पुं; निघ ४ । ३ नि ६ ।१
काष्ठा, स्त्री; १ । ६; २ । १५;९।२४
किंशुक; पुं; १२ ।८
कि, सर्वनाम,निघ ४ ।३नि ६।३५
कितव; पुं ५ । २२
किमीदिन;पुं; निघ४।३नि६। ११
कियेधस्, पुं; निघ ४। ३नि ६।२०
किरण; पुं. निघ १।५
किल; अ; १। ५
किल्विष; न ११। २४
कीकट; नामवि; निघ ४।३नि६।३२
कीरि; पुं; निघ ३ । १६
कीलाल; न; निघ २ । ७
कीवत् ६ । ३
कीस्त; पुं; निघ ३।१५
कु;धा;कवते;निघ२ ।१४को कूयते; नि ५ । २६
कुचर,वि, १ ।२०
कुट्; धा, ६ । ३०
कुट; पुं; निघ ४ ।२ नि ५ । २४
कुणारु; पुं;निघ४ ।३नि २।२; ६ । १
कुत्स, पुं, निघ २।२० नि ३।११
कुब्ज, वि. ७।१२
कुरु, पुं, निघ ३।१८ नि ६।२२
कुरुङ्ग, नाम वि, ६।२२
कुरुतन, दे, प्र, कृ
कुल, न, ६ । २२
कुलिश,पुं,निघ२।२०;४।३नि६।१७
कुल्माष, पुं, १ । ४
कुल्या, स्त्री, निघ १।१३
कुवित्, निघ ३।१ नि ४।१५
कुशय, पुं, निघ ३।२३
कुशिक, नाम वि, निघ २।२५;७।२
कुह, ३।१५
कुहू, स्त्री. निघ ५।५नि११।३१;३२
कूप, पुं, निघ ३।२३
कृ, धा, कृण्वन्ति, ६।३२ कृणुष्व ६।१२;११।३४ कृणुध्वम् १२।

४३ अकृणोत् ६।१ अकृण्वत ५।२५ कुरुतन निघ ४।१ नि ४।७ करन्ति, निघ २।१ नि ३।१० करतः ३।१५ कार्षि २।१ ३० अक्रत ४।१०; १२।७ करन्ती, निघ २।१ कृत्वी, निघ २।१ नि १२।१० चक्रत्, कारि त्, निघ २।१ निचकार, नि २।९ निष्कृण्वानाः, निष्कृतम, नि १२।७
कृकवाकु, पुं, १२।१३
कृण्वाति, दे, प्र, कृ
कृत्ति, स्त्री, निघ ३।१;४।२ नि ५।२२
कृदर, पुं, निघ३।४,न,३।२९नि३।२०
कृधु, वि, निघ ३।२;६।३
कृधुक, वि, निघ ३।२
कृन्त, धा, कृन्तति, निघ २।१९
कृन्तत्र, न ८।२२
कृप्, धा, कृपायति निघ ३।१४ कृपयन् नि २।१२
कृप्, स्त्री, निघ ४।३ नि ६।८ कृपा, तृतीया निघ ३।१४
कृपण्यति, निघ ३।१४
कृपण्यु, वि, निघ ३।१६
कृपीट, न, निघ, १।१२
कृवि, पुं, निघ, ३।२३ = क्रिवि
कृशान, न, निघ १।२;३।७
कृष्, धा, कृष्यति
कृष्टि, स्त्री, निघ२।३नि१०।२९;३१
कृष्ण, वि, २।२०
कॄ, धा, कृणाति, निघ २।१०
केत, पुं, निघ ३।९
केतु, पुं, निघ ३।९ नि ११।६;२९; १२।७;१५
केनिप, पुं,निघ३।१५ = आकेनिप
केपयः, बहु, निघ ४।२०नि ५।२४
केवट, निघ ३।२३
केशिन्, पुं, निघ ५।६नि१२।२५;२७
कै, धा, व्याच के, निघ २।६
कोश, पुं, निघ १।१०नि ९।२६
कौरयाण, पुं, निघ, ४।८नि ५।१५
क्नूय, धा, क्नोपयति ७।१४
क्रश, धा, २।२५;१२।८
क्रतु,पुं,निघ२।१;३।९नि२।२८;१०।१०
क्रन्द्, धा, कनिक्रदत् ९।४ स्य-कन्द्‌यन् ८।२३
क्रम्, धा, अतिक्रामन्तः ६।१२ विचक्रमे १२।१९
क्रव्य, न, ६।११
क्रव्याद्, वि, ६।११
क्राण, निघ ४।१ नि ४।१८
क्रिमि, पुं, ६।१२ (क्रमि, अथर्व २। ४।३२।१)
क्रिवि,पुं;निघ३।२३नि ६।३०
क्रिविर्दत्; वि; निघ ४।३नि६।३०

क्रुश् ; धा; २।२५
क्रूर; वि; ६।२८
क्लृप्; धा; कल्पते; निघ ३।१४
क्षण; पुं; २।२५
क्षत्र; न, निघ १।१२;२।१०
क्षत्रन्; न; निघ १।१८;२.७
क्षप्; स्त्री; निघ १।१२
क्षपा; स्त्री; निघ १।७
क्षमा;=तृतीया; निघ १।१
क्षयति; दे; प्र; क्षि
क्षर्; धा; अक्षाः; निघ ४। २; नि
५।३ विक्षरन्ति ११।४१
क्षा; स्त्री; निघ १।१
क्षामा, निघ १।१
क्षि; धा; क्षयति; निघ २ । २१
क्षयः नि ८।१८ क्षयन्तं ५। ९
क्षियति; निघ २।१४ नि २।६;
५।३;१०।१४ क्षियन्तं १०।१२
क्षियतः; निघ ९।१०
क्षिति; स्त्री; निघ ११;२।३नि४।२४
क्षिप्; स्त्री, निघ २।५
क्षिप्णि (स्त्री) २।२८
क्षिपती; द्वि; निघ २।४
क्षिपस्ती; द्वि, निघ २।४
क्षिप्र, वि; निघ २।१५नि ३।९
क्षीर; न; निघ १।१२ नि २।५
क्षु; न; निघ २।७
क्षुत; स्त्री; निघ २।७
क्षुद्; धा; क्षोदति; निघ २।१४
क्षुम्प्; धा; क्षुम्पति; निघ २।१४
क्षुम्प; न; निघ ४।२ नि ५।१६
क्षुल्लक; वि; निघ ३।२
क्षेत्र; न; १०।१४
क्षेत्रसाधस् २।२
क्षेत्रस्य पतिः; निघ ५।४नि१०।१४
क्षोण (न) निघ ४।३ नि ६।६
क्षोणि; स्त्री; निघ १।१
क्षोणी; स्त्री; निघ; ११;३।३०
क्षोदति; दे; प्र, क्षुद्
क्षोदस्; न; निघ १।१२
क्ष्मा, स्त्री; निघ १।१ नि१०।७

## ख

ख;न;३।१२;१०।९खाःबहु;निघ१।१३
खजे; सप्तमी; निघ २।१७
खण्ड, न नि ३।१०
खल, पुं.निघ २।१७ नि ३।१०
खलु, अ, १।५
खात पुं, निघ ३।२३
खादोअर्ण, वि, निघ १।१३
खिद्र, न, ११।३७
खेदयः, बहु, निघ १।५
ख्या, धा, व्यख्यत् १२।१३

## ग

गङ्गा, नामवि, ९।२६
गण, पुं, निघ १।११ नि ६।३६
गध्, धा, गध्यः, आगधिता,परि
गधिता, निघ ४।२ नि ५।१५

गभस्ति, स्त्री, निघ १।५; २।४;१
गभीर, वि, निघ १।११;१२;३।३;३०
गम, धा, गन्ति, गमति, अगन्, अजगन्, जगान्ति, जङ्गन्ति, गनीगन्ति, निघ, २। १४ गमध्यै नि २।७जग्मुषः १२।४३ आगच्छात् ४।२० आगन् ५।२ आगत १२।४० आगन्तन ११। १५ आजग्मुः १२।४२ आगनीगन्ति, निघ २।१४ नि ९।१८ समग्मत १२।३४ संजग्मानः ४।१२
गम्भर, न, निघ १।१२
गम्भीर, वि, निघ १।११;३।३०
गम्भीर वेपस् नि ११।१७
गय, पुं, निघ २।२; १०; ३।४
गरुत्मत्, वि ७।१८
गर्त, पुं, निघ ३।४ नि ३।५
गर्तारुह् ३।५
गर्भ, पुं, १०।२३
गल्द; पुं; स्त्री निघ १।११;४.३नि ६।२४
गवते; दे; प्र; गु
गहन; न; निघ १।१२
गह्वर; न; निघ १।१२ नि १४।११
गा; धा; गाति; जिगाति; जगायात्; जगाति; जगति; निघ २।१४ आगाहि; नि १०।३६;३७ आगात् २।१९ उदगात् १२।१६ उपप्रागात् ६।२२
गातु; पुं; निघ १।१;४।१ नि ४।२५
गाथा; स्त्री; निघ १।११
गाध; पुं; २।२
गान्धर्वी; स्त्री; नि १।११
गायति; दे; प्र; गै
गायत्र; न; १।८
गायत्री; स्त्री ७।१२
गिर्; स्त्री; निघ १।११ नि १।१०; ६।२४; १०।५
गिरि; पुं; निघ १।१० नि १।२०
गिरिष्ठा; वि; १।२०
निर्वणस्; वि; निघ ४।३नि ६।१४
गु; धा; गवते; निघ २।१४
गुह्; धा; अपागूहन् १२।१०
गूर्धयति; निघ ३।१४
गृणाति; दे; प्र गॄ
गृत्स; पुं; निघ ३।१५ नि ९।५
गृत्समद; नामवि; ९।५
गृभ्; धा; १०।२३ अगृभ्णत ७।२६
गृह; न; निघ ३।४ नि ३।१४
गॄ; धा; गिरति ०। अजीगः, निघ ४।३ नि ६।८ प्रतिजागर; नि १०।३३
गॄ; धा; गृणाति; निघ ३।१४नि ३।५
गै; धा; गायति; निघ ३।१४नि १।८
गो; पुं; स्त्री; निघ १।१;४;५;११; ३।१६;४।१;५।५ नि २।५;१४; ४।२४;६।२;१२।७
गोत्र; पुं; निघ; १।१० गोत्रा स्त्री;

निघ १।१
गोपयत्य; वि; ५।१
गोपा, पुं,३।१२।
गोपीथ, न, १०।३६
गोमद्, वि; ५।३
गौर, वि, ११।३९,गौरी,स्त्री; निघ
१।११;५।५ नि ११।३८
ग्नाः, स्त्री; निघ १।१९;३।२९ नि
३।२१;१०।४७;१२।४६
ग्मा, निघ १।१
ग्रस्, पुं; ३।३
ग्रासिष्ठ; ६।८
ग्रावन्; पुं;निघ१।२०;१५।३ नि९।८
ग्रीवा; स्त्री; २।२८
ग्रीष्म; पुं; ४।२७

घ

घन; पुं; २।१
घर्म; वि; पुं; निघ१।९;३।१७ नि
६।३२;११।४२;४३
घस्; धा; घसत् १२।९
घृ; धा; ७।२४
घृण, पुं; निघ १।९
घृणि; पुं; निघ १।८;१७; २।१३
घृत; न; निघ १।१२नि२।२;७।२४;
१०।१६
घृतपृष्ठ; वि; ४।२६
घृतवत्; वि; निघ३।३०नि१०।२२
घृतस्नु; वि, १२।३६
घृताची; स्त्री; निघ १।७
घोरचक्षस्,वि, ६।११
घोष; पुं; निघ १।११ नि ९।८
घ्रंस; पुं; निघ १।९नि६।४;१२;३६

च

च; १।४
चक्; धा चकमान; निघ २।६
चकद्र; पुं; २।३
चक्र; न; ४।२७ चक्रिया ३।२२
चकृत्; दे; प्र; क्र
चक्ष्; धा; चष्टे; अचक्षम; चाक्षम;
निघ ३।११ अभिचष्टे नि, १०।
२७;१२।२७ परिचक्ष्यम,५।८;
विचष्टे निघ ३।११ नि ७।२२
१०।४६ निचक्षते १२।२७
चक्षस्; न; ९।२७; १२।२२
चक्षुस् न; ४।३;१२।१६
चत;धा;चतति;निघ२।१४नि६।३०
चतुर्; संख्या; ३।१०
चतुष्पाद्; वि.; ११।४०;१२।१३
चन. निघ ३।११
चनस्, न; निघ ४।३; नि ६।१६
चन्द्र; वि; नि; १।२ नि ११।५
चन्द्रमस्; पुं; निघ ५।५;नि ११।५
चन्द्राग्र, वि; १२।१८
चमस,पुं; निघ १।१० नि१०।१२;
१२।३८
चमू; स्त्री; निघ ३।३०

चयसे; दे;प्र; चि
चद्; धा, चरथ्यै ६।२०
चरथ, न; ४।१९ चराथा१०।२१
चरिष्णु; वि, ७।२९
चरु; पुं, निघ १।१० नि ६। ११
चर्मन्, न; २।५
चर्षणि;पुं,निघ२।२नि४।२४;१२।२१
चर्षणी धृत, वि, १२।४०
चष्टे,दे, प्र, चक्ष्
चाकन्; चाकनत्,दे;प्र; कन्
चारु, वि; ८।१५; ११।५
चि; धा; चयसे; निघ; ४।१ नि४।२५ चिकयम, चिकयत्३।११
चित्; धा; चेतयन्ती; नि ८।१५ चिकित्वस्२।११;८।५प्रचेतयाति ११।२७ वि चितयन्त:४।१९
चित्; वि; ५।५
चित्; अ; निघ ३।१३;४।२ नि १।४; ५।५; १०।२९
चित्त;न, निघ ३।९नि १।६;९।३३
चित्ति स्त्री; २।९
चित्र; वि, १२।६; १६
चित्रामघा, स्त्री निघ १।८
चिद्वाक ९।१४
चुद्, धा, प्रचोदन्ती ८।१२
चेतस् न, निघ ३।९
चोष्कूयमाण, दे, प्र, स्कु
च्यवते, प्र; च्यु
च्यवन, पुं; निघ ५।१नि ४।१९
च्यवान; पुं, निघ २।४
च्यु, धा, च्यवते; निघ २।१४
च्यौत्न,न; निघ २।९
छद्,धा छदयति; छदयते,छन्दति; निघ ३।१४छन्त्सत्; निघ२।६ अच्छान्; नि ९।८
छर्दिस्, निघ ३।४
छन्दस्; न, निघ ३।१६नि७।१२
छर्दिस् निघ ३।४
छाया; स्त्री; निघ ३।४

## ज

जक्ष; धा; जक्षिवांस:; नि१२।४२
जगत; निघ २।३; १४ नि५।३;८।१३; १२।१६ स्त्री;निघ२।११ नि ७।१३
जगन्ति;दे; प्र; गम्
जगाति; जगायात दे; प्र; गा
जनिम; वि; ५।१५
जगुरि; वि; ११।२५
जघन; पुं;न;९।२०
जङ्गन्ति; दे;प्र; गम्
जज्झती; बहु; स्त्री निघ ४।३ नि ६।१६
जञ्जणा भवन्; निघ १।१७
जठर; पुं; निघ ४।१ नि ४।७
जन्,धा;जनिष्ट ११।३६अजीजनन्

७।२८ जजान १० । ३४ जज्ञिरे ११ । १७ जातः ८।२१;१०। १०
जनश्री; वि; ६ । ४
जनि; स्त्री; १० २१; १२। ४६
जनित्री; स्त्री; ८ ।१४
जनित्व; १० । २१
जनुस्; पुं;८ । ४
जन्तु; पुं; निघ २ ।२नि३। १९
जन्मन्; न; निघं १ । १२ नि११ । २३; १९ । २३
जवारु; न; निघ ४।३ नि६ ।१७
जम्; धा; जमति; निघ२।१४नि३।६ जमत्;निघ१।१७नि७ ।२४
जमदग्नि; पुं७। २४
जरते; दे,प्र, जॄ
जरस्; न; ११। ३८
जरा, स्त्री, १० । ८
जराबोध, वि, १० । ८
जरायु, न, १० । ३९
जरितृ, पुं, निघ ३ । १६नि १ ।७
जरूथ,न, निघ४ । ३ नि ६ । १७
जल, न, निघ । १२
जलाष, न, निघ १२ । ; ३ । ६
जल्प्, धा, जल्पति, निघ ३ । १४
जल्हु, वि, निघ ४ । ३ नि ६ ।२५
जवति, दे, प्र, जु
जस्, धा, जसति, निघ २ । १४
जसुरि, वि, निघ ४ । १ नि ४।२४
जहा, दे, प्र, हा
जह्म, निघ १।१२
जा, स्त्री, निघ २ । २ नि ३ । ६
जागरूक, वि, १। १४
जागृवि, वि, ९ । ८
जाड्य, वि, १ ।१४
जातरूप, न, निघ १। २
जातविद्या, स्त्री, १ ।८
जातवेदस्, पुं, निघ ५।१नि७।११
जामातृ, पुं, ६ । ८
जामि, वि, निघ १ ।१२ ;२। ५;४।१नि३।४;६;४। २०; १० । १६ ।
जामिवत्, वि, निघ १।१२
जायति, दे, प्र, जै
जार, पुं, ३ । १६; ५। २४;१०।२१
जार्यायि, निघ ४ । ३ नि६ ।१५
जारिणी, स्त्री, १२ । ७
जाल, न, ६ । २७
जि, धा,जेत्व ९ । १२
जिगाति, दे, प्र, गा
जिघर्ति,दे प्र, घृ
जिन्व्, धा, जिन्वति, निघ२ ।१४; ४ ।३नि ६ । २२प्रजिनोषि११ ।३७
जिवि, वि३ । २१
जिष्णु, वि १२ । २३
जिह्म, वि,८ । १५

जिह्वा, स्त्री, निघ२।११ नि१।२६
जीर, वि निघ २।१५
जीव, वि, ६।२७
जीवन, पुं, १।१४
जीवसे, १२।२९
जीवातु, स्त्री, १०।४०; ११।११
जु, धा, जवति, निघ२।१४जवेते नि९।२९
जुठय्,धा,जुपते,निघ२।१जुपाणाः, नि१।१४२जुजुषाणा स२।१६
जुहुरे,दे, प्र, हे
जूति, स्त्री, १०।२८
जूर्ण, स्त्री, निघ २।१३, १४।१ ३ नि ६।४
जूर्व्, धा, जूर्वति, निघ ९।१८
जृ, धा, जरति, जरते, निघ ३। १४; ४।२नि४।२९; १०।८
जेह्, धा, जहेत, निघ २।१४
जै, धा, जायति, निघ २।१४
जोषवाकम्, निघ४।२ नि५।२१
ज्ञाति, पुं, ३।२१
ज्मा, स्त्री, निघ१।१ नि १२।४३
ज्या, स्त्री, निघ४२नि९।१५;१७
ज्युत् धा० ज्योतते, निघ १।१६
ज्योतिर्जरायु, वि, १०।३९
ज्योतिस्, न, ३।१
ज्रि, धा, ज्रयति; निघ २।१४
ज्वल, धा; निघ १।१७

ड

डीयते, निघ २।१४

त

तक्, धा, तक ति; निघ २।१४
तकतन्; न; निघ २।२ नि ११।२५
तक्ष्न; पुं, निघ ३।२४
तक्ष्, धा; तक्षथुः ४।१८ ततक्षुः ६।२७ तक्षती, स्त्री ११।४०
तक्षन्, पुं, १।१४
तत, पुं ६।६
ततनुष्टि, पुं, निघ ४।३नि६।१८
तथा, निघ, ३।१३
तन्, धा, २।२८, अन्तत १२।३४ आततान १०।३१
तनय,पुं,न निघ२।२नि१०।७;१२।६
तना, निघ २।१०
तनू, स्त्री, १०।४०
तनूत्यज्, वि, ३।१४
तनूनपात्, निघ ५।२ नि ८।५
तनूशुभ्र, वि, १।१९
तन्यतु, स्त्री, १२।३०
तप्, धा, निघ २।२२
तपस्, न निघ १।१७
तपिष्ठ, ६।१२
तपु,वि ६।१२
तपुषि, वि, ६।६ स्त्री, तपुषी,निघ २।१३

तमस्, न, निघ १।७ नि २।१६
तमस्वत्, वि, निघ १।७
तरणि, वि, निघ २।१५
तरणित्व, न, ११।१६
तरस्, न, निघ २।६
तरस्वत्, वि, निघ १।१३
तरुत्, पुं, १०।२८
तरुष्यति, निघ ४।८नि५।२
तर्कु, न; २।१
तलित्, क्रियावि, निघ २।१६;१९
नि ३।१० तलितः ३।११
तवस्, वि, निघ २।९
तवस, वि, निघ ३।३ नि ५।९
तविष, वि, निघ ३।३ नि २।२४
तविषी, स्त्री, निघ२।९नि९।२५
तष्टृ, पुं, ५२१
तस्, धा ४।२४
तस्कर, पुं, निघ ३।२४ नि ३।१४
तस्थुषः, दे, प्र, स्था
ताजत्, निघ २।१५
ताड्, धा,ताल्हि निघ २।१९
तान्व, वि, ३।६
तामु, पुं, निघ ३।१६
ताम्र, न, निघ ३।७
तायु, पुं, निघ ३।२४ नि ४।२३
तार्क्ष्य, पुं, निघ१।१४;२।४नि१०।२७
तालु, न, ५।२६
तिग्म, वि निघ २।२० नि १०।६
तिज्, धा, १०।६
तित उ; न, निघ४।१ नि ४।९
तिरस्, उप, निघ ३।२८नि ३।२०;
१२।३२
तिर्यग्बिल, वि,१२।३८
तिस्रोदेवीः, निघ ५।२ नि८।१२
तु, धा, ५।२५ तूताव, निघ ४।१
नि ४।२५ संतवीत्वत् २।८
तुग्र्या; स्त्री; निघ १।१२
तुग्वन्; (न) निघ, ४।१निध।१५
तुच्, स्त्री, निघ २।२
तुज् धा, (तुञ्ज) तुञ्जति; निघ
३।२० तूतुजानः २।१५ नि ६।
२० तुज्यमानासः निघ २।१५
तुजः, निघ २।२०
तुजि, स्त्री, १२।४५
तुञ्ज, पुं, निघ २।२०;४।३नि६।१८
तुर, वि, १२।१४
तुरण्यति; २।२८
तुरीप; न, निघ ४।३ नि ६।२१
तुरीयति, निघ २।१४
तुर्वणि; वि, निघ ४।३नि ६।१४
तुर्वश; पुं, निघ २।३;१६
तुवि, निघ ३।१
तुविक्ष; वि, ६।३३
तुविजात, वि; १२।३६
तूताव, दे, पु, तु
तूतुजानः, दे, प्र, तुज्
तूताजि, वि, निघ २।१५
तूताजित्,निघ २।१५

तुतुमाकृये, निघ ४।२ नि ५।२५
तूय; वि, न, निघ १।१२ क्रिया वि २।१५ नि८।१३
तूर्णाश; न, निघ ४।२ नि ५।१६
तृक्न्, पुं, निघ ३।२५
तृक्षः, निघ २।९
तृच; पुं; २।१
तृण, न, १।१२ नि ११।४४
तृणेलिह; दे; प्र; तृह्
तृन्द; धा; आततर्द १०।४१
तृपलप्रभर्मन्, वि, ६।१२
तृपु, पुं; निघ ३।२४
तृप्ति; स्त्री; निघ १।१२
तृपम; वि; निघ ३।२
तृप्णु,वि;नि,६।१२क्रियावि;निघ२।१५
तृष्णज्, वि; ११।१५
तृह्, धा; तृणेविह:;निघ २।१९
तॄ,धा;अवतिरति;निघ२।१८ अवारत्, नि, २।२१ आतिरत,निघ २।१९प्रतिर,निघ१०।४०प्रातिरत ११।३६प्रतिरन्तु११।३९प्रतारी: ४।७प्रतरिप:११।३०प्रतारिपत १०।३५ प्रतिरते ११।६
तेजस्,न, निघ १।१२;१७
तोक, न, निघ २।२ नि १०।७; १२।६
तोक्मन्, न, निघ २।२
तोद, पुं, निघ ४।२ नि ५।५
तोय, न, निघ१।१२ क्रिया वि२।१५
तोश्, धा, नितोशते नितोशयति, निघ २।१९
तोरयाण,पुं,निघ ४।२ नि ५।१५
त्मन्,तृतीया त्मना३।२१;६।२१;११।३१ त्मन्या ८।१७
त्य, सर्वनाम १०।२८; ३६; १२।१५; १७
त्यजस्, न, निघ २।१३
त्रिकत्, पुं, निघ ३।२४
त्रित पुं, ४।७; ९।२५
त्रिनाभि, वि, ४।२७
त्रिपु, पुं, निघ ३।२४
त्रियुग, न, ९।२८
त्रिपम, वि, निघ ३।२
त्रिष्टुभ्, स्त्री, ७।१२
त्रधा, क्रियावि, १२।१९
त्व, सर्वनाम, निघ ३।२९
त्वक्ष्, धा, ८।१३
त्वक्षस्, न, निघ २।९
त्वष्टृ, पुं, निघ ५।२; ४६ नि८।१३; १०।३३; १२।११
त्वाष्ट्र; पुं, २।१६
त्विष्, धा, ८।१३
त्वेष, वि, ९।२८
त्वेषप्रतीक, वि, १०।२१.
त्सर्, धा, त्सरति, निघ २।१४ अत्सारः ५।३

## थ

थर्वति, ११ । १८

## द

दंश, पुं, १ । २०
दंसयः, बहु, निघ ४। १ नि ४।२५
दंसस्, न, निघ २ । १
दक्ष्, धा, १ । ७
दक्ष, पुं, निघ २ । ९नि ११ । २३; १२ । ३६
दक्षिण, वि, १ । ७
दग्धि, निघ ३ । १८
दघ्, धा, दघ्नोति, दघ्यति, निघ २।१४ नि १ । ७; ९
दघ्न, न, १ । ८
दण्ड, पुं, २ । २
दत्र, न, निघ १ । २
दद्; धा, २ । २ दद्धि;निघ३।१८
दधिक्रा पुं, निघ १ । १४; ५। ४ नि २ ।२७; २८; १० । ३०
दधिक्रावन्, पुं, निघ १ । १४
दध्यञ्च्, नामवि, निघ ५ । ६ नि १२ । ३३
दनः; निघ ४ । ३ नि;६।३१
दभ्, धा, दभ्नोति, निघ,२ । १४; १९ देभुः । ५१२
दभ्र, वि निघ३ ।२; २८ नि३। २०
दम, न, निघ ३ । ४ नि ४ । ४
दमूनस्, पुं, निघ ४ । १नि १।१४; २ । २; ४ ।५
दय्,धा,दयते; निघ४।१७नि४।१७
दर्विहोमिन्, वि, ११४
दर्शत, वि,१०।२
दवीयस्, दे, प्र; दूर
दशन्, संख्या, ३।१०
दस्, धा, दस्यति, १।१;७।२३
दस्यु, वि, ६।२६;७।२३
दस्र, वि; ६।२६
दहरक, वि, निघ ३।२
दा, धा, दाति; निघ ३।२० दाः, नि१०।१९दातवे४।१५.अवत्तः प्रत्तः २।१
दा, धा, दाति, २।२
दाक्षायणी, स्त्री, ११।२३
दानव, पुं, १०।९
दानु, पुं; ११।२१दानुनस्पती,द्वि, २।१३
दारु, न, ४।१५
दावन्, न, निघ४।१निघ४।१८
दाश्,धा,दाशति,निघ३।२०नि१।७ ददाश।१९।२४दाशुषे,दाशुषः दाश्वांसः ११।११;१२।४०
दास्, धा, दासति, निघ ३।२०
दास, पुं, २।१७
दासपत्नी, स्त्री २।१७
दिद्युत, स्त्री, निघ २।२० नि१०।७
दिधिषु, पुं; ८।२०
दिन, न, निघ १।८

दिव्=द्यु,
दिव, न, निघ १।९नि ४।१९
दिविष्टि, स्त्री, निघ ४।३ नि ६।२२
दिव्य, वि, ४।१३;७।१८
दिश्, धा, दिदिङ्ढि ११।३२
दिश्, स्त्री, निघ १।६नि ०।१५
दी, धा, दीयाति; निघ २।१४
दीदि, धा, दीदयति; निघ १।१६
दीदयत्, नि १०।१८
दीधिति, स्त्री, निघ १।५;२।५ नि ५।१०
दीर्घ, प्रयज्यु, वि ५।२
दुन्दुभि, पुं. निघ ५।३नि९।१२
दुन्दुभ्यति पुं. ८।१२
दुरित, न, निघ ४।३नि ६।१२
दुरोण, न, निघ३ ।४नि४ ।५;८।५
दुर्नामन्, वि, नि ६ । १२
दुर्य, वि, स्त्री, निघ ३ । ४
दुर्वर्तु, वि, ४ । १७
दुवस्यति, निघ ३।५नि१० । २०
दुष्, धा विदुक्षः ३। २
दुष्कृत, वि, १० । ११
दुष्टर, वि, ५ । २५
दुस्, उप, १ । ३
दुह्, धा, दुहीयत्१।७दोहत्११।४३
दुहितृ, स्त्री, ३ । ४
दूढी, पुं, ५ । २; २३
दूत, पुं, निघ४।२ नि१ । १;६ । २२
दूर वि, ३ । १९; ४।२५; दवीयस्
९ । १३
दूरे अन्ते, द्वि, निघ ३।३०नि४।२५
दूरेदृश्, वि, ५ । १०
दृति, पुं, निघ १ । १०
दृश्, धा, ददृश्रे १ । ९ दृशे१२।
१५; २६ संदृक्षसे ४ । १२
दृशीक, वि, १० । ८
दृ, धा, अदर्दः, नि १०।९ आदर्यते
११ । २१
देव, पुं, निघ ५ । ६ नि ७ । १५;
१२ । ३८
देवगोप, वि. ११ । ४६
देवजात, वि ९ । ३
देवजूत, वि, १० । २८
देवताति, स्त्री, निघ ३ । १७ नि
१२ । ४४
देवत्रा, क्रियावि, ८ । ६; २०
देवपत्न्यः, स्त्री, बहु, निघ ५।६नि
१२।३४
देवयज्या ६।२२
देवयत् ८। १८
देवया वि, १२ । ५
देवयु, वि, निघ ३ । १८
देवर, पुं. ३ । १५
देवश्रुत् वि, २। १२
देवसुमति, स्त्री, २ । ११
देवहूति, स्त्री, ५ । २५
देवाञ्च्, वि, निघ ४ । ३ नि६ । ८
देवापि. नामवि, २ । १०; १२
देवी ऊर्जाहुती, द्वि निघ ५।३ नि
९ । ४२

देवी जोष्ट्री, द्वि,निघ५।३नि९।४२
दैवत, न, १।२०; ७।१
दैव्याहोतारा, द्वि, निघ ५ ।२नि ७।३०;८।११
दोधति, दे, प्र, धू
दोषा, स्त्री, निघ १।७ नि३ । १५
दोस्, न, ४ । २
दौर्गह, न, निघ १ । १४
द्यु, पुं, निघ १।९नि१ ।६;२।२०;६ १; ९ । १३; १०। २८; २७ द्या वापृथिवी द्वि, निघ३।३०;५। ३नि ९ । ३७
द्युगत्, क्रियावि, निघ २ । १५
द्युत,धा,द्योतते,निघ१।१६दविद्योत् नि ११ । ३६
द्युम्न,न, निघ२ ।१०;४।२नि५। ९
द्योतते, दे, प्र, द्युत्
द्योतना, स्त्री, निघ १ ।८
द्रप्स, पुं, ५ । १४
द्रम, धा, द्रमति, निघ २ । १४
द्रवत्, क्रिया वि, निघ २ । १५
द्रवति, दे, प्र, द्रु
द्रविण, न, निघ २ ।२; १०नि८।१
द्रविणोस्, न, ८ । २
द्रविणदस्, निघ ५ । २नि८। १; २
द्रा, धा, द्राति,निघ२ । १४नि२।३
द्राविणोदस, वि,८।२
द्रु, धा, द्रवति, निघ २ । १४
द्रु, न, ४ । १५; १९
द्रुघण पुं, निघ ५ । ३; ९ । २३
द्रुपद, न, निघ ४।१नि४। १५
द्रुम, धा, द्रुम्मति निघ २।१४
द्रुह्यु, पुं, निघ २ । ३
द्रू, धा, द्रूणाति, निघ २।१९
द्रूळ्, धा, द्रूळति, निघ २ । १४
द्रोण, न, ५।२६
द्रोणाहाव, वि, ५।२६
द्वार्, स्त्री, निघ ५।२नि २।२;८।९
द्वि; संख्या,३ । १०
द्विता, क्रियावि, निघ४। २नि५।३
द्विपाद्, वि, ११।४०; १२ । १३
द्विबर्हस्, वि, निघ४।३ नि ६। १७

ध

धन, न, निघ २। १०नि३। ९
धनु, पुं, निघ ५ । ३नि ९। १६
धन्व्,धा, धन्वति, निघ २ । १४
धन्वन्, न, निघ १।३;४।२ नि ५। ५; ८ । १८
धम, धा, ( ध्मा ) धमति, निघ २ । १४; १९;३ । १४ धमन्तीः नि ६ । २ अभिधमन्ता
धमनि, स्त्री, निघ १।११नि६ ।२४
धरुण, न, निघ १।१२नि १२ । ३०
धर्णसि, पुं, न, निघ २ । ९
धर्तृ, पुं, १२ । ३०
धर्मन्, पुं, ८ । २५, न, ७ । २५

धव, पुं, निघ२।२नि३ । १५
धा, धा; दधिपे; ५।२५ दधातन८।
२७ धत्तात् ८।१८ धामहे१२।
६ अधायि६। २२ अध्यधीताम्
३ ।१४ निदधे १२ । १९
धातु, पुं१; । २०
धातृ, पुं, निघ ५ । ५ नि १०। २६;
११ । १०
धाना, स्त्री ५ । १२
धामन् न, ५ ।२, ९।२८
धारा, स्त्री, निघ १ । ११नि१३। ६
धाव्; धा, धवति, धावति. निघ
निघ २ । १४
धासि. स्त्री निघ २ । ७
धियंधा, वि, ८ । ७
धियावसु, वि, ११ । २६
धिषणा, स्त्री, निघ,१।११;३ । ३०
नि ८ । ३
धिष्ण्य, वि, ८ । ३
धी, स्त्री, निघ २ ।१; ३।९ नि११।
२७;१२ । १८; ३०
धीति, स्त्री, निघ २ । ५ नि२।२४;
१० ।४१; ११ । १६
धीर,वि, निघ ३ ।१५ नि ३ ।१२;
४ ।१०; १२। ३२
धुनि, वि, निघ १ । १३ नि ५।१२
धुर्, स्त्री, निघ २ । ५; ३ । ९
धू, धा, दोधति, निघ २ ।१२
धूर्व्, धा, धूर्वति, निघ २ । १९
नि ३ । ९
धृ, धा, दाधार १० । २२
धेना, स्त्री, निघ १। ११; नि ८।१७
धेनु,स्त्री, निघ१।११;१।५नि११।४२
ध्मा, धम्, धा
ध्यै,धा ( धी, धे ) अदीधेत् नि
२।१२दी धिम६।८माभिधेतन,
निघ ४।३ नि६।२७ आधीतम्
१ । ६
ध्रज्, धा, ध्रजति; निघ २।१४
ध्रा, धा, ध्रति ध्राति,ध्रवति,निघ
२ । १४
ध्राजि, स्त्री, निघ १२ । २७
ध्रु, धा; ध्रुवति; निघ २ । १४
ध्वंस् , धा, ध्वं सति, निघ२।१४
ध्वान्तः, नि० नि ४.३
ध्वं सनि, पुं, २।९
ध्वर् , धा, ध्वरति, निघ २।१९
नि १।८
ध्व स्मन्वत्, वि, निघ १।१२

## न

न, निघ ३।१३ नि १।४;७ । ३१,
१०।१२
नंसन्ते, दे, प्र, नम्
नकिः, म, निघ ३।१२
नकीम. अ, निघ ३।१२
नक्ता, स्त्री, निघ १।७ नि८।१०
नक्ष् , धा, नक्षति,निघ २।१४;१८
नि ३।२० नक्षन्ते १० । २१

ननक्ष, निघ २ । १८
नक्षत्र, न, ३।२०
नक्षद् दाभ, वि, निघ ४।३ नि६।३
नक्षति, निघ २।१४
नग्ना, स्त्री, निघ १।११
नद्, धा, निघ ३।१४ नि ५।२
नद निघ ३।१६; ४।२ नि ५।२
नदनु, पुं, निघ २।१७
नदी, स्त्री पुं, निघ १।१३; ५ । ३
नि २।२४;९।२५; ११।४८
नना, स्त्री, निघ १।११ नि६।६
नपात्, पुं, निघ २।२ नि८।५
नप्ती; स्त्री, ३।४ नप्त्य, न
नभ् , धा, नभति नभते निघ २।
१९ नभन्ताम्, नि१०।५
नभनु, स्त्री, निघ १।१३
नभन्वाः, बहु, निघ १।१३
नभस्, न, निघ १।४;१०;३ ।३०
नि २।१४
नम, धा, नंसन्ते, निघ ४ । १ नि
४।१५ नि नंसै २।२७
नमस्यति, निघ ३।५
नम्या, निघ १।७
नर, पुं, निघ २।१ नि ५।१
नरक, न, १।११
नराशंस, पुं, निघ ५।२ नि ८।६
नर्व, वि, ११।३६
नव, वि, निघ ३।२८ नि४।१५
नवते, दे, प्र, नु
नवग्व, वि, ११।१९
नवन्, संख्या, ३।१०
नवपाद्, ११।४०
नवेदस् , पुं, निघ ३।१५
नव्य, वि, निघ ३।२८ नि३।३;६।९
नश्, धा, नशत, नि २।१८
नस् , धा, नसते, निघ २ । १४
नसतः ४।१; नसन्त ७।१७
नहुस् , पुं, निघ २।२
नाक, पुं, निघ १।४ नि २।१४
नाद्, पुं, निघ ३।१६
नाध् , धा, नाधमानाः ४।३
नाधः, २।२ नाधसी, द्वि
नानाधी, वि, ६।६
नाभाक; नामवि, १०।५
नाभि, स्त्री, ४।२१;६।२१
नाम करण=प्रत्यय, असः १।१७
ईरः २।५ ओ २ । ५ क्सः२।२
श्रु ७।२९ वः १०।१७
नामन्, न, निघ १।१२ नि ३।२२
४।२५
नायी, निघ ३।१७
नाराशंस, पुं, निघ ५।३ नि ८।९
नारी, स्त्री; निघ ३।१७
नाली, स्त्री; निघ १।११
नासत्य, वि, ६।१३
नासिका; स्त्री ६।१७
नि, उप, १।३
निगम; पुं; १।१

निघण्टु, पु, १।१
निघृष्व, वि, निघ ३।२
निचुम्पण, वि; निघ ४।२ नि ५।१७
निण्य, वि, निघ ३ । २५ नि२।१६
नित्य, वि, ३ । २
निद्, पुं, १० । ४२
निधा, स्त्री, निघ ४। १नि ४ । २
निधान, न, ३ । ६
निधि, पुं, ८ । ४
निवर्हयति, दे, प्र, वृह
नियान, न, ७ । २४
नियुत्, स्त्री, निघ १।१५नि५।२५
नियुत, न, निघ ३।१०
नियुत्वत्, निघ २।२२ नि ५।२८
निर्ऋति, स्त्री, निघ १ । १ नि
१ । १७; २ । ७; ७ । ३
निर्णिज्, स्त्री, निघ ३।७ नि ५।१९
निवत्, वि, १०।२०
निवपन्तु, दे, प्र, वप्
निविद्, स्त्री, निघ १।११
निश्रम्भ, वि, निघ ४।३ नि ६।३
निषाद, पुं, ३।८
निष्प पिन्, निघ ४।२नि ५।१६
निष्षाह, वि, ३।८
निस्, उप, १।३
नीचाय मान, ४।२४
नीची नवार, वि १०।४
नीचैः, क्रिया वि, ४।२४
नीर, न, निघ १।१२;३।४
नील, न, निघ ३ । ४
नीलि, स्त्री, निघ १।११
नु, अ, निघ २ । १५; ३ । १३ नि
१ । ४; ११ । ५० नु कम,
निघ ३ । १२ नुच, नूचि त,
निघ ४।१नि४।१७;१०।३
नु,धा,नौति,निघ३।१४नवते २।१४
नूतन, वि, निघ ३।२८ नि ७।१६
नूत्न, वि, निघ ३।२८
नूनम्, अ, १।५;६।७
नृ, पुं, निघ २।१४; ८।३
नृपाण, न; ५।२६
नृपीट; न; निघ १।१२
नृम्ण, न, निघ २। ९; १० नि १०
१०; ११ । ९
नेत्, १।१०
नेद्, धा, नेदति, निघ २।१४
नेम,पुं,निघ २ । ७ सर्वनाम, निघ
३ । २९ नि ३ । २०
नेमाधिति, स्त्री, निघ २।१७
नेमि, स्त्री; निघ २।२०
नैघण्टु, न; ८।३
नै घण्टुक, वि,१।२०;२। २४; ५ ।
१२, ११ । ४
नैचाशाख, पुं ६।३२
नोधस्, पुं, ४ । १६
नौ, स्त्री, निघ १।११नि ५।२३
नौति, दे, प्र, नु

## प


पक्व, वि, ५।२८;६।३४
पङ्क्ति, स्त्री, ७।१२
पचत, वि, निघ ४।३ नि ६।१६
पज्रहोषिन्, वि, ५।२२
पञ्चन्, संख्या, ३।१८ पञ्च जनाः निघ २।२ नि ३।८;४।२३
पड्भिः, तृतीया निघ ४।२नि ५।३
पण्=पन्
पणि, पुं, २।१७;६।२६
पत्, धा, पतति, पतयति, निघ २।१४ आपतत, नि ११।१९
पतंग, वि, निघ १।१४
पतत्रिन्, वि, ५।३
पति, पुं, १०।२१
पत्नीवत्, वि, ५।१८
पत्यते, निघ २।२१
पथिन्, पुं, २।२८
पथ्या, निघ १।५ नि ११।४५
पद्, न, २।७;५।१७
पदि, पुं, निघ ४।२नि५।१९
पन्, पण् धा, पनस्यति, निघ ३।१४ पनायति, नि २।२६ पनायत ९।१६ पनायते, निघ ३।१४ पणस्यति, पणायति, पणायते, पणते,
पपुरि, वि, ५।२४
पपृक्षाः, दे, प्र, पृञ्च ३।१४
पयते, ११।४२
पयस्, न, निघ १।७;१२;२।७नि२।५
पयस्वत्, वि, निघ १।७;१३नि५।२
पर, वि, २।२९
परशु, पुं, निघ २।१७
परा, उप, १।३
पराक, वि, निघ ३।२६ नि५।१९
पराचैः, क्रियावि (तृतीयार्थे) निघ ३।२६ नि ११।२५
परावत्, वि, निघ ३।२६;नि७।२६; ११।४८
पराशर, पुं, निघ ४।३नि६।३०
परि, उप, निघ४।२नि१।३;५।२८; १०।७;११।१७
परितक्म्य, वि, निघ ४।१ नि४।६; ११।२५
परि द्वेषस्, वि, ५।२२
परिधि, पुं, २।२६
परिपति, पुं, १२।२८
परिव्राजक, पुं, १।१४
परीणस्, वि, निघ ३।१
परुच्छेप, नामवि, १०।४२
परुष, वि, २।६
परुष्णी, नामवि, ८।२६
परोक्षकृत, वि, ७।१
पर्जन्यजिन्वत, ८।६
पर्वत, पुं, निघ १।१०नि १।२०; १०।९; ११।३७

पर्वन्, न, १ । २०;२। २०
पर्शान, पुं, निघ १ । १०
पर्शु, स्त्री ४ । ३; ६
पर्ष, पुं, ३ । १०
पलित, वि, ४। २६
पवते, दे, प्र, पू
पवि, पुं, निघ १।१२;२। २०;३ । २
नि ५ । ५; १२। ३०
पवित्र, न, निघ १ । १२; ४ । २
नि ५ । ६
पवित्रवत, वि, १२ । ३२
पवीर, न, १२ । ३०
पवीरवत्, वि, १२ । ३०
पशु न, ४ । १४
पसस्, न, ५ । १६
पस्त्य, न, निघ ३ । ४
पा, धा, पाहि १० । २ पीप्यानः
२ । २७ पपिवांसः १२ । ४२
संपिवते १२ । २९
पांसु, पुं. १२।१८
पांसुर, न, १२।१९
पाक, वि, निघ३।८ नि३ । १२
पाजस्, न, निघ २ । ८; ९ नि
६ । १२
पाञ्चजन्य, वि, ३ । ८
पाणि, पुं, २।२६
पात्र, न ५ । १
पाथस्, न, निघ ४ ।३; नि ६।७;
८ । १७
पाद पुं २ । ७
पादु, पुं; निघ ४ ।२नि ५।१९
पान्त, ७ । २५
पाप, वि ५ । २
पारावतघ्नी, ९ ।२४
पार्वत, वि, निघ १ । १३
पार्श्व, पुं, न, निघ३। ३० नि४।३ -
पार्श्व्य, वि, निघ ३ । ३०
पावकशोचिस् वि ८ । १४
पारवीरवी, स्त्री, १२ । ३०
पाश, पुं, ४ । २
पाशयति ४ । २
पाश्या, स्त्री, ४ । २
पिश्,धा,संपिणक्६ । १अपिंशत्
८ । १४
पिजवन, नामवि २ । २४
पितु, पुं, निघ २।७; ५। ३;९। २४
पितुमत्, वि, ६ । २६
पितृ, पुं, निघ ४ । १; ५ । ५ नि
४ । २१;७।९; ११ । १७
पिनाक, न, निघ ३ ।२८ नि३।२१
पिपीलिका, स्त्री, ७ । १३
पिपृक्षा, दे, प्र, पृञ्च्
पिप्पल, न, निघ १ । १२
पियारु, वि, ४ । २५
पिशुन वि, ६ । ११
पिष्ट, निघ ३ । ७नि ८ । २०
पिस्, धा, पिस्यति, निघ२ । १४

पीति, स्त्री, १२ । ४
पीपरत, दे, प्र, पृ,
पीय्, धा, पीयति ३ । २०; ४।२५
पुत्र, पुं २ । ११
पुम्, पुं, ३ । ५ पुमान् ८ । १५
पुरन्धि, पुं, स्त्री निघ ३।३०;४।३
नि ६ । १३; ११। १;१२। ३०
पुरस्, क्रिया वि ९ । १६
पुराण, वि, निघ ३ । २७नि८।४३
पुरीष, न, निघ १।१२ नि२ । २२
पुरु, वि, निघ ३ । १
पुरुत्रा, क्रियावि ९ । १३
पुरुधा, क्रियावि, १० । ३४
पुरुभोजस् वि, निघ १ । १०
पुरुरथ, वि ११ । २३
पुरुवर्पस्, वि ११ । २१
पुरुष, पुं, १ । १३; २।३; ८ । २२
पुरुपाद्, वि २ । ६
पुरूरवस् पुं, निघ ५।४ नि १०।४६
पुरोगा, वि ८ । २१
पुरोहित, पुं, २ । १२; ७ । १५
पुलुकाम, वि, निघ ४ । ३ नि६।४
पुष्, धा, पुपोष १० । ३४
पुष्कर, न, निघ १ । ३ नि५। १४
पुष्य, न, ५ । १४
पू, धा, पवते निघ२ ।१४ पवस्व
३ । २०
पूज्, धा पूजयति, निघ ३ । १४
पूरु, पुं, निघ २ ।३नि ७। २३
पूर्ण, न, निघ १ । १२
पूर्धि; दे; प्र; पॄ
पूर्वथा; क्रियावि, १२ । ३४
पूर्वपीति, स्त्री १० । ३७
पूर्वहूति, स्त्री ५ । २८
पूर्व्य, वि, निघ ३ । २७
पूषन्, पुं, निघ १ । १;५ । ६ । नि
६ । ३१; १२ । १६
पृक्ष स्त्री, निघ २ । ७
पृक्ष, पुं, निघ २।१७
पृच्छति, दे, प्र, प्रच्छ
पृञ्च्, धा, पृणक्षि, पृणक्ति,निघ
३ । २०पिपृक्षा।३।१४
पृणाति दे, प्र, पॄ
पृत्, स्त्री, निघ २।१७
पृतना, स्त्री, निघ २।३ नि९।२४
पृतनाज् . वि, १०।२८
पृतनाज्य, न, निघ २।१७नि९।२४
पृत्सुध् . पुं, निघं २।१७
पृथक् , क्रियावि ५।२५
पृथिवी, स्त्री, निघ १।१;३;५।३;५;
६ नि १।१३;९।३१;११।३६;१२।३०
पृथु; वि, निघ १।१;३।३० नि२।२;
१२।२३
पृथुज्रयस् , वि, निघ ४।२नि६।९
पृथुप्रक, वि, ११।३२
पृश्नि, वि, निघ १।४नि२।१४
पृश्निगर्भ; वि, १०।३९
पृषतः २।२
पृषति, स्त्री, निघ १।१५

पृतथामयिन्, वि,५।२१
पृष्ठ, न; ४।३
पॄ, धा, पूर्धि, निघ' ३।१९नि ४।३
पृणत ३।२० पिपर्ति ५।२४पपि
रत्, निघ३।१९अप्रायि,९।२९
पारयन्ती ९।१८ आप्राः१२।१६
पेल् ; धा, पेलति ७।१३पेलयति;
निघ २।१४
पेशस् , न, निघ१।८;३।७।नि८।११
पैजवन, नाम वि,२।२४
पैद्व, वि, निघ १।१४
पोपायित्नु, वि, १०।१५
पौंस्य; न, निघ; २।०;१७
प्र, उप,१।३
प्रकलविद्, वि, निघ ४।३नि६।६
प्रकेत; पुं; २।१९
प्रचेतस् ; वि;८।५;२।२०
प्रच्छ; धा; पृच्छति, निघ३।१४
प्रजा; स्त्री; निघ २.२
प्रजापति; पुं; निघ ३'१०;५।३ नि
१०।४२
प्रज्ञा; स्त्री; निघ ३।९
प्रतद्वसु; वि; निघ ४।३ नि ६।२१
प्रति; उप; १।३
प्रतिधा; स्त्री; ५।११
प्रतिमान; न; ५।१८;१०।२१
प्रतिष्ठा; स्त्री; निघ ३।२
प्रतीक; न; ७।३१
प्रतीच्य, वि; निघ ३।२५
प्रत्त, दे; प्र; दा
प्रत्न; वि; निघ ३।२७नि १२।३२
प्रत्यक्षकृत; वि; ७।१
प्रत्यञ्च् ; वि, ३।५,१२।२४
प्रथम; वि; २।३२
प्रदिवः; क्रिया वि; निघ ३।२७ नि
४।८;८।१९
प्रदिश् ; स्त्री;८।९;१२;२१;११।४१
प्रधन; न; निघ २।१७ नि९।२३
प्रधि; पुं; ४।२७
प्रपित्व; न; निघ ३।२९ नि ३।२०
प्रभृथ वि; ११।४९
प्रमगन्द; पुं; ६।३२
प्रयति; स्त्री; ६।९
प्रयस् ; न, निघ २।७
प्रयुत; न; ३।१०
प्रवत्; स्त्री; १०।२०
प्रवते; दे; प्र; प्रु
प्रवत्वत् ; वि; ११।३७
प्रवयाः; निघ ३।२७
प्रवातेजा; वि; ९।८
प्रशस्य; वि निघ ३।८
प्रसिति, स्त्री, ६।१२
प्राचीन, वि, ७।२३;८।९;१२
प्राञ्च् वि, ११।११
प्रातरित्वन्, वि, ५।१८
प्रातर्युज् , वि, १२।४
प्रावेप वि; ८।८
प्राश; वि; निघ २।१५नि१।७

प्रु, धा; प्रवते; निघ २।१५ अभि-
प्रवन्त नि ७।१७
प्लुवते, दे, प्र, प्लु
प्लाशुचित्, निघ २।१५
प्लु; धा; प्लुवते; निघ २।१४
प्सरस्, न, निघ ३।७
प्सा; धा; प्साति; निघ २।१४
प्सु; पुं; निघ ३।७

फ

फण्;धा;फणति;निघ२।१४आपणी
फणते नि २।२८
फलिग; पुं; १।१०

ब

बंहिष्ठ; निघ ३।३
बकुर; पुं; निघ ४।३नि ६।२५
बट्; अ; निघ ३।१० नि ११।३७
बत, अ, निघ ६।२७
बत; पुं; निघ ४।३ नि ६।२८
बधिर; वि; १०।४१
बन्ध्; धा, १०।४
बन्धु;पुं; निघ २।१०नि ४।१
बप्स; निघ ३।७
बप्सति; दे; प्र भस्
बभ्रु; वि; ४।१४; ९।२८
बर्बुर; न, निघ १।१२
बर्हणा; निघ ४।३ नि ६।१८
बर्हिष्ठ; निघ ३।३
बर्हिपद्; निघ ३।३
बर्हिस्;न;निघ१।३;१२;५।२नि८।८
बल; न; निघ२।९ नि ३।९
बलाहक; पुं; निघ १।१०
बहु; वि; निघ ३।१ नि ३।१३
बहुप्रजा; वि, २।८
बहुल; वि; निघ ३।३०
बाध्; धा; बाधधानान् १०।९
परिबाधमानः ९।१५
बाध, पुं, निघ २।९
बाल, पुं, निघ ९।१०
बाहु; पुं; निघ २।४ नि ३।८
बिठ; न ६।३०
बिन्दु, पुं; २।१
बिल, न २।१७;१२।३८
बिल्म; न, १।२०
बिल्व; न, १।१४
बिल्वाद पुं; १।१४
बिस्, बिस्यति; निघ २।१४नि६।२४
बिस; न, २।२४
बिसखा, पुं, २।२४
बीज, न निघ २।२
बीरिट न, निघ ४।२नि५।२७
बुध्. धा, बुधानः १०।४१
बुध्न; न; १०।४४
बुध्न्य; समस्त; अहि से
बुन्द; पुं; निघ ४।३नि६।३२
बुबुर; न, निघ १।१२
बुस; न,निघ १।१२ नि ५।१८
बृबदुक्थ; वि; निघ ४।३ नि ६।४

बृबूक; न; निघ १।१२ नि २।२२
बृह ; उद्वृह ६।३ उपबर्हृहि ४।२०
निबर्हयति; निघ २।
बृहत्; वि; निघ ३।३;३० नि१।७;२।
२५;५।१९;८।११;११;९।८;२९
बृहती, स्त्री ७।१२
बृहद्दिव; वि; ११।४८
बृहस्पति; पुं; निघ ५।४ नि २।१२;
१०।११
बेकनाट; पुं; निघ४।३ नि ६।२६
बेकुरा; स्त्री; निघ१।११नि६।२६
ब्रध्न; पुं; निघ १।१४;३।३
ब्रह्म्; धा; निघ २।१४
ब्रह्मद्विष्; वि, ६।११
ब्रह्मन्; पुं; १।८
ब्रह्मन्; न; निघ २।७;१०नि १।
८;१२।३४
ब्रह्मणस्पति;पुं;निघ५।४नि१०।१२
ब्रू; धा; निघ २।२२;५।१९ब्रुवाणः
१०।२२

# भ

भग; पुं. निघ २।१०;५।६नि१।७;३।
१७;६।३१;९।३१;१२।१३
भद्र; वि; ४।१०;११।१९;१२।१७
भन्; धा; भनति; निघ ३।१४
भन्द्; धा; भन्दते; निघ १।१६;३।
१४ नि ५।२
भन्दना; स्त्री; निघ ४।२ नि ५।२
भर; पुं; निघ २।१७ नि ४।२४
भरत; पुं, निघ ३।१८
भरित्र; न; निघ २।५
भरूजा स्त्री; ६।२
भर्वन्; न; निघ १।२नि ७।२५
भर्व; धा, भर्वति;निघ२।८नि९।२३
भविष्यत्, निघ १।१२
भस्; धा; भसथः; निघ २।८नि
५।२२ बभस्ति; बप्सति; बप्साम्,
निघ२।८नि५।१२दप्सता९।३६
भाऋजीक; वि; निघ ४।३ नि६।४
भाग;पुं; ३।१२;६।८;१२।१;१४।३१
भानु; पुं; निघ १।९
भाम; धा भामते; निघ २।१४
भाम; पुं; निघ २।१३
भारत; पुं; निघ ३।१८
भारती; स्त्री; निघ १।११नि८।१३
भाव्य; पुं; नि ९।१०
भास्वत्, वि, निघ १।८;१२
भिषज्, पुं, ३।६
भी, धा, बिभाय १०।११
भुज् , धा, भोजते, निघ २।१२
भुरण्यति, निघ २।१४नि १२।२२
भुरण्यु, वि, निघ,२।१५नि१२।२२
भुरिज्, स्त्री, निघ २।१४
भुवन, न, निघ १।१२नि३।१२,७।
२५;८।१४;१०।११;३४;४६,१२।११
भू, धा, भूतन ६।२२भूयाः ९।१७.

११।४४ अभूत ६।१६ वभूथ ५।८ उपभुवः ४।२५
भू, स्त्री, निघ १।१३ नि७।२७;२८
भूत, न, निघ १।१२
भूमन,न, १०।४
भूमि, स्त्री, निघ १।१
भूमिज.पुं, १।१४
भूरि, क्रिया वि,निघ३।१नि२।२७; ६।२२;११।२१
भूरिदावन्, वि,६।९
भूरिधार, वि, ५।२
भूरिशृङ्ग, वि, २।७
भूष् ,धा, पर्यभूषत्
भृ, धा, विभर्ति ११।३७ अभरत्, ७।२६;११।२ भरन्ती ११।३६; आभर ६।३२; १२।३ निर्जभार १८। २८; प्रभर ६।२० विजभृतं; ९।३६ संजभार ४।११
भृगु, पुं, निघ ५। ५ नि४। २३; ११। १९
भृणीयते, निघ २। १२
भूमि, पुं, नि ४। ३नि६। २०
भेषज, न, निव १। १२; ३। ६नि १० ।७; ३५
भोजते, दे, प्र, भुज्
भोजन, दे, न, निघ२। १०नि४। ५
भ्यस्, धा, भ्यसते, निघ३। २९ नि ३। ११ अभ्यसेताम् ३। २१; १०। १०
भ्रम, धा, भ्रमति, निघ २। १४
भ्राज्, धा, भ्राजते, निघ १। १६
भ्रातृ, पुं, निघ ५। २६
भ्राश् धा, भ्राशते, भ्राश्यति, निघ १। १६
भ्री धा, भ्रीणाति, निघ २। १२
भ्रेष्, धा, भ्रेषति, निघ २। १२
श्लाश्, धा श्लाशयते, निघ१।१६

## म

मंह् धा, मंहते, निघ३।२०नि१।७
मक्षु, क्रियावि, निघ २। १५
मगन्द, पुं, ६। ३२
मख, पुं, निघ ३। १७ नि३। २१
मघ, न, निघ २। १० नि १।७;४। १७; ५। १६
मघवत्, वि, १।७
मंगल, वि ८। ४
मज्मना, तृतीया, निघ २।९
मण्ड, पुं, ८। ४
मण्डूक, पुं, निघ ५। ३;नि ९।५ स्त्री, मण्डूकी ९। ७
मति, स्त्री निघ ३। १५नि ४।१९
मनुथाः, निघ ३। १५
मत्सर, पुं, २। ५
मत्स्य, पुं, ६। २७
मद्, धा गदति, निघ३।१४नि८।१ मदेमहि निघ ३।१९मदः५।१

मद, पुं, ४ । ८; १५; ११ । १
मधु, न, निघ १ । १२नि २।२;४।
८; ८ । ६;१० । ३१
मध्या, निघ ४ । १ नि ४ । ११
मन्, धा, मन्यते, निघ ३ । १४;
२ । ६ नि १० । २९ मन्त हे
मन्तामहे, निघ३ ।१८निद। २५
मने ८ । २४मनुताम् ९ । १३
मसीय ३ । ८ मन्तवाउ ३।३
मातवाउ ११ । ४२ अमन्वत
४।२४ अनुमन्या सं ११ । ३०
मनश्चित् निघ ३ । १५
मनस्, न, ४ ।५
मनस्यति ३ । ७
मनस्वत, वि १० । १०
मना, स्त्री, ५ । ५
मनीषा, स्त्री २। २५; ९ । १०
मनीषिन्, वि, निघ ३ । १५
मनु पुं, निघ ५ । ६नि १२ । ३३
मनुष, वि, ६ । २६
मनुष्य, पुं, निघ २ ।२नि ३। ६
मनिष्वत्, क्रियावि, ८ । १३
मनुस्, पुं, ८।५; १२
मनोजव, पुं१।८
मन्त्रयते, निघ ३ । १४
मन्द धा, मन्दते, निघ १ । १६;
३ । १४ नि २।५; ४ । २४;९।
५ मन्दमानाय ११ । ८
मन्दिन्, वि, निघ ४ ।१नि४ । २४
मन्दु, पुं, निघ ४ ।१नि४ । १२
मन्द्र, वि, निघ १ । ११नि ११ ।
२८; २९
मन्द्रजिह्व, वि, ६ । २३
मन्द्रयते, निघ ३ । १४
मन्द्राजनी, निघ १ । ११
मन्धातृ, पुं, निघ ३ । १५
मन्मन् न, ६ । २२; ८ । ६, १० ।
५; ४२
मन्यु, पुं, निघ २ । १३; ५ । ४नि
१० । २९
ममसत्य, न, निघ २ । १७
मयस्, न, निघ ३ । ६
मयूख, पुं, निघ १ ।५
मयोभु, वि, ९ । २७
मरीचिपाः, बहु, निघ १ ।५
मरुत् पुं, निघ १ । २; ३।७; १८;
५ । ५ नि ११ । १३
मरुद्वृधा, नामवि, ९ । २६
मर्त, पुं, निघ २ । ३
मर्त्य, पुं, निघ २ । ३
मर्दति, दे, प्रे, मृ दू
मर्य, पुं, निघ२ ।३नि३ ।१५;४। २
मर्यादा, स्त्री, ४ । ५; ६ । २७
मलिम्लुच्, निघ ३ । २४
मलमलाभवत्, वि, निघ १ । १७
मह्, धा, महयति निघ ३ ।१४

मह, वि, महे९ । २७; १० । ४७; ११ । ९महः ९। २५; १२। ११ मही ४।२१;५ ।२२ निघ१।१; ११; २।११; ३ । ३०
मह, वि, ११ । २७
महत्, वि, निघ १ । १२; ३ । ३ नि ३ । १३
महत्, न, १० । १०; ११ । ३७
महस्, न, निघ १ । १२
महाधन, न निघ २ । १७
महावध, पुं, १०।११
महि, वि, ११ । ९
महित्व, न, ७ । २३; ८ । ८
महिन्, वि ११ । ३७
महिष, वि, निघ ३।३; नि ७। २६
मा; १ । ५
मा, धा, मिमीहि, निघ३।१९ अमिमीत, नि ९।११ मिमानः ८। १२;१२।२३ व्यमिमीति८।२१
मा, धा, मिमाति २।९ अमीमयत २।६ अमीमेत् ११। ४२मिमाय ११।४०
मांश्चत्व, पुं, निघ १।१४
मांस, न, ४।३
माकिः, निघ ३।१२
मातरिश्वन्, पुं, ७।२६;३१
मातृ, स्त्री, निघ १।१३नि २।८;४। १४;८।१८;१२।७
मात्रा, स्त्री, ४।२५
मान, न, २।२२
मायते, निघ ३।१९ मन्
माया, स्त्री, निघ३।९;७।२७;१२।१७
मायु, पुं, निघ १।११नि २।९;११।४२
मायुक, वि, निघ३।२प्रमायुकःनि३।५
मार्ष्टि, दे, प्र, मृज्
मास्, पुं, ४।३१,११।५
मास, पुं ४।२७
मासकृत्; ५।२१
माहिन, वि, निघ ३।३
मितद्रु, वि, १२।४४
मित्र, पुं, निघ ५।४नि१०।२१
मिथुन, वि, ७।२९
मिनाति, मिनोति, दे, प्र, मी
मिमिड्ढि, दे, प्र, मिह्
मिमीहि, दे, प्र, मा
मियक्ष, दे, प्र, म्यक्ष्
मिष्, धा, मिषन्तम्, ११।४२
मिस्, धा, मिस्यति, निघ २।१४
मिह्, धा, मिमिड्ढि निघ ३।१९
मी, धा, मिनाति; निघ २।१४;१९ मिनति २।१४ मिनोति २।१९ नि ७ । २८ आमिनात् ५ । ८ आमिनाने २।२०
मीढ, न, निघ २।१०;१७
मीळ्हुष, निघ २।१०
मुक्षीजा, स्त्री ५।१९

मुच्,धा,मुमुग्धि ४।३अमुञ्चतम ४।२१
मुञ्ज; पुं, ८।८
मुद्गल; पुं, ९।२४
मुधीवन्, वि, निघ ३।२४
मुष्टि (पुं; स्त्री) ६।१
मुसल, न, ९।३५
मुहुस्, क्रिया वि, २।२५
मुहूर्त, न, २।२५
मूजवत्, पुं,९।८
मूर, वि, ६।८;११।२
मूर्धन्, पुं, ७।२७;९।३१;११।४२
मूल, न, ६।३
मूषिक, पुं,४।५
मूस्, पुं निघ ४।१नि ४।५;६
मृ, धा, मरते ११।३८
मृग, पुं, १।२०;९।१९
मृज्, धा, मार्ष्टि,निघ २।१४ नि १।२०मर्जयन्त १२।४३
मृड्, धा;मृलति,१०।१५मृलयति १०।१६
मृत्यु, पुं, निघ ५।१ नि ११।६
मृद्, धा, मर्दति, निघ २।१४;१९
मृदु; वि, ४।२
मृध्,पुं, निघ २।१७नि७।२
मृध्रवाच्, वि, ६।३१
मृष्, धा, प्रमृषे ४।१४
मेघ, पुं, निघ १।१० नि २।२;२१
मेथ्, धा, ४।२
मेदस्, न, ४।३
मेदस्तस्, क्रिया वि, ६,१६
मेध, पुं, निघ ३।१५;१७
मेधा, स्त्री, निघ २।१०नि ३।१८
मेधाविन्, वि, निघ ३।१५
मेना, स्त्री, निघ १।११;३।२९ नि ३।२१
मेनि, स्त्री निघ १।१६;१।२०
मेलि, पुं, निघ १।११;४।७
मेह्ना, तृतीया; निघ ४।१नि४।४
मोक्षी, स्त्री, निघ १।७
मौजवत, वि, ९।८
म्यक्ष्, धा, म्यक्षति, मियक्षति, निघ, २।१४ अम्यक् ४।३ नि ६।१५

य

यज्, धा, अयाः ४।२५ याक्षि६। ।१३; ८।१४ यजध्यै ८।१२
यजत, वि, ८।९;११;१२।१७
यजीयान्; ८।८
यजुस्, न, ७।१२
यक्ष, पुं, निघ३।१७
यक्षनी, वि, ७।३०
यज्ञिय,वि,७।२७;२८;९।३७;१०।८
यत्, धा, यतते,निघ २।१४ यातयति २।१८नि १०।२३
यतस्रुच्, निघ ३।१८
यथा, निघ ३।१३नि ३।१५

यदु, पुं, निघ २ । २
यन्तृ, पुं, निघ ३ । १९
यन्त्र, न, १० । ३२
यन्धि, दे, प्र, यम
यम,धा,यन्धि,निघ३।१९यच्छत,
निरु२ । ४५यच्छताम ९। ३८
यंसत् ९ । १९
यम, पुं, निघ ५ । ४;६नि१०।१९-
२१;११ । २८
यमी, स्त्री, निघ५ ।५नि ११।३३
यमुना, नामवि, ९ । २६
यम्य, वि, निघ १ । ७
यव्या, स्त्री, निघ १ । १३
यशस्, न, निघ१। १२; २ ।७; १०
यहः, निघ १ । १२;२ । ९
यह्व, पुं, निघ २ । २
यह्व, वि, निघ १।१३;३ । ३ नि८।८
या, धा, यामि, निघ ३ । १९ नि
२ ।१ याति, निघ२।१४यान्ति,
ईमहे ३ । १९
याच्, धा, याचति, निघ २ । १९
याचिषत् नि ६ । २४
यातयति, दे, प्र, यत्
यातु, पुं, ६ । ३०
यादः, निघ १ । १२
यादु, पुं, निघ १ । १२
यादश, निघ ४ । ३ नि ६ ।१५
यु, धा, यौति,निघ३ । १४यूयवत्
निघ ४ ।४२ यूयवन् १२।४४
युगत्, क्रिया वि, निघ २।१५
युज्, पुं, युञ्जम ८।२४
युथ्, धा, अयुथुः निघ २।१४
युध्, धा, युध्यति,युध्यते,अयुधुः,
निघ २।१४
युवन्, पुं, ४।१९ स्त्री,युवति१०।२९
यूथ, न,४।२४;११।४९
योक्त्र, न, निघ २।५नि३।९
योजन, न, निघ २।५ नि ३।९
योनि, पुं, स्त्री, निघ १।१२; ३।४
नि २ । ८; १८
योषा, स्त्री, ३।१५
योषिष्टि, यु) निघ २।१४
योः ४।२१
यौति, दे, प्र, यु

## र

रंसु, निघ ४।३ नि ६।१७
रंह्, धा,रंहति, निघ२।१४नि९।११
रंहि, स्त्री, १०।२९
रक्षस्, न ४।१८
रक्षस्, पुं, १०।११
रज्, धा, रजति, निघ, २ । १४
रजयति ३।१४
रजस्, न, निघ १।७;३।१नि२।२१
४।१९;१०। ४४; १२ । ७; २३
रजसी, द्वि, निघ ३ । ३०
नि २ । २१
रजिष्ठ ८ । १९

रज्जु, पुं, २।१
रञ्ज्, धा, रञ्जयति, निघ ३।१४
रण्, धा, रारण ११।३९
रण, पुं, निघ२।१७नि४।८;८।२७;१०;४१
रण्वे, वि, ६।३३
रत्न, न, २।१०
रत्नधा, वि ७।१५
रथ, पुं, निघ ५।३ नि ९।११
रथयु, वि, ६।३१
रथर्यति, निघ२।१४;४।३ नि ६।२८
रथ्य, वि, १०।३
रद्, धा, अरदत् २।२६
रध्, धा, १०।४०रध्यति६।३२रधाम
१०। ४० रन्धय ६ । ३२
रारन्धि १०।४०
रपस्, ४।२१
रभ्, धा, आरभम् १२।३२
रभस, वि, निघ ३।३
रम्, धा, रमध्वम्,२।२५रम्णाति
निघ२।१९अरम्णाः,अरम्णात्
१०।९;३२ उपरमयति २।१८
रम्भ, पुं, निघ ३।२९नि३।२१
रम्या, स्त्री, निघ १।५=राम्या
रयि, स्त्री,निघ२।१०;२।१० नि४।१७
रशना, स्त्री, निघ २।५ नि ३।१४
रश्मि, पुं, निघ १।५नि२।१५
रस्, धा, रसति, निघ ३।१४
नि ११।२५ रसत् १२। १८
रस, पुं, निघ १।११;१२;२।७
रसा, स्त्री, ११।२५
रा, धा, राति, निघ २।१४;३।२०
नि ४।१७;२।१८ररिरी हि, निघ
३ । १९ रासति ३।२०रराण;
नि २ । १२ ररिवान् ४।२५
राका, स्त्री,निघ१।५नि११।२९;३०
राज्, धा, राजति, निघ २।२१
राज्, स्त्री, १२।४६
राजन्, पुं, २।३
राजपुरुष, पुं. २।१
राति, स्त्री, १२।१७
रात्रि, स्त्री, निघ १।७;५।३
नि २।१८;९।२८ रात्री २।१९
राधस्, न, निघ २।१० नि४ । ४;
११ । २४
राम, वि, १२।१३
राम्या, स्त्री, निघ१।७
राष्ट्री, स्त्री, निघ २।२२नि११।२८
रासति, दे, प्र, रा
रासभ, पुं, निघ १।१५
रास्पिन, निघ ४ । ३ नि ६ । २१
रिक्थ, न, निघ २।१० नि३।६,
रिक्तन्, पुं, निघ ३।२४
रिच्, धा, आरैक् २।१९;३।६
रिणाति, दे, प्र, री
रिपः, निघ १।१
रिपु, पुं, निघ ३।२४

रिप्र, न, ४।२१
रिश्वन्, पुं, निघ ३।२४
रिरिह्वढि, दे, प्र, रिह्
रिरीहि, दे, प्र, रा
रिशादस्, वि, निघ४।३निदा१४
रिष्, धा, रिषे १०।४५
रिह्, धा, रिहति निघ ३।१४
रिरिह्वढि ३।१९
रिहम, क्रियावि, निघ ३।२
रिहायस्, पुं, निघ ३।२४
रिह्वन्, पुं, निघ ३।२४
री, धा, रिणाति, रीयते, निघ २।१४ निरिणीते ३।५
रु, धा, रौति, निघ३।१४ रोरुवत् नि ५।१६
रुच्, धा, रोचते, निघ १।१६निश। २०;११।३९;अतिरोचसे३।११
रुज् धा, आरुजन्तः १०। ३०
रुजाना, स्त्री, निघ १।१३; ४।३ नि ६।४
रुह्, धा, रुलहयति, निघ२।१४
रुद्र, पुं, निघ ३।१६;५।४; ५ नि १०।५, ८; ११।१४
रुध्, धा, रुधतः, ५।२
रुशत्; निघ ४।३ नि२।२०;६।१२
रुशद्वत्स, वि, २।२०
रुह्, धा, आरुहम, ५।२५
रूप, न, निघ ३।७ नि २। ३; ३।१३;१२।१३
रेक्णस्, न, निघ २।१० नि३।२
रेक्णस्वत्, वि ११।४६
रेज्, धा, रेजति, निघ२।१४ नि १०।४२ रेजते,निघ ३।२८ नि ३।२१
रेड्, धा, रेळते, निघ २।१२
रेतस्, न, १।१२
रेभ्, धा, निघ ३।१४
रेभ, पुं, निघं ३।१६
रै, पुं, निघ २।१०नि ३।२;३।७
रैवत, पुं, निघ १।१०
रोदसिप्रा, वि, ७।२८
रोदसी, द्वि, निघं ३।३० नि४। ६;६।१; १०। ४;११।९;१२।२६
रोदसी, स्त्री, निघ ५।५ नि ११। ५०; १२।४६
रोधचक्र, वि, निघ १।१३
रोधस्, न, निघ ३।३०नि ६।१
रोधस्वत, वि, निघ १।१३
रोहित, वि, निघ १।१३; २।५; १।१५
रौति, दे, प्र, रु
रौहिण, पुं, निघ १।१०

ल

लक्ष्मी, स्त्री, ४।१०
लग्, धा,, ४।१०
लज्, धा, लजति, निघ २।१४
लज्ज्, धा, ४।१०
लम्बचूडक, पुं, १।१४
लष्, धा, ४।१०

लाङ्ग, ल, न, ६ । २६
लांगूल, न, ६।२६
लाज, पुं, ६ । ९
लाञ्छ, धा, ४ । १०
लिबुजा, स्त्री ६ । २८
लुभ्, धा, प्रतिलोभयन्ती ९ । ३३
लोट्; धा, लोटते, निघ २ । १४
लोट्ट, धा, लोटते, निघ २ । १४
लोध, पुं, निघ ४ । १ नि४ । १२
लोमन्, न, ३ । ५
लोह, न, निघ १ । २

व

वंश, पुं, ५ । ५
वक्ष्, धा, ववक्षिथ, विवक्षसे, निघ ३ । ३ नि ३ । १२ उक्षितः, निघ ३ । ३
वक्षणा, स्त्री, १ । १३
वक्षस्, न, निघ४।२ नि ५।१६;१।५
वग्न, पुं; निघ १ । ११
वच् धा, वोचे, ५ । ७ प्रवोचम् ७ । २३; ८ ।२० विवोचत्७। २० प्रवोचयम् १० । ४२ प्रवचक्षे ५ । ८
वचस् न,२ । २७;९। ३१;१०।३१
वचस्या, तृतीया १२ । १८
वज्र पुं, निघ २। २०नि ३ । ११
वञ्च्, धा, वञ्चति, निघ २ । १४
वणिज्, पुं, २ । १७
वत्, धा निघ २ । १४,
वध्रस्, न, निघ २ । ९; २०
वधू, स्त्री, निघ १ । १३ नि २।२
वन्, धा, वनोति, निघ २ । ६
वन, न, निघ १।५;१२नि ५।१६;८।३
वनर्गु, त्रि, निघ ३।२४नि३।१४
वनस्पति, पुं. निघ ५।३नि८।३; १६,८।१२
वनीयस् , १२।९
वनुष्यति, निघ २।१७;४।२ नि५।२
वन्द्, धा वन्दते, निघ३।१४वन्द्य:८।८
वन्दारु, पुं, ३।२०
वप्, धा, वपन्ता ६।२६ निवपन्तु, निघ २।१९
वपुस् , न, निघ १।१२;३।७
वप्रक, पुं, निघ ३।२नि५।३
वम्री, स्त्री, निघ ३।२९नि३।२०
वयस् , न, निघ २।७ नि६।४
वया, स्त्री, १।४
वयुन, न, निघ ३।८; ९;४।२ नि५। ९;१४;८।२०;९।१५
वयुनवत्, त्रि ५।१५
वर, न, १।७
वराह, पुं, निघ १।१०;४।२नि५।४
वराहु, पुं, ५।४
वरिवस् , न, निघ २।१०
वरिष्ठ, ५।१
वरीयस्, ८।८

वरुण,पुं,निघ५।४;६नि१०।३;१२।२१
वरुणानी, स्त्री १२।४६
वरूथ, न, निघ ३।४
वरेण्य, वि, १२।१३
वर्ग, निघ २।९
वर्चस्, न, निघ २।७
वर्ण, पुं, २।३
वर्तिस्, न, ३।२०
वर्पस्, न, निघ ३।७नि५।८
वर्मन्, न, निघ ३।४
वयः, वहु, निघ १।१३
वर्षा, स्त्री, ४।२७
वल, पुं, निघ १।१० नि ६।२
वलिशान, पुं, निघ १।१०
वल्गु, वि, निघ १।११
वल्गूयति, निघ २।१४;३।१४
ववक्षिथ, दे, प्र, वक्ष्
वव्र, पुं, निघ ३।२३
वव्रि, न, निघ ३।७ नि २।८
वश्, धा, निघ १२।५वश्मि,वष्टि,
उश्मसि; निघ २।६ नि २।७
उशती,उशन्तः,उशतः,उशतीः
उशती, द्वि, नि १ १८;३।५;५।
१८;६।१३;१२।४५;९।३९
वस्, धा, १०।१६ ऊषतुः ३।१५
वसति, स्त्री, १०।२२
वसु, वि, स्त्री, निघ १।७न, २।१०
नि ५।१८;९।४२वसु, पुं,निघ
१।५;५।६ नि १२।४१
वसुधिति, वि, ९।४२;
वसुधेय, न, ९।४२;४३
वसुवन्, वि, ९।४२;४३
वसूयु, वि, ६।६;२१
वस्तु, स्त्री,निघ १।९नि३।१५;८।९
वस्त्र, न, ४।२४
वस्त्रमाथि, वि ४।२४
वस्वा, स्त्री निघ १।७
वह्, धा, वहते, निघ २।१४वक्षि
नि ८।१९ आवक्षत् ९।४२;४३
वहतु ( पुं ) १२।८;११
वह्नि, पुं, निघ १।१४नि३।४;६;८।३
वा, १।४
वा, धा वाति.निघ२।१४विवासति
आविवाससि, आविवासेम, नि
३।५;११।२३;२।२४
वाघत्, निघ ३।१५;१८नि११।१६
वाच्, निघ १।११;५।५ नि २।२३;
८।२१;११।२७
वाचस्पति,पुं, निघ ५।४नि १०।१८
वाज्, धा, वाजयति,निघ३।१४
वाज,पुं;निघ २।७;१७ नि १०।३२;
११।१६;२६
वाजगन्ध्य; वि,निघ४।२नि५।१५
वाजपस्त्य, वि, निघ ४।२नि५।१५
वाजसा, वि; ९।३६
वाजसाति, स्त्री; निघ २।१७ नि
१२।४५

वाजिन् ; वि; निघ१।१४;८;१।६ नि २।२८;३।३;७।२०;१०।२८;३१; १२।४३
वाजिन; न;१।२०
वाजिनीवत् , वि; २।८;११। २६; १२।६
वाञ्छ्, धा, वाञ्छति, निघ २।६
वाट्य,'पुं, २।१
वाण, पुं, निघ १।११
वाणी, स्त्री, निघ, १।११निघ१।२
वाणीची, स्त्री, निघ १।११
वात, पुं, निघ ५।४नि १०।३४
वातरंह, वि, निघ २।१५
वाताप्य, न, निघ ४।३नि ६।२८
वाम, वि, निघ ३।८ नि ४।२६;६। २२;३१;१२।४६
वाय, पुं, ६।२८
वायु, पुं, निघ५।४नि१०,१
वार् ,न,निघ१।१२;५।१२;९।२
वारण, वि '४२१
वारवत् , वि, १।२०
वारि, न, निघ, १।१२
वार्य, न, निघ ४ । २ नि ५ । १
वार्षत्, वि, निघ १ । १३
वाल, न, ११ । ३१
वाला, स्त्री, १ । २०
वाश्, धा, वावशानः,निघ ४ । २ नि ५ । १ समवावशीताम् १२ । ३
वाशी निघ १ । ११; ४। १ निघ। १६; १९
वासर वि, निघ १ । ९ नि ४ । ७
वास्तु, न, २ ।७;१० । १६
वास्तोष्पति, पुं, निघ ५। ४ नि १० । १६
वाहस्, निघ ४ ।१ नि ४। १६
वाहिष्ठ, निघ ४ । २ नि ५। १
वि, उप, नि १ । ३
वि, पुं, २।६;४।३
विंशति संख्या, ३ । १०
विकट, वि, ६ । ३०
विखाद, पुं, निघ २ । १७
विग्र, पुं, निघ ३ । १५
विचर्षणि, पुं, निघ ३। ११
विजामातृ, पुं, निघ ४ । ३ निघ६।८
वितरम्, क्रिया वि, ८ । ९
वितस्ता, नामवि, ९ । २६
वित्त, न, निघ २ । १० नि २ । २४
विद, धा, वित्से, ६।८ विद्मः ४।६ ५ । २१ अविदाम ६ ।२८ वेद्या मसि ९ । ३१ विवेद् ३ । २२
विदथ, पुं, न, निघ ३। १७, ४। ३ नि १ । ७; ३ । १२; ६। ७; ८ । १२; ९ ।।
विदद्वसु, वि, ४ । ४
विद्मनापस्, वि, ११ । ३३
विद्ध्, वि, निघ ४ ।१ नि ४।१५
विद्वस्, ८ । २०

विघ्, धा, विघेम, निघ ३।५ नि
१०।२३
विघर्तृ, पुं, १२।१४
विधवा स्त्री, ३।१५
विधातृ, पुं, निघ ३।१५; ५।५
नि १०।२६; ११।११
विनङ्गृस, पुं निघ २।४
विनिक्ष्, ४।१८
विन्ध्, धा, विन्धे, ६।१८
विप्,स्त्री, निघ २।५ विपः; निघ
३।१५। विपां, निघ १।११
विपन्यु, वि निघ ३।१५
विपर्व, वि,९।२१
विपश्चित्, पुं, निघ ३।१५
विपाश्, नामवि, ९।२६
विपाट्छुतुद्र्यौ, निघ ५।३, नि २
२४; ९।३८
विपाशित्, ११।४८
विप्र, पुं, निघ ३।१४ नि १०।१८
विभावत्, वि,, स्त्री, निघ १।८
विभीदक, पुं, ९।८
विभ्वन्, वि, २।१९; ११।१६
विमनस्, वि, १०।२६
वियत्, न, निघ १।३
वियातः, निघ २।१९ नि ३।१०
वियुत,द्वि, निघ ४।१ नि ४।२५
विरप्शिन्,वि,निघ ३।३ नि ६।२३
विरव, पुं, १०।१२
विराज्, स्त्री, ७।१३
विरूप, वि, ११।१७
विवक्षसे, दे, प्र, वक्ष्
विवस्वत्, पुं,निघ २।२ नि७।२६
विवाच्, स्त्री, निघ २।१७
विवासति, दे, प्र, धा
विश्, धा, वेविष्टि, निघ २।१४
आविवेश, नि १०।४६
विश्, स्त्री, निघ २।३, ९ नि १०।८
विश्चकद्राकर्ष, पुं, २।३
विश्पति, पुं, ४।२६; ५।२८; १२।२९
विश्व, वि,निघ ३।१ वि ३।२१;
५।२४;६।१२; २६; ८।१४;
९।१५; १०।४; ११; १४;
१७, ३४; ४३; ४६; ११।२७
३८; ४१; १२।९; ११; १३;
१५, १७; २६; २७; ३०; ३३;
४०; ४२
विश्वकर्मन्, पुं,निघ५।४ नि १०।२५
विश्वचर्षणि, पुं, निघ ३।११
विश्वजन्य, वि, ११।१०
विश्वदानीम, क्रियावि ११।१४
विश्व मिन्व, वि, ८।१०
विश्व रूप, वि, निघ १।१५ नि
१०।३४; ११।२९; १२।८;३८
विश्वानर, पुं, निघ ५।५; ६ नि
७।२१; ११।८; १२।२०
विश्वामित्र, नामवि, २।२४
विश्वेदेवाः, निघ, ५।६ नि १२।३९

विह्न्यः, ९ । ४
विष्, धा, वेष्टि; निघ १ । ६ वेवेष्टि २।८ विविड्ढि १०।८ वोविष्टि विषिष्टे निघ, २ ।१४ विष्वी २ । १ नि ११ । १६
विष, न, निघ १ । १२ नि ११।४३ १२ । २६
विषुण, वि, निघ ४ । १ वि ४।१९
विषुरूप. वि, ११ ।२३; १२ । १७
विष्पु, स्त्री, निघ १ । ४ नि२।१४, ५ । ३०
विष्ठित, वि, ८ । १३
विष्णु, पुं, निघ ३ । १७; ४ । २; ५ । ६ नि, १२ । १८
विष्पित, पुं, निघ ४।३ नि ६।२०
विसुह्, स्त्री, निघ ४।३ नि ६।३
विहायस्, वि; निघ ३ । ३ नि ४ । १५; १० । २६
वी, धा, वेति १० । १ निघ २।६ नि २ । ६; १४; १ । ७ व्यन्तु १२।४६ वीहि ४।१९ वीतम् ४। १९ वीताम् ९।४२; ४३ व्यन्तः ४।१;१९।अववेति, निघ २।८
वीज, न, निघ २ । २=बीज
वीड्, धा, ५ । १६ वीलयस्व ८।३; ९ । १२
वीड्वङ्ग, वि, ९ । १२
वीति, स्त्री, ५ । १८
वीर. पुं, १ । ७
वीरुध्, स्त्री, निघ ४।३ नि ६।३
वीर्य, न; १० । १९
वीलु, वि, निघ २ । ९
वृ, धा, व्यावः १ । ७ विवः १०।१९ वरन्ते २९ अभीवृत्ता २ । ९
वृक, पुं, निघ २।२०; ३।२४, ४।२ नि ५ । २०; ६ । २६; १२।४४
वृकवार्हस्, वि, निघ ३ । १८
वृक्ष, पुं, २ । ६; १२ । २९
वृज्, धा, प्रवावृजे ५ । २८
वृज्, स्त्री, निघ २ । ८
वृजन, न, निघ २ । ९; ६ । २३
वृजिन, न, १० । ४१
वृणक्ति, दे, प्र, व्रश्च्
वृत्, धा, वर्तते, निघ २ । १४ ववृता नाः, नि ९।८ समवर्तत १० । २३
वृत, न, निघ २ । १०
वृत्र, पुं, न, निघ १।१०; २ । १० नि २ । १६; १७
वृत्रतूर्य, न, निघ २ । १७
वृत्रहन्; पुं ७ । २३
वृध्, धा, वावृधे १० । १९; वावृधानः १० । २७
वृन्द, न, निघ ४ । ३ नि ६ । ३४
वृन्दारक, पुं ६ । ३४
वृश्चति, दे, प्र, व्रश्च
वृषन्, पुं. २ । ७; ११ । ४७
वृषन्धि पुं. निघ १ । १०

वृषभ पुं निघ ५ । ३ नि ४ । ९
७ । २३; ९ । २२
वृषल पुं ३ । १६
वृषाकपि पुं ५ । ६ नि ११ । ३९;
१२ । २७
वृषाकपायी,स्त्री,निघ५।६नि १२।८
वृष्टिवनि, स्त्री, २ । १२
वृष्ण्यावत्; वि १० । ११
वेति, दे, प्र, वी
वेदस्; न, निघ २ । १०
वेध, वेधाभिः तृतीया २ । २१
वेधस् पुं निघ ३।१५ नि १० । ६
वेत्,धा, वेनति, निघ २।६; ३।१४;
१० । ३८, १२ । २९
वेन, पुं निघ ३ । १५; १७; ५ । ४
नि १ । ७; १० । ३८
वेपस् ; न, निघ२।१
वेवेष्टि; दे; प्र; विष्
वेश् ; धा; निघ २।६
वेशः; निघ २।१
वेष; पुं, निघ २।१
वेविष्टि; वेष्टि; दे; प्र; विष्
वैतस; पुं; निघ ३।२९नि ३।२१
वैश्वानर;पुं;निघ५।१नि२।२१;७।२१
व्यचस्वत, वि; ८।१०
व्यथिस् ; न; निघ २।१३
व्यध्वयः; निघ १।१४
व्यन्तः; दे; प्र; वी
व्यानशि; वि, निघ ३।१
व्ये; धा; समव्यत् ४।११
व्योमन्, न, निघ १।३; ६ ।१२ नि
११ । ४०
व्रज् , धा, व्रजति, निघ २ । १४
व्रज, पुं, निघ १ । १० नि ६ । २
व्रत, न, निघ २ । १ नि २ । १३;
११ । २३; १२ । ३२; ४१
व्रतति, स्त्री, १ । १४; ६ । २८
व्रन्द्, धा, ५ । १५
व्रन्दिन्,निघ ४ । २ नि ५ । १५
व्रश्च, धा, वृश्चति, निघ २।१९; ३।
२० वृणक्ति २ ।१९
व्रा, स्त्री, निघ ४ । २ नि ५ । ३
व्रात, पुं, निघ २ । २
व्राधत् , निघ ३ । ३
व्रिश् , स्त्री, निघ २ । ५
व्रीड्, धा, ५ । १६; ६ । ३२

## श

शंयु, पुं, निघ ४ । १ नि ४ । २१
शंस् , धा, शंसति, निघ ३ । १५
शंसनत्, २ । ६
शक् , धा, शग्धि, निघ ३ । १९
शकुः, आशोकुः, नि ५ । २५; १२
३८; ७ । ३० शिक्षति, निघ ३
२० नि १ । ७
शक, न, निघ १ । १२
शकट, न, ६ । २८; ११ । ४७

शकुनि, पुं, निघ ५। ३ नि ९। ३
शक्ति, स्त्री, निघ २।१ नि ७।२८
शक्मन्, न, निघ २। १
शकरी, स्त्री, निघ २। ११; ४ नि १। ८
शग्म, वि, निघ ३। ६
शग्मन्, न, निघ २। १
शग्म्य, वि, निघ ३। ६ नि ३। ४
शची, स्त्री, निघ १। ११; २। १; ३। ९ नि १। ११; १२। २७
शचीवत्, वि, ५। ११
शत, न, निघ ३। १ नि ३। १०
शतदाय, वि, ११। ३१
शतपवित्र, वि, ५। ६
शतरा, छि, निघ ३। ६
शतसा, वि, १०। २८
शद्, धा, शाशदान, निघ ४। ३ नि ६। १६
शन्तनु, नामवि, २। १२
शप्, धा, ३।२१
शब्द, पुं, निघ १। ११
शम्, अ, निघ ३। ६ नि ४। २१; ११। ३०
शम्, धा, शम्नाति, निघ २। १९
शशमानः ३। १४; ४। ३ नि ६।८
शमी, स्त्री, निघ २।१ नि ११।१६
शम्ब, पुं, निघ ४। २ नि ५। २४
शम्बर, पुं, निघ १। १०, न, १। १२; २। ९,
शम्भु, वि ५। ३
शयुत्रा, क्रियावि, ३। १५
शरण, न, निघ ३। ४
शरद्, स्त्री, ४। २५
शरारु, पुं, निघ ४। ३ नि ६। ३१
शरीर, न, २। १६; ३। ५
शरुमत्, वि, ५। १२
शर्धस्, न, निघ २। ९
शर्मन्, न, निघ ३। ४; ६ नि ९। १९, ३२; १२। ४५
शर्व, वि, स्त्री, निघ २। ५; ४। २ नि ५। ४; १०। २९
शर्वरी, स्त्री. निघ १। ७
शल्मलि, पुं, १२। १८
शव्, धा ( शु ) शवति, निघ २। १४; ३। ५ नि २। ७; ३। ८; ४। १३
शवस, न, निघ १। १२; २। ९ नि १०। २९; ३१; ११। २१; २४; १२। २१
शवसान, १०। ३
शशमान, दे, प्र, शम्
शश्वत्, वि, निघ ३। १ नि ४। १६ क्रिया वि १। ५
शाखा, स्त्री, निघ २। ५ नि १। ४; ६। ३२।
शातपन्ता, छि, निघ ३। ६
शाशदान, दे, प्र, शद्
शास, धा, शासत्, ३। ४

शि, धा, १० । ३९ शिशीते, निघ ४ । १ नि ६ । १८; ५ । २३ संशिशाना: १० । ३०
शिक्षति, दे, प्र, शक्
शिञ्ज्, धा, शिङ्क्ते, २ । ८; ९ । १८
शितामन्, न, निघ ४ । १ नि ४।३
शिति, वि, ४ । ३
शिपि, पु, ५ । ८
शिपिविष्ट, पुं, निघ ४।२ नि ५।७
शिप्र,न,निघ४।१;३नि६।१७; ४।१०
शिमी, स्त्री, निघ २।१ नि ५।१२
शिमीवत, वि, ५ । १२
शिम्याता, द्वि, निघ ३ । ६
शिरस्, न, ४ । १३
शिरिणा, स्त्री, निघ १ । ७
शिरिम्बिठ, पुं, निघ ४।३ नि६।३०
शिल्गु, पुं, निघ ३ । ६
शिल्प, न, निघ २ । १; ३ । ७
शिव, वि, निघ ३।६ नि १० । १७
शिशिर, न, १ । १०
शिशीते, दे, प्र, शि
शिशु, पु, १० । ३९
शिश्न, न, ४ । १८
शिश्नदेव, पुं, ४ । १९
शी,धा,शये११ ।४८ शशयाना ९।६
शीभम्, क्रिया वि, निघ २ । १५
शीर, वि, निघ ४ । १ नि ९ । १४
शु, क्रिया वि,निघ २ । १५नि६।१
शुक्र, वि, निघ १। १२ नि ८।११; १२।१७
शुक्र पिश्, वि, ८ । ११
शुच्, धा, शोचति, निघ १।१७
शुचन्तम्, नि५।३ शुचमान:१०।४१
शुचि, वि, ६ । १
शुतुद्री, नाम वि, ९ । २६
शुन, पु, ९ । ४०
शुनम्, क्रिया वि, निघ ३ । ६
शुनासीरौ, द्वि, निघ ५।३नि ९।४०
शुन्ध्यु, वि, ४ । १६
शुभ्, धा, शुम्भमाना: ८।१०
शुभ, वि, न, निघ १ । १२
शुभ्र, वि, ९ । ३९; १२ । ४३
शुरुध्,स्त्री, नामवि, वहु, निघ४।३ नि ६ । १६ १२ । १८
शुष्ण, पु, ३।११; ५। १६; ६ । १८ न, निघ २ । ९
शुष्म, पु, २ । २४; ३ । २१; १० । १० न, निघ २।९
शूघन, पुं, निघ २ । १५
शूर, पु, ४ । १३
शूरसाति, स्त्री, निघ २ । १७
शूर्त, पुं. निघ २ । १५
शूर्प, न, ६ । ९
शूष, न, निघ २ । ८; ३ । ६
शृङ्ग, न, निघ १ । १७ नि २।७
शृध्, धा, शर्धत, ४ । १९
शॄ, धा, शृणाति, निघ २ । १९
शेप, पु, निघ ३ । २९ नि ३ । २१
शेव, वि, निघ ३।६ नि १०।१७

शेवृध, वि, निघ ३ । ६
शेपस्, न, निघ २ । २ नि ३ । २
शोकी, स्त्री, निघ १ । ७
शोचिस्, न, निघ १ । १७
श्चुत्, धा, श्चोतति निघ २।१४ नि ५ । ११
श्नथ्, धा, श्नथति, निघ २।१९ निशिश्नथत् ११।४७ श्नथयः ३ । २१
श्मन्, न, ३ । १
श्मशा, निघ ४ । २ नि ५ । १२
श्मशान, न ३ । १
श्मश्रु, न, ३ । ५
श्याम, वि, ४ । ३
श्याव, स्त्री, श्यावी, निघ १।७;१५
श्येन, पु. निघ १ । १४; ५ । ५ नि ११ । १; ४ । २४
श्रत्, अ, निघ ३ । १०
श्रथ्, धा, श्रथति, निघ २ । १९
श्रद्धा, स्त्री, निघ ५ ।३ नि ९ । ३०
श्रवण, न, ११ । ३३
श्रवस्, न, निघ २।७; १० नि ४। २४; ९ । १०; १० । ३; ११ । ९
श्रवस्य, न, ५ । २५
श्रवस्यु, वि, ११ । ५०
श्रायन्तः, निघ ४ । ३ नि ६ । ८
श्रि, धा, उदश्रेत्, ११ । १०
श्रीणा, स्त्री, निघ १ । ७
श्रु, धा, श्रुधि १० । २ अश्रवम् ६ । ९; ११।३८ अणवन् १२।३०
शुश्रवत् ५ । १७ ओत १२ । ४३ शुश्रवान् १ । २०
श्रुष्टी, तृतीया, क्रिया वि, निघ४।३ नि ६ । १२
श्रुष्टीवन्, वि ६ । २२
श्रेणि, स्त्री ४ ।१३
श्रेणिशस्, क्रिया वि ४ । १३
श्रोण्, धा, ४ । ३
श्रोणि, स्त्री ४ । ३
श्लोक, पुं. निघ १ । ११ नि ९।९
श्वघ्निन्, पु; निघ ४ । २ नि५।२२
श्वञ्च्, धा, (श्वञ्च) शश्वचे२।२७
श्वस्, क्रियावि, श्वसति, श्वसिति, निघ २।१९
श्वसन, पुं, ५।१६
श्वात्र, वि, क्रियावि, निघ २।१०; ४.२ नि ५।३
श्वात्रति, निघ २।१४
श्वित्या, स्त्री, निघ १।८नि२।२०

## ष

षष्, संख्या, निघ४।२७
षष्क्, ष्वष्क्, धा, निघ२।१४

## स

संयत्, स्त्री, निघ २।१७
संयुगे, सप्तमी, निघ २।१७
संवत्, निघ २।१७
संवत्सर, पुं,४।२७;९।६

संविद्, स्त्री, ११।३४
संहिता, स्त्री, १।१७
सक्; पुं, ४।१०
सक्थि, न, ८।२०
सक्षति; दे; म; सच्
सखि,पुं, ७।३०
सख्य, न, ४।१०
सगर, पुं, न, निघ १।३
सग्धि, वि, ९।४३
सग्मन्, निघ २।१७
संका, स्त्री, २।१७;२।१४,
संख्ये, सप्तमी, निघ २।१७
संगथे, सप्तमी, निघ, २।१७
संग्राम, न, निघ २।१७नि१०।३९
संगे, सप्तमी; निघ २।१७
संग्राम; पुं; निघ २।१७नि ३।९
सच् ;धा; सचति; निघ २।१४
सचते; सचन्ते; वि ३।२१;
७।२२ सचत, ८।२६ सच
न्ताम; सचस्व ९।३३;३।२१
सिषक्तु; निघ ३।२९नि३।२१;
११।४९ संसचाव है ५.९
सक्षति; निघ २।४
सचा; निघ ४।२नि५।५; ११।५०
सचाभु वि; ५।५
सजात्य; न; ६।१४
सजूस् , क्रियावि,९।१३
सजोषस् , वि, ८।८;११।१५
संचरेण्य, वि १।६
सत, निघ, १।१२ सतः निघ३।२९,
नि ३।२०
सतीक, न, निघ १।१२सर्णीक
सतीनं, न, निघ १।१२
सत्तृ; पुं; ५।३
सत्य, वि, न, १।१२;३।१० नि
१।१३;३।१३
सत्रा; क्रियावि, निघ ३।१०
सत्वन्, पुं, ६।३०
सद्, धा, सदन्तु,सदताम.८।११;
१३ परिषद्यम ३।२
सदन ,न, निघ १।१२नि४।१७;७।
२४;१२।४२
सदम, क्रिया वि ४।१९;१२।३७
सदस् , न, निघ, ३।३०
सदान्व, वि; निघ ४।३;६।३०
सद्मन् ; न; निघ १।१२;२।१७;३।४
निघ ३।३०
सधमाद्. पुं; ७।३०
सधस्थ; न, ३।१५
सध्रि, द्वि, निघ ३।३०
सनय, वि, ४।१९
सनात्, क्रियावि, १२।३६
सनाभि, पुं, स्त्री, निघ२।५नि४।२१
सनि, पुं, ३।५;६।२२
सनितुः, ३।६
सनुतः, क्रियावि.निघ३।२५ नि६।७
सनेमि, क्रियावि, निघ ३।२७नि
१२।४४

संदृश् , स्त्री १०।२६
सप् , धा, सपति,निघ ३।५; १४
नि ५।१६
सपर्यति; निघ ३।५ नि ११।२
सपीति, वि, ९।४३
सप्तन् , संख्या, ४।२६ सप्तक्रमयः
निघ१।५;५।६नि१२।३६;१०।२;
सप्तनामन् , वि ४।२७
सप्तपुत्र, वि, ४।२६
सप्तस्वसृ, वि, १०।५
सप्तहोतृ; वि, ११।२३
सप्ति, पुं; निघ १।१४नि९।३
सप्तथस्,वि;निघ४।३नि६।७;९।३२
सलम्घु; पुं; ४।२१
सबाध् , पुं; निघ ३।१८
सम; उप; १।३
सम; सर्वनाम; निघ ४।३नि१२२:
१०।५
समद्;स्त्री निघ२।१७ नि९।१७;२०
समन;न;निघ २।१७नि९।१४;१८;
४०;७।१७
समना; तृतीयाः क्रिया वि; १०।५
समनीक ( न )निघ २।१७
समरण; न, निघ २।१७नि११।८
समर्य; पुं; न निघ २।१७
समा; स्त्री, ११।५
समान; विः ४।२५
समानबन्धु; वि, २।२०
समिति; स्त्री; निघ २।१७
समिथ; न; निघ २।१७नि ९।१८;६।१७
समिध् ; स्त्री; ३।२१
समीके; सप्तमी; निघ २।१७
समुद्र; पुं; निघ १।३;१।६नि २।१०;
१०।३२;११।६१;१२।३१
समुद्रियः; स्त्री; बेहु १२।३०
हमोहे, सप्तमी, निघ २।१७
संप्रति, क्रियावि, ६।२२
संमोहे, सप्तमी, निघ २।१७
सरण्यु, स्त्री, ५।६ नि १२।९
सरमा, स्त्री. निघ ५।५ नि११।२४
सरस्, न, निघ १।१२;१२ नि १५।११
सरस्वत, पुं, निघ ५।४ नि१०।२३
सरस्वती, स्त्री, निघ १।११; १३
५।५ नि २।२३; ९।२६;
११।२५
सरित्, स्त्री, निघ १।१३
सरिर, न, निघ ३।१
सर्ग, पुं, निघ १।१२
सर्णीक, न, निघ १।१२
सर्पति, दे. प्र, सृप्
सर्पिस्, न, निघ १।१२
सर्व. सर्वनाम, निघ १।१२ नि२।२४
सर्वंगण, वि, ६।३६
सर्वताति, स्त्री, ११।२४
सर्सृते, दे. प्र, सृ
सलल्रूक, न, निघ ४।३ नि ६।३
सलिल, न, निघ १।१२; ३।१

सव, पुं, ८ । १०; ११ । २
सवन, न, निघ ३ । १७ नि ५ । २५
सवितृ, पुं, निघ ५।४;६ नि १०।३१; १२।१२
सवीमनि, सप्तमी, निघ ४ । ३ नि ६ । ७; १२
सश्च्, धा, सश्चति, निघ २ । १४ असश्चन्ती, ४ । २ नि ५ । २
सस्, धा, सस्ति, निघ ३ । २२
असस्तन, नि ११ । १६
ससतः ४ । १६
सस, न; निघ २ । ७; ४।२ नि ५।३
सस्नि, पुं, निघ ४ । २ नि ५ । १
सस्रति, दे, प्र, सृ
सस्रुत्, वि, निघ १ । १३
सस्वर्, क्रियावि, निघ ३ । २५
सह्, धा; प्रसाक्षते ११ । २१
सहस्; न, निघ १ । १२; २ ।९नि ५ । २५; ११ । ९
सहस्र, न, निघ ३।१ नि ३।१०
सहस्र सा, वि; १०।२९
सहावन्; वि; १० । २८
साकम्; क्रियावि; ५ ।११; ९।९; १० । १३; ११ ।२; १२ । ३८
साचीवित्; क्रियावि; २ । १५
साध्; धा; प्रसीध धाति; १२। १८
साधु; वि, ६ । २३
साध्य; पुं; निघ १ । ५; ५ ।६ नि १२ । ४०
सानु; न; ७ । १२
सामि; न; ६ । २३
सायक, पुं, निघ २।२०
सि; धा; सीयते; निघ २ । १४
सिकताः; बहु २ । १
सिञ्च्; धा; सिसिचुः १०।१३
सित; वि; ९ । २६
सिध्र; वि ९ । ३८
सिन; न; निघ २। ७; ४।२ नि५।५
सिनीवाली; स्त्री; निघ ५ । ५नि ११ । ३१
सिन्धु; पुं;निघ १ ।१३ नि१० ।१ २७ स्त्री ९ । २६
सिम; सर्वनाम; ४ । ११
सिरा; स्त्री, निघ १ । १२
सिलिकमध्यम, वि; ४ । १३
सिसर्ति; दे; प्र; सृ
सीम्; अ, निघ४ ।२ नि १ ।७; ५। २१; २८; ११ । ४७; ४८
सीमन्; न; १ । ७
सीमिका; स्त्री; ७ । २०
सीयते; दे; प्र; सि
सीर, पुं, ९।४
सीरा; स्त्री; निघ १ । १३
सु; अ; १ । ३; १० । २८ सुकर्म, निघ ३ । १२
सु; धा; साविषत् ११ । ४३
सुकिंशुक; नि; १२ । ८
सुक्रतु; वि; ८ । ७
सुक्षेमन्; न; निघ १ । १२

सुख; वि; १ । १२; नि ३।१३
सुग; वि; ६ । ८; १२।४२
सुग्र, वि ५।१६
सुग्म्य; वि; निघ ३ । ६
सुचक्र वि; १० । ३
सुजिह्व; वि; ८ । १
सुत; पुं; निघ १ । ६
सुत;पुं; न;निघ २।७नि५ ।१८; २२
सुतुक; वि; निघ ४। १ नि४ ।१८
सुदत्र; वि; निघ ४।३नि ६ । १४
सुदानु; वि; ६ । ८३
सुदास्; नामवि; २ । २४
सुदिन; न निघ ३ । ६
सुदुघ; वि ११ । ४३
सुदेव, वि; ५ । २७
सुद्राविणस् वि; ११ । २३
सुधन्वन्; नामवि; ११ । १६
सुनीथ वि; निघ ३ । ८ नि ४।१९
सुपर्ण पुं; निघ १ । ५, १४;१। ४
नि; ३ । १८; ४ । ३; ७ । २४;
८ । १९;१० ।४२ स्त्री, निघ
१ । ११ नि७ । ३१
सुपलाश; वि; १२ । २९
सुपाणि; वि; २ । २६
सुप्रया; वि; ५ । २८
सुप्रायण; वि; निघ ४ । १ नि ४ ।
१९; ८ । १०
सुभद्र; वि; ११ । ३४
सुमख; वि; ११ । ९; १२ । ३
सुमङ्गल; वि; ९ । ४
सुमत्;क्रियावि;निघ४। ३नि६। २२
सुमति; स्त्री; निघ २ ।११;७।२८;
११ ; ११; १९; १२ । ३८
सुमाय; वि ११ । १४
सुम्न; न; निघ ३ । ६
सुम्नावन्; वि; स्त्री; निघ १ । ७
सुरण; वि; ११ । ५०
सुरा, स्त्री; निघ १ । १२ नि १ ।
४; ११
सुरुक्म; वि, ८ । ११
सुरुच्; वि, १ । ७
सुवासस्, वि, १ । १९
सुवास्तु, नामवि, ४ । १५
सुवित, न, निघ ४।१; नि ४।१७
११।५; १२ । २८
सुविदत्रपुं निघ३।३नि६।१४ न ७।९
सुविदत्रिय, वि, ७ । ९
सुवीर, वि, ६ । ७; ९ । १२
सुवृक्ति, स्त्री २ । २४
सुवृध्, वि, ३ । ११
सुशिप्र, वि,निघ४ । ३नि ६ । १७
सुशेव, वि, ३ । ३; नि १० । १७
सुषारथि, पुं; ९ । १६
सुषोमा, स्त्री, ९ । २६
सुष्टुति, स्त्री ६ । १८
सुष्वयन्ती ८ । ११
सुह्व; वि, ११ । ३१; ३३

सुहस्त; वि, ११ । ४३
सूद; पुं, निघ ३ । २५
सूनर; वि, स्त्री; निघ १ । ८
सूनु; पुं; निघ २ ।२ नि ५। २५; २ । २५; ११ । १७
सूनृत, वि; स्त्री; निघ १ ।८;२।७
सूनृतावत् वि, स्त्री, निघ १ । ८
सूभर्व; वि; ९ । २३
सूमय; वि; ६ । ३२
सूयवसाद्, वि, ११ । ४४
सूर, पुं, ४ । १३
सूरचक्षस्, वि, ११ । १६
सूरि, पुं, निघ ३ १६ नि १२ । ३
सूर्त, निघ ४ ।३ नि ६ । १५
सूर्मि, वि, ५ । २७
सूर्य, पुं, निघ ५ । ६ नि १२। १४
सूर्या, स्त्री, निघ १ । ११। ५।६नि १२ । ७
सृ, धा, सिसर्ति, सस्रते,सस्रति निघ २ । १४ आसस्राणासः नि १० । ३ विसस्रे १ १८
सृक, पुं, निघ २ । २०
सृकन्, पुं, ११ । ४२
सृज्, धा, प्रससर्ज १० । ४
सृणि, स्त्री, निघ ४ ।२नि ५।२८
सृप्, धा, सर्पति, निघ २। १४
सृप्र, वि, निघ ४ ।३ नि६।१७
सेध्, धा, सेधति, निघ २। १४
सेना, स्त्री, २ । ११ । १० । २२
सो, धा, १ । १७ विषिते ९।३९
सोम, पुं, निघ ५।५ नि १७ । २
सोमन्, पुं, निघ ४ । ३ नि६ ।१०
सोमपति, स्त्री ।८ । ३७
सोमिन्, वि, ९ । ९
सौम्य, वि, २ । २५। १०। ३७।११। १८। १८
सौमनस, न, ११ ।१९
स्कन्ध, पुं, ६ । १७
स्कन्धस्, न, ६ । १७
स्कु,धा, चोष्कूयते, चोष्कूयमान, निघ४.३ नि६।२२ अप्रतिष्कुत
स्तामु, पुं, निघ । ३ । १६
स्तिपा, पुं, निघ ४ । ३नि६ । १७
स्तिया,स्त्री, निघ ४ । ३नि ६।१७
स्तु, धा, स्तौति,निघ ३।१४ स्तवे नि, ६ । २३ स्तवत्, ५ ।२२ स्तोषम् ९ । २५ स्तुवेय्यम् ११ । २१
स्तुभ्, धा, स्तोभति, निघ ३।१४ नि ७ । २१
स्तुभ्, पुं, निघ ३ । १६
स्तूप, पुं, १० । ३३
स्तृणाति, दे, प्र, स्तृ
स्तृभिः, तृतीया, निघ ३ । २९; नि ३ । २०
स्तृ, धा,स्तृणाति, निघ २। १९

स्तेन, पुं, ३ । २४
स्तोक, पुं, २ । १
स्तोतृ, पुं, ३ । १६
स्त्यै, धा, ३ । २१
स्था, धा, तिष्ठाः, ८ । १८ अनुतस्थिम ६ । ६ तस्थुषः, निघ २ । ३ नि १२ । १६
स्था, वि, ५ । ३
स्थाणु, पुं, १ । १८
स्थिर, धा, ९ । ११
स्थिरधन्वन्, वि १० । ६
स्थिरपीत, वि, १ । २०
स्थूणा, स्त्री, १ । १२
स्थूर, वि, ६ । २२
स्ना, धा, १२।२६ स्नात्वः १।९
स्निह, धा, निघ २ । १९, स्नेहति स्नेहयति
स्नुषा, स्त्री, १२ । ९
स्पश्, धा, अनुपस्पशानम् १०।२०
स्पार्ह, वि, ३ । १०
स्पृध्, पुं, निघ २ । १७
स्फुर, धा, स्फुरति, निघ २ । १९ स्फुरत् ५ । १७ विस्फुरन्ती ९ । ४०
स्फुल्, धा, स्फुलति, निघ २।१९
स्मत्, अ, ११ । ४९
स्मृतीकं, न, निघ १ । १२
स्य, नं, ६ । ९
स्यन्द्, धा, स्यन्दति, स्यन्दते, निघ २ । १४
स्यन्द्र, वि, निघ २ । ९
स्यम्, धा, स्यमति, निघ २ । १४
स्याल, पुं, ६ । ९
स्यूमक, न, निघ ३ । ६
स्योन, वि, निघ ३ । ६ नि ८ । ९; १३; ९ । ३२; १२ । ८
स्रंस्, धा, स्रंसते, निघ २ । १४
स्रवन्त्यः, बहु, स्त्री, निघ १ । १३
स्रु, धा, स्रवति, निघ २ । १४ परिस्रव ३ । २१
स्रोतस्, न, निघ १ । १२
स्रोत्या, स्त्री, निघ १ । १३
स्वगूर्त, वि, १० । ४७
स्वज्, धा, परिष्वजाते ११ । २४ परिषस्वजाना ९ । १८
स्वश्वाः, निघ ४ । १ नि ५ । ७
स्वद्, धा, स्वदति, निघ २ । १४ नि ८ । ६; ७
स्वधा, स्त्री, निघ १ १२; २ । ७; ३ । ३० नि ७ । २५,
स्वधावत्, वि, १० । ६ । १२ । १७
स्वधिति, पुं, स्त्री, निघ २ । २० नि १ । १५
स्वन, पुं, निघ १ । ११;
स्वप्, धा, स्वपिति, निघ ३ २२; २ । १४

स्वपस्, वि, ८ । १३
स्वपिवात, वि, १० । ७
स्वप्ननंशनं, पुं, १२ । २८
स्वयशस्, वि, ८ । १५
स्वर्, न, निघ १ । ४; १२ नि २
१४; ५ । ४; १९; ११ । ७
स्वर, पुं, निघ १ । ११
स्वरति, दे, प्र, स्वृ
स्वरण, पुं, ६ । १०
स्वर्क, वि, ११ । १४; १२ । ४४
स्वर्दृश्, वि, १० । १३
स्वर्विद, वि, ७ । २५
स्वसरे, न, निघ १ । ९; ३ । ४; ४
२ नि ५ । ४
स्वसृ, स्त्री, निघ ३।५ नि ११ ।३२
स्वस्ति, स्त्री, न, निघ ५ । ५ नि
३ । २१; ५ । २८; ११ । ४६
स्वस्तिवाह, वि, ५ । २६
स्वाहा, अ, १ । ११, ८ २०
स्वृ, धा, स्वरति, निघ २ । १४;
३ । १४ अभिस्वरान्ति ३ । १२
स्वृतीक, न, निघ १ । १२

## ह्

ह, १ । ५
हंस, पुं, निघ १ । १४ नि ४ । १३
हथ, न, ६ । २७
हन्, धा, हनति, हन्ति, निघ २ ।
१४ जघन्वस् २।१७; ७ । ३२
हन्तोः ६ । २ आजङ्घान्ति
उपजिघ्नते ९ । २० हन्तात्
निघ २ । १४
हनु, पुं, स्त्री, ६ । १७
हम्, धा, हम्मति, निघ २ । १४
हय्, धा, हयति, निघ २ । १४
हयन्तात्=हन्तात्
हय, पुं, निघ १ । १४
हरयाण, पुं, निघ ४।२ नि ५ । १५
हरस्, न, निघ १ । १७; २ । १३;
४ । १ नि ४ । १८
हरस्वत्, वि, निघ १ । १२
हरि, वि, निघ २ । ३; ९ । १५ नि
४ । १९; ७ । २४
हरित्, वि, निघ १ । ६; १ । १३;
१५; २ । ५ नि ४ । ११
हर्म्य, न, निघ ३ । ४
हर्य, धा, हर्यति, निघ २ । १४, ६
नि २ । १०; ७ । १७ प्रतिह-
र्यते ११ । १५
हव, पुं, न, ५ । १; १० २; ११ ।
१८; १२ । ४४
हवनश्रुत्, वि, ६ । २७
हविर्धान, न, निघ ५।३ नि९ ।३७
हविस्, न, निघ १ । १२
हव्य, न, ८ । ७
हस्त, पुं, १ । ७
हस्तघ्न, पुं, निघ ५।३ नि ९। १४
हस्तच्युति, स्त्री, ५ । १०

हस्र, वि, ३ । ५
हा, धा, उ जिहीते ५ । २१
हा, धा, जहा, निघ ४ । १ नि ४।१
हास्, धा, हासमाने, निघ ४ । १
नि ५ । ३; ९ । ३९
हि, १ । ६
हि, धा, हिनोति, निघ ४ । ३ नि
६ । २२ हिन्वन्ति १।२० हिनु
११ । ३० हिनोत १२ । ४ प्र
हिनोत ७ । २०
हिम, न, ४ । २७; ६ । ३६
हिमा, तृतीया, निघ १ । ७
हिरण्य, न, निघ १ । २ नि २।१०
हिरण्यगर्भ, पुं, १० । २३
हिरण्यपर्ण, वि, ८ । १९
हिरण्यवर्ण, वि, निघ १ । १३
हिरण्यस्तूप, नामवि, १० । ३३
हिरुक्, क्रियावि, ३ । २५ नि २।८
हु, धा, १०।२२ आहुतः ७ । २५
हुरश्चित्, वि, निघ ३ । २४
हृणि, पुं, निघ २ । १७; २ । १३
हृणीयते, निघ २ । १२
हृद्, न, ९ । ३३; १० । ३५
हेड्, धा, हेळते, निघ २ । १२
हेति, पुं, निघ२।२० नि६।३,९।१५
हेमन्, न, निघ १ । ७; १२
हेमन्त, पुं, ४ । २७
हेळस्, न, निघ २ । १३
होत्रा, स्त्री, निघ १।११;३।१७
ह्यस्, क्रियावि, १ । ६
ह्रद्, धा, १ । ९
ह्रद, पुं, १ । ८; ८ । ७
ह्रस्व, वि, निघ ३,२ नि ३।१३
ह्लाद्, धा, १ । ९
ह्वरस्, न, निघ २ । १३
ह्वार्य, पुं, निघ १ । १४
ह्वृ, धा, ह्वरति, निघ २ । ८
ह्वे, धा, ह्वयति, ह्वयत, निघ ३।
८; ३ । १४ हुवे, नि ११ । ३१
१२ । २१ हुवेम १०। २८;१२
१४ जुहूरे, निघ ४ । १ नि ४
१९ जोहवीमि ११ ।३३ अजो
हवीत् ५ । २१ हव्यः १० । ४
२ हवामाः १२ । ३३ आहुवा-
महे ११ । ५०

# निरुक्त की भूमिका।

**मानुष जीवन का उद्देश्य** — मानुष जीवन का उद्देश्य यह चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म=पुण्यकर्म (यज्ञादि) और सदाचार। अर्थ=जीवन के उपयोगी हर एक वस्तु—धन, पशु, घर आदि, का उपार्जन। काम=इनका उपभोग। मोक्ष=बन्धन से छुटकारा-पूरी स्वतन्त्रता। पुरुष की हर एक प्रवृत्ति का उद्देश्य इन्हीं चारों में से कोई एक होता है, इन में से अर्थ और काम जीवनमात्र का उद्देश्य हैं, धर्म और मोक्ष मानुष-जीवन का विशेष उद्देश्य है। अतएव इन चारों में से कोई भी त्याज्य नहीं, सभी उपादेय हैं। इन चारों की यथोचित प्राप्ति से मानुषजीवन सर्वांग पूर्ण होता है॥

**उसकी पूर्ति के लिये मन्त्रों की प्रवृत्ति** — मनुष्य को ऐसा सर्वांग पूर्ण जीवन देने के लिये ही मन्त्रों की प्रवृत्ति हुई है। मन्त्रों में वह आर्षज्ञान है, जो ऋषियों को साक्षात् परमात्मा से मिला है। ऋषि का अर्थ ही साक्षात् देखने वाला है। अर्थ के साक्षात् देखने वाले तो हम भी हैं, पर ऋषि धर्म के साक्षात् देखने वाले थे, उसी तरह जैसे कि हम अर्थ के साक्षात् देखने वाले हैं। इन धर्मदर्शी ऋषियों के द्वारा धर्म मानुष जगत् में आया। वह धर्म मन्त्रों में है।

**ब्राह्मण और उपनिषदों की प्रवृत्ति।** — मन्त्रद्रष्टा ऋषि धर्मोपदेश तो सभी को करते रहे, पर जो उनके चुने हुए शिष्य थे—जिन में उनके पुत्र भी सम्मिलित हैं, उनको यथाक्रम मन्त्र कण्ठस्थ करवाकर, मन्त्र रक्षा का भार उन पर रक्खा। उन्हों ने मन्त्रों का पाठ, क्रम, अर्थ, तात्पर्य, विनियोग आदि, जैसा उन पूर्व ऋषियों से सुना था, वैसा आगे अपने शिष्यों को उपदेश किया, इस प्रकार शिष्य परम्परा से वह उपदेश आर्य जाति का पथ प्रदर्शक हुआ वंशानुवंश आर्य जाति के साथ सुरक्षित चला आया, समय पाकर जब कि इस रीति पर रक्षा करने वाले घटने लगे, और

कई बातों में कुछ संशय और भ्रम उत्पन्न होने लगे, तब परम्परागत उन सारी बातों की रक्षा के लिये, उन सब बातों का संग्रह कर के उनका भी मन्त्रवत अध्ययनाध्यापन आरम्भ हुआ। वही संगृहीत ग्रन्थ ब्राह्मण और उपनिषद् हैं। यह ब्राह्मण और उपनिषदों के वाक्य श्रुति परम्परा से आए थे, इसीलिये इनका नाम श्रुति* हुआ। जिन ऋषियों ने इनका ग्रन्थरूप में अध्यापन कराया, वह इनके बनाने वाले नहीं थे, अध्यापन कराने वाले थे, अतएव वह इनके प्रवक्ता कहलाए, न कि कर्ता। वेदों की शाकल, माध्यन्दिन आदि शाखाएं इन्हीं प्रवक्ता ऋषियों के नाम पर हैं, यही बात मीमांसा में 'आख्या प्रवचनात्= शाखाओं के) नाम प्रवचन अध्यापन) से हैं (न कि बनाने से) सूत्र से, और पाणिनि ने कृते ग्रन्थे से कार्यसिद्धि होते हुए शाखाओं के विषय में अलग 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र रचने से दिखलाई है। अर्थात् संदेश लाने वाले की तरह आर्यवृद्धों का संदेश इन्हों ने बतलाया है और कुछ नहीं किया। यह संदेश परम्परागत है, इस बात के दर्शाने के लिये ब्राह्मण और उपनिषदों में कहीं २ गुरु शिष्य का वंश परम्परा भी दी है।

ब्राह्मण और उपनिषदों का मन्त्रवत् समादर — उक्त रीति से ब्राह्मण और उपनिषद् भी मन्त्र सम्बन्धी परम्परागत संदेश ही हैं, अतएव स्वभावतः इनके लिये भी पहले से ही बहुत बड़ा आदर था। अब, जब कि, उनका भी मन्त्रवत अध्ययनाध्यापन प्रारम्भ हुआ, तो उनका भी समादर मन्त्रवत् होने लगा, और मन्त्रवत् इनके लिये भी वेद, छन्द इत्यादि शब्द प्रयोग हुआ। भेद के बोधक मन्त्र और ब्राह्मण शब्द ही रहे।

मन्त्र और ब्राह्मण में वास्तव भेद — तथापि मन्त्र और ब्राह्मण में वास्तव भेद है। मन्त्र मुख्य वस्तु हैं, ब्राह्मण और उपनिषद् उनका अर्थ, तात्पर्य और उपयोग बतलाने वाले हैं।

---

* मन्त्रों में मन्त्र और वेद शब्द मन्त्र के अर्थ में बोले गए हैं, पर श्रुति शब्द मन्त्र के अर्थ में कहीं नहीं आया।

सो मन्त्र तो शब्द अर्थ दोनों से ज्यों के त्यों बने चले आए, जैसे कि मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने उपदेश किये थे। पर उन ऋषियों के वार्तालाप अर्थ, तात्पर्य, विनियोग आदि अपने समय की भाषा, कहने के अपने २ ढंग, और कहने सुनने वालों की भिन्न २ योग्यता के कारण इन संदेशों में बढ़ा घटा होजाने से शब्द, अर्थ दोनों में बदलते चले आए हैं। यह स्थिर उस समय हुए हैं, जब इनका भी मन्त्रवत् प्रवचन होने लगा। यह बात बुद्धि मानती है, किन्तु इसके प्रमाण भी हैं। यह स्पष्ट है, कि मन्त्र काल की भाषा मन्त्रों की भाषा के सदृश होनी चाहिये, ब्राह्मणों की भाषा उन से नई है। और यह इस से पूरा स्पष्ट होजाता है, जब हम देखते हैं, कि मीमांसा दर्शन के मन्त्र स्वराधिकरण ( १२ । ३ । १६-१७ ) में ब्राह्मण स्वर को भाषा स्वर कहा है। सांख्यायन गृह्य (६।२) में ब्राह्मण वाक्य को भाषिक (भाषा का) वाक्य कहा है। भाषा और भाषिक शब्द अष्टाध्यायी और निरुक्त में कई वार लौकिक संस्कृत के लिये प्रयुक्त हुए हैं। मन्त्रों में जो ब्रह्म विद्या है उपनिषदों में वही भिन्न २ ढंग से कही हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो मन्त्र काल से पीछे के सम्वादादि दिये हैं, मत भेद दिखलाए हैं, समय २ पर उपस्थित हुए संशयों के उत्तर दिये हैं, और भिन्न २ शाखाओं में न्यूनाधिक पाठ मिलते हैं, इससे बढ़ा घटा हुआ स्पष्ट है। किंबहुना, ब्राह्मण और उपनिषद् अपने कथन की पुष्टि के लिये मन्त्रों को प्रमाण देते हैं। ब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यान हैं, भाष्य हैं, यह सभी आचार्य मानते हैं। **विधिशब्दाच्च** ( मीमांसा १ । २ । ५३ ) इस सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने और इसी सूत्र पर ऋक्संहिता की भूमिका में सायणाचार्य ने 'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह' इस ऐतरेय ब्राह्मण में 'शतंहिमाः' मन्त्र का पाठ माना है, शेषपाठ को उसकी व्याख्या माना है। इस से स्पष्ट है, कि मन्त्र का स्थान सब से ऊपर है, और ब्राह्मण यद्यपि बहुत बड़े समादरणीय हैं, तथापि मन्त्र के स्थान से उनका स्थान नीचे अवश्य है।

पूर्व लिख आए हैं, कि ब्राह्मणों के प्रवचनकाल से पीछे के

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के वाचक शब्द } ग्रन्थों में मन्त्र और ब्राह्मण शब्द ही इन दोनों का भेद बोधक रहा है, दूसरे शब्द दोनों के लिए सांझे होगए हैं। सो वेद शब्द यजुर्वेद (१९।७८) ऋग्वेद (६।१।५) अथर्ववेद (४।७१।५।६) इत्यादि मन्त्रों में केवल मन्त्रों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मणों में भी वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र के लिये ही सिद्ध होता है। गोपथ ब्राह्मण १।२।९ में 'इमे सर्वेवेदाः स ब्राह्मणाः'=यह सारे वेद समेत ब्राह्मणों के, यहां वेद से अलग ब्राह्मण शब्द पढ़ा है। बृहदारण्यक (३।२।१) में याज्ञवल्क्य ने जनक को कहा है 'तूने वेद पढ़े हैं, और उपनिषदें तुझे बतलाई गई हैं'। यहां वेद और उपनिषद् अलग २ कहने से वेद शब्द मन्त्रों का ही बोधक है। ऋग्वेदादि शब्द का प्रयोग अब भी प्रायः संहिता विषयक ही है। मन्त्र संहिता पर ऋग्वेद लिखा रहता है, ऐतरेय ब्राह्मण पर नहीं। तुम्हारे हाथ में यह कौन पुस्तक है, इसके उत्तर में, यदि मन्त्र संहिता हो, तो कहा जाता है ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण हो, तो ऋग्वेद न कह कर, ऐतरेय ब्राह्मण, यही कहा जाता है।

**छन्द** तो नाम ही गायत्री आदि छन्दों (श्लोकों) का है, और गायत्री आदि छन्द मन्त्र संहिता में हैं। ब्राह्मण गद्यात्मक हैं। इसलिये छन्द भी मुख्यवृत्ति से मन्त्रों का ही नाम है। 'छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु' (ऋग्वेद८।१६।५) इस मन्त्र में, और निरुक्त १।१। 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः' में छन्द से अभिप्राय मन्त्र ही है, क्योंकि मन्त्रों से ही निघण्टुपद इकट्ठे किये गए हैं, नकि ब्राह्मण से, अतएव निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी यहां छन्द का अर्थ मन्त्र ही लिया है। निरुक्त में जहां छन्द का निर्वचन किया है, 'छन्दांसि छादनात्' वहां भी छन्द से अभिप्राय मन्त्रों से है, क्योंकि इसके साथ गायत्री आदि छन्दों का ही निर्वचन है, अतएव दुर्गाचार्य ने यहां भी 'छन्दांसि' का अर्थ 'मन्त्राः' किया है। 'छन्दो ब्राह्मणानि चतद्विषयाणि' (अष्टा४।२।६६) सूत्र में पाणिनि ने भी छन्द का मुख्य अर्थ मन्त्र मानकर ब्राह्मण शब्द अलग पढ़ा है। तथापि

पीछे वेद शब्दवत् छन्दस् शब्द मन्त्र ब्राह्मण दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

त्रयी शब्द भी मुख्यवृत्ति से मन्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है। मन्त्र तीन प्रकार के हैं, ऋचा, यजु, सामाचारों वेदों में यह तीनों ही प्रकार के मन्त्र हैं। इन तीनों (ऋचा, यजु, साम) अवयवों वाली वाणी का नाम त्रयी है। ऐसी वाणी मन्त्र हैं, ब्राह्मण नहीं। तथापि यह शब्द पीछे ब्राह्मणों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

निगम—भी मन्त्र-भाग का बोधक है। निरुक्त में जो निगम दिखलाए हैं, वह मन्त्र भाग ही हैं। पीछे यह भी दोनों का वाचक हुआ है।

श्रुति शब्द पहले ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुआ है, पीछे यद्यपि दोनों का वाचक होगया है, तथापि प्रयोग प्रायः पीछे भी ब्राह्मण वाक्यों के लिये ही हुआ है।

आगम, आम्नाय, समाम्नाय शब्द मुख्यवृत्ति से मन्त्र ब्राह्मण के वाचक है, तथापि इनका प्रयोग कभी २ दूसरे आदरणीय शास्त्रों के लिये भी हुआ है।

वेदांगों की प्रवृत्ति

पूर्व कह आए हैं, कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का यथार्थ ज्ञान देने के लिये वेद की प्रवृत्ति हुई है, अब वेद का यथार्थ ज्ञान देने के लिये वेदांगों की प्रवृत्ति हुई।

वेदांगों की संख्या और उनके विषय

वेदांग छः हैं—शिक्षा—इसमें मन्त्रों का शुद्ध स्पष्ट और मधुर उच्चारण करने की रीति सिखलाई है। और वेद के प्रसंग से सब प्रकार के लौकिक शास्त्रों की भी।

छन्द—इसमें मन्त्रों की छन्द रचना और उन छन्दों की पाद रचना—अर्थात् इतने अक्षरों का गायत्री छन्द होता है, इतने

उसके पाद होते हैं, इत्यादि—का यथार्थ वर्णन है, वेद के प्रसंग से लौकिक छन्दों का भी।

**व्याकरण**—इसमें लौकिक शब्दों की प्रकृति प्रत्यय आदि द्वारा सिद्धि, और उदात्तादि स्वरों की स्थिति, के नियम बतलाए हैं।

**निरुक्त**—इसमें वैदिक शब्दों का निर्वचन ( etymology शब्द की अपने अर्थ में प्रवृत्ति का निमित्त) दिखलाया है, और वेदार्थ की रीति जानने के लिये, प्रसंगागत मन्त्रों का वा मन्त्र खण्डों का भाष्य भी किया है, और वैदिक देवताओं के विषय में सविस्तर विचार किया है। अर्थात् वेद का यथा स्थित अर्थ जानने के लिये बहुत बड़ी सामग्री संपादन करदी है।

**कल्प**—इसमें मन्त्रों का कर्म में विनियोग दिखलाया है। इस मन्त्र वा मन्त्रों का इस कर्म में विनियोग है।

**ज्योतिष**—इसमें कर्मों के अनुष्ठान का समय आदि दिखलाया है।

शिक्षा में छः अंग इस प्रकार बतलाए हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्र मुच्यते ॥ १ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ २ ॥

छन्द वेद के दोनों पाओं हैं, कल्प दोनों हाथ पढ़ा गया है, नक्षत्रों की गति नेत्र है, निरुक्त श्रोत्र कहलाता है, शिक्षा वेद का घ्राण है, व्याकरण मुख माना है, इसलिये वेद को अपने अंगों समेत पढ़ कर ही ब्रह्मलोक में महिमा वाला होता है।

वेदांगों की प्राचीनता — वेदांगों की प्रवृत्ति भी बहुत प्राचीन काल से है, जैसा कि गोपथ ब्राह्मण (१।१।२७) में कहा है "षडङ्गविदस्तत्तथाऽधीमहे"=छः अंगों के जानने वाले हम

उसको वैसा पढ़ते हैं। इस ब्राह्मण में अंग और उनकी छः संख्या दोनों कही है। मुण्डक उप० १।१।५ में चारों वेदों के पीछे 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं, निरुक्तं छन्दो ज्योतिष मिति' छः अंगों के अलग २ नाम भी कहे हैं। पर जो वेदांग अब वर्तमान हैं, यह उतने पुराने नहीं हैं, इन से पहले वेदांग ग्रन्थ और विद्यमान थे, जिन के अस्तित्व का पता इन से मिलता है।

निरुक्त, निरुक्ति, निर्वचन पर्याय शब्द हैं। निर्वचन=खोल कर कहना, अर्थात् यह नाम इस वस्तु का क्यों है? इसको निखेर कर कहना।

निरुक्त का प्रयोजन

नाम शब्दों के तीन भेद हैं—यौगिक, योगरूढ़ और रूढ। योग=सम्बन्ध और रूढि=प्रसिद्धि को कहते हैं। सो अवयवार्थ के सम्बन्ध से जिस का अर्थ मिल जाए, वह यौगिक, जैसे पाचक, इसके दो अवयव हैं पच्+अक। पच्=पकाना, अक=वाला। सो इन दोनों का सम्बद्ध (मिला हुआ) अर्थ हुआ पकाने वाला। जो अवयवार्थ के बिना ही समूचा शब्द किसी अर्थ में प्रसिद्ध हो, वह रूढ, जैसे पर्व। पर्व का अर्थ जोड़ है; पर इसके अवयवों से यह अर्थ नहीं निकलता, लोक प्रसिद्धि से ही यह अर्थ माना जाता है। जिस में दोनों धर्मों (अवयवार्थ सम्बन्ध और प्रसिद्धि) का मेल हो, वह योगरूढ है, जैसे पंकज। पंक=कीचड़, ज=उत्पन्न होने वाला। सो पंकज का अर्थ हुआ कीचड़ में उत्पन्न होने वाला। पर यह नाम निरा कमल का है, कीचड़ में उत्पन्न होने वाली और किसी वस्तु का नहीं होता। यौगिक का अर्थ खुला होता है, जो कोई पकाए, सब पाचक। योगरूढ का अर्थ संकुचित होता है, पंकज, निरा कमल का नाम है, कीचड़ में उत्पन्न होने वाली सब वस्तुओं का नहीं। यह यौगिक और योगरूढ में भेद है।

इनमें से यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का निर्वचन तो सभी मानते हैं। रसोइये का नाम पाचक क्यों? सभी कहेंगे पकाने वाला होने से, पंकज का अर्थ कमल क्यों? सभी कहेंगे कीचड़ में उत्पन्न होने से। पर रूढ का निर्वचन सभी नहीं मानेंगे। जोड़ का

नाम पर्व क्यों ? इसके उत्तर में कई कहेंगे। इसलिये, कि पहले किसी ने यही नाम धर दिया, इस से अतिरिक्त कोई कारण नहीं, जैसे पुत्र का नाम जो जिस के जी में धर दिया, निर्धन भी अपने पुत्र का नाम धनपति रख देते हैं, और अति दुर्बल दृष्टि वाले का नाम भी आफ्तावसिंह रखते हैं। दूसरे कहेंगे, नहीं, कारण तो अवश्य कोई होगा, पर अब पता लगाना असम्भव है। तीसरे कहेंगे होगा नहीं, है, और पता लगाना भी असंभव नहीं, संभव है, अनुसन्धान करने से पता लगाया जासक्ता है, माता पिता से अपनी इच्छानुसार धरे नामों का भी अवश्य कोई कारण होता है, जो निर्धन अपने पुत्र का नाम धनपति रखते हैं, उनकी इच्छा यह होती है, कि उनका पुत्र धनपति हो, आगे वह हो, वा न हो, यह दूसरी बात है, पर नाम धरने का कारण अवश्य कोई है, उसी कारण को खोल कर बतलाना उसका निर्वचन है।

हां यह ठीक है, कि माता पिता लाड प्यार चाव से नाम धरते हैं. गुण कर्म स्वभाव देखकर नहीं, पर जब और लोग कभी २ किसी का नाम धर देते हैं, तो वह अवश्य किसी गुण वा कर्म को देखकर धरते हैं। वस्तुत जो नाम किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी व्यक्ति विशेष के लिये ही धरे गए हैं, न कि उस प्रकार के सब पदार्थों के लिये, ऐसे शब्दों के सिवाय, हर एक नाम के विषय में यही विचार प्रामाणिक है। इसी के अनुसार निर्वचन शास्त्र की उत्पत्ति हुई है, वह निर्वचनशास्त्र निरुक्त है।

यौगिक और योगरूढ शब्दों का निर्वचन तो व्याकरण से जाना जाता है, अतःरूढ शब्दों का निर्वचन ही निरुक्त का विषय है।

निर्वचन का फल } निर्वचन से कई बातों का प्रकाश होता है, पदार्थों के गुण कर्म ज्ञात होते हैं, जिस भाषा के वह नाम हैं, उस भाषा भाषियों के पूर्वजों की विद्या बुद्धि और रुचियों का पता लगता है। दृष्टान्त के लिये आप वंश शब्द को लें, वंश का अर्थ बांस है, और खानदान भी है। इसका अर्थ जो बांस है, वह अवयवार्थ से निकलता है। वन+शय=वन में स्थिति वाला। वनशय से वनश और वनश से वन्‌श=वंश हुआ है। अब खान-

दान के अर्थ में इस शब्द की प्रवृत्ति अवयवार्थ को लेकर नहीं हुई जैसे कि वांस के अर्थ में हुई है, किन्तु खानदान के अर्थ में यह गौण शब्द है, अर्थात् वांस के धर्मों को लेकर यह खानदान का नाम हुआ, है। जैसाकि, वांस का एक अंगूर निकलता है, वह आकाश में सीधाऊंचा उठता जाता है, उसके चारों ओर उसका परिवार फैलता जाता है, उन में से कोई भी एक दूसरे के लिये रुकावट नहीं डालता, बड़े छोटों को दबाते नहीं, स्वतन्त्र बढने देते हैं, और छोटे बड़ों के रक्षक होते हैं, वह जब तक आप कट न जाएं, बड़ों पर चोट नहीं आने देते। और उनका जगत् प्रसिद्ध काम झण्डा बन कर ऊंचा खड़ा होना है, और विजययात्रा में आगे २ चलना है। इन गुणों को लेकर यह नाम खानदान का रक्खा गया है, यह शब्द आर्यभाषा का है, इससे पता लगता है, कि आर्य जाति के पूर्वज अपने वंश में इन गुणों का होना चाहते थे, कि वंश का प्रत्येक व्यक्ति वन के वंश की तरह अपने वंश को ऊंचा बनाने की चेष्टा करे, इस प्रयोजन के लिये वह स्वयं ऊंचा उठे, अपने चारों ओर अपने परिवार को फैलाए, उन में से कोई भी किसी की वृद्धि में रुकावट न बने। बड़े छोटों को दबाएं नहीं, स्वतन्त्र बढ़ने दें, और छोटे बड़ों के भक्त हों, वह अपनी विद्यमानता में बड़ों (की लाज) पर कोई आघात न होने दें, उन में से प्रत्येक इतना महान् बनने की चेष्टा करे, कि जहां जाए झण्डा बन कर रहे। सभ्यता और धर्म की विजययात्रा का झण्डा बन कर सब को साथ लिये आगे बढ़े। इन गुणों को लेकर इस शब्द की खानदान के अर्थ में प्रवृत्ति हुई है, आर्यजाति के पूर्वजों की यह इच्छाएं वा उमंगें उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि और कर्तव्य पालन के इतिहास से स्पष्ट जान पड़ती हैं! इसी तरह हर एक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त ढूंढ निकालने से कई ऐतिहासिक और दूसरी बातों का प्रकाश होसक्ता है। अतएव संस्कृत में शब्द निर्वचन भी एक **स्वतन्त्र विद्या** मानी गई है।

**निरुक्त का मूल निघण्टु है** — निरुक्त का मूलसूत्र निघण्टु है, निरुक्त उस पर भाष्य है।

वेदांगों में सर्वत्र निरुक्त का ही नाम आता है, निघण्टु का कहीं नहीं। पर यह आश्चर्य होगा, कि निघण्टु जो मूल है, उसको वेदांगता की प्रतिष्ठा न मिले। और उसका भाष्य यह प्रतिष्ठा लेजाए। अब यदि दोनों को वेदांग मानलें, तो दो आपत्तियें खड़ी होजाएं, एक तो वेदांगों में निघण्टु का कहीं नाम नहीं, दूसरा वेदांग सात नहीं, छः हैं, पर निघण्टु को साथ मिलाने में सात होजाते हैं। इस आपत्ति को देखकर सायणाचार्य ने, और प्रस्थान भेद के कर्ता मधुसूदन सरस्वती ने निघण्टु को भी निरुक्त नाम देदिया है। पर यह स्पष्ट भूल है, क्योंकि निरुक्त निर्वचन का ही नाम है, जैसा कि गोपथ ब्राह्मण(१।१।२४-२८)में है। 'ओंकारं पृच्छामः...किं निरुक्तं... आपो ऽोंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः' तथा छान्दोग्य। ८।३।३) में है 'सवा एषआत्मा हृदि, तस्य तदेव निरुक्तं, हृदि+अयम्, इति। तस्माद् हृदयम्' यहां निरुक्त निर्वचन के अर्थ में है, इसी प्रकार अन्यत्र भी सर्वत्र निरुक्त निर्वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर निघण्टु में कोई निर्वचन नहीं है, इस लिये निघण्टु निरुक्त नहीं कहला सका।

निघण्टु और निरुक्त में से वेदांग कौन है?

तब फिर इसका क्या उत्तर है, कि जो प्रतिष्ठा मूलग्रन्थ को नहीं मिली, वह उसका भाष्य कैसे लेजाए? उत्तर यह है, कि भाष्य को जो वेदांगता की प्रतिष्ठा मिली है, मूल को उस से बढ़कर प्रतिष्ठा पहले मिल चुकी हुई है। वह यह है, कि निघण्टु का नाम 'समाम्नाय' है, जैसे कि निरुक्त के आरम्भ में ही कहा है 'समाम्नायः समाम्नातः, सव्याख्यातव्य.' समाम्नाय वेद को कहते हैं, अर्थात् निघण्टु वेदांग नहीं; वेद ही है। यह कैसे? इस लिये, कि निघण्टु में वेद के अन्दर से पद इकट्ठे कर २ के ज्यों के त्यों रख दिये हैं, यहां तक, कि वेद में उनका जिस विभक्ति और जिस वचन में प्रयोग मिला है, वैसा ही इस में संग्रह कर लिया है। अत एव वैदिक शब्द समूह होने से इसका नाम समाम्नाय है। निघण्टु इसका प्रसिद्ध नाम है, और वह इस लिये कि पर्याय शब्द सब इकट्ठे पढ़े गए हैं। ऐसे ग्रन्थों को निघण्टु, कोश वा अभिधान कहते हैं, सो इन दोनों में से निरुक्त वेदांग है, निघण्टु समाम्नाय है।

निघण्टु का ग्रन्थ परिमाण } 'गौः' से लेकर 'देव पत्न्यतः' तक निघण्टु ग्रन्थ है, इस के पांच अध्याय हैं। काण्ड तीन हैं- नैघण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड और दैवत काण्ड। पहले तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं, चौथे को नैगम काण्ड और पांचवें को दैवत काण्ड। इन नामों के हेतु यह हैं-जिस ग्रन्थ में एकार्थ-वाची पर्याय शब्द प्रायः कहे हों, उसे निघण्टु कहते हैं। इसी लिये अमर, वैजन्ती, हलायुध आदि दस कोशों के विषय में 'दश निघण्टवः" यह प्रसिद्ध है सो यहां भी पहले तीन अध्यायों में पर्याय शब्दों के समुदाय कहने से इस काण्ड का नाम नैघण्टुक है। इसके तीन अध्यायों में से पहले अध्याय में पृथिवी आदि लोकों और दिशा कालादि द्रव्यों के नाम हैं। दूसरे अध्याय में मनुष्य और उसके अवयव आदि द्रव्यों के नाम हैं। तीसरे में इन सबके धर्म लंबाई छुटाई बहुत्व अल्पता आदि के नाम हैं। अब चौथे का नाम नैगम काण्ड इस लिये है, कि निगम वेद का नाम है, और इस अध्याय में वैदिक अप्रसिद्ध २ शब्द ही संग्रह किये गए हैं। पांचवें अध्याय का नाम दैवत काण्ड इस लिये है, कि उसमें अग्नि आदि देवता पदों का संग्रह किया गया है।

निरुक्त का ग्रन्थ परिमाण } निरुक्त के अब १४ अध्याय मिलते हैं, पर असली ग्रन्थ १२ अध्याय ही हैं। तेरहवां चौदहवां परिशिष्ट हैं, जो पीछे साथ लगाए गए हैं। इसके हेतु यह है, (१) निरुक्त निघण्टु का भाष्य है, और निघण्टु की व्याख्या १२ अध्यायों में पूरी हो गई है (२) १२वें अध्याय की समाप्ति पर 'य ऋतु काले जायानां य ऋतु काले जायानाम्' इस प्रकार पूरे वाक्य को दो बार पढ़ने से ग्रन्थ की समाप्ति सूचित करदी है (३) तेरहवें अध्याय के आरम्भ में लिखा भी 'अथ परिशिष्टम्' है।

इन दो अध्यायों में भी चौदहवां तेरहवें से बहुत पीछे मिला है। निघण्टु के व्याख्यान कर्ता देवराज यज्वा ने तो 'य ऋतुकाले जायानाम्' तक ही निरुक्त ग्रन्थ लिखा है। उसके समय तक

तेरहवां चौदहवां दोनों अध्याय साथ नहीं लगे थे। हां निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने आरम्भ में निरुक्त के १२ अध्याय ही कह कर अन्त में सवा बारह अध्याय लिख कर तेरहवें पर भी व्याख्या कर दी है, जिस को उसने एक पाद करके माना है, नकि पूरा अध्याय। सायणाचार्य ने ऋक्संहिताभाष्य की भूमिका में 'तस्यास्ताद्भाव्य मनुभवत्यनु भवति' तक निरुक्त माना है। यह वचन तेरहवें अध्याय के अन्त का है। पर अध्याय सायण ने भी १२ ही कहे हैं। इससे प्रतीत होता है, कि दुर्गाचार्य और सायणाचार्य के समय १३वां अध्याय निरुक्त के साथ मिलगया था। पर उनसे पहले आचार्य निरुक्त के १२ ही अध्याय मानते थे, इस से, इन दोनों में से दुर्गाचार्य ने तो सवा बारह कहकर १२ की संख्या को ठीक रक्खा, और सायणाचार्य ने १२ ही कहकर तेरहवें को बारहवें के अन्तर्गत कर लिया। पर इनके लेख से यह स्पष्ट हो जाता है, कि चौदहवां अध्याय इनके समय न निरुक्त के अन्तर्गत था, न परिशिष्ट था, यह इन दोनों से पीछे इस में मिला।

अतएव 'द्वासुपर्णा' [२।२।१७।५] मन्त्र की व्याख्या में जो निरुक्त के १४वें अध्याय का व्याख्यान सायण भाष्य में पायाजाता है वह प्रक्षिप्त है, अतएव 'निरुक्त गतमस्य व्याख्यान मनुसंधेयं' लिखा है। सायण केवल 'निरुक्त' लिखा करता है।

निरुक्त दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पहले छः अध्याय पूर्वार्ध है, अगले छः अध्याय उत्तरार्ध। इस प्रकार छः २ अध्यायों के दो समुदाय होजाने से दो षट्क कहलाते हैं। पूर्वार्ध पूर्वषट्क और उत्तरार्ध उत्तरषट्क कहलाता है। पूर्वार्ध में दो काण्ड हैं, पहले तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड, अगले तीन अध्याय नैगम काण्ड है। उत्तरार्ध सारा दैवत काण्ड है।

**निघण्टु का कर्त्ता** — ग्रन्थ कर्ता का नाम प्रायः प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर लिखा रहता है, पर निघण्टु के कर्ता का नाम न किसी अध्याय की समाप्ति पर, और न ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखा है। न ही निघण्टु वा निरुक्त के टीका कारों ने कहीं नाम लिखा है। निरुक्त का वृत्तिकार दुर्गाचार्य

'समाम्नायः समाम्नातः' पर लिखता है । 'समाम्नाय ( निघण्टु ) जो ऋषियों ने गूंथा है' । इस से प्रतीत होता है,कि बहुत से ऋषियों ने इकट्ठे मिलकर इन शब्दों का संग्रह किया है । पर उसने इन ऋषियों का नाम नहीं दिया । सो अब हमें वृत्तिकार के इस वचन का मूल ढूंढना चाहिये, कदाचित् वहां से इन ऋषियों का पता लगे। वृत्तिकार के इस वचन का मूल निरुक्त १ । २० । का यह वचन है, कि "(मन्त्र द्रष्टा ऋषियों से) पीछे होने वालों ने इस ग्रन्थ (निघण्टु) को, वेदों को, और वेदांगों को गूंथा है" पर यह समान्य वचन है, इस में किसी ऋषि का नाम नहीं, इस मूल को देखकर निघण्टु के संग्रह कर्ता ऋषियोंके नाम का पता छोड़ उलटा यह निश्चय भी पक्का नहीं रहता, कि बहुत से ऋषियों ने मिलकर संग्रह किया है,क्योंकि वहां का बहु वचन बहुत से ग्रन्थों के लिये है, निघण्टु के साथ वेदांग भी कहे हैं । सो यदि इनमें से एक २ ग्रन्थ का अलग २ कर्ता माना जाए, तो भी अवश्य बहुवचन ही होना चाहिये ।

तब इसका संग्रह कर्ता कौन है ? महाभारत शान्तिपर्व के अवान्तर मोक्ष धर्म पर्व अ० ३४२ श्लोक ८६, ८७ में यह दो श्लोक मिलते हैं :—

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।
निघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृष मुत्तमम् ॥
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ।

हे भारत ! ऐश्वर्य का दाता धर्म, जगत् में वृष प्रसिद्ध है । निघण्टु के पद कथन में मुझे उत्तम वृष जान ॥ कपि वराह और श्रेष्ठ का नाम है, और धर्म वृष कहलाता है । इस लिये कश्यप प्रजापति ने मुझे वृषा कपि कहा है ॥ यहां निघण्टु पदों के कथन में 'कश्यप प्रजापति ने मुझे वृषा कपि कहा है' इस लेख से यह सिद्ध है, कि निघण्टु का कर्ता प्रजापति कश्यप है । निघण्टु ५ । ६ में १६वां पद वृषाकपि है । कश्यप प्रजापति का नाम इतनी बड़ी दूर की

सृष्टि में मिलता है, कि उसके समय के निर्धारण का साहस भी अभी तक किसी ने नहीं किया ॥

निरुक्त का कर्ता } निरुक्त के भी किसी अध्याय वा ग्रन्थ की समाप्ति में कर्ता का नाम नहीं आया। तथापि निरुक्त का कर्ता यास्कमुनि है, यह प्रसिद्धि भी है। निघण्टु और निरुक्त के टीका कारों ने भी लिखा भी है,अन्य कई ग्रन्थों में भी प्रसंगतःनिरुक्त का कर्ता यास्कमुनि लिखा है। और सबसे बढ़कर प्रमाण महाभारत का यह वचन है '**स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्कऋषि रुदारधीः। मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्त मभिजग्मिवान्**' (महा भार० शान्ति० ३४२।७२। उदार बुद्धिवाले यास्कऋषि ने शिपिविष्ट नाम से मेरी स्तुति करके मेरी कृपा से नष्ट हो चुके निरुक्त को पाया ॥

यास्कमुनि कब हुए, इसका अभी एक भी पूरा निर्णायक प्रमाण हमारे पास नहीं है। हां एतद्देशीय अनुसन्धायकों में से श्री सत्यव्रत सामश्रमीने सम्भवतः कलियुग की १८वीं शताब्दी ख्रीष्ट संवत् से उन्नीस सौ वर्ष से भी पूर्व माना है।

निघण्टु और निरुक्त में समय का अन्तर } निघण्टु और निरुक्त में कितने समय का अन्तर है, यह निर्णय करना बहुत कठिन है। नजाने कितना समय मूल निघण्टु ही वेदार्थ निर्णय के लिये पर्याप्त समझा जाता रहाहो,पीछे निरुक्त बना हो। फिर निरुक्तों में भी यह पहला निरुक्त नहीं है। इससे पहले और निरुक्त थे। यह निरुक्त में ही 'इति नैरुक्ता.' इत्यादि से स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राचीन निरुक्तकार शाकपूणि औपमन्यव आदिका नाम निर्देश भी किया है। 'अवरे बिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदंच वेदांगानि'च.(१।२०) इस वचन में बहुत पूर्व समय में सारे वेदांगों की स्थिति जितलाई है। वेदांगों में निरुक्त का होना आवश्यक है। ऊपर दिखलाआए हैं 'मत्प्रसादा दधोनष्टं निरुक्त मभिजग्मिवान्' इस महाभारत के प्रमाण से यह पाया जाता है, कि यास्क ने नष्ट हुए निरुक्त को फिर पाया

इत्यादि अनेक प्रमाण इस से पूर्व निरुक्तों की विद्यमानता में हैं। संभव है, कि कोई निरुक्त-स्वतन्त्र भी हो, पर अधिकतर संभव यही है, कि वह इसी निघण्टु पर होंगे, और निरुक्त 'में 'अवरे बिल्म ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः' यह वचन किसी दूसरे ग्रन्थ से उद्धृत किया हुआ है और इस में 'इमं' शब्द इसी निघण्टु के लिये कहा है। यह वचन निघण्टु पर लिखे गए ग्रन्थ में ही हो सक्ता है, इससे इसी निघण्टु पर इस निरुक्त से पूर्व और किसी निरुक्त का होना सिद्ध है। सो हम इतना कह सक्ते हैं, कि निघण्टु से बहुत पीछे इस निरुक्त की रचना हुई है।

**निरुक्त के विषय** — इसका पहला अध्याय भूमिकारूप है। दूसरे तीसरे अध्याय में निर्वचन की रीति कहकर नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या की है। ४ से ६ तक तीन अध्यायों में नैगम काण्ड की व्याख्या है, ७ से १२ तक छः अध्यायों में दैवत काण्ड की व्याख्या है। पहला परिशिष्ट जो तेरहवां अध्याय है, उसमें अतिस्तुति का प्रकरण चलाकर आत्म तत्व आदि का निरूपण किया है, दूसरा परिशिष्ट जो चौदहवां अध्याय है, उसमें ऊर्ध्व मार्ग गति का प्रकरण चलाकर परम पुरुषार्थ के साधनों का उपदेश किया है।

**निर्वचन और निगम** — निर्वचन नैघण्टुक काण्ड के तो सारे पदों का नहीं किया, न सब के निगम दिखलाए हैं। जैसे पृथिवी के २१ नामों में से गौः, शब्द का ही निर्वचन और निगम दिखलाया है, दूसरों का नहीं, किन्तु निर्वचन की रीति पूरी दिखलादी है, और निर्वचन किये भी बहुतेरे हैं, इनमें व्युत्पन्न पुरुष शेष निर्वचन स्वयं कर सक्ता है, यह अभिप्राय है। हां नैगम और दैवत काण्ड के सारे ही शब्दों पर व्याख्यान है।

निगमत्वेन प्रायः सर्वत्र वेद मन्त्र ही धरे हैं, उनमें से भी ऋग्वेद के ही मन्त्र बहुधा धरे हैं। निघण्टु में न आए भी, निगम में आए कई पदों का निर्वचन निगमार्थ के प्रसंग से कर दिया है। जैसे १।४ में 'वयाः' पद का। प्रसग संगति से भी कई पदों का निर्वचन किया है, जैसे २।५ में गो, शब्द के प्रसंग से 'पयः' शब्द का निर्वचन और 'पयः के प्रसंग से 'क्षीर' का निर्वचन किया है।

निरुक्त से पाने योग्य अन्य शिक्षा — निरुक्तकार ने केवल पदों का निर्वचन ही नहीं दिखलाया, किन्तु (१) वेदार्थ करने की शिक्षा देकर और बहुत से मन्त्रों का भाष्य दिखला कर, मन्त्रार्थ करने की पूरी रीति सिखलाई है। (२) वेद की प्रमाणता पर दृढ़ विश्वास दिखलाया है (देखो पुरुष विद्या १। २, आम्नाय वचनाद् १। १६ इत्यादि) (३) दूसरों के मत दिखलाने में हृदय की विशालता दिखलाई है, स्वयं नैरुक्त होकर भी वेद विषय में याज्ञिकों और ऐतिहासिकों के मत भी विना संकोच दिखलाए हैं। निर्वचनादि विषय में भी प्राचीन आचार्यों के मत विना संकोच दिखलाए हैं, और उनका आदर मान भी पूरा रक्खा है (४) वेदार्थ करने में ब्राह्मणों की प्रमाणता दिखलाई है (देखो ४। १७) (५) पर ब्राह्मणों में गौणी कल्पना और मुख्य अर्थ के जानने में सावधान रहने की आवश्यकता दिखलाई है, अन्यथा ब्राह्मण में कहीं गौणी कल्पनाओं को लेकर अर्थ करने में भूल हो सकती है (देखो ७।२४) (६) वेद के प्रामाणिक व्याख्याकारों का जहां मत भेद है, वहां यदि हम एक निर्णय नहीं करसके, तो उन दोनों विचारों में एक जैसा आदर दिखलाया है, 'यादिन्द्र चित्रमेहनास्ति' यह मन्त्र ऋग्वेद ५।३।१०।१ और सामवेद ४।२।१।५ में है, ऋग्वेद के पदकार शाकल्य आचार्य ने 'मेहनास्ति' के मेहना, अस्ति, यह दो पद किये हैं, और सामवेद के पदकार गार्ग्य ने 'मे' इह, न, अस्ति' यह चारपद किये हैं, निरुक्त ४। ४ में जब यह मन्त्र लिखा है, तो दोनों को प्रमाणमान कर दोनों अर्थ दिखला दिये हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के पदकार ने सूर्य शब्द को सर्वत्र असमस्त पद माना है, सामवेद के पद कारने 'सु०। ऊर्य' इस प्रकार समस्त भी माना है, इसी प्रकार मित्र, पुत्र, सख्ये शब्द ऋग्वेद के पद पाठ में असमस्तपद और साम के पद पाठ में 'मि। त्र, पु। त्र, स। ख्ये' इस प्रकार समस्त पद बोधन किये हैं। निरुक्त में इन के निर्वचन दोनों को प्रमाण मानकर दोनों प्रकार से दिखला दिये हैं। (७) पर प्रामाणिकों पर भी अति-विश्वास करके उनको भ्रमशून्य भी नहीं मान लेना चाहिये, यह भी दिखला दिया है। ऋग्वेद ७। ७। २२। १ में 'वायः' को शाक-

ल्य ने पदपाठ में 'वा। यः' दो पद करके लिखा है। निरुक्तकार ने इस में भूल देखकर शाकल्य का नाम लेकर इसका खण्डन कर दिया है (देखो ६। २८)। (८) वेदार्थ ज्ञान की कठिनता भी दिखलाई है (देखो २। ८) (९) अपना अज्ञान भी बिना संकोच प्रकट किया है। "पूपात्वेतः" मन्त्र पर लिखा है 'सांशयिकस्तृतीयः पादः' [देखो ७। ९]

निरुक्त पर टीकाएं — निरुक्त पर हिन्दी में इस से पहले कोई टीका नहीं, इंग्लिश में भी नहीं, संस्कृत में प्राचीन टीका स्कन्द स्वामी की थी, जिसके प्रमाण निघण्टु भाष्य में देवराज यज्वा ने उद्धृत किये हैं, पर अब वह नहीं मिलती। अब जो टीका मिलती है, वह दुर्गाचार्य की वृत्ति है, इस वृत्ति समेत निरुक्त का सम्पादन पहले पहले श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने किया और तिस पर निरुक्तालोचन नामक एक स्वतन्त्र विचार का ग्रन्थ लिखा। अब लाहौर ओरियंटल कालेज के प्रधानाध्यापक महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्मा जी ने अपनी टिप्पणी आदि देकर इसी वृत्ति समेत समग्रनिरुक्त का सम्पादन किया है। महामहोपाध्याय जी ने निरुक्त के खण्ड २ में छोटे २ वाक्य अलग २ दिखलाकर मूलग्रन्थ को सुगम बना दिया है। इन दोनों महानुभावों के परिश्रम से हमने लाभ उठाया है, अतएव कृतज्ञतया इन्हें धन्यवाद देते हैं।

वृत्तिकार दुर्गाचार्य के तो हम बहुत ही कृतज्ञ हैं, जिस के सहारे पर निरुक्त को अच्छी तरह समझ सके हैं। पर यह हमारी टीका उसका अनुवाद नहीं, एक स्वतन्त्र टीका है, हमने मूलग्रन्थ को अच्छी तरह स्फुट करने का अधिक प्रयत्न किया है। अर्थांश में जहां हमने वृत्तिकार से भेद किया है, वहां ठीक सोच समझ कर किया है।

निरुक्त में जो विचार वेद मन्त्रों और वैदिक ऋषियों के विषय में प्रकट किये हैं, इसमें आचार्यों का मतभेद है, किन्तु हमारा काम निरुक्त ग्रन्थ का सच्चा अर्थ प्रकाशित कर देना है, जो व्याख्याकार का धर्म है॥

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।

# सूचना और संकेत

भाष्य-प्रायः इस रीति पर लिखे जाते हैं, कि उन में मूल ग्रन्थ भी सारा आजाता है,पर निरुक्त में निघण्टु सारा नहीं आता। यदि सारा बीच में आजाए, तो पढ़ने वाले को इस से लाभ अधिक होता है, इस अभिप्राय से महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शर्म्मा ने मूल निघण्टु को भी निरुक्त में ही अपने २ स्थान पर रखकर छपवाया है, वही शैली इस में रक्खी गई है । निघण्टु को भी हम ने साथ २ दे दिया है।

निरुक्त का अवान्तर विभाग अध्याय, पाद और खण्डों में पाया जाता है। पर हरएक अध्याय के अन्त में जो खण्डों की सूची दी है, उस से प्रतीत होता है, कि अध्याय और खण्ड यह दो विभाग ही असली हैं, बीच में पाद कल्पना पीछे किसी ने की है। यदि पाद कल्पना असली होती, तो खण्ड सूची प्रत्येक पाद के अन्त में होती, नकि अध्याय के अन्त में। इसलिये हम ने अध्याय और खण्ड दोनों विभाग रक्खे हैं।

निरुक्त में निगम प्रायः ऋग्वेद के हैं। थोड़े से निगम दूसरे वेदों के हैं। ऋग्वेद के पते में जहां अलग २ तीन अंक हों, वहां क्रमशः मण्डल,सूक्त और मन्त्र के अंक समझें। यदि चार हों, तो अष्टक,अध्याय, वर्ग और मन्त्र के अंक समझें।

शब्द सिद्धि में जहां सूत्र के आगे अलग २ तीन अंक हैं, वह अष्टाध्यायी के हैं। जहां 'उ' लिखकर दो अंक दिये हैं, वह उणादि गण के हैं। उणादि सूत्र शाकटायन के हैं।

व्याकरण कोई भी इतना बड़ा नहीं है, कि सारे छोटे मोटे शब्द अपने सूत्रों से सिद्ध कर दिखाए,न ही ऐसा आवश्यक है। 'उणादयो बहुलम्' के भाष्य में लिखा है, कि जो प्रत्यय जितनी प्रकृतियों से दिखलाए हैं, उनसे अधिक प्रकृतियों से भी जान लेने, और जो प्रत्यय नहीं दिखाए हैं, वह भी जान लेने । इसलिये जहां हमारे दिये अंक में प्रकृत प्रकृति न मिले, केवल प्रत्यय मिले, वहां प्रत्ययानुसार प्रकृति की कल्पना के लिये प्रमाण दिया समझो।

# निरुक्त (निघण्टु भाष्य)

## पूर्व षट्के प्रथमोऽध्यायः।

**ओ३म्—समाम्नायःसमाम्नातः,स व्याख्यातव्यः**

ओ३म्—समाम्नाय गूंथा गया है *, वह व्याख्या के योग्य है † । ( इसलिये व्याख्या लिखते हैं )—

( समाम्नाय का प्रसिद्ध नाम और उसका निर्वचन )

---

* समाम्नाय=वेद, यहां अभिप्राय वेद में आए शब्द समूह से है—अर्थात् वैदिक शब्द समूह । गूंथा गया है=बेलों से चुन २ कर एक तागे में प्रोए फूलों की तरह, वेद में से चुन २ कर, एक ग्रन्थ में प्रोदिया है, ग्रन्थाकार बना दिया है । इस का गूंथने वाला कश्यप प्रजापति है । " सम्यङ् मर्यादयाऽभ्यस्यते " इति=सम्+आ+म्नायः=समाम्नायः=जो भली भांति मर्यादा से पढ़ा जाता है [ नकि नया रचा जाता है ] वह समाम्नाय है । सम्+आ+म्ना [भ्वा०प०] से, अकर्तरिच कारके [३।३।१९] से घञ्=अ; और आतो युक्चिण् कृतोः ७।३।३३,से युक्=य् आकर समाम्नाय पद बना है ।

† व्याख्या के योग्य है, अर्थात् समाम्नाय में आए पदों के भेद, भेदों के लक्षण, वेद में उन पदों के प्रयोग, उन पदों के निर्वचन, उन पर जो आक्षेप होसके हैं, उनके समाधान, इत्यादि रूप से खोल कर कहने योग्य है ।

**तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते । निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति, छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः, ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः ।**

उस इस * समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं:—

(प्रश्न)—निघण्टु क्यों ? (इसलिये कि) यह निगम होते हैं ।

---

* 'तत्' परोक्ष का और 'इदम्' प्रत्यक्ष का बोधक होता है, पर जहां परोक्ष प्रत्यक्ष दोनों दृष्टि से कहना हो, वहां दोनों शब्द इकट्ठे आते हैं—जैसे 'सो ऽयं शैलः' [ उत्त० रा० ] इसी प्रकार यहां भी परोक्ष प्रत्यक्ष दोनों दृष्टि से 'तमिमं' शब्द कहा है, अर्थात् यह समाम्नाय जो कश्यप ने गूंथा है, और अब यह जिस की व्याख्या आरम्भ है, उस इस समाम्नाय को । इसी प्रकार आगे 'तानीमानि' हैं [दुर्गाचार्य ने 'तत्' से न गूंथा हुआ शब्द समुदाय अर्थात् जो शब्द समूह वेद में ही पड़ा है, इस ग्रन्थ में नहीं गूंथा गया है, वह, और 'इदम्' से यह निघण्टु रूप से गूंथा हुआ समाम्नाय, इस प्रकार दोनों लिये हैं ! क्योंकि आगे उन शब्दों के भी निर्वचन हैं, जो समाम्नाय में नहीं आए, पर यह निरी कल्पना है, शब्द शैली से तो ऐसा अर्थ निकलता नहीं, आगे चलकर 'तानीमानि' पर स्वयं दुर्गाचार्य ने भी कोई ऐसी कल्पना नहीं की । किञ्च, इस कल्पित अर्थ की आवश्यकता भी न थी, क्योंकि निघण्टु में आए शब्दों की व्याख्या में जो मन्त्र प्रमाण दिये हैं, उन मन्त्रों का अर्थ खोलने में, प्रसंगागत पदों का निर्वचन हुआ है, उसके लिये अलग प्रतिज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं, प्रसंगागत और भी तो कई बातों का वर्णन है, और सभी भाष्यकार करते हैं । किञ्च, इस कल्पना में निष्कृष्ट अर्थ यह होगा, कि इस ग्रन्थ को लोग निघण्टु कहते हैं, और जो शब्द इस ग्रन्थ में नहीं आए, मन्त्रों में ही अवस्थित हैं, उन को भी लोग निघण्टु कहते हैं । पर उनको कोई नहीं निघण्टु कहता, इसलिये यह कल्पना विरुद्ध भी है ।

मन्त्रों से इकट्ठे कर २ के गूंथे गए हैं। वह निर्णय कराने से निगन्तु ही हुए निघण्टु कहे जाते हैं*, यह औपमन्यव (उपमन्यु का पुत्र मानता है)॥

**अपि वा ऽऽहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति॥**

अथवा सम्भव है, आहनन (पढ़ने) से ही (निघण्टु) हों, क्योंकि इकट्ठे पढ़े गए हैं। अथवा जिस लिये (मन्त्रों से) इकट्ठे किये गए हैं (इसलिये निघण्टु) हैं†।

---

* निगम=निश्चय कराने वाले=वेद वचन। समाम्नाय में जो शब्द पढ़े हैं, वह वेद वचन हैं, वेद से चुन २ कर रक्खे हैं। सो यह चुने हुए शब्द 'निगच्छन्ति=निश्चाययन्त्यर्थमिति निगन्तवः' अर्थ का निश्चय कराते हैं इसलिये नि+गम् से [उ०१।६९] से तुन्=तु आकर निगन्तु हुआ। निगन्तु का ग,त,घ ट से बदलकर और सन्धि होकर निघण्टु बना है, यह व्युत्पत्ति औपमन्यव ने मानी है।

† जैसे नि+गम् से निघण्टु का बनना सम्भव है, वैसे नि+हन् से, वा नि+हृ से भी बनना सम्भव है। अर्थात् निहन् से, वा निहृ से (उ० १।६९) से तुन् आकर निहन्तु वा निहर्तु होकर वर्ण विकार होकर निघण्टु हो सकता है। यहां निहन् का अर्थ पढ़ना है। पठन अर्थ में यद्यपि नि+हन् प्रसिद्ध नहीं, तथापि आ+हन् प्रसिद्ध है। जैसाकि महा भाष्य में कहा है-'प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः-अग्रागे इद माहतं,सूत्रे इदमाहतम्'-इसी लिये यहां भी पढ़ना अर्थ स्पष्ट करने के लिये नि+हनन,से न कहकर आ+हनन से कहा है। उपसर्ग और धातु अनेकार्थक होते हैं। सो यद्यपि प्रसिद्ध आ+हन्=पढ़ने अर्थ में है,तथापि यहां नि+हन् पढ़ने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है,और अर्थ को स्पष्ट करने के लिये व्युत्पत्ति 'समाहताः'=सम्+आ+हन् से की है, किन्तु बना,नि+हन् से है। इसी तरह इकट्ठा करना अर्थ स्पष्ट करने के लिये व्युत्पत्ति 'समाहृताः' सम्+आ+हृ से की है, बना 'नि+हृ' से है। यह उपसर्गों का अदल बदल आगे दिखलाएंगे, 'निरित्येष समित्येतस्य स्थाने इति'॥

भाष्य—जैसे निरुक्त नाम निर्वचन का है, पीछे वही शब्द शास्त्र का नाम बना है, इसी प्रकार निघण्टु शब्द भी पहले एकार्थ वाची पर्याय शब्दों का नाम था, इसलिये ' निघण्टवः ' बहुवचन पढ़ा है। पीछे कोश का पर्यायवाची होकर एकवचन हुआ है।

यहां सम्भव होने से निघण्टु की तीन व्युत्पत्तियां दिखलाई हैं, पर इनमें से पहली व्युत्पत्ति ही अधिक सम्भव है।

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्ष वृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति। जिनका अर्थ स्पष्ट होता है, वह प्रत्यक्ष वृत्ति, जिनका छिपा हुआ होता है, वह परोक्ष वृत्ति, जिनका बहुत छिपा हुआ होता है, वह अतिपरोक्षवृत्ति कहलाते हैं। यहां 'निगम' वा 'निगमयितृ' प्रत्यक्ष वृत्ति है. निगन्तु परोक्ष वृत्ति है, निघण्टु अतिपरोक्षवृत्ति है। अतिपरोक्षवृत्ति को परोक्षवृत्ति बनाकर प्रत्यक्षवृत्ति से उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये। जैसे—'निघण्टवः=निगन्तवः, निगमा वा निगमयितारः इत्यर्थः'। इसी लिये 'ते निगन्तव एव सन्तो निघण्टव उच्यन्ते' कहा है। ऐसे ही सर्वत्र जानना।

(प्रश्न—जब भ्वा० और चु० पर० घण्ट् धातु ही है, जिस से घण्ट, घण्टा, घण्टिका, घण्टिन, घण्टु शब्द बने हैं, उसी से सीधा प्रत्यक्ष वृत्ति निघण्टु शब्द बन जाता है, यह इतना दूर का आडम्बर कि 'निगन्तु वा निहन्तुवा निहर्तु' से निघण्टु बन गए हैं, क्यों किया, और आश्चर्य है कि घण्ट् का नाम तक भी नहीं लिया।

(उत्तर)—नाम न लेने से ही प्रतीत होता है, कि घण्ट् धातु का प्रयोग उस समय नहीं था, पीछे होने लगा है।

( निघण्टु का निर्वचन किया, अब स्वरूप कहते हैं )

**तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति ।**

वहां जो यह चार पद गण ( पदों की श्रेणियें ) हैं—( एक ) नाम ( दूसरे ) आख्यात ( तीसरे ) उपसर्ग और ( चौथे ) निपात, वह यह (पद गण) (निघण्टु संज्ञक) होते हैं।

( इनमें से नाम और आख्यात का लक्षण कहते हैं )

**तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति, भावप्रधानमाख्यातं, सत्त्वप्रधानानि नामानि।**

उन में से नाम और आख्यात का यह लक्षण बतलाते हैं। क्रियाप्रधान आख्यात होता है द्रव्यप्रधान नाम होते हैं *।

* 'पचति देवदत्तः' इस में पचति आख्यात है, और देवदत्तः नाम है। यहां 'पचति'=पकाता है, इस आख्यात से क्रिया(=पकाने) का भी बोध होता है, और द्रव्य (=कारक) का भी बोध होता है, पर मुख्यतया क्रिया का ही बोध होता है, द्रव्य के लिये अलग शब्द पढ़ा है 'देवदत्तः'। इसी प्रकार 'देवदत्तः' इस नाम से द्रव्य (कारक) का भी बोध होता है, और कर्ता होने से किसी क्रिया का भी बोध होता है, पर क्रिया के लिये अलग शब्द पढ़ा है-पचति। इसलिये कहा है, क्रिया प्रधान आख्यात होते हैं, और द्रव्य प्रधान नाम होते हैं। किंच 'पचति' कहने से क्रिया का ठिकाना होजाता है, कि पकाने का काम होरहा है, पर द्रव्यका ठिकाना नहीं होता, अर्थात् देवदत्त पकाता है वा यज्ञदत्त पकाता है, यह पचति से पता नहीं लगता। इसी प्रकार 'देवदत्तः' कहने से द्रव्य का ठिकाना होजाता है, देवदत्त न कि यज्ञदत्त। पर क्रिया का ठिकाना नहीं होता, पकाता वा पढ़ता है, इत्यादि। इससे स्पष्ट है, कि आख्यात क्रिया प्रधान होते हैं, और नाम द्रव्यप्रधान होते हैं। अन्यच्च, 'देवदत्तः किं करोति' इस प्रकार क्रिया के प्रश्न में आख्यात से उत्तर दिया जाता है 'पचति' और 'कः पचति' इस प्रकार द्रव्य के प्रश्न में नाम से उत्तर दिया जाता है 'देवदत्तः'। इससे भी स्पष्ट है, कि आख्यात क्रियाप्रधान होते हैं, और नाम द्रव्य प्रधान होते हैं। आख्यात चार प्रकार का होता है, कर्ता में, भाव में, कर्म में और कर्म कर्ता में। 'पचति देवदत्तः' कर्ता में है, 'भूयते देवदत्तेन' भाव में है 'पच्यते ओदनः देवदत्तेन' कर्ममें है, 'पच्यते ओदनः'

तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ।

वहां,जहां (नाम आख्यात) दोनों हों,क्रिया प्रधान होते हैं*।

( क्रिया की दो अवस्थाएं )

**पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्यु-पक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तं । मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्व्रज्या पक्तिरिति ।**

आरम्भ से लेकर समाप्ति तक अगली पिछली क्रिया को आख्यात से कहता है । व्रजति=जाता है, पचति=पकाता है । एक रूप बनी हुई-द्रव्य रूप हुई-क्रिया को द्रव्य के नामों से कहता है, ( यथा ) व्रज्या=गति, पक्ति=पाक ।

भाष्य—जब हम कहते हैं, जाता है, तो इस में जूता पहनना, अगला पिछला पाओं उठाना, मार्ग में भोजन करना, लेटना, बैठना, पानी पीना इत्यादि कई क्रियाएं आजाती हैं, इन सब के लिये 'व्रजति' कहा गया है, अर्थात् चाहे व्रज् का अर्थ 'जाता है' है,पर 'व्रजति' इस आख्यात से जाने के आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त, जाने के अनुकूल, जो क्रिया हुई है, वह सब,कही जाती है । इसी तरह आग जलाना, बटलोई चढ़ाना, पानी डालना, चावल डालना, कड़छी फेरना, इत्यादि जो क्रिया पकाने के अनुकूल है, सारी अगली पिछली क्रिया, 'पचति' इस आख्यात

---

स्वयमेव'कर्म कर्ता में है । पर हैं आख्यात में सर्वत्र क्रिया ही प्रधान । नाम पुंनपुंसक स्त्री तीन लिङ्गों में होता है,सर्वत्र द्रव्य प्रधान होता है ।

* "पचति देवदत्तः" यहां अलग २ आख्यात क्रिया को और नाम द्रव्य को कहकर, मिलकर दोनों देवदत्त कर्तृक पाक क्रिया (देवदत्त के पकाने) का बोधन करते हैं, इसलिये दोनों मिले हुए क्रिया प्रधान होते हैं ॥

से कही जाती है। इस प्रकार जब कोई पूछता है, 'किं करोति' तो दूसरा 'व्रजति' वा 'पचति' इत्यादि उत्तर देता हुआ, चलने पकाने आदि के आरम्भ से लेकर अन्त की क्रिया तक, अगली पिछली सारी क्रिया व्रजति पचति इत्यादि आख्यात से कहता है।

अब जब इस अगली पिछली सारी क्रिया को एकरूप बना कर कहना हो, तो गति, पाक इत्यादि कृदन्त से कहता है। यह कृदन्ती क्रिया नामवत् बोली जाती है। नाम की तरह इन के साथ लिंग संख्या विभक्ति का सम्बन्ध होता है।

पहली क्रिया जो आख्यात से कही जाती है, वह साध्यावस्था में है, यह दूसरी सिद्धावस्था में है।

धातु दो प्रकार के होते हैं—कर्तृस्थ भावक, और कर्मस्थ भावक। जहां क्रिया द्वारा कर्म में कोई भेद प्रतीत हो, वहां कर्मस्थ भावक। जैसे पके चावलों में न पकों से भेद प्रतीत होता है, अतएव पच् धातु कर्मस्थभावक है। जहां कर्म में कोई भेद प्रतीति न हो, वहां कर्तृस्थभावक, जैसे—'व्रजति ग्रामं' यहां, पके, अनपके चावलों में भेद की तरह, गए, न गए ग्राम में कोई भेद प्रतीति नहीं होती। इन दो भेदों के दिखलाने के लिये व्रजति, पचति दो उदाहरण चुने हैं। अकर्मक धातुओं का कर्म होता ही नहीं, इसलिये वह कर्तृस्थभावक ही होते हैं।

( नामों का सामान्य विशेष उपदेश )

## अद इति सत्त्वानामुपदेशो गौरश्वः पुरुषो हस्तीति

'अदः*'=अमुक, यह नामों का उपदेश है (सामान्यरूप से, और) गौ, घोड़ा, पुरुष, हाथी यह ( विशेष रूप से )।

---

* 'अदः' यह सर्वनाम सब नामों के स्थान में बोला जाता है, इसलिये यह हरएक वस्तु का सामान्य नाम है, गौ घोड़ा आदि विशेष नाम हैं।

( क्रिया का सामान्य विशेष उपदेश )

**भवतीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति ॥**

'भवति'=है*, यह क्रिया का (उपदेश है, सामान्यरूप से और) बैठता है, लेटता है, चलता है, ठहरता है, यह ( विशेष रूप से है )

**इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः ॥ १ ॥**

वचन इन्द्रिय में नियत है†, यह औदुम्बरायण मानता है‡ ॥१॥

**तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः, शास्त्रकृतो योगश्च ।**

इस (पक्ष) में (पदों का) चार होना नहीं बन सक्ता है, और अलग२ समय में उत्पन्न हुए शब्दों का आपस में (गौणता प्रधानता का) उपदेश और शास्त्र से किया सम्बन्ध भी (नहीं बन सक्ता है)।

भाष्य–औदुम्बरायण के मत में यह तीन दोष आते हैं। ( १ ) यदि शब्द वाणी द्वारा उत्पन्न होते हैं, तो यह मानना होगा, कि कोई भी दो अक्षर एक समय में इकट्ठे नहीं होते, क्योंकि वाणी एक २ वर्ण को अलग२ करके बोलती है, दो को इकट्ठा नहीं बोलती । 'गौः' बोलने में वाणी पहले ग को बोलती है,

---

* होना यह सामान्य क्रिया है किसी द्रव्य की सामान्यस्थिति है, बैठना लेटना चलना आदि विशेष क्रियाएं वा विशेष स्थितियां हैं ॥

† वचन=पद वा वाक्य, इन्द्रिय में=बोलने के इन्द्रिय में अर्थात् वाणी में । नियत है, जब वाणी से बोलते हैं, तब उत्पन्न होता है, उससे पहले वह कहीं नहीं होता है । यह औदुम्बरायण का मत है । औदुम्बरायण=उदुम्बर के जीते जी उसका प्रपोता । उदुम्बरस्य युवापत्यम् । 'यञिञोश्च' ( ४ । १ । १०१ ) से फक्=आयन ॥

‡ अध्याय के अन्त में दी खण्ड प्रतीकों के अनुसार पहला खण्ड यहां समाप्त हुआ, 'तत्र चतुष्ट्वं' से द्वितीय खण्ड का प्रारम्भ है, पर 'इन्द्रिय नित्यं' से खण्ड का प्रारम्भ होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है । आगे भी कई खण्डों में ऐसा है ।

फिर औ को, फिर ः को। वाणी ने ग जब बोला, तब औ और ः नहीं बोले, ग को बोलकर जब औ बोला, तब ग रहा नहीं, और ः अभी बोला नहीं, फिर औ के पीछे जब ः बोला, तब औ भी नहीं रहा, ग पहले ही नहीं रहा था, इस प्रकार एक वर्ण भी जब दूसरे वर्ण के साथ इकट्ठा नहीं होसक्ता, तो दो, तीन, चार पद कैसे इकट्ठे होसक्ते हैं। जब पद कभी इकट्ठे ही नहीं होते, तो उनका चार होना कैसे बन सक्ता है। जब एक नाश हो जाता है, तब दूसरा बोला जाता है। अब नष्ट होचुके की, और विद्यमान की इकट्ठी गिनती नहीं होसक्ती, क्योंकि अब वह पहला है ही नहीं, तो उन को गिनें किस तरह? सो इस पक्ष में पदों का चार होना बन नहीं सक्ता—यह एक दोष है। (२) और पूर्व जो 'तद् यत्रोभे भावप्रधाने भवतः' से नाम की आख्यात के प्रति गौणता, और आख्यात की नाम के प्रति प्रधानता कही है, वह भी नहीं बन सक्ती। कारण, कि आख्यात के बोलने के समय नष्ट होचुका नाम, कैसे आख्यात के प्रति गौण हो। वह तो अब है ही नहीं, गौण क्या हो, और जब वह था, तब आख्यात नहीं था, गौण किस के प्रति होता, इसी प्रकार अब आख्यात प्रधान किसके प्रति हो, क्योंकि नाम तो अब है ही नहीं, गौणता प्रधानता प्रतियोग में कही जाती है, जब प्रतियोगी ही नहीं, तो गौणता प्रधानता कैसी? यह दूसरा दोष है। (३) व्याकरण शास्त्र में जो उपसर्ग का धातु से और प्रकृति का प्रत्यय से सम्बन्ध बतलाया है, वह भी नहीं बन सक्ता, क्योंकि उपसर्ग के समय धातु नहीं, धातु के समय उपसर्ग नहीं। इसी तरह प्रकृति के बोलने के समय प्रत्यय नहीं, प्रत्यय के समय प्रकृति नहीं। दोनों का सम्बन्ध कैसे हो, और सम्बद्ध हुए बिना किस

तरह उपसर्ग और धातु के मेल से एक समुदित अर्थ, और प्रकृति और प्रत्यय के मेल से एक समुदित अर्थ बने। यह तीसरा दोष है।

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य

किन्तु शब्द के व्याप्ति वाला होने से* (यह सब बन सकता है)

---

* शब्द पहले बुद्धि में भासता है, और उसका अर्थ भी बुद्धि में भासता है, फिर उसको मनुष्य वाणी से उच्चारण करता है, तब वह शब्द सुनने वाले के श्रोत्र के द्वार से उसकी बुद्धि को जा व्यापता है, अब उसकी बुद्धि में शब्द का स्वरूप और अर्थ दोनों भासते हैं। इस प्रकार शब्द का वास्तव रूप बुद्धि में है, और वह बुद्धि में सदा व्याप्त रहता है, जो विचार मनुष्य की बुद्धि में उठता है, वह अपने वाचक शब्दों के साथ उठता है, इसलिये वही बौद्ध शब्द वाचक है, और वह नित्य है। सुनने वाले की बुद्धि में भी बौद्ध शब्द विद्यमान है, किन्तु वह सदा भासता नहीं रहता, जब उस शब्द को प्रकाश करने वाली कोई ध्वनि उसके कान में पहुंचती है, तो वह श्रोत्र द्वारा उसकी बुद्धि में पहुंचकर उस शब्द पर प्रकाश डालती है, और वह शब्द भासने लगता है, जैसे अन्धेरे में पड़ा घड़ा, होता हुआ भी नहीं दिखता, जब उस पर प्रकाश पड़ता है, तो दिख जाता है। इस तरह वह शब्द विद्यमान होता हुआ भी जो नहीं भासता था, ध्वनि आने से भासने लगता है, वही शब्द वाचक है, उसी के साथ अर्थ की प्रतीति होती है। वाणी से जो बोलते हैं, और कान से सुनते हैं, वह ध्वनि है, असली शब्द नहीं, किन्तु असली शब्द का दीपक है। असली शब्द को स्फोट कहते हैं, और इस बाह्य शब्द को ध्वनि। वाचक स्फोट है, न कि ध्वनि। तुम देख सकते हो, कि बोलने से पहले तुम्हारी बुद्धि में शब्द भासता है, पीछे दूसरे को बोधन कराने के लिये हरएक शब्द की व्यञ्जक अपनी २ ध्वनि निकालते हो। और दूसरे को भी ध्वनि सुनकर अपनी बुद्धि में भासे शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, नकि ध्वनिमात्र सुनने से। अब जब कि, इस प्रकार शब्द नित्य है, तो उन में चार की बांट, एक दूसरे के प्रति गुण प्रधान भाव, और शास्त्र कृत

( व्यवहार के लिये शब्द प्रयोग की ही आवश्यकता है )

**अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके, तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानं ।**

अधिक छोटा होने से शब्द द्वारा सङ्केत करना लोकमें व्यवहार के लिये है। उनमें मनुष्यों के तुल्य देवताओं का कथन होता है *।

( कर्म में वेद मन्त्र की ही आवश्यकता का निरूपण )

**पुरुषविद्याऽनित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।**

---

सम्बन्ध,सब बन सका है। यदि ध्वनि को ही शब्द माने,तो भी ध्वनि वाचक नहीं मानी जासकती, किन्तु ध्वनि निकालने से पूर्व जो मन में उस सारे वाक्य का एक साथ भासन हुआ है,वही भासे हुए शब्द वाचक हैं, और दूसरे को भी जो एक २ अक्षर सुनकर फिर जो पूरा शब्द और पूरा वाक्य भासा है. वही शब्द शब्दार्थ के वाचक, और वही वाक्य वाक्यार्थ का बोधक है. इसलिये उन में की बांट, एक दूसरे के प्रति गुण प्रधान भाव और शास्त्र कृत सम्बन्ध बन जाता है, क्योंकि बुद्धि में वह सब इकट्ठे भासते हैं।

* (प्रश्न)—शब्द में पूर्वोक्त दोष हों वा न हों.किन्तु शब्द द्वारा अर्थ जितलाने की आवश्यकता ही क्या है, हाथों आंखों वा सिर आदि के अभिनयों ( इशारों ) से अर्थ की प्रतीति होसक्ती है ? (उत्तर) अभिनय भी अर्थ की प्रतीति का साधन हैं, और शब्द भी साधन हैं.इन दोनों में से शब्द अधिक छोटा साधन है,क्योंकि छोटा सा शब्द कहने से अर्थ की प्रतीति होजाती है.और शीघ्र प्रतीति होती है। अभिनय बड़े २ करने पड़ते हैं, और देर से अर्थ प्रतीति कराते हैं। शब्द असन्दिग्ध प्रतीति कराते हैं,और अभिनय कई बातों में सन्दिग्ध कर देते हैं। इसलिये बहुत छोटा होने से लोक में व्यवहार के लिये शब्द द्वारा ही सङ्केत किया है। किञ्च, शब्दों से जैसे मनुष्यों के व्यवहार कहे जाते हैं, वैसे इन्द्रादि देवताओं के काम भी कहे जाते हैं, अभिनयों से इन कामों का वर्णन नहीं होसक्ता, जो इन्द्र आदि दिव्य शक्तियों द्वारा प्रकाशित होरहे हैं ( अथवा मनुष्यों की तरह देवता भी शब्दों से व्यवहार करते हैं—दुर्गाचार्य )॥

पुरुष के ज्ञान के अनित्य होने से कर्म की सिद्धि वाला मन्त्र वेद में है*

( क्रिया के छः विकार )

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे नापरभाव माचष्टे न प्रतिषेधति, अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणं, विपरिणमत इत्य-प्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारं,वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वाऽर्थानां, वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वा, अपक्षीयते इत्यतेनैव व्याख्यातः प्रति-लोमं, विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभाव-माचष्टे न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

---

* (प्रश्न) तो वेद में जो मन्त्र आया है,उसकी क्या आवश्यकता थी, बिना भी मन्त्र के लौकिकवत् वैदिक व्यवहार भी सारा मनुष्यों से सिद्ध होजायगा ? ( उत्तर ) पुरुष का ज्ञान अनित्य है. उसके लौकिक ज्ञान में भी भूल निकलती है, क्या फिर पारलौकिक ज्ञान में। मनुष्य के ज्ञान में भूल होना,कोई अपराध नहीं,क्योंकि सब जग भुलनहार है। पर धर्म के विषय में हमें ऐसा मन्त्र चाहिये,जिससे हमारे लौकिक पारलौकिक कर्म अवश्य सफल हों,जिस ज्ञान में कोई भूल न हो, इसलिये वेद में आर्षज्ञान से प्राप्त हुआ मन्त्र पढ़ा है, नकि मानुषज्ञान से प्राप्त॥ क्रिया का प्रकरण चलाकर प्रसक्तानुप्रसक्त यहां तक कहा, आगे फिर प्रकृत क्रिया प्रकरण ही चलाएंगे। 'इन्द्रिय नित्यं' से लेकर 'मन्त्रो वेदे' तक का अर्थ वृत्तिकार दुर्गाचार्य के अनुसार खोल दिया है। पर इस अर्थ में हमें पूरा सन्तोष नहीं। पूर्व क्रिया का निरूपण, आगे भी क्रिया का निरूपण, मध्य में इन प्रसंगों के निरूपण की कोई पूरी आकांक्षा नहीं उठी-सम्पादक)॥

छः क्रिया के विकार होते हैं,यह वार्ष्यायणि * (आचार्य मानता है) (वह यह हैं) उत्पन्न होता है, है, बदलता है, बढ़ता है, घटता है, नष्ट होता है † ।

(इनमें से)उत्पन्न होता है,यह(वचन)पहली क्रिया का आरम्भ बतलाता है,अगली क्रिया(अस्तित्व)को न बतलाता है,न निषेध करता है‡'है'यह उत्पन्न हुई वस्तु की स्थिति(बतलाता है,अगली क्रिया (बदलने को न बतलाता है,न निषेध करता है) 'बदलता है'यह स्वरूप

---

* वृषस्य गोत्रापत्यम्=वार्ष्यायणिः ( वृषगोत्री ) । वृष शब्द से तिकादिभ्यः फिञ् ( ४ । १ । १५२ ) से गोत्र अर्थ में फिञ्=आयनि आकर, आदि वृद्धि होकर 'छागवृषयोरपि' ( ४ । १ । १५५ के वार्तिक ) से वार्ष्य निपातन होकर वार्ष्यायणि होता है ।

† क्रिया अर्थात् किसी द्रव्य की अवस्था,छः प्रकार की ही होती है, उत्पन्न होना, होना, बदलना, बढना, घटना और नाश होना। बीज से जब अंकुर निकल रहा है, तो उसमें उत्पत्ति क्रिया है, जब निकल चुका है, तो फिर अस्तित्व रहता है, वह 'है' करके कहा जाता है,अब उसके अन्दर अवयवों में जो परिणाम (तबदीली) होता है, वह बदलना है, इस परिणाम से उसकी वृद्धि होती है, वृद्धि के पीछे वह घटना आरम्भ होता है, घटने के पीछे उस में नाश होता है। जन्म से मरण तक यह छः ही क्रिया द्रव्य में प्रकट होती हैं, इसलिये क्रिया के विकार छः ही हैं । यह तात्पर्य नहीं, कि हर एक वस्तु में छः क्रिया होनी आवश्यक हैं, क्योंकि ईंट में वृद्धि की क्रिया नहीं होती, नित्य द्रव्यों में उत्पत्ति नाश बढना घटना नहीं होता, किन्तु, भाव यह है, कि जो नाम क्रिया है, वह इन छः के अन्तर्गत होजाती है ॥

‡ क्रियावाचक हर एक शब्द अपनी क्रिया का बोध कराता है, दूसरी क्रिया से उदासीन रहता है, उसका न बोध कराता है, न निषेध करता है, जैसे जो उत्पन्न हुआ है, वह है अवश्य, पर 'जायते' यह पद उसके अस्तित्व बोधन से उदासीन है । इसी तरह आगे भी जानो ॥

से न गिरे का विकार (तबदीली मात्र, बतलाता है, अगली क्रिया (बढ़ने) को न बतलाता है, न निषेध करता है) बढ़ता है, यह अपने अंगों की वा संयोग से आए पदार्थों की वृद्धि (बतलाता है, अगली क्रिया—घटने—को न बतलाता है, न निषेध करता है) विजय से बढ़ता है, वा शरीर से बढ़ता है *। घटता है, यह इसी से (बढ़ता है, से) व्याख्यात है उलटा † (अगली क्रिया—विनाश, को न बतलाता है, न निषेध करता है) 'नष्ट होता है' यह पिछली क्रिया का आरम्भ बतलाता है, पहली क्रिया को न बतलाता है, न निषेध करता है।

**अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह, ते यथावचनमभ्यूहितव्याः ॥**

इनसे भिन्न क्रिया भेद इन्हीं के भेद होते हैं ‡, यह (वार्ष्यायणि ने) कहा है। वह (क्रिया भेद) अपने २ वचनानुसार (मन्त्रों में) समझ लेने चाहिये॥

(उपसर्ग निरूपण)

**न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।**

(वाक्य में) अलग करके बांधे हुए उपसर्ग अर्थों को नहीं

---

* 'विजय से बढ़ता है' यह दूसरे पदार्थ के संयोग से वृद्धि है, शरीर से बढ़ता है, यह अपने अंगों से वृद्धि।

† बढ़ने की तरह घटना भी अंगों से वा बाहर के पदार्थों से होता है, शरीर से घटता है, वा पराजय से घटता है॥

‡ जैसे 'निष्पद्यते, अभिव्यज्यते, उत्तिष्ठति' इत्यादि उत्पत्ति के ही भेद हैं, इसी तरह भवति, विद्यते इत्यादि अस्ति के, जीर्यति, इत्यादि परिणाम के, ध्वस्यति, भ्रश्यति इत्यादि घटने के, म्रियते विलीयते इत्यादि भेद विनाश के हैं॥

कहते हैं, किन्तु नाम और आख्यात के अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं, यह शाकटायन ( मानता है ) ॥

भाष्य-नाम और आख्यात का निरूपण करके उपसर्गों का निरूपण करते हैं। पद अर्थों के वाचक ( कहने वाले ) होते हैं, और अर्थ पदों के वाच्य होते हैं। पर चार प्रकार के पदों में से उपसर्ग के विषय में यह मतभेद है, कि शाकटायन तो मानता है, कि उपसर्ग किसी अर्थ के वाचक नहीं-( प्रश्न ) सुशोभते=अच्छा सुहाता है। सुब्राह्मणः=अच्छा ब्राह्मण। यहां दोनों जगह सु का अर्थ 'अच्छा' स्पष्ट है, फिर यह अच्छे अर्थ का वाचक क्यों नहीं ? ( उत्तर ) इसलिये नहीं, कि यदि सु स्वतन्त्रतया अच्छे अर्थ का वाचक होता, तो आख्यात और नाम के विना भी इस अर्थ में बोला जाता। पर नहीं बोला जाता, इस से जानते हैं, कि इसका यह अर्थ ही नहीं। (प्रश्न) यदि यह अर्थ सु का नहीं, तो किसका है ? क्योंकि 'शोभते' का अर्थ तो 'सुहाता है' इतना ही है, और 'ब्राह्मणः' का 'ब्राह्मण' इतना ही है, अच्छा सुहाता है, और अच्छा ब्राह्मण है, यह अर्थ कैसे हुआ ? (उत्तर) अर्थ 'सुहाता है' और 'ब्राह्मण' इतना ही है, पर अच्छा सुहाना भी तो सुहाना ही है, और अच्छा ब्राह्मण भी तो ब्राह्मण ही है, इसलिये शोभते के अर्थ में मन्द सुहाना और अच्छा सुहाना दोनों आजाते हैं, और ब्राह्मणः के अर्थ में मन्द अच्छे सभी ब्राह्मण आजाते हैं। सो शोभते का ही अर्थ 'अच्छा सुहाता है' और 'ब्राह्मणः' का ही अर्थ 'अच्छा ब्राह्मण' भी है। ( प्रश्न ) तो फिर सु का साथ बोलना व्यर्थ है ? ( उत्तर ) व्यर्थ नहीं, क्योंकि निरा 'शोभते' का अर्थ जहां 'अच्छा सुहाता है' है, वहां 'मन्द सुहाता है' भी है, और ब्राह्मणः का अर्थ जहां 'अच्छा ब्राह्मण' है, वहां

साधारण ब्राह्मण भी है। अब सु साथ लगा हुआ यह प्रकाश करता है, कि यहां अच्छा सुहाना ही अभिप्रेत है, साधारण सुहाना नहीं, तथा अच्छा ब्राह्मण ही अभिप्रेत है, साधारण ब्राह्मण नहीं। इस से यह सिद्ध हुआ, कि सु ने, यद्यपि कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं दिया, तथापि नाम और आख्यात के अर्थ विशेष का प्रकाश अवश्य किया है. इसलिये उपसर्ग स्वतन्त्रतया अर्थ के वाचक नहीं, नाम और आख्यात के अर्थ-विशेष के द्योतक हैं, यह मत शाकटायन * का है।

**उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः,तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् ।**

( उपसर्गों के ) अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं, यह गार्ग्य ( मानता है )। सो जो इनमें अर्थ है, उसे यह कहते ही हैं, ( अर्थात् ) नाम और आख्यात के अर्थ विशेष को।

भाष्य—गार्ग्य का मत है, कि उपसर्ग भी नाम आख्यात निपात की तरह अपने अर्थ के वाचक हैं। इनमें से एक २ उपसर्ग के कई २ अर्थ होते हैं। उपसर्ग के साथ होने से जो नाम और आख्यात का अर्थ विशेष होजाता है, उस विशेषता के वाचक उपसर्ग होते हैं। जैसे—'सुशोभते, सुब्राह्मणः' में सु अच्छे अर्थ का वाचक है, इत्यादि—वह अर्थ आगे दिखलाते हैं—

**आइत्यर्वागर्थे,प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम,अभीत्याभिमुख्यं, प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्, अति सु इत्यभिपूजितार्थे, निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यं, न्यवेति विनिग्रहार्थीयौ,उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं, समित्येकी-**

* 'शकटस्य गोत्रापत्यम्=शाकटायनः' शकट गोत्री नडादिभ्यः फक् ( ४ । १ । ९९ ) से फक्=आयन, आदि वृद्धि ॥

भावं,व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्,अन्विति सादृश्यापरभावम्,अपीति संसर्गम्, उपेत्युपजनं, परीति सर्वतोभावम्,अधीत्युपरिभावमैश्वर्यंवा,एवमुच्चवचानर्थान् प्राहुस्तउपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

'आ' यह वरे के अर्थ में है * । ( जैसे 'आकैलासात' मेघदूत ११=कैलास तक ) । प्र, परा यह (दोनों) इस (आ) के विपरीत (='परे' अर्थ को कहते हैं—प्रगतः, परागतः=चला गया=आगे गया ) 'अभि' सामने को ( कहता है—अभिगतः=सामने गया ) 'प्रति' यह इस ( अभि ) के विपरीत ( अर्थ को कहता है—प्रतिगतः=लौट गया, मुड़ गया, पीछे गया ) अति, सु, यह (दोनों) सम्मान के अर्थ में हैं (अतिधनः=बड़े धन वाला । सुब्राह्मणः=उत्तम ब्राह्मण ) निर्, दुर्, यह ( दोनों ) इन ( अति, सु ) के विपरीत ( अर्थ—अपमान को कहते हैं, निर्धनः=निर्धन, दुर्ब्राह्मणः=अधम ब्राह्मण ) 'नि, अव' यह ( दोनों ) नीचे दबाने अर्थ वाले हैं ( निगृह्णाति, अवगृह्णाति=दबाता है) 'उद्' यह इन दोनों के विपरीत (अर्थ को कहता है—उद्गृह्णाति=ऊंचा उठाता है ) 'सम्' यह इकट्ठा होने ( अर्थ ) को ( कहता है—संगच्छध्वम्=इकट्ठे होवो ) वि, अप' य इन से विपरीत ( अर्थ ) को ( कहते हैं, वियुनक्ति=अलग करता है समागमाः सापगमाः=समागम अपगम (जुदाई) वाले होते हैं) अनु, समानता और पीछे होने को (कहता है—अनुकरोति=ठीक उसके समान करता है=नक़ल करता है, अनुगच्छति=पीछे जाता है) 'अपि' यह सम्बन्ध (को कहता है—

* एक २ उपसर्ग के अनेक २ अर्थ हैं, उदाहरण के तौर पर

सर्पिषोऽपि स्यात्=स्यात् घी का जरा हो) 'उप' यह वृद्धि को (कहता है, उपजायते=उपजता है) परि, यह सब ओर होने को (परि धावति=सब ओर दौड़ता है) अधि, यह ऊपर होने को वा ऐश्वर्य को (कहता है—सर्वं यश्चाधितिष्ठति=जो सब के ऊपर (निरीक्षक होकर) स्थित है=सब का अधिष्ठाता है (अथर्व० १०।८।१) 'यत्राधि सूर उदितो विभाति=जिसके अधीन सूर्य उदय होकर चमकता है (ऋग्० १०।१२१।६) इस प्रकार अनेक विध अर्थों को कहते हैं, वह भली भांति जानने चाहियें * ॥ ३ ॥ यहां प्रथमपाद समाप्त हुआ है

[ निपात निरूपण ]

**अथनिपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः ॥**

अब निपात † (कहे जाते हैं) अनेक प्रकार के अर्थों में उतरते हैं ‡। उपमा अर्थ में भी होते हैं, अर्थ के समुच्चय §

---

एक २ दो २ दिखलाए हैं। * 'एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुस्त उपेक्षितव्याः' वृत्तिकार ने इस की व्याख्या नहीं की। उपेक्ष् का अर्थ प्रसिद्ध संस्कृत में छोड़ देना है, पर निरुक्त में ऊहा करना है।

† चार प्रकार के पदों में नाम आख्यात का सामान्य लक्षण कहा, विशेष वर्णन ३।१ से आरम्भ होगा। उपसर्ग थोड़े हैं, इस लिये सामान्य लक्षण करके सारे अलग २ अर्थ सहित बतला भी दिये। अब क्रम प्राप्त निपात का लक्षण और उनके भेद कहते हैं।

‡ यह निपात का लक्षण निपात शब्द के निर्वचन से ही निकला है। नि+पत् (भ्वा०प०) से 'ज्वलितिकसन्तेभ्योणः' (३।१।१४०) से कर्ता में ण=अ, होकर निपात बना है।

§ कर्म शब्द निरुक्त में प्रायः अर्थ के अर्थ में आया है। देखो आगे 'चिदित्येषोऽनेक कर्मा, तुइत्येषोऽनेककर्मा' इत्यादि।

अर्थ में भी होते हैं, और पद के पूरने वाले * भी होते हैं।
( यह तीन भेद अर्थ के भेद से होते हैं )।

तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्तीति। इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। अग्निरिवेन्द्रइवेति। नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं, नेन्द्रं देवममंसतेति प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। दुर्मदासो न सुरायामित्युपमार्थीय उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते। चिदित्येषोऽनेककर्मा, आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति पूजायाम्। आचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। दधि चिदित्युपमार्थे। कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति। नु इत्येषोऽनेककर्मा, इदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे। कथं नु करिष्यतीत्यनुपृष्टे, नन्वेतदकार्षीदिति च। अथाप्युपमार्थे भवति। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। वयाः शाखा वेतेर्वातायना भवन्ति शाखा खशयाः शक्नोतेर्वा

उन में से यह ( वक्ष्यमाण ) चार ( इव, न, चिद, नु ) उपमा अर्थ में होते हैं। इव, यह लोक में और वेद में भी ( उपमा अर्थ में होता है ) अग्नि की न्याई (त्विषितः=चमकता हुआ) (ऋ० ८। ३। १९। २) इन्द्र की न्याई (अविचाचलिः=कभी न डोलने वाला) (ऋ० ८। ८। ३१। २) 'न' यह लोक में

* कुछ निपात छन्द में निरापद पूरा करने के लिये भी आते हैं।

निषेध अर्थ वाला है, वेद में दोनों (=प्रतिषेध और उपमा अर्थ वाला) है । ( प्रतिषेध का उदाहरण- ) ( सूर्य की किरणों ने ) इन्द्र को देव(अपना प्रकाश देने वाला) नहीं माना(ऋ०८।३।४।१) (निषेध अर्थ वाले का नियम यह है,कि) प्रतिषेध अर्थ वाला (न) उस से पहले प्रयुक्त * होता है, जिस का प्रतिषेध करता है†। ( उपमा का उदाहरण) जैसे सुरा (पीने) में (लोग) दुष्ट मद वाले होते हैं ( ऋ० ५।७।१९।१ ) ( उपमा अर्थ वाले का नियम यह है, कि) उपमा अर्थ वाला (न) उसके पीछे प्रयुक्त होता है, जिस ( वस्तु ) से उपमा दीजाती है ‡। ' चित् ' यह अनेक अर्थों वाला है § आचार्य यह बता सकता है ( और कौन बताएगा ) यहां पूजा में है । ( उदाहरण में प्रसक्त आचार्य पद का निर्वचन करते हैं ) आचार्य क्यों ? आचार को ग्रहण कराता है, ( जानने योग्य) विषयों का संग्रह करता है, वा बुद्धि को बढ़ाता है¶। दही की न्याईं, यह (चित्) उपमा के अर्थ में है। कुल्माष ही लेआ, ( और क्या लाएगा ) यह निन्दा में है। कुल्माष=

---

* अक्षरार्थ—पहले प्रयोग वाला । ' पुरस्तादुपचारो यस्येति बहुव्रीहि ' † जैसे यहां अमंसत से पहले है। ‡ जैसे यहां ' दुर्मदा सः ' से परे है । दुर्मदासः=दुर्मदाः। दुर्मद से वेद में ' आज्जसेरसुक् ' ( ७।१।५० ) से असुक्=अस् का आगम होकर दुर्मदासः हुआ । § अनेक अर्थों वाला हुआ भी उपमा अर्थ वालों के सम्बन्ध से यहां दिखलाया है । इसी तरह आगे नु। ¶ आ+चर् ( भ्वा० प० ) से ' ऋहलोर्ण्यत् ' ( ३।१।१२४ ) से ण्यत्=य होकर उपधा वृद्धि होने से आचार्य हुआ । यहां चर् ' अन्तर्भावितण्यर्थ ' मानकर आचरति=आचारयति=आचरण करवाता है। ( देखो मनु० २।६९ ) इसी अर्थ को 'आचारं ग्राहयति' से स्फुट किया है। यहां कृत्य प्रत्यय कर्ता में जानना। अथवा आचार से शेषे ( ४।२।९२ ) से ग्राहयति अर्थ में यत् आकर

कुलों=गुच्छों में होते हैं*। नु यह अनेक अर्थों वाला है। (जैसे) जिस लिये इस को करेगा। यहां कारण के कथन में है। कैसे करेगा, यह दुवारा पूछने में है †। और उस ने तो यह नहीं किया है। (तुम ने कहा था, कर लिया होगा) ‡। यह भी (दुवारा पूछने में है)। और उपमा अर्थ में भी होता है। हे सब से बुलाए जाने वाले (इन्द्र) § वृक्ष की शाखाओं की तरह तेरी (रक्षाएं चारों ओर फैलती हैं)। वयाः=शाखाएं हैं, वी (अ०प०) से। वायु से चलने वाली होती हैं। शाखा=आकाश में लेटी हुई। अथवा शक्नोति से (शाखा है)।

---

आचार्य हुआ है। दूसरी दोनों व्युत्पत्तियों में आ+चि (स्वा० उ०) से 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) से औणादिक ण्यत्, वृद्धि र् का आगम होकर आचार्य्य बना है *। कुल्माष=कुलत्थ, एक निकृष्ट अनाज। यह धान की न्याईं गुच्छे बन जाते हैं। इसी लिये प्रसिद्ध नाम कुलत्थ है, अर्थात् कुलस्थ=गुच्छों में स्थित। यही अर्थ 'कुलेषु सीदन्ति' से प्रकट किया है। पृषोदरादि (६।३।१०९) होने से कुल सद् से कुल्माष बना है। सद् धातु सीदत्यस्मिन्निति सदः, सदनं च, इत्यादि में स्थित्यर्थक प्रसिद्ध है। 'कुलेषु सीदन्ति' पाठ दुर्गाचार्य ने नहीं व्याख्या किया। † 'किं स करिष्यति' इस के उत्तर में 'करिष्यति' सुनकर यदि फिर पूछना है, कैसे करेगा, तब कहा जाता है 'कथं नु करिष्यति'। ‡ यह ननु शब्द नहीं, ननु होता, तो 'ननौ पृष्ट प्रतिवचने' (३।२।१२०) से लट् होता, किन्तु न नु है, अतएव 'नन्वोर्विभाषा' (३।२।१२१) से वा लुङ् हुआ है। § पुरुहूत=पुरुभिर्बहुभिराहूत। ऐसे स्थलों में बहु वाचक शब्द सब, अर्थ के अभिप्राय में होते हैं। वयाः, वेति=वी (अ० प०) से 'नन्दि ग्रहिपचादिभ्यः ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) से अच् आकर वियन्ति=चलन्ति इति वयाः सिद्ध हुआ है। 'वातायनाः' तात्पर्य का बोधक है। झरोके के अर्थ में नपुंसक होता है। उदाहरण में प्रसक्त शाखा शब्द का निर्वचन शाखा=खशयाः है। पृषोदरादि (६।३।१०९) से

(उपमा अर्थ वाले(निपात)कह दिये,अब समुच्चय अर्थ वाले कहते हैं)

अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते, नत्वौद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात्सकर्मोपसंग्रहः ।

अब जिसके अध्याहार से अर्थ का पृथक् होना प्रतीत होता है, किन्तु (अलग २) नाम में कहे की तरह ( प्रतीत नहीं होता है ) क्योंकि विग्रह से अलग २ होता है, वह ( निपात ) अर्थ का समुच्चायक होता है * ।

चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते, "अहं च त्वं च वृत्रहन्निति" । एतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च पितृभ्य एत्याकारः । वेति विचारणार्थे । हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा इति । अथापि समुच्चयार्थे भवति ॥

---

आद्यन्त विपर्यय होकर शाखा हुआ । अथवा शक्नोति=शब्द (स्वा०प०) से औणादिक ण आकर, ककोख होकर शाखा बना है ।

* जब अलग २ नाम कहे हों तो वह उनका पृथक् होना अलग २ पढ़ने से ही स्फुट प्रतीत होता है । जैसे—'पश्येमां गामश्वं पुरुषं गजम्' यहां गौ घोड़ा पुरुष हाथी अलग २ पढ़ने से हीं अलग २ प्रतीत होरहे हैं । पर जहां सरूपैकशेष हो, जैसे गावौ=दो गौएं, वा विरूपैकशेष हो, जैसे पितरौ=माता और पिता । यहां अलग २ पढ़े नामों की तरह पृथक्त्व २ प्रतीत नहीं होता, किन्तु जब विग्रह करते हैं, जैसे—गौश्च गौश्च=गावौ और माता च पिता च=पितरौ, तब पृथक्त्व होता है, यह पृथक्त्व 'च' निपात के अध्याहार से प्रतीत हुआ है, इसलिये 'च' अर्थ का समुच्चायक है । 'अर्थ पृथक्त्व' का दुर्गाचार्य ने 'अथवा अर्थ से पृथक्त्व' अर्थ किया है । जैसे—'बृहस्पतिश्च' कहने में न कहा हुआ भी दूसरा प्रजापति च केवल से जाना जाता है । इसलिये च समुच्चायक है । यही आगे दिखलाते हैं ।

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेति—

'च' यह समुच्चय अर्थ वाला दोनों (पदों) के साथ मिलकर प्रयुक्त होता है। हे मेघ के मारने वाले* (इन्द्र) मैं और तू † (संयुज्याव सनिभ्यः आ=संगत हों, फल प्राप्ति तक) (ऋ० ६। ४। ४१। ५)। इसी (समुच्चय) अर्थ में (प्रेदु-हव्यानि वोचतिं=हमारी हवियें वतलाए) देवताओं को और पितरों को ‡ (ऋ० ७। ६। २२। १) यह 'आ' है। 'वा' यह विचार करने अर्थ में है §। अहो मैं इस पृथिवी को यहां रक्खूं, वा यहां (ऋ० ८। ६। २७। ३)। और समुच्चय अर्थ में भी होता है 'वायु तुझ और मनुष्य तुझ' ‖।

अह इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ पूर्वेण संप्रयुज्येते। अयमहेदं करोत्वयमिदं, इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यतीति। अथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण। मृषेमे वदन्तिसत्यमु तेवदन्तीत्यथापि पदपूरणइदमुतदु

अह, और ह अलग करने अर्थ वाले (एक साथ बोले दो पदों में से) पहले के साथ जुड़ते हैं। (अह का उदाहरण) यह (देवदत्त) ही यह करे (गौओं को पिलाए) पर यह (यज्ञदत्त) यह (करे=भोजन खाए)। (ह का उदाहरण) (यह यज्ञदत्त) यही (काम) करेगा (गौओं को पानी दी

---

* मेघ को पृथिवी पर मार गिराने वाले। † 'अहं च त्वं च' दोनों के साथ च आया है। ‡ 'आ इति' ऐसे सन्धि छेद करना, आ, च के अर्थ में है। § समुच्चय के प्रसंग से 'वा' के अन्य अर्थ भी दिखलाते हैं। ‖ 'वायुर्वात्वा मनुर्वात्वा' पाठ नहीं मिला 'वातो वा मनो वा' पाठ यजुर्वेद (माध्य० सं० ९। ७) में मिलता है, 'वायुर्वात्वा मनुर्वात्वा' किसी अन्य शाखा में ढूंढना चाहिये।

पिलाएगा ), यह नहीं करेगा ( भोजन नहीं पकाएगा )। और 'उ' भी इसी ( अलग करने ) अर्थ में अगले ( पद के साथ जुड़ता है ) झूठ यह ( दस्यु ) बोलते हैं, सत्य ही वह ( आर्य ) बोलते हैं। और (यह उ) पद पूरक भी है ( जैसे ) इदमु सत्यं पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्=यह वह सामने बहुत बड़ी ज्योति, ज्ञान वाली ( ज्ञान देती हुई ) अन्धेरे को दबाकर उठी है ( ऋ० ३।८।२।१ ) (यहां 'इदम्, उ' में उ पद पूरक ही है)। तदु प्रयक्षतममस्य कर्म=यह इसका बड़ा पूजनीय कर्म है(ऋ०१।५।२।१) (यहां तद् उ में उ पद पूरक है)।

हीत्येषोऽनेककर्मेदं हि करिष्यतीति हेत्वपदेशे कथं हि करिष्यतीत्यनुपृष्टे कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायाम्॥ किलेति विद्याप्रकर्ष एवं किलेति। अथापि न ननु इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्येऽनुपृष्टे, न किलैवं ननु किलैवम्। मेति प्रतिषेधे मा कार्षीर्मा हार्षीरिति च॥ खल्विति च, खलु कृत्वा खलु कृतम्, अथापि पदपूरण एवं खलु तद् बभूवेति॥ शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायां शश्वदेवमित्यनुपृष्टे एवं शश्वदित्यस्वयं पृष्टे॥

हि, यह अनेक अर्थों वाला है ( जैसे ) जिस लिये वह इस ( काम ) को करेगा; यहां हेतु के कथन में है। कैसे करेगा, यह दुबारा पूछने में है। कैसे बतलाएगा (=इस ने इस विषय में कोई प्रयत्न नहीं किया, अतएव इसका सामर्थ्य नहीं है, यह अभिप्राय है ) यह असूया ( हसद, jealousy ) में है। किल, यह ज्ञान के अतिशय में है ( जैसे ) निःसन्देह इस प्रकार (युद्ध हुआ है) ( यहां कहने वाले के ज्ञान का बल पाया जाता है )।

और न, ननु, इन दोनों के साथ ( किल ) जुड़ता है। दुबारा पूछने में। ( जब एक बार किसी से सुना कि 'नायमेवम्' उसको पक्का करने के लिये दुबारा पूछना है ) हैं, ऐसा नहीं है ( इसी तरह 'नन्वयमेवम्' सुनकर पक्का करने के लिये दुबारा पूछना है ) हैं, हे ऐसे है। मा, निषेध अर्थ में है, मत करें, मत लेजाए। खलु, यह भी ( निषेध में है ) नहीं करना चाहिये, न किया हुआ। पद पूरक भी होता है, इस प्रकार वह हुआ ( यहां खलु वाक्यालङ्कार में है )। शश्वत, यह संशय अर्थ वाला है लोक में ( वेद में और अर्थों में भी होता है ) सदा ऐसे,यह दुबारा पूछने में है,ऐसे सदा,यह आप ने पूछे में है*।

नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्,उभयमन्वध्यायं विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सांचकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे ॥ ५ ॥

नूनं, यह लोक में संशय अर्थ वाला है†, वेद में दोनों— संशय अर्थ वाला है और पद पूरक है। ‡ अगस्त्य ने इन्द्र के लिये हवि निकाल कर मरुतों को देने की इच्छा की, वह इन्द्र आकर विलाप करने लगा—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति ॥

* अर्थात् अर्थ वश से शश्वत शब्द एवं से पहले वा पीछे लगता है।
† संशय से अभिप्राय उत्कट सम्भावना है। ( देखो उत्तर राम चरित ४। २३ )। ‡ उदाहरिष्यमाण मन्त्र का पहले निदान ( मूल कारण ) कहते हैं, निदान वाले मन्त्रों का पहले निदान ही कहना चाहिये, उससे अर्थ पूरी प्रकाशता है (दुर्गाचार्य) ( पर यह निदान यास्क ने कहां से लिया, इति चिन्त्यम्—सम्पादक )

नहीं है आज की (हवि), नहीं कल की, कौन उसे जानता है, जो हुआ नहीं * दूसरे का चित्त डोलने वाला है, सोचा हुआ भी दूर हो जाता है। (ऋ० २।४।१०।१)

**न नूनमस्त्यद्यतनं नो एव श्वस्तनम्। अद्यास्मिन्द्यवि। द्युरित्यह्नानामधेयं द्योतत इति सतः। श्व उपाशंस-नीयःकालो ह्यो हीनःकालः। कस्तद्वेद यदद्भुतम्। क-स्तद्वेद यदभूतम्, इदमपीतरदद्भुतमभूतमिव। अन्यस्य चित्तमभिसञ्चरेण्यमभिसञ्चारि। अन्यो नानेयः। चित्तं चेततेः, उताधीतं विनश्यतीत्यप्याध्यातं विनश्यत्याध्यातमभिप्रतं ॥६॥**

नहीं है आज † की, न कल की। अद्य=इस दिन। द्यु यह दिन का नाम है, चमकता है. इस प्रकार कर्तृकारक में ‡। श्वः=आशा करने योग्य समय (आने वाला)। ह्यः=घटा समय (बीता दिन) §। कस्तद् वेद यदद्भुतम्=कौन उसे जानता है, जो नहीं हुआ है। यह भी दूसरा अद्भुत न हुए सा होता है ¶। दूसरे का चित्त, अभिसंचरेण्यं=डोलने वाला है।

---

* इन्द्र कहता है, न आज की हवि हमारे लिये है न कल के लिये सम्भावना है, क्योंकि जब वर्तमान में संशय है, तो जो अभी होना है, उसे कौन जानता है (दुर्गाचार्य)—

† अगले वचन में श्वः=देखकर यहां 'अद्यतनं' अध्याहार किया है। ‡ द्यु दिन का नाम है देखो द्युभिरक्तुभिः परिपात-मस्मान् (ऋ० १।७।३७।५) इसका सप्तम्येक वचन द्यौ न होकर द्यवि होता है। द्युत् (भ्वा० आ०) से कर्तृकारक में द्यु बना है। जहां 'सतः' आए, वहां सर्वत्र कर्तृकारक से अभिप्राय है। § शंस् (भ्वा०प०) से श्वः, और हा (जुहो० प०) से ह्यः। श्वः के प्रसंग से ह्यः का निर्वचन किया है। ¶ अद्भुत का यहां अर्थ

अन्य=न लाने योग्य। चित्त चेतति से है। 'उतधीतं विनश्यति'= सोचा हुआ भी दूर होजाता है। 'आध्यातं'=मन में लाया हुआ*

अथापि पदपूरणः ॥

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्योमाति धग्भगो नोबृहद्वदेम विदथेसुवीराः

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा मघोनी मघवती मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः, दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः, व्यृद्धं समर्धयतीति। अपिवा प्रदक्षिणागमनाद् दिशमभिप्रेत्य दिग्घस्तप्रकृतिर्दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वा स्याद् दानकर्मणो हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने। देहि स्तोतृभ्यः कामा-

---

अभूतं=न हुआ है। यह जो दूसरा आश्चर्य अर्थ वाला है, यह भी न हुए के तुल्य होता है, जो कभी हा देखने में आए, उसे अद्भुत कहते हैं। ( अदिभुवोडुतच् उ० ५। १ सोअदू=कदाचित भवतीत्यद्भुतम् )। * न+नी · श्वा० उ० ) स अध्न्यादयश्च . उ० ४। ११२ ) द्वारा अन्य। चिती . श्वा० प० ) से · उ० ३। ८६ से क्त आकर ) चित्त। अधीतं=आध्यातं। 'ध्यायतेः संप्रसारणं च' वार्तिक से क्विप् में किया संप्रसारण वेद में क्त में भी होता है।

[ इस मन्त्र का स्वतन्त्र अर्थ—नूनं, वेद में आज के अर्थ में आता है। अन्य यहां साधारण पुरुष के अर्थ में है। साधारण पुरुष का चित्त ऐसा डोलने वाला होता है, कि उसका निश्चय किया भी हट जाता है, यह जो अद्भुत है, इसे कौन जानता है, वह [ कोई एकरूप ] न आज है, न ही कल है। बाहर की अवस्थाएं उसको इस उस रूप में लगातार बदलती रहती हैं—सम्पादक]।

न्मास्मानतिदंहीर्मास्मानतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। बृहद्वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेर्बृहदिति महतो नामधेयं परिवृढं भवति। वीरवन्तः कल्याणवीरा वा वीरो वीरयत्यमित्रान्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणो वीरयतेर्वा॥

और पदपूरक भी होता है—हे इन्द्र! धन से भरी (सुवर्ण अनाज आदि धन से युक्त) वह तेरी दक्षिणा (जो पुत्रभावक कर्म में ऋत्विजों को देनी है) स्तोता (यजमान) के लिये (अभीष्ट) वर (मुंह मांगी मुराद) पलटे में दे, अपने स्तोताओं को दे, हमें उलांघ कर न दे, धन हमारे (घर में) हो, (जिस से) हम यज्ञ में (वा अपने घर में) बड़े मे कहें (दो और भोगो) और हम पुत्रों वाले वा अच्छे पुत्रों वाले हों (ऋ० २। ६। ३। ६)। (व्याख्या)—वह तेरी (दक्षिणा) स्तोता के लिये पलटे में दे। वर=चुनने योग्य होता है (वृ०,स्वा०उ० से व्रियते इति वरः)। जरिता=स्तुति करने वाला। दक्षिणा, मघोनी=धन वाली, मघ धन का नाम है। मंह (भ्वा० आ० दान अर्थ वाले से (मंह्यते= दीयते इति मघम्) दक्षिणा दक्ष (भ्वा० आ०) बढ़ने अर्थ वाले से है, (यज्ञ में जो कुछ) न्यून (होता है, उस) को (पूरा कर) बढ़ाती है (दक्षिणा से यज्ञ वृद्धि वाला होता है)। अथवा प्रद-क्षिण आने से (दक्षिण) दिशा के अभिप्राय से (दक्षिणा है)। दिशा (का नाम दक्षिणा) हाथ के कारण से है (सूर्याभिमुख खड़े होने से दक्षिण हाथ की दिशा का नाम दक्षिणा हुआ है)। दक्षिण हाथ दक्ष (भ्वा० आ०) उत्साह अर्थ वाले से है (जैसा दायां हाथ कर्म में उत्साही होता है, वैसा बायां नहीं) अथवा दाश् (भ्वा०, उ०) दान-अर्थ वाले से है (दाश्यतेऽनेन=इस से दान दिया जाता है)। हस्त हन् (अ०प०) से है (हन्यतेऽनेन=इस से

मारा जाता है (यद्यपि पैर आदि से मारा जाता है, तथापि मारने योग्य के) मारने में शीघ्र उठने वाला (यही होता है) (उ० ३ । ८६ से, हस्+तन्=हस्त है) । स्तोताओं को उनकी कामनाएं दे, मत हमें छोड़कर दे, (दंद्दी - दाः=दे) धन हमारे (घर में) हो,वहुत कहें हम, अपने यज्ञ में (वा घर में) । भग भज् (भ्वा० उ० ) से है (भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः इति भगः) । बृहत्, महत् का नाम है, सब ओर से बढ़ा हुआ होता है* (बृह्०, भ्वा० वा तु० प० से उ०२। ७७ से बृहत् निपातित है) वीरों वाले वा अच्छे वीरों वाले। वीर=वी+ईर=परे फेंकता है शत्रुओं को (वि+ईर चु० प०) (यद्वा ईर् अ० आ० से स्वार्थ-णिच् वीरयति=कम्पा देता है पचाद्यच्) अथवा वी (अ० प०) से होसक्ता है गति अर्थ वाले से (वेति=गच्छत्यभिमुखं शत्रून्=शत्रुओं के सम्मुख जाता है) अथवा वीर (चु०आ) से है (वीरयते=पराक्रम दिखलाता है) ॥

सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।।प्र सीमादित्यो असृजत्।प्रासृजदिति वा प्रासृजत्सर्वत इति वा।।वि सीमतः सुरुचो वेन आवरिति च।व्यवृणोत्सर्वत आदित्यः सुरुच आदित्यरश्मयः सुरोचनात् । अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणं सीम्नः

---

* प्रभौ परिवृढः ( ७।२।२१ ) से प्रभु अर्थ में ही परिवृढ निपातित है, तथापि महत्त्व और प्रभु एक ही अभिप्राय रखते हैं, इसलिये बृहत् के निर्वचन में प्रयुक्त किया है ।

† सु,मत्वर्थ में मानकर वीरों वाले अर्थ किया है,पर इस अर्थ में अप्रसिद्ध होने से प्रसिद्ध अर्थ शोभन के साथ बहुव्रीहि से अच्छे वीरों वाले अर्थ किया है ॥

सीमतः सीमातः मर्यादातः । सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति ॥

सीम्, यह 'सब ओर से' अर्थ वाला, वा पदपूरक होता है। (दोनों में एक ही उदाहरण) सूर्य ने (किरणों को) छोड़ा वा सब ओर से छोड़ा*, और सुहावने (सूर्य) ने सब ओर से किरणों को खोला ( यजु १३ । ३ ) यह ( सीम् ) भी। खोला सब ओर से सूर्य ने ( क्या ) सुरुचः=सूर्य की रश्मियें होती हैं अच्छी चमकने से ( रुच्=भ्वा० आ० से क्विप् ) अथवा 'सीमन्' यह शब्द अनर्थक (तसिल्=तः) प्रत्यय को ग्रहण करता है, जो (प्रत्यय) पञ्चमी के अर्थ वाला है। अर्थात सीमः= सीमतः=सीमातः=मर्यादा से। सीमा मर्यादा (का नाम) है। दो देशों को अलग करती है।

त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके।७

ऋचां त्वःपोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उत्वः

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान्होतर्गर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्वर्य ऋचः शक्नोतेस्तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परि-

---

* सीम्, अनर्थक मानकर 'प्रासृजत्' यहां छोड़ दिया है, अथवा 'प्रासृजतः सर्वतः' इस प्रकार सर्वतः यह अर्थ सीम् का ले लिया।

**वृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युः। अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेताऽध्वरं कामयत इतिवा। अपि वाधीयाने युरुपबन्धो ऽध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिहिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः॥**

त्व, यह अलग करने अर्थ वाला सर्व नाम अनुदात्त है, कई (मानते हैं कि) आधे का नाम है। (यज्ञ में) एक (ऋत्विज्) ऋचाओं की पुष्टि करता हुआ बैठता है, (अर्थात् होता), एक ऋचाओं में गायत्र को गाता है (अर्थात् अध्वर्यु), एक जो ब्रह्मा है, वह (प्रायश्चित्तादि) होने पर विद्या बतलाता है, एक यज्ञ के शरीर को बनाता है (अर्थात् अध्वर्यु)।

इस (ऋचा) से (सोलह ऋत्विजों में से मुख्य चार) ऋत्विजों के कर्मों का विनियोग बतलाता है। (इन चारों में से) एक ऋचाओं की पुष्टि करता हुआ बैठता है (अर्थात्) होता। ऋच्=अर्चनी (जिससे स्तुति की जाती है) है। (ऋच्= ऋच्यते स्तूयतेऽनया, ऋच्, तु०प० से करणेक्विप्) एक ऋचाओं में गायत्र (स्तोत्र) को गाता है (अर्थात्) उद्गाता। गायत्र; स्तुति अर्थ वाले गै (भ्वा० प०) से है (गायत्यनेनेति गायत्रं, करणेत्रन्) शकरीः=ऋचाएं हैं शक् (स्वा० प०) से (करणेत्र निप्, वनो र च् (४।१।७) ङीप् और र आदेश) "जो इन (ऋचाओं) से (स्तुति किया इन्द्र) वृत्र (मेघ) को मार सका, यह शक्वरियों का शक्वरीत्व है (अर्थात् शकरी को शकरी इसलिये कहते हैं)" (ऐत० ५।२।२) यह जाना जाता है*। एक ब्रह्मा (उस २ समय) उत्पन्न हुए उत्पन्न हुए (कर्म में,

* 'इति विज्ञायते' जहां आए, वहां ब्राह्मण का वचन जानो।

कर्तव्य–) विज्ञान बतलाता है *। ब्रह्मा सारी ( त्रयी ) विद्या को जानने वाला †, सब कुछ जानने योग्य होता है। ब्रह्मा= बढ़ा हुआ वेद से (ऋत्विज् दूसरे एक२ वेद को जानते हैं, ब्रह्मा चारों को जानता है) ब्रह्म ( वेद वा वेद प्रतिपादित ब्रह्म) सब से बढ़ा हुआ है। ( बृंह्+मनिन्, उ० ४। १४५ ) यज्ञ के माप ( आद्योपान्तकी इति कर्तव्यता ) को बनाता है एक ( अर्थात् ) अध्वर्यु। अध्वर्यु=अध्वरयु ( हुआ अध्वर्यु होगया है ) यज्ञ को युक्त करता है ( अर्थात् ) यज्ञ का नेता ( अध्वर+युज् ( रु०, प० ) से ( औणादिक डुन् )। अथवा यज्ञ को (करना) चाहता है ( अध्वर+यु। यु प्रत्यय इच्छार्थक क्यच्वत् ) अथवा पढ़ने वाले के अर्थ में यु प्रत्यय है ( यज्ञ की विद्या का पढ़ने वाला ) अध्वर यज्ञ का नाम है। ध्वृ ( भ्वा० प० ) हिंसा अर्थ वाला है, उसका प्रतिषेध, अध्वर (अहिंस्र=अहिंसाशील=कल्याणकारी)।

**निपात इत्येके तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवत्युत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुरिति द्वितीयायामुतो त्वस्मै तन्वं विसस्र इति चतुर्थ्यामथापि प्रथमाबहुवचने ॥ ८ ॥**

( यह त्व शब्द ) निपात है यह कई ( मानते हैं ), इस लिये कि नाम अनुदात्त स्वभाव वाला कैसे हो ‡। किन्तु दृष्ट

---

* ब्रह्मा अवसर २ पर दूसरे ऋत्विजों को अनुज्ञा देता है, और कोई त्रुटि होजाए, तो प्रायश्चित्त करवाता है।

† तदधीते तद्वेद [४।२।५९] के प्रकरण में 'विद्यालक्षण कल्पान्ताच्च' [४।२।६०वा०]से ठक्, उसका 'सर्वादेः सादेश्चलुग्वक्तव्यः' वा०से लुक्।

‡ नाम सभी 'फिषोऽन्त उदात्तः' ( फि० सू० १। १ ) से अन्तोदात्त होते हैं। त्व अनुदात्त है इससे नाम नहीं होना चाहिये, यह निपात मानने वालों का अभिप्राय है। यास्क मुनि इसका उत्तर,

व्यय ( जिसका रूप बदलना देखा गया है ) है ( तब अ-व्यय क्योंकर होसक्ता है , सो नाम ही है, अव्यय नहीं । कहां व्यय देखा गया है, सो बतलाते हैं ) एक को मित्रता में दृढ़ और पी जाने वाला कहते हैं, यहां द्वितीया में ( दृष्ठव्यय है—त्वं ) और एक को अपना शरीर खोल देती है, यहां चतुर्थी में (दृष्ठ व्यय है—त्वस्मै) । और प्रथमा के बहुवचन में भी है ।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

आंखों वाले कानों वाले सखा (अर्थात् एक साथ एक गुरु से पढ़ते हुए भी) मन के वेगों (उसी विषय की गहरी बातों के सोचने) में अतुल्य होते हैं। एक मुख परिमाण,एक बगल परिमाण और एक स्नान करने योग्य तालावों की तरह दीखते हैं। (ऋ०८।२।१४।२)

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। अक्षि चष्टेरनक्तेरित्याग्रायणः "तस्मादेते व्यक्ततर इव भवत" इतिह विज्ञायते। कर्णः कृन्ततेर्निकृत्तद्वारो भवत्यृच्छतेरित्याग्रायण "ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम्" इति ह विज्ञायते । मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुरास्यदघ्ना अपर उपकक्षदघ्ना अपरे। आस्यमस्यतेरास्यन्दत एतदन्नमिति वा । दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणो दास्यतेर्वा स्याद्विदस्ततरं भवति ।

---

देते हैं, कि जब इस के भिन्न २ रूप पाए जाते हैं, तो अव्यय नहीं होसक्ता । रही अनुदात्त की बात। सो 'त्वत त्व सम सिमेत्यनुच्चानि' ( फि० सू० ४ । ९ ) इस विशेष नियम से त्व अनुदात्त है। अन्यथा निपात के भी आद्युदात्त ( फि० सू० ४ । ८० ) होने से अनुदात्त नहीं होसक्ता ।

**प्रस्नेया ह्रदा इवैके ददृश्रिरे प्रस्नेयाः स्नानार्हा ह्रदो ह्रदतेः शब्दकर्मणो ह्लादतेर्वा स्याच्छीतीभावकर्मणः।**

आंखों वाले कानों वाले सखा। अक्षि, चक्ष् (अ०आ० से है ( चष्टे अनेन=इस से देखता है ) अञ्ज् ( रु०प० ) से है, यह आग्रायण (अग्रगोत्री आचार्य मानता है) (ब्राह्मण भी इस निर्वचन में प्रमाण है) "इसलिये यह दोनों अधिक स्पष्ट से हैं (दूसरे अंगों से, क्योंकि अन्धेरे में भी यह दोनों चमकते हैं)" यह जाना जाता है(इस ब्राह्मण से अञ्ज् से अक्षि शब्द की सिद्धि स्पष्ट है)। कर्ण, कृन् (रु०प०) से है, छिदे हुए द्वार वाला होता है ( मानों गर्भ में ही किसी ने बाहरी शब्दों के अन्दर जाने का द्वार छेदा है) ऋ० (भ्वा०प०) से है, यह आग्रायण मानता है। "आकाश में (उत्पन्न हुए शब्द) मानों इनकी ओर जाते हैं, (यह भी शब्द ग्रहण के लिये) ऊपर गए हुए हैं" यह जाना जाता है। मन के वेगों में अतुल्य होते हैं(कई बड़ा गहरा ऊहापोह करते हैं,कई उतना गहरा नहीं पहुंचते,कई निरा रटा हुआ ही कह सक्ते हैं)। एक मुख परिमाण वाले * एक कक्ष के समीप परिमाण वाले। आस्य, अस् ( दि० प० ) से है (अस्यतेग्रासोऽस्मिन्=जिसमें ग्रास फेंका जाता है। ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४) अथवा अन्न इस को दूर करता है ( आ+स्यन्द ( भ्वा०प० ) से, अन्येष्वपि दृश्यते ३।२।१०१ से ड) दघ्न बहने अर्थ वाले दघ् ( दि०प० ) से है †। ( पूर्वले परिमाण से आगे बढ़ा हुआ होता है ), अथवा दस्

---

*आद्घ्नाः—मुख के अर्थ में आस्यवत् आस् शब्द भी है।

† दघ् ( रु०प० ) है, पर निरुक्त में 'दघ्नतेः' प्रयोग से दिवादि भी जानना चाहिये। पाणिनि के अनुसार तो दघ्न नाम नहीं है। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३६) से ऊर्ध्व मान अर्थ

(दि०प०) से होसक्ता है (अगले परिमाण की अपेक्षा) अल्पतर होता है। कई स्नान करने के योग्य*(गहरे) तालावों की न्याईं स्नान के योग्य (गहरे=अगाध बुद्धि वाले) दीखते हैं। ह्रद,शब्द अर्थ वाले ह्राद् (भ्वा०आ०) से है, (क्योंकि ताड़ना किया हुआ वह शब्द करता है) अथवा ठण्डा होना, अर्थ वाले ह्लाद् (भ्वा० आ०) से है ( गर्मी में भी ठण्डा होता है )।

अथापि समुच्चयार्थे भवति पर्याया इव त्वदाश्विनमाश्विनं च पर्यायाश्चेति ॥

और समुच्चय अर्थ में भी होता है । पर्याय और आश्विन ( ऋक् मा० १२ । १० ) ( यहां त्वत् समुच्चय अर्थ में है )।

अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाःकमीमिद्विति।

(अब पद पूरक निपात कहते हैं) और जो (दूसरे ही पदों से) अर्थ पूरा होजाने पर नमिते अक्षरों वाले ( अर्थात् गद्य ग्रन्थों ) में वाक्य पूरक आते हैं, वही मिते अक्षरों वाले (पद्य ग्रन्थों) में पद पूरक होते हैं,अर्थ वाले नहीं होते(वह हैं)कम्,ईम् इव,उ† ।९।

शिशिरं जीवनायकम्॥ शिशिरं जीवनाय । शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा । एमेनं सृजता सुते । आसृजतैनं। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः । तं वर्धयन्तु नो गिरः । स्तुतयो गिरो गृणातेः॥अयमु ते समतसि । अयं ते समतसि। इवोऽपि दृश्यते । सुविदुरिव । सु विज्ञायेते इव ॥

---

में दघ्नच् प्रत्यय है। * स्नात्वा०।५। ७ में कृत्य अर्थ में त्वन् है।

† (प्रश्न) पूर्व १ । ५, ६, ७, में खलु, नूनं, सीम्, पद पूरक कहे हैं, इसी प्रकार इव, घ आदि भी अनर्थक होते हैं, यही चार क्यों

शिशिर हमारे जीने के लिये (होगा*,यहां कं अनर्थक है) शिशिर, शॄ (क्र्या०उ०) से, वा शम् (क्र्या०प०) से है+। (धातु दोनों हिंसा अर्थ में है,शिशिर में वनाग्नि सूखे ओषधि वनस्पतियों को नष्ट करता है) (ईं का उदाहरण) निचोड़े जाने पर इस(सोम) को डालो (इन्द्र के लिये) (ऋ०१।१।१७।२)। डालो इसको निचोड़ा जाने पर (अर्थ करने में, आ, ईम्, सृजत, के स्थान आसृजत लिखने से ईं को पद पूरक दिखलाया है)।इसको बढ़ाएं हमारी स्तुतियें (यहां इत् अनर्थक है,इसलिये आगे अर्थ करने में छोड़ दिया है) गिर्=स्तुतियें हैं गॄ शब्दे(क्र्या०प०) से,(क्विप्,ऋत इद्धातोः (७।१।११०) से इ, रपर) यह है तेरा (सोम जिस पर) तु सदा उड़कर आता है (ऋ०१।२।२८।४) (यहां 'अयमु' में उ अनर्थक है,इसलिये अर्थ में छोड़ दिया है) इव भी (कभी२अनर्थक)

गिने। (उत्तर) लक्षण जो किया है, वह तो सारे अनर्थकों पर घट जाता है, किन्तु यह चार प्रायः अनर्थक ही होते हैं, इस विशेषता से गिने हैं। दूसरे प्रायः अर्थ वाले होते हैं, कभी ही अनर्थक होते हैं। इस प्रायोवृत्ति से वह सार्थकों में,और यह अनर्थकों में पढ़े हैं। (प्रश्न) तथापि यहां उ नहीं बतलाना चाहिये, क्योंकि वह पूर्व आही चुका है। (उत्तर) ठीक आचुका है. पर वहां वह उसका प्रासंगिक निर्देश है, यहां ही पद पूरकों का मुख्य प्रकरण है।

* यह वचन कहां का है, पता नहीं, किन्तु दुर्गाचार्य ने लिखा है, कि कई यह सारा पाठ इस तरह पढ़ते हैं—

निष्कृत्तत्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्॥

कई पुरुष जिनके पास कपड़ा नहीं, और सन्तान बहुत है, (वह हिम से वा दुष्काल से) भेड़िये से (डरने) की तरह डरते हुए पुकारते हैं, शिशिर हमारे जीने के लिये होगा (अनाज पक जाने और शीत घट जाने के हेतु से) +शश् (भ्वा०प०) से .उ०१।५३ से) शिशिर निपातित है, कूद जाता है, छोटे दिन होने से शिशिर मानों कूद कर निकल जाता है—सम्पादक।

दीखता है, वह अच्छी तरह जानते हैं वह दोनों अच्छी तरह जाने जाते हैं(इन दोनों वाक्यों में इव अनर्थक है,केवल वाक्य पूरक है)

अथापिनेत्येषइदित्येतेनसम्प्रयुज्यतेपरिभये ॥ १० ॥

नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम । नरकं न्यरकं नीचैर्गमनं नास्मिन्रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा । अथापि न चेत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे । न चेत्सुरां पिबन्तीति । सुरासुनोतेः । एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, त उपेक्षितव्याः ॥

और 'न' यह 'इत्' के साथ मिलकर प्रयुक्त होता है परिभय अर्थ में—न हो, कि कुटिल आचरण करती हुई हम नरक में गिरें *। नरक=नि+अरक=नीचे जाना (नि+ऋ भ्वा०प० से वुन्। पृषोदरादि होने से नि की इ का लोप) अथवा नहीं है इनमें थोड़ा भी रमणीय स्थान (न रकं=रमणीयं यस्मिन्)। और 'न च' यह इत् के साथ प्रयुक्त होता है, दुबारा पूछने में— यदि सुरा नहीं पीते हैं † सुरा सु (स्वा०उ०) से है (सूयतेऽनेकै

* यह पाठ कहां का है, पता नहीं, (न दुर्गाचार्य को ही पता था) किन्तु दुर्गाचार्य ने लिखा है, कि कई इस को शेष भाग समेत ऐसा पढ़ते हैं—इविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् । शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम ॥ अर्थ यह लिया है, कि नारद ने असुरपत्नियों को अपने पतियों से फिर जाने के लिये कहा, तो उन्होंने यह उत्तर दिया—कई यज्ञों में सोम निचोड़ते हुए, कई वाणियों (स्तुतियों) से (देवताओं को) तृप्त करते हुए, और कई दक्षिणाओं से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं सो न हो, कि हम (पतियों से) कुटिल आचरण करती हुई नरक में गिरें। † कोई किसी से पूछता है, 'तिष्ठन्ति वृषलाः' [वृषल =शूद्र] दूसरा उत्तर देता है 'तिष्ठन्ति । तब पहला, 'यदि तिष्ठन्ति किमर्थं नागच्छन्ति' । इस दुबारा पूछने पर दूसरा यह उत्तर देता है 'न चेत् सुरां पिबन्ति, आगमिष्यन्ति' ।

द्रव्यैः=जो अनेक वस्तुओं से निचोड़ी जाती है )। इस प्रकार अनेक प्रकार के अर्थों में उतरते हैं, वह पूरी तरह जानने चाहियें *।

इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति ॥

इस प्रकार यह चार पद गण अनुक्रम से कहे हैं अर्थात् नाम आख्यात और उपसर्ग निपात। इनमें नाम (सारे) आख्यातज (आख्यात से उत्पन्न हुए) हैं, यह शाकटायन ( मानता है ) और नैरुक्तों का सिद्धान्त है। (इसमें मत-भेद दिखलाते हैं—) (हैं सही आख्यातज भी, पर) सारे नहीं, यह ( नैरुक्तों में से तो ) गार्ग्य ( गर्गगोत्री आचार्य मानता है, ) और वैयाकरणों में से कई (आचार्य ऐसा मानते हैं)। सो जहां स्वर (उदात्त आदि) और संस्कार (प्रकृति प्रत्यय आदि) समर्थ (संगत=ठीक बन सके) हों, और प्रादेशिक गुण † से युक्त हों, वह तो ठीक जाने गए हैं, (कि आख्यातज हैं) (नकि) गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती ‡।

---

* यहां तीसरा पाद समाप्त हुआ।

† प्रदेशः=प्रदिश्यते द्रव्यमनया, जिससे वस्तु का वह नाम पड़ा है ( वह क्रिया प्रदेश है। उस क्रिया का वाचक जो धातु है, वह प्रादेशिक गुण है ( दुर्गाचार्य )—

‡ अर्थात् नामों की व्यवस्था तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष क्रिय, प्रकल्प्य क्रिय, और अविद्यमान क्रिय। सो कारक, कर्ता आदि तो प्रत्यक्ष क्रिय ( प्रत्यक्ष क्रिया वाले ) हैं, इनके आख्यातज होने में कोई विवाद नहीं। पर जिनमें क्रिया प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु थोड़ा

अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन् । यः कश्चाध्वानमश्नुवीताश्वः स वचनीयः स्याद्यत्किञ्चित्तृन्द्यात्तृणं तत् ।

और यदि सारे नाम आख्यातज हों, तो जो कोई उस कर्म को करे, उस हरएक प्राणी को वैसा (=उसी नाम से) कहें। जो कोई मार्ग को व्यापे, वह अश्व * कहा जाए, जिस किसी (वस्तु) को तोड़ें, वह तृण (कही जाए, पर कहा नहीं जाता, इस से सारे नाम आख्यातज नहीं, यह निश्चय है)।

अथापि चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः सम्प्रयुज्येत तावद्भ्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्तत्रैवं स्थूणा दरशया वा सञ्जनी च स्यात् ॥१२॥

और भी, यदि सारे नाम आख्यातज हों, तो जितनी क्रियाओं से (नामी) युक्त हो, उतनी से (अलग २) नाम का लाभ हो। तब

---

बहुतसादृश्य लेकर कल्पना करली जाती है. ऐसे, गौ, अश्व आदि प्रकल्प्य क्रिय शब्दों को, गार्ग्य आख्यातज नहीं मानता, क्या फिर जो अविद्यमान क्रिय ( जिनमें क्रिया कल्पना भी नहीं की जासकी) डित्थ, डवित्थ, आदि शब्द ॥ ( संविज्ञातानि तानि । यथा--गौरश्वः पुरुषो हस्ती ) यहां कुछ पाठ त्रुटित हुआ है । संविज्ञातानि तक वाक्य समाप्त करके, अगले वाक्य से पूर्व 'न पुनः' यह शेष पढ़ कर अर्थ दुर्गाचार्य के अनुसार कर दिया है। दुर्गाचार्य ने संविज्ञातानि के स्थान संविज्ञानानि पाठान्तर मानकर दूसरा अन्वय इस प्रकार दिखलाया है। 'स्यातां' से आगे 'तद्दाख्यातजमिति प्रतीमः' =वह आख्यातज हैं, ऐसा निश्चय करते हैं, इतना वाक्यशेष से अर्थ पूरा करके, दूसरे संविज्ञान अर्थात् रूढ हैं। जैसे गौ, घोड़ा, पुरुष, हस्ती, यह अर्थ लिया है। रूढ के लिये संविज्ञान शब्द आगे ७। १३ में प्रयुक्त किया है)॥ * अशू व्याप्तौ (स्वा० आ० से कन्. उ० १। १५१)। और तृदिर् हिंसानादरयोः (स्वा० प०) से तृण है।

ऐसा होने पर स्थूणा (स्तून, खंभा) दरशया (गड्ढे में होने वाली) वा सञ्जनी ( जिस पर (छत) टिकाया जाता है ) भी हो ॥१२॥

अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन् पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्नष्टेत्यश्वं तर्दनमिति तृणम् ।

और भी,जो इनका क्रिया से पड़े नाम सम्बन्धी संस्कार है,जैसे वह ठीकर हो,वैसे,और जैसे (यह शब्द) स्फुट अर्थ वाले हों, वैसे इनको कहें । पुरुष को पुरिशय कहें । अश्व को अष्टा और तृण को तर्दन (इस प्रकार व्याकरण से क्रिया प्रकृति प्रत्यय आदि संस्कार भी ठीक रहता है,और अर्थ भी स्पष्ट रहता है । इसे त्याग कर, अस्पष्ट संस्कार, और अस्पष्टार्थ करने में कोई हेतु नहीं बन सक्ता, इस से जानते हैं, कि ऐसे नाम आख्यातज नहीं) ।

अथापि निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्ति प्रथनात् पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति ।

और भी, (पहले से) सिद्ध नाम के विषय में विचार करने बैठते हैं,कि प्रथन ( फैलाव) से पृथिवी कहते हैं। (यह क्या हंसी की बात है) भला किसने इस को फैलाया, और किस पर खड़ा हो कर (फैलाया, यही तो सब का आधार है। इसलिये स्वभावतः ही पृथिवी नाम है, न कि प्रथन से) ।

अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान्त्सञ्चस्कार शाकटायन एतेःकारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च ।

किञ्च,जहां अर्थ(शब्दसे)अनुगत नहीं और धातु सम्बन्धी,धातुसे मेल खाती)बनावट नहीं,वहां शाकटायनने(बने बनाए)पदों से दूसरे पदों

के आधे भाग बना डाले हैं (जैसे) इ (अ० प०) का णिजन्तरूप (आययति है, उसका), यकारादि भाग (य) अन्त में किया और अस् (अ० प०) का शुद्ध (न कि णिजन्त) सकारादि (शतृ प्रत्ययान्त सत्) (आदि भाग बनाकर, सत+य=सत्य सिद्ध किया है) (सन्तमाययति= विद्यमान वस्तु को जो जितलाए, वह सत्य है) *।

**अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुरपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति । तदेतन्नोपपद्यते ॥ १३ ॥**

और भी, द्रव्य पूर्वक क्रिया होती है, ऐसा कहते हैं। सो पीछे होने वाली क्रिया से पहले होने वाले (द्रव्य) का बतलाना नहीं बन सक्ता है †। यह ‡ नहीं बन सक्ता है ॥ १३ ॥

**यथो हि नु वा एतत्, "तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां" सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति । यथो एतद्"यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति" पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा**

---

* यहां सत्य के साधन में अस् धातु से बना सत् शब्द लेलिया और अ ययति में से य लेकर आगे जोड़ दिया। पर इस प्रकार न तो य का अर्थ अन्यत्र देखने में है, और न इस प्रकार किसी शब्द का आदि वा अन्त प्रदेश ही बना है॥ (शाकटायन ने उणादि गण में तो इस प्रकार सिद्धि नहीं की, वह कोई और ग्रन्थ होना चाहिये। सम्पा०)

† यदि मार्ग को व्यापने से पीछे अश्व नाम होता, तब तो कहते कि व्यापने से अश्व नाम हुआ, पर जब अश्व नाम इसके जन्म के साथ ही है, तो फिर यह कैसे, कि इस का नाम अश्व व्यापने से है।

‡ यहां तक गार्ग्य पक्ष से कहा, अब इस से आगे शाकटायन पक्ष से इसका उत्तर आरम्भ करते हैं। यह नहीं बन सक्ता है, अर्थात् जो २ दूषण दिया है, यह नहीं घट सक्ता है।

परिव्राजको जीवनो भूमिज इति, एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः।

सो जो यह (कहा) है, कि "जहां स्वर संस्कार समर्थ और क्रिया सम्बन्धी गुण से युक्त हों" सो जब हरएक (नाम) क्रिया सम्बन्धी गुण वाला है, तो फिर यह उपालम्भ (उल्हना) नहीं होसक्ता (सभी नाम क्रिया सम्बन्धी गुण से युक्त हैं, स्वर संस्कार भी ठीक नियमानुसारी हैं, तुम्हारी अपनी शिक्षा की त्रुटि है, कि तुम नहीं समझते हो)। और जो यह है, कि 'जो कोई इस कर्म को करे, उस हरएक द्रव्य को वैसा कहें' सो देखते हैं*, कि समान कर्म (करने) वालों में से कईयों को उस नाम की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं। जैसे तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज†। इसी से अगला (दोष) खण्डन किया गया‡।

* अर्थात् तुम भी देखते हो, हम भी देखते हैं। 'त्वरादीनां मिथः ऽन्हीहानी यत्परं तच्छिष्यते' से अस्मद् शेष रहा।

† तक्षा=छीलने वाला—लकड़ी आदि को छीलने का काम और भी किसी २ समय पर करते हैं, पर नाम निरा बढ़ई का है। परिव्राजक=घूमने वाला, और भी घूमते हैं नाम सन्यासी का ही होता है। जीवनः=जीवन देने वाला, जीवन देनी वाली कई वस्तुएं हैं, परनाम ईख रसवा वायु आदि का है, सभी सब वस्तुओं का नहीं। भूमिजः=भूमि से उत्पन्न हुआ। मंगल वा भूनिम्ब का नाम है, भूमि जन्य सारी वस्तुओं का नहीं। कारण यह है, कि जिसमें जो क्रिया विशेषतः होती है, उसका वह नाम प्रसिद्ध होजाता है, तो फिर दूसरे का वह नाम नहीं होसक्ता, दूसरों का भी अपनी २ प्रसिद्ध क्रिया से नाम होता है।

‡ अगला=अर्थात् "जितनी क्रियाओं से वस्तु युक्त हो, उतने ही उसके नाम होजाएं" इसका भी उत्तर यही है, कि लोक में ऐसा देखते हैं, कि किसी प्रसिद्ध क्रिया से ही नाम पड़ता है, सारी क्रियाओं से सारे नाम नहीं। बढ़ई का नाम छीलने के कर्म से तक्षा तो है, पर जो वह और कर्म करता है, उनसे उसके नाम नहीं पड़ते। इस लिये न ही एक क्रिया से सब के नाम, और न ही सारी क्रियाओं से सारे नाम एक के होते हैं।

यथो एतत्, "यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति" सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिका यथा-व्रततिर्दमूना जाट्य आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति। यथो एतत् "निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचारयन्तीति" भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः "प्रथनात्पृथिवीत्याहुः" "क एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति" अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः। अथाप्येवं सर्व एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते ॥

और जो यह है, कि "जैसे यह प्रतीत अर्थ वाले हों, वैसे इनको कहें"। सो हैं थोड़े प्रयोग वाले ऐकपदिक * भी, जैसे, व्रततिः, दमूनाः, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी † और जो यह है, कि 'पहले से सिद्ध नाम के विषय में विचार करने बैठते हैं'। सो होता ही है, नाम के सिद्ध होने पर योग (अवयवार्थ) की परीक्षा (नाम हुए बिना कैसे अवयवार्थ की परीक्षा हो) (और जो यह कहा है) कि "प्रथन से पृथिवी

---

* ऐकपदिक=एक पद सम्बन्धी। जिन पदों का संस्कार व्यापक नियमों पर नहीं हुआ, पद २ के लिये अलग २ संस्कार है (देखो ४।१) † व्रततिः=वल्ली, वृ,तनु (स्वा० त० उ०) से (देखो ३।२८) दमूनाः=अग्नि वा अतिथि, दममना इत्यादि (देखो ४।४) जाट्यः=जटावान्, जट संघाते (भ्वा० प) से, ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) बाहुलक से कर्ता में। आट्णारः=घूमने वाला, अट गतौ (भ्वा० प) से औणादिक णारच्। जागरूकः=जागने वाला, जागर्तेरूकः (३।२।१६५) दर्विहोमी=दर्व्यांजुहोति=दर्वि से होमने वाला, हु दानादनयोः (जु० प०) औणादिक इनु। इस प्रकार और भी कई प्रतीत अर्थ वाले हैं, और जो नहीं है, उनको भी शास्त्र प्रतीत अर्थ वाला बनाता है।

कहते हैं। किसने इसको फैलाया और किस पर खड़े होकर फैलाया" सो देखने से यह फैली हुई है (फैली हुई दीखने से पृथिवी है) चाहे दूसरों ने नहीं फैलाई। और ऐसे तो सभी दृष्टप्रवाद (दीखने से हुए नाम) खण्डन होसक्ते हैं।

**यथो एतत् "पदेभ्यः पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कारेति" योऽनन्विते़ऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा इति। यथो एतद् "अपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत" इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद्भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा बिल्वादो लम्बचूडक इति। बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा॥१४**

और जो यह है, कि "पदों से दूसरे पदों के आधे भाग संस्कार किये हैं"। यह जिसने असम्बद्ध अर्थ में संस्कार किया हो, वह उससे निन्दनीय होसक्ता है, (न कि सम्बद्ध अर्थ में संस्कार करने वाला शाकटायनाचार्य) सो यह (न समझने वाले) पुरुष की निन्दा है (न कि शाकटायन की, और) न कि शास्त्र की निन्दा। और जो यह कहा है, कि "पीछे होने वाली क्रिया से, पहले होने वाले (द्रव्य) का बतलाना नहीं बनसक्ता है"। सो हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न हुए द्रव्यों में से कइयों को पीछे उत्पन्न हुई क्रिया से नाम की प्राप्ति होती है, कइयों को नहीं। जैसे बिल्वाद=बिल्वखाने वाला, लम्ब चूडक=लटकती चोटी वाला (यहां बिल्वखाना और चोटी का लटकना पीछे कभी होगा, पर नाम जन्म के साथ ही है)॥ १४॥

(१२ से १४ खण्ड तक सारे नामों को आख्यातज सिद्ध करने से सब के निर्वचन की आवश्यकता दिखलाई, जो निरुक्त शास्त्र का एक प्रयोजन है, अब दूसरे प्रयोजन दिखलाते हैं):—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यतेऽर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्रास्तदेतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। उरु प्रथस्वेति प्रथयति। प्रोहाणीति प्रोहति। अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्त्योषधे त्रायस्वैनम्। स्वधितेमैनं हिंसीरित्याह हिंसन्। अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः। असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे। शतं सेना अजयत्साकमिन्द्र इति।

और भी इस (शास्त्र) के विना मन्त्रों में अर्थ की प्रतीति नहीं होसक्ती है। जिसको अर्थ की प्रतीति नहीं हुई, उसको पूरी तरह स्वर संस्कार का निश्चय नहीं होता (क्योंकि अर्थ के अधीन स्वर संस्कार की व्यवस्था होती है)। इस प्रकार यह (निरुक्त शास्त्र) विद्या स्थान (निर्वचन विद्या का घर) हुआ व्याकरण की पूर्णता*(करता है) और अपने स्वतन्त्र प्रयोजन का साधक है। कौत्स (आचार्य कहता है, कि) यदि मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये है, तो

---

* व्याकरण का विषय स्वर संस्कार है। स्वर संस्कार का निश्चय उसे पूरा नहीं होता, जो निरुक्त नहीं जानता, इस लिये यह व्याकरण की पूर्णता करता है। और साथ ही अपने अलग प्रयोजन निर्वचन और अर्थ ज्ञान का साधक भी है।

(यह शास्त्र) निष्प्रयोजन होजाता है, क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं (किसी अर्थ के वाचक नहीं हैं) * यह (मन्त्रों का अनर्थक होना) इस (वक्ष्यमाण ग्रन्थ) से परखना चाहिये। (१) नियत शब्दों की योजनाएं, नियत आनुपूर्वी (पूर्वापरक्रम) से होती हैं †। (२) और भी, अपने रूप से पूरे होकर ब्राह्मण से विधान किये जाते हैं, 'उरु प्रथस्व, इस (मन्त्र) से (पुरोडाशको) फैलाता है (श० ब्रा० १।१।६।८) ‡ प्रोहाणि, से (पूर्व की ओर) प्रेरता है।

---

* कौत्स का अभिप्राय यह है, कि मन्त्र किसी अर्थ बोधन के उद्देश्य से नहीं पढ़ेगए (चाहे उन से कोई अर्थ प्रतीत होता भी हो) किन्तु मन्त्र बोलकर कर्म करने से, मन्त्र के ठीक उच्चारण से, ही फल मिलता है, यह शक्ति मन्त्र में है। यह आशय अगले हेतुओं से स्पष्ट है। सो इस आशय में कौत्स वेदों का तो श्रद्धालु है, किन्तु मन्त्रों के नियत शब्दों की नियतानुपूर्वी में ही फल जनकता मानकर अर्थ से हीन मानता है † मन्त्रों के शब्द भी नियत 'अग्नि मीळे' ही पढ़ा जाएगा, न कि वन्हि स्तौमि, और शब्दों की आनुपूर्वी भी नियत, 'अग्निमीळे' ही पढ़ाजाएगा, 'ईळेऽग्नि' नहीं। जो वाक्य सार्थक होते हैं, उन में शब्द का नियम नहीं होता, चाहे 'पात्रमा हर' कहो, चाहे 'भाजन मानय' कहो। आनुपूर्वी का नियम भी नहीं होता, चाहे 'पात्र माहर' कहो, चाहे 'आहरपात्रं' कहो। सो अर्थ वाले वाक्यों के विरुद्ध धर्म वाला होने से यही सिद्ध होता है, कि मन्त्र अनर्थक हैं (=उन्हीं शब्दों और उसी आनुपूर्वी में शक्ति है, अर्थ स्मरण निष्फल है, इस लिये अर्थ अभिप्रेत ही नहीं है)।

‡ जिस मन्त्र से जो कर्म करना हो, उसका संकेत यदि मन्त्र से ही प्रतीत हो, तो वह अपने रूप में पूरा है, क्योंकि उससे किया जाने वाला कर्म उसी से पूरा ज्ञात हो रहा है। इसी तरह का यह मन्त्र है 'उरु प्रथस्व'=बहुत फैलजा (यजु० १।२२) यह मन्त्र पुरोडाश के विषय में है। सो प्रकरणानुसार यह अर्थ होगा, हे पुरोडाश तू बहुत फैलजा। इस अर्थ से कर्म का संकेत निकल आया, कि 'उरु प्रथस्व' बोलते समय पुरोडाश को कपालों पर फैलाना चाहिये। अब शतपथ जो 'उरु प्रथस्व' से फैलावे, यह

(३) और भी (मन्त्र) बाधित=न बन सकते अर्थ वाले होते हैं 'हे ओषधे रक्षा कर' इस ( यजमान ) की ( य ४।१;६।१५ ) 'हे कुल्हाड़े इसकी मत हिंसा कर' ( य ४ । १; ६ । १५ ) यह कहता है काटता हुआ * ( ४ ) और भी—परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होते हैं, ( जैसे ) 'एक ही रुद्र ( संग्राम में ) खड़ा हुआ, दूसरा नहीं है, ( इस में रुद्रों के अनेक होने का निषेध किया है, और इसके विरुद्ध ) 'अनगिनत सहस्रों रुद्र जो भूमि के ऊपर हैं' ( य १६ । ५४ ) ( इस में अनगिनत कहे हैं, इसी प्रकार ) 'हे इन्द्र तू शत्रु रहित प्रकट हुआ है' ( ऋ०८।७।२१।२ इस में इन्द्र को शत्रु रहित कह कर, इसके विरुद्ध ) 'इन्द्र ने सौ सेनाएं इकट्ठी जीतीं, ( ऋ० ८।५।२२।१, इस में सौ सेनाओं का जीतना कहा है ) †

अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति, 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति' अथाप्याहादितिः सर्वमित्यदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति। तदुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः । अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्त्यम्यग्याद्दशिमञ्जारयायि काणुकेति॥१५॥

---

विधि है, इसकी क्या अवश्यकता थी, क्योंकि यह विधि तो मन्त्र से जानी ही गई थी, फिर भी जो शतपथ में अलग विधान किया है, इस से प्रतीत होता है, कि मन्त्र का अर्थ अभिप्रेत ही नहीं, अभिप्रेत होता, तो विधि उसी से निकल आने पर अलग विधान न होता। इसी प्रकार 'प्रोहाणि' में जानो।

* याग में यूप के लिये वृक्ष को काटते समय उस पर कुशा रख कर कहता है 'हे ओषधे रक्षा कर' और कुल्हाड़ा मारता हुआ कहता है 'हे कुल्हाड़े इसकी मत हिंसा कर' (दुर्गाचार्य) सो यह बाधितार्थ होने से अनर्थक है। इसलिये अर्थ के अभिप्राय से नहीं कहा।

† परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होने से अर्थ अभिप्रेत ही नहीं, यही प्रतीत होता है।

(५) और भी (विधि के) जानने वाले को प्रेरणा करता है—'प्रकाशित होती हुई अग्नि के लिये (हे होतः) अनुवाक्या ऋचाएं बोल (श० ब्रा० १।३।२।३) (यह अध्वर्यु कहता है होता को। होता विधि का जानने वाला होता है, वह स्वयं जानता है, कि अमुक अवसर पर मैंने अनुवाक्या ऋचाएं पढ़नी हैं, उसको यह प्रेरणा अनर्थक है। जैसे यह अनर्थक है, वैसे दूसरे मन्त्र भी हैं)। (६) और भी कहता है 'अदिति सब है' अदितिर्द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है (ऋ १।६।१६।५) इसकी आगे (४।२३ में) व्याख्या करेंगे (इसमें जो एक अदिति को द्यौ अन्तरिक्ष माता पिता पुत्र आदि सब कुछ कहा है, वह कैसे होसक्ता है, कि जो द्यौ हो वही अन्तरिक्ष भी हो, जो माता पिता हो वही पुत्र भी हो? अर्थ वाला मानकर इसका समर्थन नहीं होसक्ता, इस लिये अर्थ के अभिप्राय से यह कहा ही नहीं, और जैसे यह नहीं, वैसे और भी नहीं) (७) और न स्पष्ट अर्थ वाले होते हैं—जैसे अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका (इत्यादि पदों का मन्त्रों में कोई अर्थ स्पष्ट नहीं जाना जासकता, और यह ठीक नहीं, कि कई तो अर्थ वाले हों और कई अनर्थक हों, इसलिये सभी अनर्थक हैं, यही ठीक है। पूर्वपक्ष समाप्त हुआ)।

**अर्थवन्तः शब्दसामान्यादेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं, यद्रूप समृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम्। क्रीळन्तौपुत्रैर्नप्तृभिरिति।**

(अब उत्तर देते हैं) अर्थ वाले हैं (मन्त्र), शब्दों की समानता से (अर्थात् जो अग्नि आदि शब्द लोक में हैं, वही वेद में हैं, जब लोक में यह सार्थक हैं, तो वेद में अनर्थक हों, यह कैसे?)। (और) 'यह यज्ञ की पूर्णता है, जो रूप से पूर्णता

है-(अर्थात्) जो कर्म किया जारहा है, उसको (उसपर पढ़ी जाने वाली) ऋचा वा यजु स्पष्ट कहता है' यह ब्राह्मण है। (इसमें यज्ञ की पूर्णता यही कही है, कि मन्त्र उसी कर्म को कहे, जो उसमें किया जारहा है। इस से स्पष्ट है, कि मन्त्र अर्थ के अभिप्राय से पढ़े हैं) (जैसा कि) खेलते हुए पुत्रों और पोतों से (इहैवस्तं=तुम दोनों (पति पत्नी) इकट्ठे रहो) (ऋ० ८।३।२८।२) (यह मन्त्र विवाह में है, और दम्पति को आशीर्वाद का है, इसलिये इसमें विवाह यज्ञ का स्वरूप पूर्ण होता है, यदि इसका अर्थ विवाह से सम्बन्ध न खाता, तो विवाह में इसका पढ़ना त्रुटि होती)।

यथो एतत् 'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तीन्ति' लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी पितापुत्राविति। यथो एतद् 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त' इत्युदितानुवादः स भवति। यथो एतद् 'अनुपपन्नार्था भवन्तीति' आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत। यथो एतद् 'विप्रतिपिद्धार्था भवन्तीति' लौकिकेष्वप्येतद्यथाऽसपत्नो यं ब्राह्मणोऽनमित्रो राजेति।

(मन्त्रों का अर्थ वाला होना स्थापन कर दिया, अब पूर्ववादी की युक्तियों का उत्तर देते हैं-) और जो यह है, कि (१) नियत शब्दों की रचनाएं नियत आनुपूर्वी से होती हैं, (इस पर कहते हैं कि) लौकिक शब्दों में भी यह (नियम देखा जाता) है (जैसे) इन्द्राग्नी और पितापुत्रौ * (२) और जो यह है, कि 'रूप

* 'अग्नीन्द्रौ' वा 'पुत्र पितरौ' नहीं होता, इन्द्राग्नी और पिता पुत्रौ ही होता है, इससे स्पष्ट है, कि नियत आनुपूर्वी से अनर्थक होना

से पूर्ण (भी मन्त्र) ब्राह्मण से विधान किये जाते हैं (इस पर कहते हैं, कि ब्राह्मण में वह कोई अपूर्व विधि नहीं, किन्तु मन्त्र में ) कहे का वह अनुवाद ( मात्र ) है । ( ३ ) और जो यह है, कि बाधित अर्थवाले होते हैं' ( इसपर कहते हैं कि ) वेद के वचन से वहाँ अहिंसा जाननी चाहिये * । (४) और जो यह है, कि परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होते हैं, यह बात लौकिक वचनों में भी है, जैसे यह ब्राह्मण अशत्रु है, यह राजा अशत्रु है † ।

---

सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही नियत शब्दों की योजना से भी अनर्थकता नहीं होसकती * यह हिंसा है यह अहिंसा है, यह वेद से ही जाना जाता है, सो सारे जगत के कल्याण के लिये प्रवृत्त हुआ वेद कैसे पुरुष को हिंसा में प्रवृत्त करेगा, इस लिये यह अहिंसा ही है, क्योंकि यज्ञ में काम आए ओषधि वनस्पति आदि ऊंची गति पाजाते हैं। सो वह इसकी हिंसा नहीं करता, किन्तु यज्ञ में विनियोग के लिये विधि से काटता हुआ इस पर अनुग्रह करता है । यज्ञ में विधि से एक बार कहकर फिर कहने को प्राप्त नहीं होगा, यही उसकी रक्षा है । यह अभिप्राय है ( दुर्गाचार्य ) द्वेष पूर्वक प्राणि वध ही हिंसा है, ( मीमां० १ । १ । २ पर कुमारिल भट्टाचार्य ) ।

† ऐश्वर्य के हेतु देवता एक भी है, अनेक भी है—जैसाकि आगे ( ७ । ४ ) में कहेंगे, इसलिये 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे' और 'असंख्याता सहस्राणि' परस्पर विरुद्ध नहीं । और यद्यपि लोक में कोई भी विना शत्रु के नहीं होता, जैसाकि कहा है—'मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः । उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः'—वन में रहकर अपने कर्म में तत्पर मुनि के भी तीनों पक्ष उत्पन्न होजाते हैं, मित्र, उदासीन और शत्रु । तथापि—किसी के बहुत थोड़े शत्रु देखकर यह वचन कहे जाते हैं—'यह ब्राह्मण अशत्रु है, यह राजा अशत्रु है' । वस्तुतः इन्द्र का कोई शत्रु नहीं, जिस को कि वह जीते । जो इन्द्र का युद्ध वर्णन है, वह अलङ्कार से है, न कि परमार्थ युद्ध है ( देखो० २ । १६ ) ( दुर्गाचार्य ) (असपत्नः=जिसके बराबर कोई नहीं । विद्या में इस ब्राह्मण के बराबर कोई दूसरा नहीं, जैसे इस अभिप्राय में असपत्नः कहा है,

यथो एतज् 'जानन्तं' सम्प्रेष्यतीति जानन्तमभिवादयते जानते मधुपर्कं प्राहेति। यथो एतद् 'अदितिः सर्वमिति' लौकिकेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति। यथो एतद्, अविस्पष्टार्था भवन्तीन्ति' नैषस्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

(८) और जो यह है, कि 'जानते हुए को प्रेरता है' (सो यह लौकिक वचनों में भी है) (शिष्य का गोत्र) जानते हुए (गुरु) को (अपना गोत्र बोलकर शिष्य) प्रणाम करता है (अभिवादये गार्ग्योऽहम्भोः)। (तथा यह मधुपर्क है, ऐसा) जानते हुए के लिये (तीनवार) मधुपर्क कहता है (मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः)। (६) और जो यह (कहा है कि) 'आदिति सब कुछ है' (यह चाल) लौकिक वचनों में भी है। जैसे—'सारे रस जल में पाए जाते हैं, (जल से, रसों की उत्पत्ति है, इस अभिप्राय से कहा है, 'सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पनीयम्' इसी प्रकार किसी गुण को लेकर गौणी वृत्ति से अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं, कहा है) और जो यह है, कि 'अस्पष्ट अर्थ वाले होते हैं, (इसपर कहते हैं) यह खंभे का दोष नहीं, कि इस को अन्धा नहीं देखता है (और इसलिये ठोकर खाता है) वह पुरुष का दोष है (इस प्रकार यह मन्त्रों का वा शब्दों का दोष नहीं, जो उनका अर्थ तुझे प्रतीत

---

वैसे रण में रुद्र के तुल्य कोई दूसरा खड़ा नहीं हुआ, इस अभिप्राय में "न द्वितीयः" है। और जैसे शत्रु को गिरा कर राजा अशत्रु कहा जाता है, वैसे शत्रु (वृत्र) को गिरा कर 'इन्द्र शत्रु रहित होगया' यह कहा है, इति तु वयम्)

नहीं होता, यह तेरा दोष है, अपने दोष को मन्त्रों पर मत लगा) जैसे कारीगरियों (हुनरों) में विद्या (की विशेषता) से पुरुष विशेष होता है, (इसी प्रकार) परम्परागत के जानने वाले विद्वानों में से अधिक विद्यावाला (बहुश्रुत) ही प्रशंसा के योग्य होता है (अबहुश्रुत वा अशिक्षित नहीं। सो मन्त्रों की सार्थकता स्थिर है, उसके लिये शास्त्र का आरम्भ सप्रयोजन है) * ॥१६॥

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । अवसाय पद्वते रुद्र मृळेति । पद्वदवसं गावः पथ्यदनमवतेर्गत्यर्थस्यासौ नामकरणस्तस्मान्नावगृह्णन्ति । अवसायाश्वानिति । स्यतिरुपसृष्टो विमोचने तस्मादवगृह्णन्ति ।

और भी, इस (शास्त्र) के बिना पद विभाग नहीं होसक्ता है (जैसे) हे रुद्र पाओं वाले पाथेय (मार्ग के तोशे) के लिये सुखकारी हो (ऋ० ८।८।२७।१) पाओं वाला पाथेय, (यहां) गौएं हैं = मार्ग में आहार (= तोशा हैं, दूध का आहार देने से)। (यहां अवस) गति अर्थवाले अव (भ्वा०प०) का है, अस-प्रत्यय है। इसलिये (यहां 'अवसाय' पद में, पदकार) अवग्रह नहीं करते हैं। "घोड़ों को खोलकर" (१।१।८।१) (यहां) स्यति = षो अन्त कर्मणि (दि०प०) अव उपसर्ग समेत खोलने (अर्थ) में है, इसलिये (यहां 'अवऽसाय' पद में पदकार अवग्रह करते हैं †।

---

* पांचवां पाद समाप्त हुआ है ॥

† अर्थात् दोनों स्थलों में संहिता पाठ अवसाय है, पर पदकार पदपाठ में एक स्थल में 'अवसाय' इस प्रकार बिना अवग्रह के लिखते हैं, यह जितलाने के लिये, कि यह समस्तपद नहीं है, दूसरे स्थल में 'अवऽसाय' इस प्रकार अवग्रह करके लिखते हैं, यह जितलाने के लिये, कि यह समस्तपद 'अव और साय' के समास से बना

दूतो निर्ऋत्या इदमाजगामेति । पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वाःकारान्तम्। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्वेति । चतुर्थ्यर्थप्रेक्षैकारान्तम्॥"परः सन्निकर्षः संहिता""पद प्रकृतिःसंहिता""पदप्रकृतीति सर्वचरणानां पार्षदानि"

दूत निर्ऋति से (वा, निर्ऋति का) यह आया है (ऋ ८।८। २३।१ ) यहां पञ्चमी के अर्थ का दर्शन वा षष्ठी के अर्थ का दर्शन है, (इस लिये पद विभाग में) आःअन्त वाला ('निर्ऋत्याः पद) है (और) (हमसे) दूर परे जाकर निर्ऋति को कहो (८।८। २२ । १ ) यहां चतुर्थी के अर्थ का दर्शन है ( इस लिये पद-विभाग में ) ऐअन्त वाला (निर्ऋत्यै पद) है* । पूरी २ निकटता

---

अब एक ही जैसे संहिता पाठ के पद विभाग में इस प्रकार का यह भेद अर्थ के विना समझ में नहीं आसकता, एक स्थल में तो 'अवसाय' अवस का चतुर्थ्यन्त है, और अवस पाथेय का नाम है, अव से असु प्रत्यय लगकर बना है,इस लिये निरा एकपद होने से अवग्रह नहीं। दूसरे स्थल में 'अवसाय' अव+साय ( अव उपसर्ग पूर्व षोअन्त-कर्मणि का ल्यप् प्रत्ययान्त ) है, इस लिये गति समास से दो पदों का एक पद होने से पदविभाग में अवग्रह कर देते हैं—अवऽसाय। अर्थ समझे विना यह समझ में नहीं आता, और अर्थ ज्ञान इसके अधीन है, इस लिये इसके विना पद विभाग ( जो हरएक संहिता के साथ है) भी नहीं होसका है ।

* 'निर्ऋत्या इदं' और ' निर्ऋत्या आचक्ष्व ' इस प्रकार संहिता में दोनों स्थान ' निर्ऋत्या ' पाठ है। पदकार एक स्थान 'निर्ऋत्याः' पद पढ़ते हैं, दूसरे स्थान 'निर्ऋत्यै'। इस में कारण यह है, कि पद तो दोनों स्थान में दोनों प्रकार का बन सक्ता है,'निर्ऋत्याः' पद हो, तो 'ससजुषोरुः ८।२।६६ भोभगो अघो अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७ लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९ इन तीन सूत्रों से निर्ऋत्या होजाता है, और पूर्वत्रा सिद्धं (८।२।१) से अगले स्वर से सन्धि नहीं होती, और यदि ' निर्ऋत्यै ' पद हो, तो 'एचोऽयवा

संहिता (होती है) (ऋ० १।४।१०९) पद मूलक संहिता (होती है) * (ऋ० प्रा० २।१) पद मूलक सारी शाखाओं के प्रतिशाख्य हैं।

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । तदेतेनोपेक्षितव्यं ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति । इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्तीन्ति । वायुलिङ्गं चेन्द्रलिंगं चाग्नेये मन्त्रे । अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्वेति । तथाग्निर्मान्यवे मन्त्रे । त्विषितो ज्वलितस्त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिनाम भवति ॥

और भी, यज्ञके कर्म में निरे देवता से बहुत से प्रदेश (निर्देश=

याचः ६।१।७८, लोपः शाकल्यस्य, इन दो से 'निर्ऋत्या' बनकर 'पूर्वत्रासिद्धं' से अगले स्वर से सन्धि नहीं होती। सो यद्यपि दोनों जगह दोनों ही पद संहिता पाठ के विरोधी नहीं होते, तथापि एक स्थान में पञ्चमी वा षष्ठी का ही अर्थ बनता है, इसलिये 'निर्ऋत्याः' पद पढ़ा है। दूसरे स्थान में चतुर्थी ही का अर्थ बनता है, इसलिये 'निर्ऋत्यै' पद पढ़ा है। (निर्ऋति=मृत्यु, दुर्गाचार्य आयुःक्षयकारी पाप देवता—सायणाचार्य)।

* 'पद प्रकृतिः' बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों समास होसक्ते हैं। बहुव्रीहि में अर्थ होगा, पदानि प्रकृतिर्यस्याः=पद जिसका मूल है। अर्थात् पदों का ही मूल होकर संहिता होती है, सो संहिता का मूल पद है, इसलिये संहिता के ज्ञान के लिये पदों का ज्ञान आवश्यक है। तत्पुरुष में अर्थ होगा, पदों का मूल संहिता है। अर्थात् संहिता से पद अलग किये गए हैं। दुर्गाचार्य ने दोनों अर्थ दिखलाकर तत्पुरुष को ही मुख्यता दी है। क्योंकि हरएक मन्त्र प्रकट होते समय मन्त्र द्रष्टा ऋषि को संहितारूप से प्रकट हुआ है, न कि पदों के रूप से। पर अगला 'पद प्रकृतीनि' बहुव्रीहि ही बन सका है, इसलिये यहां भी बहुव्रीहि ठीक है। यद्यपि मन्त्र दर्शन संहितात्वेन हुआ है, तथापि पद मूलक ही पदसमुदायात्मक छन्द (मन्त्र) की सिद्धि होती है, इससे पद मूलक संहिता अर्थ ठीक है॥

विधियें) हैं, (जैसे-'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते=अग्नि देवता की ऋचा से आग्नीध्र का उपस्थान करे। 'ऐन्द्र्या सदः'=इन्द्र देवता की ऋचा से 'सदस्' का। 'वैष्णव्या हविर्धानम्'=विष्णु देवता की ऋचा से हविर्धान का) यह इम को (याज्ञिक को) ठीक २ जानना चाहिये (और इसका जानना मन्त्रार्थ ज्ञान के विना हो नहीं सकता, इसलिये मन्त्रार्थ ज्ञान के लिये याज्ञिक को निरुक्त का जानना आवश्यक है) यदि वह कहें, कि "इस विषय में हम लिङ्ग के जानने वाले हैं"* । तो (हे अग्ने) । इन्द्र की न्याई, और वायु की न्याई, बल से युक्त तुझ को देवता तृप्त करते हैं (ऋ० ४।५।६।२) इस अग्नि देवता के मन्त्र में इन्द्र का भी लिङ्ग है और वायु का भी लिङ्ग है। एवं "अग्नि की न्याई जलता हुआ, तू हे मन्यो (शत्रुओं को) दबा (ऋ० ८।३।१९।२) यहां अग्नि (का लिङ्ग) मन्यु देवता के मन्त्र में है। त्विषितः= जलता हुआ। त्विषि भी इसी (धातु) का है, जो प्रकाश का नाम है॥

**अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ॥१७॥**

**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजाना-**

* अग्नि इन्द्रादि शब्दों में जो अग्नि इन्द्रादि देवताओं के प्रतिपादन का सामर्थ्य है, वह लिङ्ग है, जैसाकि मीमांसा की परिभाषा है—'सामर्थ्यं सर्व शब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते=सामर्थ्य सभी शब्दों का लिङ्ग कहलाता है। सो हम जिस ऋचा में अग्नि पद देखेंगे, उसको आग्नेयी ऋचा समझेंगे, जिसमें इन्द्र पद देखेंगे, उसको ऐन्द्री समझेंगे, हमें निरुक्त के जानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर आगे यह देते हैं, कि मन्त्र किसी और देवता का है। और नाम उस में दूसरे देवताओं के भी आजाते हैं। सो यदि नाम मात्र को ही लिङ्ग समझ कर आग्नेयी ऐन्द्री आदि ऋचाओं का निर्णय करोगे, तो कर्म उलट पलट करने लगोगे, जब तक मन्त्र की व्याख्या न कर सकोगे, लिङ्ग से देवता नहीं जान सकोगे, इसलिये व्याख्या की रीति जानने के लिये निरुक्त सप्रयोजन है।

ति योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज् ज्वलति कर्हिचित् ॥ स्थाणुस्तिष्ठतेरर्थोऽर्तेररणस्थो वा ॥ १८ ॥

और भी, ज्ञान की प्रशंसा है और अज्ञान की निन्दा है ॥१७॥ (सो हम प्रशंसाई हों, न कि निन्दाई, इस लिये निरुक्त को जानना चाहिये) (लोक में भी विद्वान् ही पूजा जाता है, अविद्वान् नहीं, शास्त्र भी बतलाता है, कि) यह स्थाणु ही है*निराभार उठानेवाला, जो वेद को पढ़ कर अर्थ को नहीं जानता है, जो अर्थ का जानने वाला है, वही पूरे कल्याण को प्राप्त होता है, वह ज्ञान से झड़े हुए पापों वाला नाक (जहां कोई दुःख नहीं) को प्राप्त होता है ॥ जो बिन समझे ग्रहण किया है (पढ़ा है), पाठ मात्र से ही उच्चाराजाता है (न कि अर्थ से विचारा जाता है) वह (पढ़ा) अग्नि शून्य स्थान में सूखीलकड़ी की न्याईं कभी नहीं चमकता है † ॥ स्थाणु. स्था (भ्वा०प०) से है (उ० ३।३७) अर्थ अर्ति से ‡ है, अथवा बेगाना बनकर ठहरने वाला (अरणस्थ= अर्थ, पृषोदरादि) ॥१८॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

* स्थाणु=वृक्ष । वह जैसे फल फूलों से लदा हुआ भार ही उठाता है, न कि उपभोग करता है । अथवा स्थाणु=गदहा, वह जैसे चन्दन का भार उठाता है, चन्दन के लगाने का सुख नहीं भोगता (दुर्गाचार्य) † इन में से पहले श्लोक में तो अज्ञान की निन्दा कर ज्ञान को सराहा है, दूसरे में अज्ञान की ही निन्दा है। ‡ ऋगतौ (भ्वा० प० वा जु० प०) है। पर इन दोनों का अर्ति नहीं होता। अर्ति, अ०प० का होसकता है (ऋ सेधन्. उ० २ । ४)।

एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है,एक इसको सुनता हुआ भी नहीं सुनता है,और एक के लिये (यह वाणी) अपना शरीर खोलदेती है,जैसे(ऋतुकाल में)कामना करती हुई अच्छे वस्त्रों वाली पत्नी पति के लिये ( शरीर खोलदेती है ) ( ऋ०८२ । २३।४ )

अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्ये-नामित्यविद्वांसमाहार्धम्। अप्येकस्मै तन्वं विसस्र इति।

स्वमात्मानं विवृणुते। ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहा-नया वाचा,उपमोत्तमया वाचा। जायेव पत्ये कामय-माना सुवासा ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञ प्रशंसा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥

एक ( वाणी ) को देखता हुआ भी नहीं देखता है, और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, (विना अर्थ के देखना सुनना न देखने सुनने के बराबर है) इस प्रकार (मन्त्र का) आधा(पूर्वार्ध) अविद्वान् को कहता है। और एक के लिये वह अपना शरीर खोल देती है, अर्थात् अपना स्वरूप=ज्ञान, खोल देती है । अर्थ का प्रकाश करना इस वाणी ( इस तीसरे पाद ) से कहता है। अन्तिम वाणी(चौथे पाद) से (इसी तीसरे पाद की) उपमा(कहता है) जैसे पत्नी ऋतुकाल में अच्छे वस्त्रों वाली कामना करती हुई पति को ( अपना शरीर खोल देती है ) सुवासाः=अच्छे वस्त्रों वाली (शुद्ध वस्त्रों वाली=ऋतु के चार दिन पीछे शुद्ध स्नान कर चुकी हुई) कामना करती हुई ऋतुकालों में। जैसे वह इस (स्त्री) को देखता है, वैसे वह (अर्थज्ञ) इस वाणी को सुनता है। यह अर्थज्ञ की प्रशंसा है॥ इससे अगली (ऋचा) इस (विषय) को और भी अधिक खोलकर कहने के लिये है ॥१९॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

एक को (वाणी की) मित्रता में पक्के अनुभव वाला बतलाते हैं, अतएव दूसरे लोग (वाणी से जानने योग्य) प्रबल विषयों में इस की बराबरी भी नहीं कर सक्ते हैं। और यह दूसरा, जिसने वाणी को बिना फल फूल के सुना है, वह, अधेनु के साथ फिर रहा है, जो माया है, (असली नहीं) (ऋ० ८।२।२४।४) ॥

अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा विज्ञातार्थं 'यन्नाप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि। अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया नाऽस्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान्देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान्भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा ॥

एक को वाणी की मित्रता में पक्के अनुभव वाला कहते हैं, (स्थिरपीतं=) रमण करता हुआ, अर्थ को पीचुका हुआ=अनुभव कर चुका हुआ। अथवा (सख्ये=) देवताओं की मित्रता में=सुहावने स्थान (देवलोक) में। (इसको=) जाने हुए अर्थ वाले को वाणी से जानने योग्य प्रबल विषयों में पहुंचते भी नहीं हैं। पर यह अधेनु के साथ फिर रहा है, जो माया है, अर्थात् वाणी का आभास है (परमार्थ वाणी नहीं) क्योंकि ऐसी वाणी (रूपी धेनु), देवता स्थानों और मनुष्य स्थानों में, जो दोहने योग्य कामनाएं

हैं, उन को इस के लिये नहीं दोहती है, जिसने वाणी को सुना होता है विना फल के और विना पुष्पों के*, अर्थात् इस के लिये वाणी विना फल के और विना पुष्प के होती है, अथवा (अनुदरा कन्या इतिवत् अल्प अर्थ में नञ् होने से) थोड़े फल पुष्प वाली होती है ( यह अभिप्राय है ) (वाणी का फल पुष्प क्या है) अर्थ को वाणी का पुष्प फल कहता है ( यह मन्त्र )। यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान, और देवता सम्बन्धी ज्ञान पुष्प और फल हैं, अथवा देवता और अध्यात्म ज्ञान पुष्प फल हैं †।

( शास्त्रारम्भ का समर्थन करके, निर्वचनारम्भ से पूर्व निर्वचनीय निघण्टु का मन्त्रार्थ ज्ञान में प्रामाण्य दिखलाते हैं ):—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात् कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा ।

"( तप के बल से ) जिन्होंने धर्म को साक्षात् किया था, ऐसे ऋषि (मन्त्रकाल में) हुए हैं। वह (धर्म के साक्षात् द्रष्टा ऋषि) छोटों को, जो कि धर्म को साक्षात् किये हुए न थे उपदेश द्वारा

* वेद वाणी दुधारू धेनु की न्याईं सारी कामनाओं को पूरने वाली है,पर जो अर्थ नहीं जानता है, उसके लिये यह अधेनु ही होती है।

† यज्ञ, देवता और परमात्मज्ञान ही वेदका अर्थ है, सो जहां कर्म का प्रतिपादन है, वहां यज्ञज्ञान पुष्प और देवताज्ञान फल है। और जहां आत्मा का प्रतिपादन है, वहां देवता ज्ञान पुष्प और आत्मज्ञान फल है। देवता परमात्मा के शबल रूप हैं और परमात्मा शुद्ध रूप। ( यज्ञेभवं ज्ञान याज्ञं, देवतासुभवं ज्ञानं दैवतम् ) कर्म काण्ड में साधन होनेसे यज्ञ पुष्प और देवता शबल स्वरूप)का ज्ञान ( प्राप्ति ) साध्य होने से फल। ज्ञान काण्ड में देवताज्ञान पुष्प और परमात्मज्ञान फल ( देखो ईश ९-१४ )

मन्त्र देते भए ( और वह ग्रहण करलेते भए )। "अब जब उपदेश के लिये थकने लगे, तब छोटे स्फुट जानने के लिये इस ग्रन्थ * (निघण्टु) को गूंथते भए, वेद † को और वेदांगों को"। बिल्म= विस्तार वा स्फुट।

**एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातुर्दधातेः। एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामि-**

---

* 'इस ग्रन्थ' से अभिप्राय निघण्टु से है, न कि निरुक्त से, जैसा कि आगे 'एतावन्तः समानकर्माणो धातवः' इत्यादि से निघण्टु का निर्देश करेंगे (किञ्च निरुक्त के लिये निरुक्त में ही 'समाम्नासिषुः, यह परोक्षातीत काल भी नहीं बनसक्ता) यह पाठ यास्कने किसी दूसरे ग्रन्थ का उद्धृत किया है। यदि यास्क का स्वरचित होता, तो आप ही बिल्म एक क्लिष्ट पद लिखकर आप ही उसकी व्याख्या न करता। यदि कहो कि अपने पदों की व्याख्या भी भाष्य में हुआ करती है, यह निरुक्त भी भाष्य ग्रन्थ है, इस लिये इसमें अपने पदों की व्याख्या दोषावह नहीं, तो उत्तर यह है, कि वह व्याख्या किसी विषय को संक्षेपतः कहकर विस्तार के लिये होती है, जैसाकि देखा जाता है, न कि क्लिष्ट पद कहकर उनका अर्थ करने बैठते हैं, और यहां तो बिल्म का अर्थ विस्तार अथवा स्फुट ऐसा कहने में संशय भी दिखलाया है, अपने ही पद की व्याख्या में संशय किसी को नहीं होता है यह स्पष्ट है, इससे यह वचन निःसंदेह उद्धृत है, और जब उद्धृत होना स्पष्ट है, तो यह संभावित है, कि 'असाक्षात्कृत धर्मभ्यः' भी " अवरेभ्यः " का व्याख्यान पद यास्क की ओर से हो। किञ्च यह पाठ भी निघण्टु के ऊपर किये किसी भाष्य का ही होना चाहिये, तभी 'इमं' से निघण्टु अभीष्ट होसक्ता है। इससे स्पष्ट है, कि इस निरुक्त से पूर्व भी निघण्टु पर निरुक्त थे।

† पहले उपदेश द्वारा मन्त्र सम्प्रदाय रहा, फिर ग्रन्थाकार वेद गूंथा गया। ( वेद का अनेक शाखाओं में गूंथा गया (दुर्गाचार्य) मन्त्र अलग आचुका है, इस लिये वेद से यहां ब्राह्मण अभिप्रेत है ( श्रीसत्य व्रत सामश्रमी)

दमभिधानम् । नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्ये-नेदमिति ।

इतने समान अर्थ वाले धातु हैं *। धातु डुधाञ् धारण पोषणयोः ( जु० उ० ) से है ॥ इतने इस द्रव्य के नाम हैं †। इतने अर्थों का यह वाचक है ‡ यह देवता नाम नैघण्टुक है, यह प्रधानता से है §।

तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ॥ अश्वं न त्वा वारवन्तम् । अश्वमिव त्वां वालवन्तं। वाला दंशवारणार्था भवन्ति। दंशो दशतेः। मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद्भीष्मोऽप्ये-तस्मादेव । कुचर इति चरतिकर्म कुत्सितमथ चेद्देव-ताभिधानं क्वायं न चरतीति । गिरिष्ठा गिरिस्थायी

* जैसे कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश ( ३।९ ) इत्यादि । नाम सब आख्यातज हैं, इस लिये नाम से पहले धातुओं का स्मरण आजाने से वही पहले लिखे हैं। † एकविंशतिः पृथिवी नामधेयानि ( २।५ ) इत्यादि । इत। इस अर्थ वाले धातु हैं, इतने इस द्रव्य के नाम हैं। यह सारा गो शब्द ( २।५ ) से लेकर जहा शब्द (४।१) से पूर्व नैघण्टुक प्रकरण है। ‡ आदित्योऽप्यकूपारः, समुद्रोऽप्यकूपारः (४।८) इत्यादि यह नैगम प्रकरण है, अनवगत संस्कार शब्द भी इसी में हैं। § दैवत प्रकरण कहने के लिये देवता नाम के दो भेद दिखलाए हैं। दैवत प्रकरण वह है, जिस में देवताओं का चिन्तन है, पर देवता नाम मन्त्र में दो प्रकार से आते हैं, एक प्रधानतया, एक अप्रधानतया। जिस देवता की उसमें मुख्यस्तुति आदि है, वह प्रधान है, दूसरे देवता पद उसमें नैघण्टुक हैं अप्रधान हैं, सो प्रधानता से देवताओं का वर्णन जिस में है, वह दैवत प्रकरण है।

**गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान्पर्वतः पर्व पुनः पृणातेःप्रीणातेर्वार्धमासपर्व देवानस्मिन्प्रीणन्तीति तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्,मेघस्थायी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव॥**

जो (देवता नाम) दूसरे देवता वाले (मन्त्र) में आता है, वह नैघण्टुक है (जैसे) बालों वाले घोड़े की न्याईं (वन्दध्या अग्निं नमोभिः=अग्नि को * नमस्कारों से (आहुतियों से) सेवन करते हैं (ऋ १।२।२७।१) (यहां 'न' उपमा अर्थ में और वार=वाल अर्थ में है,यह) 'अश्वमिवत्वां वालवन्तं' से दिखलाया है (इस मन्त्र में अग्नि प्रधान देवता नाम है,अश्व नैघण्टुक है) वाल डांस के रोकने के लिये होते हैं। दंश=दंश (भ्वा० प) से है (दशतीति दंशः, पचाद्यच्)। (दूसरा उदाहरण) भयंकर, (हिंस्र होने से), निन्दित (कर्म) वाले,पर्वत पर रहने वाले मृग † की न्याईं परावत आजगन्था परस्याः=दूर से, द्यौलोक से (हमारे पास) आ। ऋ ८।८।३८।२ ‡) (इस में मृग नैघण्टुक है, और इन्द्र प्रधान है) (यहां भी 'न' उपमा अर्थ में है, इस लिये) मृग इव भीमो कुचरो गरिष्ठाः (अर्थ किया है), मृग, गति अर्थ वाले मृज (अ० प०) से है §। भीम=डरता है इस से (भी, जु० प० से है)

* घोड़ा जैसे बालों से डांस मच्छर मक्खी आदि को परे हटाता है, वैसे तू ज्वालाओं से हमारे शत्रुओं को परे हटाता है † मृग,यहां सिंह वा बाघ अभिप्रेत है। मृग सभी वन्यपशुओं का नाम है, इसी लिये सिंहको मृगेन्द्र कहते हैं। कांगड़े के पहाड़ों में अब भी बाघ को मृग कहते हैं। ‡ मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (२।२।२४।२) और (८।३८।२) का मन्त्र भाग है, पहला विष्णुदेवताक है, दूसरा इन्द्र देवताक। पर आगे 'गरिष्ठाः' का अर्थ मेघस्थायी करने से इन्द्र देवता का ही यह मन्त्र है § मृज् शुद्धि अर्थ में है, यहां

भीष्म भी इमी (धातु) से है। कुचरः=निन्दित कर्म (सदाप्राणिवध) करता है, और यदि देवता का नाम (यह कुचर शब्द हो * । तो) कहां यह नहीं विचरता है (अर्थात् सर्वत्र विचरता है)। और गिरि=पर्वत है (क्योंकि, भूमि से) उगला हुआ होता है (गॄ. तु०प० से)। पर्वत=जोड़ों वाला है (बड़ी२ शिलाएं, उसके जोड़ होते हैं) (पर्व. शब्द से, तप् पर्वमरुद्भ्यां ५।२।१२१ वा० से तप्) और पर्व पॄ (क्र्या०प०) से है (पृणन्तीति पर्वाणि =जो पूर्ण करते हैं, वह पर्व=जोड़) अथवा (तृप्ति अर्थ वाले) प्री (क्र्या० प०) से है। जब कि आधे महीने का पर्व (अमावस्या वा पूर्णिमा) हो (क्योंकि) देवताओं को इस (पर्व) में (हवियों से) तृप्त करते हैं, इस स्वभाव वाला दूसरा (पर्व पर्वत आदि का) होता है, जोड़ की समनाता से †। (और देवता पक्ष में गिरिष्ठाः का अर्थ है) मेघस्थायी। मेघ भी गिरि इमी से (उगला हुआ होने से) है (समुद्रादि से भापरूप से उगला हुआ होता है)

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामो नैघण्टुकानि नैगमानीहेह ॥ २० ॥

इन में से जो नाम प्रधान स्तुति वाले देवताओं के हैं, उसको

---

गत्यर्थक कहने से गति अर्थ में भी जानना चाहिये* 'कुचरो गिरिष्ठाः' यह दोनों पद श्लेष से इन्द्र के भी विशेषण हैं। इन्द्र के पक्ष में अर्थ 'कार्यं नचरति' और 'मेघस्थायी' है। † देवानास्मिन् प्रीणान्ति इस व्युत्पत्ति से अमावस्या वा पूर्णिमा का नाम बनता है, पर्वत की शिलाओं आदि का नहीं, किन्तु अमावस्या और पूर्णिमा शुक्ल कृष्णपक्षों के सन्धि के दिन हैं; इस लिये सन्धि की समानता लेकर पर्वत आदि के पर्व अर्थात् जोड़ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

दैवत कहते हैं, उनको आगे (उत्तर षट्क में) व्याख्या करेंगे, नैघण्टुक और नैगम यहां यहां * ( पूर्व षट्क में )।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

समाम्ना यस्तत्रचतुष्ट मतो ऽन्येऽथ निपाता वायुर्वात्वाननूनं नूनं

८ ९ १० ११ १२ १३ १४

सा त ऋचां त्वोऽक्षण्वन्तो निष्ट्क्तासो हविर्भिरितीमान्यथापियो यथो-

१५ १६ १७ १८ १९ २०

हि न्वथापीदमर्थवन्तोऽथापीदं स्थाणुरयमुतत्वः पश्यन्नुतत्वं सख्ये विंशतिः ॥ 'अर्थात् यह बीस खण्ड इस अध्याय में हैं):—

इति निरुक्ते पूर्वषट्के प्रथमोऽध्यायः।

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयाद्, अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येनाविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्नत्वेव न निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत। विषयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्

( निरुक्त का प्रयोजन कहा ) अब निर्वचन (कहेंगे) ? ( सो पहले सामान्यतया निर्वचन की रीति बतलाते हैं। शब्द दो प्रकार के होते हैं, समर्थ स्वर संस्कार वाले और असमर्थ स्वर संस्कार वाले) जिन पदों में स्वर संस्कार समर्थ(संगत)और धातुरूपीगुण से युक्त हों,(जिन में प्रकृति प्रत्यय आदि का संस्कार और उनके अर्थ स्पष्ट प्रतीत हों, ऐसे शब्द यौगिक वा योगरूढ होते हैं, जो प्रत्यक्ष वृत्ति हैं ) उनका वैसे (=स्वर संस्कार से संगत) निर्वचन करे।

* 'इह इह' यहां यहां, दोबार अध्याय की समाप्ति के लिये है।

और जहां अर्थ अनुगत नहीं, बनावट धातु से मेल नहीं खाती, वहां, अर्थ को मुख्य रखकर ( निर्वचन का ) पता लगाए, किसी अर्थ की समानता से * । (अर्थ की) समानता न होने में भी स्वर वा व्यञ्जन की समानता से निर्वचन करे † । किन्तु निर्वचन न करे, यह नहीं होना चाहिये ‡ । संस्कार की परवाह न करे ।

---

* शब्द की अर्थ में वृत्ति के कई कारण होते हैं। अवयवार्थ से शब्द एक अर्थ में प्रवृत्त होता है, फिर वही शब्द उस अर्थ के किसी विशेष गुण को लेकर अन्य अर्थों में प्रवृत्त हो जाता है, जैसे वंशः=वनशयः इस व्युत्पत्ति से बांस का नाम है,कुलके अर्थ में बांस के गुणों को लेकर इस शब्द की प्रवृत्ति हुई है । उन्हीं गुणों का पता लगाना ही इसका निर्वचन करना है । इसी प्रकार 'प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणः=जोवीणा ( बजाने ) में श्रेष्ठ है' इस व्युत्पत्ति से प्रवीण शब्द मुख्यवृत्ति से गन्धर्व का वाचक है, पर यह शब्द गन्धर्व अर्थ को छोड़कर,अभ्यास द्वारा प्राप्त हुई चतुराई के सांझे गुण को लेकर, गुणवृत्ति से यह शब्द चतुरमात्र का नाम होगया है, इसी प्रकार चाबुक का नाम आर है, जो घोड़ा आर से निकल गया हो, अर्थात् सारथिका अभिप्राय जानकर ही चले, न कि चाबुक खाकर, वह उद्दार है ( उद्गतः आरात्=उद्दारः ) । घोड़े के अर्थ में इस शब्द की मुख्यवृत्ति है, अब यह घोड़े के अर्थ को छोड़ कर, किसी का अभिप्राय ही लखकर विना उसके कहे उसका काम कर देने के अर्थ में प्रवृत्त है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानो । अर्थात् सर्वत्र अवयवार्थ में ही तत्त्व न ढूंढते रहो, हो सकता है, कि अवयवार्थ से किसी दूसरे अर्थ में प्रवृत्त होकर, पीछे उस अर्थ के गुण को लेकर, इस अर्थ में प्रवृत्त हुआ हो । † जहां गुणवृत्ति से भी पता नहीं लगता है, वहां अर्थ को मुख्य रखकर जिस धातु का निरा स्वर वा निरा व्यञ्जन ही मेल खाता है, उससे उसका निर्वचन कर लेना चाहिये । क्योंकि धातुओं से बने शब्दों में हम ऐसे परिवर्तन देखते हैं, कि असल धातु का एक ही अक्षर वा वर्ण शेष रह गया है, जैसा कि आगे दिखलाएंगे । ‡ ऐसा प्रयत्न तो अवश्य होना चाहिये, कि

[क्योंकि (शब्दों की अर्थों में) वृत्तियें (वर्ताव) बड़े संशयों वाले होते हैं * अर्थ के अनुसार विभक्तियों को बदले † ॥

प्रत्तमवत्तमिति धात्वादी एव शिष्येते । अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वादिलोपो भवति स्तः सन्तीति। अथाप्यन्तलोपो भवति,गत्वागतमिति। अथाप्युपधालोपो भवति जग्मतुर्जग्मुरिति। अथाप्युपधाविकारो भवति राजा दण्डीति।अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति।अथापि द्विवर्णलोपस्तृच इति।अथाप्यादिविपर्ययो भवति ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्य इति । अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्किति । अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति ॥ १ ॥

(पूर्व जो स्वर वर्ण की समानता से निर्वचन कहा है, उसके लिये प्रमाण दिखलाते हैं ) प्रत्तं, अवत्तं, यहां धातुओं के आदि वर्ण ही शेष हैं (प्र+दा (जु० उ०) से क्त आकर अच 'उपसर्गात्तः (७।४।४७) से दा के आ को त, झरोझरि सवर्णे ( ८।४।६५ ) से उस त का लोप, खरिच ( ८।४।५५ ) से द को त होकर प्रत्तं। अव+दो ( दि०प० ) से क्त । आदेच उपदेशे शिति ( ६।१।४५ ) से दो को दा होकर प्रत्तंवत् अवत्तं। इन दो भिन्न प्रयोगों में दो

असली निर्वचन का पता लगे, पर यूंही निर्मूल कल्पना भी करने नहीं लगजाना चाहिये । * कहीं आदि का, कहीं अन्त का, कहीं मध्य का लोप होता है, कहीं दो २ तीन ३ वर्णों का लोप होता है, कहीं आदि अन्त वर्ण उलट पलट होजाते हैं, इत्यादि परिवर्तनों में से निकल कर शब्दों की अर्थों में वृत्ति होती है, और गौणी वृत्ति भी होती है, जो पूर्व कही है। † "हृत्सुशोकैः" के स्थान 'हृदया निशोकैः' ( ९ । ३३ ) दिखलायेंगे ।

भिन्नार्थक धातुओं के निरे आदि वर्ण रहगए हैं, और वह भी द् से बदल कर त होगए हैं)। और भी (गुणवृद्धि की) निवृत्ति के स्थानों में अस् (अ० प०) का (श्नसोरल्लोपः ६।४।१११ से) आदि लोप होता है (जैसे) स्तः, सन्ति। और भी अन्त का लोप होता है, (जैसे) (गम्+त्वा=) गत्वा (गम्+तं) गतं। और भी उपधा का लोप होता है (जैसे) जग्मतुः जग्मुः (गम् के उपधा अ का 'गम हन जन खन घसां (६।४।४८) से उपधा लोप) और भी उपधा का विकार (नई बनावट) होता है (जैसे) राजा, दण्डी (राजन्, दण्डिन्, इनमें से राजन् का उपधा अ, और दण्डिन् का उपधा इ दीर्घ होकर फिर न लोप होकर राजा दण्डी हुआ)। और भी, वर्ण का लोप होता है 'तव त्वा यामि= वह तुझ से मांगता हूं(ऋ० १।२।१५।१;५।७।२६।४)(यहां 'याचामि' के स्थान च का लोप करके यामि* पढ़ा है)। और भी दो वर्णों का लोप होता है (जैसे) तृच (तिसृणां ऋचां समाहारः=तीन ऋचाओं का समूह। त्रि+ऋच=तृच। त्रि के र और इ का लोप †) और भी, आदि का विपर्यय (एक के स्थान दूसरा वर्ण) होता है (जैसे) ज्योतिः (द्युत दीप्तौ भ्वा० आ० से, उ० २।११९ से इसिन्, आदि द् के स्थान ज) घरः (हन हिंस गत्योः अ० प० से पचादि अच्, आदि ह के स्थान घ) विन्दुः (भिदिर् विदारणे, रु० उ० से उ० १।११ से उ, आदि भ को व) वाज्यः (भट भृतौ, भ्वा० प० से ण्यत्, आदि को व)। और भी आदि अन्त का विपर्यय होता है। स्तोका (श्चुतिर् क्षरणे, भ्वा० प० से श्कोता होकर क, त का आद्यन्त विपर्यय=पहला अगले के स्थान

* 'यामि' निघण्टु में याच्ञा अर्थ में पढ़ा ही है † तृच् 'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोप श्छन्दसि' वार्तिक से ऋच् के ऋ' का लोप, और त्रि को संप्रसारण होकर संप्रसारणाच्च (६।१।१०८) से पूर्वरूप, इस प्रकार दो वर्ण का लोप हुआ॥

अगला पहले के स्थान, होकर स्तोका) रज्जुः (सृज विसर्गे दि० आ० और तु० प० से सर्जु होकर, र स परस्पर स्थान बदलकर रज्जु ) सिकता ( कस विकसने भ्वा० प० से कसिता होकर सि क स्थान बदलकर सिकता ) तर्कु ( कृती छेदने, तु० प० से कर्तु होकर क, त स्थान बदलकर तर्कु ) और भी अन्त का विपर्यय होता है ॥ १ ॥

ओघो मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्विति ।
अथापि वर्णोपजन आस्थद् द्वारो भरूजेति ॥

ओघ, मेघ, नाध, गाध, वधू, मधु ( क्रमशः वह, भ्वा० उ, मिह, भ्वा० प० के अन्त्य ह को घ, नह दि० उ० गाह, भ्वा० आ० वह, भ्वा० उ० के अन्त्य ह को ध, और मद, दि० प० के अन्त्य द को ध हुआ है) और भी, वर्ण का आगम होता है, (जैसे) आस्थत् (असु क्षेपणे, दि० प० से लुङ् में 'अस्यतेस्थुक् (७।४।१७) से थ् का आगम ) द्वारः ( वृङ् संभक्तौ० क्र्या० आ० से घञ्, आदि में द् का आगम ) भरूजा (भ्रस्ज पाके, तु० उ० से, भिदादि अङ् ( ३।३।१०४ ) होकर, भ् से उत्तर अ, और र से उत्तर उ, का आगम ) ।

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्, तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति तद्यथैतदूतिर्मृदुः पृथुः पृषतः कुणारुमिति ॥

( अब सम्प्रसारण के स्थल दिखलाते हैं ) जहां स्वर से अव्यवहित (बिना व्यवधान के पूर्व वा पर) अन्तः स्थ (य, र,

ल, व, में से कोई ) धातु के मध्य में है, वह दो स्वभाव वालों ( धातुओं ) का आश्रय है, यह बतलाते हैं ( जैसे यज भ्वा० उ० धातु के मध्य में अ स्वर से पूर्व ही य अन्तस्थ है, यह यज दो स्वभाव वाला है, कहीं इज रूप में, कहीं यज रूप में होता है, जैसे इष्ट्वा, इष्टः इष्टवान् और यष्टा, यष्टुं यष्टव्यं ) । उनमें जब (एक प्रकृति से शब्द की)सिद्धि न बनसके,तब दूसरी(प्रकृति से बनाने की इच्छा करे । उनमें से भी कई ( धातु ) (संप्रसारण रूप में) थोड़ी सिद्धियों वाले ( थोड़े प्रयोगों वाले ) होते हैं । जैसे यह हैं । ऊति ( अव, भ्वा० प० का क्तिन् में संप्रसारण ) मृदु (म्रद, भ्वा० आ० से) पृथु ( प्रथ, भ्वा० आ० से ) पृषतः ( प्रुष, भ्वा० प० से ) कुणारु ( कण, भ्वा० प० से ) ।

**अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते दमूनाःक्षेत्रसाधा इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिका उष्णं घृतमिति ।**

और भी, (शब्द के निर्वचन में यह बात भी जाननी चाहिये कि ) लौकिक धातुओं से वैदिक कृदन्त प्रयोग कहे गए हैं । (जैसे दम उपशमे ( दि० प० ) धातु के प्रयोग 'दाम्यति अनड्वान्, दमयति अनड्वान्, दान्तोऽनड्वान्' इस प्रकार प्रायः लोक भाषा में प्रसिद्ध हैं,पर इसी का कृदन्तरूप) दमूनाः ( वेद में आता है । देखो आगे ४१४ ) (और साध् (स्वा० प०) लौकिक धातु से) क्षेत्रसाधम् (कृदन्त वैदिक प्रयोग देखो ऋ० ६।२ । ४० । ४) । और भी, वैदिक धातुओं से लौकिक कृदन्त (सिद्ध होते हैं,) जैसे उपदाहे ( भ्वा० प० ) वैदिक है 'प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाअरातयः (य० १।७) तथा घृक्षरणदीप्त्योः 'आत्वा-जिघर्मि (य० ११ । २३) इत्यादि में सिद्ध प्रयोग वाला वैदिक धातु है, लोक में इनके कृदन्तरूप) उष्ण और घृत हैं ।

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु ॥

(अब जाति वा देश के प्रसिद्धि से शब्द प्रसिद्धि का निर्णय दिखलाते हैं) और भी, कई देशों में प्रकृतियें ही कही जाती हैं, कइयों में विकृतियें ही (प्रकृति धातु का आख्यातरूप, विकृति उसी का कृदन्त रूप)।

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः कमनीयभोजा वा कम्बलः कमनीयो भवति। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। एवमेकपदानि निर्ब्रूयात् ॥

गति अर्थ वाला शव (भ्वा०प०) धातु कम्बोज देशों में ही बोला जाता है। कम्बोज=कम्बल के भोगने वाले (कम्बल+भोज, से कम्बोज हुआ है, पृषोदरादि) अथवा चाहने योग्य (रत्नों वा फलों) के भोगने वाले (कम्+भोज = कम्बोज)। कम्बल = चाहने योग्य होता है, (कम् से (उ० १। १०७)। विकार इस (धातु) का आर्यों में बोलते हैं—शव (गुज़र गया = मुर्दा)। दा (अ०प०) काटने अर्थ में पूर्वी लोगों में (बोला जाता है) उदीच्य में दात्रं (इस प्रकार विकार रूप बोला जाता है)। इस प्रकार एक पदों (अनवगत संस्कार पदों) का निर्वचन करे*।

* निर्वचन करने में इन सारी बातों को लक्ष्य में रक्खे, कि आदि लोप, मध्यलोप, अन्त लोप, आदि विकार, मध्य विकार, अन्त विकार, वर्ण लोप, द्विवर्ण लोप, आदि विपर्यय, अन्त विपर्यय, आद्यन्त विपर्यय और वर्णागम होना सम्भव है, द्विस्वभावों में से एक प्रकृति से बनना सम्भव है, जिनमें संप्रसारण नहीं दीखता, उनके भी किसी एक ही रूप में संप्रसारण सम्पन्न है, वैदिक धातुओं से लौकिक नाम, और लौकिक धातुओं से वैदिक नाम की

अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयाद्। दण्ड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीति वा दण्डेन सम्पद्यत इति वा। दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणोऽक्रूरो ददते मणिमित्यभिभाषन्ते, दमनादित्यौपमन्यवो दण्डमस्याकर्षतेति गर्हायाम्। कक्ष्या रज्जुरश्वस्य, कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः किमस्मिन्ख्यानमिति कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षो बाहुमूल सामान्यादश्वस्य ॥ २ ॥

(अब तद्धित और समास के निर्वचन की रीति बतलाते हैं) अब, तद्धित और समास, चाहे एक जोड़ (एक पद) वाले हों, चाहे अनेक जोड़ों वाले हों, उन में से पहले को पहले, और पिछले को पीछे, अलग २ करके निर्वचन करे (अर्थात् पहले तद्धित और समास का निर्वचन करे, फिर उन में के पदों का। उनमें भी पहले पहले पदका फिर दूसरे का इत्यादि)(जैसे) दण्ड्यः पुरुषः। (किसी अपराध में) जो दण्ड के योग्य होता है (वह दण्ड्य है) वा दण्ड (जुर्माने) से युक्त होता है (वह दण्ड्य है) *। (यह तद्धित का निर्वचन हुआ, अब पदार्थ का निर्वचन करते हैं) दण्ड, धारण अर्थ वाले दद (भ्वा० आ०) से है। अक्रूर (राजा स्यमन्तक) मणि को धारण करता है, यह बोलते

सिद्धि सम्भव है, और देशान्तर वा जात्यन्तर में प्रयुक्त धातुओं से अन्य देश वा अन्य जाति में प्रचलित नाम की उत्पत्ति सम्भव है ॥

* अर्हति के अर्थ में 'दण्डादिभ्यो यत् (५।१।६६) से यत् होता है। 'संपद्यते' के अर्थ में पाणिनि से सिद्ध नहीं। किन्तु 'संपद्यते तद्धितार्थ पाणिनि सम्मत है (५।१।९९)।

हैं ( लोक में, इस लिये दद का धारणा अर्थ लोकप्रसिद्ध है । सो दद्यते=धार्यते ऽपराधेषु राजभिरिति दण्डः ) दमन (सिधाने) से ( दण्ड है ) यह औपमन्यव ( आचार्य मानता है ), दाम्यति अनेन=इससे पुरुष सीधा होजाता है । दम ( दि० प० ) से (उ० १.१९.१.३) (लोक में भी सीधा करने योग्य के विषय में कहते हैं) दण्ड इसे दो ( तब सीधा होगा ) इस प्रकार निन्दा में ( प्रयोग करते हैं ) ( तद्धित का दूसरा उदाहरण ) कक्ष्या=घोड़े का तंग है । छाती का सेवन करती है(छाती से संयुक्त होती है)। कक्ष गाह (भ्वा० आ०) से है, क्स प्रत्यय है (गाहते=विलोडयति=बछा इस में दूध को ढूंढता है । गाह+क्स=कक्ष, लोपागम विकार विपर्यय यथा सम्भव ) अथवा ख्या ( अ० प ) से है ( धातु ) अनर्थक द्वित्व हुआ है (ख्यातीति कक्षः) (मानो स्त्री की अवस्था का बोधक है ) अथवा क्या इसमें दर्शनीय है (कुछ नहीं, किन्तु गोपनीय है । किंख्यः होकर कक्षः हुआ) अथवा कष (भ्वा०प०) से है ( कषतीति कक्षः=खाजदेनेवाली ) (इस प्रकार व्युत्पत्ति से स्त्री के कक्ष का निर्वचन करके पुरुष और घोड़े के कक्ष में इस शब्द की प्रवृत्ति बतलाते हैं ) उसकी ( स्त्री कक्षकी ) समानता से मनुष्य का कक्ष (कक्ष कहलाता है) और भुजा के मूल की समानता से घोड़े का ( कक्ष कक्ष है । जैसे मनुष्य की भुजाओं का मूल प्रदेश मनुष्य का कक्ष कहलाता है, ऐसे घोड़े की बाहुओं का मूल घोड़े का कक्ष कहलाता है ) ॥ २ ॥

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषो राजा राजतेःपुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायो ऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं

पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ इत्यपि निगमो भवति । विश्वकद्राकर्षो वीति चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्रातीति गतिकुत्सना।कद्रातीति द्रातिकुत्सना। चकद्राति कद्रातीतिसतोऽनर्थकोऽभ्यासः।तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः। कल्याणवर्णरूपः कल्याणवर्णस्येवास्य रूपं, कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः। एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात् । नैकपदानि निर्ब्रूयात् ॥

( अब समास के उदाहरण दिखलाते हैं ) राजा का पुरुष =राजपुरुष । राजा, राज ( भ्वा० उ० ) से ( राजते=शासन करता है, वा चमकता है ) पुरुष = शरीर में बैठने वाला (पुर्+सद् से पुरुषः) वा शरीर में स्थिति वाला (पुर्+शयः = पुरुषः) वा पूर ( चु० उ० ) से है ( परमात्मा के अर्थ में, जैसे ) पूर्ण है ( सबके ) अन्दर, इस प्रकार अन्तर पुरुष (अन्तर्यामी परमात्मा) को लक्ष्य करके (यह निगम है, कि) 'जिस से कुछ परे नहीं,वरे नहीं, जिस से कुछ सूक्ष्म नहीं, बड़ा नहीं, वृक्ष की न्याईं थमा हुआ(अचल) अपने प्रकाश में स्थित है,उस पुरुष से सब कुछ भरपूर है, यह भी निगम है।(दूसरा उदाहरण) विश्वकद्राकर्षः=शिकारी कुत्ते का खींचने वाला । वि,और चकद्र,कुत्ते की चाल में बोला जाता है ( इस प्रकार कि ) द्राति ( द्रा० अ० प ) तो गति की निन्दा है । अब कद्राति=द्राति की निन्दा है । (कु के स्थान कत् हुआ है ) और चकद्राति यह कद्राति ऐसा होते हुए ( शब्द ) का अनर्थक द्वित्वरूप है ( अर्थात् इच्छा आदि अर्थों में तो द्वित्व होता है, यह बिना किसी अर्थ के स्वार्थ में ही द्वित्व है। कद्राति के अर्थ में ही चकद्राति है ) वह अति निन्दित चाल

जिस में है,वह विश्वकद्र* है (विचकद्र'तीति विश्वकद्रः) ॥ (अत्र)

* विश्वकद्र का अर्थ दुर्गाचार्य ने कुत्तों से जीविका करने वाला लिया है। तदनुसार सारे पाठ का यह अर्थ है । वि और चकद्र कुत्ते के साथ गति में बोला जाता है (इस प्रकार कि) द्राति का अर्थ गति की निन्दा है। कुत्तों के साथ जाना यह निन्दित गति है, और कद्राति, द्राति की भी निन्दा का बोधक है, अर्थात् पहले तो कुत्तों के साथ जाना निन्दित, और फिर कुत्तों के साथ जाकर जीवों को मारना और भी अधिक निन्दित है। सो विश्वकद्र कुत्तों से जीविका करने वाले पुरुष का नाम है। उसको जो किसी अपराध में खींचता है, वह विश्वकद्राकर्ष है। हमने जो ऊपर अर्थ दिया है, उसके हेतु यह हैं। विश्वकद्राकर्षः का पाठान्तर 'विश्वकद्राकर्षः' मिलता है। श्रीसत्यव्रत सामश्रमि सम्पादित निरुक्त के मूल में और उसकी टीका में सर्वत्र विश्वकद्राकर्ष ही मुद्रित हुआ है। (जो एशियाटिक समिति की ओर से छपा है) विश्वकद्रु शिकारी कुत्ते का नाम है, सो विश्वकद्राकर्ष से, विश्वकद्राकर्षः, लेखक प्रमाद से होना साधारण सी बात है। अथवा विश्वकद्रुवत् विश्व कद्र भी नामान्तर सम्भव है । किश्व-श्वगतौ का अर्थ सरसतः कुत्ते की गति प्रतीत होता है,न कि कुत्ते के साथ गति। जब कुत्ते की गति अर्थ लें, तो विश्व कद्र कुत्ते का ही नाम जाठहरता है। अर्थात् शिकारी कुत्ता। इस अर्थ में कद्रा शिकारी कुत्ते की चाल का नाम होगा। अमरकोष २। १०। २२ की व्याख्या में महेश्वर ने शिकारी कुत्ते का देसी नाम कुत्रा लिखा है। इस कुत्रा का बीज कुद्रा होना चाहिये। यही कुद्रा यहां का कद्रा बन जाता है, क्योंकि कत् कु के स्थान हुआ है। किश्व-विश्वकद्र के साथ आकर्ष का प्रयोग भी शिकारी कुत्ते के अर्थ में न्याय्य होसकता है, क्योंकि शिकारी कुत्तों को सिधाने वाले उन को ज़ंजीर बांधे रखते हैं, और उससे खींचकर लेजाते हैं, इसलिये विश्वकद्राकर्ष एक प्रसिद्धार्थक बन जाता है, और कुत्तों से जीविका करने वाले का नाम विश्वकद्र मानकर फिर उसके साथ आकर्ष किसी प्रसिद्ध अर्थ का द्योतक नहीं रहता, कुत्तों के खींचने वाले तो होते हैं, पर कुत्तों से जीविका करने वालों के खींचने वाले कोई नहीं होते ।

इन्द्रलोपी समास दिखलाते हैं ) सुवर्ण के रंगवाला । सुवर्ण की न्याईं इसका रंग है । कल्याण=चाहने योग्य होता है (कम भ्वा० आ० से कल्याण है ) । वर्ण, वृ (स्वा०उ०) से है (वृणोत्याश्रयं= ढांपता है,अपने आधार को) रूप,रुच (भ्वा०आ०) से है (क्योंकि वह चमकता है ) इस प्रकार तद्धित और समासों का निर्वचन करे ।-अकेले पदों का निर्वचन न करे * ।

(विषय प्रयोजन कहा,अब अधिकारी (और अनधिकारी)बतलाते हैं;-

नावैयाकरणाय नानुपसन्नायानिदंविदे वा । नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया । उपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो वाऽलं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥ ३ ॥

न उसके लिये ( निर्वचन करे ) जो वैयाकरण नहीं ( क्योंकि वह जान नहीं सक्ता ) न उसके लिये जो शिष्यवृत्ति से पास नहीं आया, वा जो इसको नहीं समझसक्ता, क्योंकि न समझने वाले की विज्ञान में सदा असूया(क्या यह व्यर्थ काम है,निर्वचन करना न सिर, न पैर, यूंही जोड़ जोड़े हुए हैं इत्यादि असूया ) होती है । किन्तु जो शिष्य वृत्ति से पास आया है उसके लिये निर्वचन करे,अथवा जो जानने(सुने को धारने वाला)और तपस्वी† हो॥३॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि असूयकायानृजवेऽयताय नमा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्

---

यह एक अप्रसिद्ध अर्थ होजाता है, कि किसी अपराध में इसका खींचने वाला । * जब तक प्रकरण से वा उपपद से शब्द के अर्थ का निर्णय न होजाए, तब तक निर्वचन न करे । ऐसा ध्यान न रखकर निर्वचन करेगा, तो अन्यथा ही निर्वचन करेगा ।

† तप से अपने आप ही वेदार्थ प्रकाशित होसकता है, जैसे पूर्व ऋषियों को मन्त्र प्रकाशित हुए ( दुर्गाचार्य ) ।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्नभुनक्ति श्रुतं तत्॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥
इति। निधिः शेवधिरिति॥ ४॥

(इस विषय में प्रचीन प्रमाण भी देते हैं) विद्या ब्राह्मण के पास आई (और कहा) मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूं (ब्राह्मण की निधि विद्या ही है, और यह ऐसी निधि है, जो आप वर्तने से भी बढ़ती है, और देने से भी बढ़ती ही है) (इस तरह रक्षा कर कि) असूया वाले को, कुटिल को, और अजितेन्द्रिय को मेरा उपदेश न दे, ऐसा होने पर मैं (तेरे लिये) शक्तिवाली हूंगी॥ १॥ (शिष्य के लिये कहती है) जो सत्य (वेदरूपवाणी) से कानों को खोलता है दुःख का अभाव करता हुआ और अमृत देता हुआ (कानों में अमृत डालता हुआ) उसको (शिष्य) पिता और माता करके माने, कभी भी (बड़ी विपत्ति में भी) उससे द्रोह न करे॥ २॥ जो पढ़ाए हुए विद्वान् मनवाणी वा कर्म से फिर गुरु का आदर नहीं करते हैं, जैसे वह गुरु के भोज्य (खुशी देने वाले) नहीं बनते, * वैसे उनको वह शास्त्र उपभोग (खुशी) नहीं देता है॥ ३॥ (अब जिस को विद्या देनी चाहिये, उसका लक्षण कहते हैं) जिसको तू हे ब्रह्मन् शुद्ध (सदाचारी) प्रमाद रहित, धारने वाला, ब्रह्मचर्य से युक्त जाने, और जो तेरे लिये कभी द्रोह

* अथवा गुरु से पालनीय नहीं होते, गुरु उन पर कृपादृष्टि नहीं करता। वैसे शास्त्र भी उनपर कृपादृष्टि नहीं करता।

न करे, उस निधि के रक्षक को मेरा उपदेश दे ॥ ४ ॥ निधि कोष = खजाना ॥४॥ ( पहला पाद समाप्त हुआ ) ॥

## अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अब आगे अनुक्रम से कहेंगे, निघण्टु की व्याख्या करेंगे ।

निघण्टु पाठ—गौः । ग्मा । ज्मा । क्ष्मा । क्षा । क्षमा । क्षोणिः । क्षितिः । अवनिः । उर्वी । पृथ्वी । मही । रिपः । अदितिः । इळा । निर्ऋतिः । भूः । भूमिः । पूषा । गातुः । गोत्रेत्येक विंशतिः पृथिवी-नाम धेयानि ॥ १ । १ ॥

गौरिति पृथिव्या नामधेयं,यद्दूरं गता भवति । यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।गातेर्वौकारो नामकरणः। अथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति । गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति पयसः । मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणो मत्सर इति लोभनामाभिमत्त एनेन धनं भवति । पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा । क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वेरो नाम करण उशीरमिति यथा ॥

'गो' यह पृथिवी का नाम है क्योंकि दूर गई हुई है ( दूर भी पाई जाने से गति क्रिया का व्यवहार है) । अथवा(चो वार्थे) जो इस पर प्राणधारी चलते हैं ( गम्लृगतौ भ्वा० प० से कर्ता वा अधिकरण में 'गमेर्डोस् उ०२।६३) अथवा गाङ् गतौ (भ्वा० आ०) से ओप्रत्यय है । और ( यह गोशब्द ) पशु का नाम भी इसमें (कर्ता वा अधिकरण अर्थ में) होता है,इसी से (गम्लृवागाङ् से) । और इस (पशुवाची गो)में तद्धित के प्रयोग से पूर्ण हुए की

* अधिकरण में 'गम्यन्ते=प्राप्यन्ते भोग्यपदार्था अस्यामं' ।

न्याई * भी निगम होते हैं ( जैसे ) गौओं के दूध के साथ सोम को पकाओ ( ऋ० ७।१।३।४ ) यहां दूधका ( वाचक ) है। मत्सर सोम का नाम है, तृप्ति अर्थ वाले मदि (भ्वा० आ०) से ( मन्दन्ते देवता अनेन=इससे देवता तृप्त होते हैं ) ( शब्द के प्रसंग से मत्सर के लोक प्रसिद्ध अर्थ का भी निर्वचन करते हैं ) मत्सर लोभ ( स्वार्थाकाङ्क्षा ) का नाम है, इससे ( पुरुष ) धनकी ओर मत्त होजाता है। पयः पापाने ( भ्वा०प० ) से है वा ओप्यायी वृद्धौ ( भ्वा० आ० ) से है ( पियाजाता है, वा उससे प्राणी वृद्धि पाते हैं ) ( प्रसक्तानुप्रसक्त का निर्वचन करते हैं ) क्षीर=दूध, क्षर (भ्वा० प०) से है ( क्षरति=चूता है थनों से ) अथवा घस से ईर प्रत्यय हैं, उशीर यह जैसे ( हुआ है वश कान्तौ अ० प० से )

अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवीत्यधिषवण चर्मणः। अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वोच्चृत्तं भवतीति वा। अथापि चर्म च श्लेष्मा च। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वेति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। गोभिःसन्नद्धा पतति प्रसूतेतीषुस्तुतौ। ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत्ताद्धितमथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति ॥ ५ ॥

---

*अर्थात् 'गो' से तद्धित य आकर गव्य शब्द बना है और यह गौके दूध दही का नाम है, इसी प्रकार निरा गो शब्द भी गौ के दूध दही आदि के अर्थ में बोला जाता है, मानों कि तद्धित के प्रयोग से पूर्ण हुआ रूप है, मानो गव्य ही है+गो भिः,यहां गौ के,इस अर्थ में है, इसलिये अर्थ गौओं से, नहीं, किन्तु 'गौओं के से है' अर्थात् गौओं के दूध से।

वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौस्ततो वयः प्रपतान्पूरुषादः। वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनाद्‌,वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा। क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः। नियताऽमीमयद्गौः शब्दं करोति मीमयतिः शब्दकर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय। विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव।

'सोम को निचोड़ते हुए गौ के (चर्म)पर बैठते हैं'(ऋ०८।४।३०।४) यहां अधिषवण चर्म (जिस चर्म पर बैठकर सोम निचोड़ते हैं) का वाचक है। अंशु=(अन्दर) व्याप्त होते ही कल्याण कारी होता है (अश्+शं=अंशु) अथवा जीवन के लिये कल्याण कारी होता है। (जीवन को पवित्र और दीर्घ बनाता है) (अन्+शं=अंशु)। चर्म चर (भ्वा० प०) से है (चरितं=पहुंचा हुआ, सारे शरीर पर होता है। चर+मनिन् उ० ४। १४४) अथवा उखाड़ा हुआ होता है (शरीर से)। और चमड़ा और चर्बी भी(गो का अर्थ है) 'गौओं के (चमड़े और चर्बी से)तय्यार हुआ है, दृढ़ हो (ऋ० ४।७।३९।१ यजु०२९।५२ अथर्व० ६।१२५) यह रथ की स्तुति में है (रथ चमड़े से मढ़ा हुआ होता है, और चर्बी से उसके अरे आदि रौगन किये जाते हैं)। और नाड़ा और चर्बी भी (गो शब्द का अर्थ है) 'गौओं के (नाड़े और चर्बी) से तय्यार हुआ (बाण, चिल्ले से) प्रेरा हुआ उड़ जाता है (ऋ० ५।१।२२।१ यजु० २९।४७) यह बाण की स्तुति में है (वह नाड़े से लपेटा हुआ और चर्बी से रौगन होता है) ज्या (चिल्ला,गोशा,धनुष की रस्सी)भी गौ कही जाती है। यदि गौ की हो, तो तद्धिती (नाम जानना) यदि गौ

की न हो, तो भेजती है बाणों को (यह निर्वचन होगा। अलगर्-) धनुष धनुष में बन्धी हुई ज्या (भुजबल से खींची हुई) शब्द करती है, (तब) उस से बाण उड़कर जाते हैं। पुरुषों को खाने के लिये (ऋ० ७। ७। १८।२) वृक्षे वृक्षे=धनुष धनुष में *। वृक्ष काटने से है (इन्धन आदि के लिये काटा जाता है। ओव्रश्चू छेदने (तु० प०) से क्स, उ० ३।६६) अथवा भूमि को घेर कर स्थित होता है (वृ+क्षा=वृक्षः)। क्षा, निवास अर्थ वाले क्षि (तु०प०) से है। बन्धी हुई ज्या 'अमीमयत्=शब्द करती है। मीम(चु०उ०)शब्द अर्थ वाला है। उसमे बाण उड़कर जाते हैं पुरुषों को खाने के लिये। 'वि' यह पक्षी का नाम है गति अर्थ वाले वी (अ० प०) से। और यहां यह बाण का नाम है इसी (धातु) से।

आदित्योऽपि गौरुच्यते। उतादः परुषे गवि। पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः। अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यमादित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते अत्राह

---

*जैसे तद्धिती गव्य के स्थान गो भी पूरा समझा जाता है, वैसे तद्धिती वार्क्ष=वृक्ष के (वृक्ष से बने द्रव्य) के स्थान वृक्ष भी पूरा माना गया है। सो यह वैदिक शब्दों में बहुधा व्यवहार है, कि एक वस्तु जिस मूल से आई है वा बनी है, उस मूल का नाम ही उस आई वा बनी वस्तु का नाम भी होजाता है(यहां धनुष को वृक्ष,ज्या को गौ, और उस के शब्द को गौ का शब्द, बाण को पक्षी, और उनकी वेगगति को उड़जाना, मान कर रूपक अलंकार से भी मन्त्रार्थ बन जाता है)।

**गोरमन्वतेति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते ॥ ६ ॥**

( गव्य अर्थ में गो शब्द की प्रवृत्ति कहकर, अब स्वतन्त्र तथा अन्यअर्थों में प्रवृत्ति दिखलाते हैं ) । सूर्य भी गो कहा जाता है, 'उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम् । न्यैरयद् रथीतमः ( ऋ० ४।८।२२।३ ) और वह सबसे बड़ा रथी ( ब्रह्माण्ड का ) प्रेरक चमकते हुए (वा पर्वों वाले) सूर्यमें (स्थित हुआ) इस सुनहरी चक्र (सूर्यमण्डल)को चलारहा है॥ परुषे=जोड़ों वाले (जोड़,दिन रात आदि ) चमकते हुए में, यह औपमन्यव ( मानता है ) । किञ्च, इस ( सूर्य ) की एक रश्मि * चन्द्र के लिये चमकती है (=चन्द्र को चमकता हुआ बनाती है ),वह इस ( मन्त्रवेत्ता ) को जानना चाहिये, कि सूर्य से इसका ( चन्द्र का ) प्रकाश होता है 'अच्छा सुख देने वाली सूर्य की रश्मि है, चन्द्र रश्मि का धारने वाला है' ( यजु० १८।४० ) यह भी † निगम होता है ( और भी होते हैं ) । वह ( रश्मि ) भी गौ कही जाती है । "यहीं ( चन्द्र मण्डल में )उन्होंने (सूर्य की) रश्मि को अनुज्ञादी" इस(मन्त्र)की आगे (४।२५ में) व्याख्या करेंगे । सारी रश्मियें भी गौएं कहलाती हैं ॥६॥

---

* एक रश्मि=रश्मिविशेष, सूर्य की रश्मियें चन्द्र में पहुंच कर आल्हादकारी हो जातीहैं,अतएव सूर्यसे सीधी आई रश्मियों से चन्द्र द्वारा होकर आई रश्मियों में यह विशेषता दिखलानेके लिये वेद में उन रश्मियों का नाम सुपर्ण कहा है, वही विशेषता यहां एक= एक प्रकार की, शब्द से कही है । वेद में सुपर्णः एक वचन रश्मित्व सामान्य के अभिप्राय से;है संख्या विवक्षित नहीं † निगम 'अत्राह गोरमन्वत' आगे दिखलाना है,किन्तु सूर्य की चन्द्र पर पड़ी रश्मि की विशेषता बोधन करने के लिये जो निगम दिया है उसी

ताव वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय। यत्र गावो भूरिशृंगा बहुशृंगा, भूरीति बहुनो नामधेयम्प्रभवतीति सतः। शृंगं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमितिवा। अयासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं पराध्यर्स्थमवभाति भूरि। पादः पद्यतेस्तन्निधानात्पदं पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि ॥

(हे दम्पती) तुम दोनों के जाने के लिये हम वह घर चाहते हैं, जहां बहुत चमकने वाली रश्मियें फिरती रहें, वहां ही महागति वाले विष्णु का वह सबसे ऊंचापद नीचे चमकता है पूरा (१।१५४।६*) तुम दोनों के जाने के लिये हम वह घर चाहते हैं। जहां रश्मियें बहुत चमक वाली। भूरि, यह बहुत का नाम है, पर्याप्त होता है, इस प्रकार कर्तृकारक से (भू+क्रिन्, उ० ४।६५)। शृंग, श्रिञ् सेवायाम, भ्वा० उ० से है, (श्रयतिशिरः=सिरे के सहारे होता है) अथवा शृ हिंसायां, क्र्या० प० से है (शृणातयनेन=इससे (पशु अपने शत्रु को) मारता है) अथवा शम हिंसायां

में 'गन्धर्व' चन्द्रमा का नाम है, गां रश्मि धरतीति गन्धर्वः। रश्मि का धारने वाला इस निर्वचन से यह भी चन्द्र पर पड़ने वाली सूर्य रश्मि के अर्थ में गो शब्द का निगम बनजाता है।

* सब से ऊंचापद सूर्य मण्डल (दुर्गाचार्य)। यहां ही (ऐसे घरों में ही) महा गति=परम आश्रय, विष्णु का परमपद=शुद्धस्वरूप प्रकाशता है पूरा २ (जहां घरों में सूर्य का प्रकाश खुला आता है, वहां ही हृदयों में परमात्मा प्रकाशता है, इत्यादि ध्वन्यते)

ऋ॰या॰प॰ मे है। अथवा रक्षा के लिये निकला हुआ है(शरण+गम्) अथवा सिर से निकला हुआ है ( शिर्+गम् ) अयासः=फिरने वाली। वहां वह, उरुगाय=महा गति वाले, विष्णु का, परम पद=सबसे ऊंचा स्थान, नीचे चमकता है पूरा २। पाद, पद्-गतौ, दि॰ आ॰ से है ( पद्यते अनेन=इसमे चलता है )। उसके ( पैर के ) बनाए रखने से (खोज का नाम) पद है। पशु के (चार) पाओं के स्वभाव वाला (सिक्के वा तोले आदि का चौथा)हिस्मारूप पाद होता है। हिस्मारूप पाद की समानता से दूसरे पद (ग्रन्थ वा क्षेत्र आदि के पद) होते हैं।

एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत्समानकर्म्माणि समाननिर्वचनानि,नानाकर्म्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि । इतीमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि । तत्र निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा,सा पृथिव्या सन्दिह्यते तयोर्विभागस्तस्या एषा भवति ॥७॥

इस प्रकार ( गो शब्द की न्याईं ) और द्रव्यों के भी (नामों में) सन्देह होते हैं, यदि वह समान कर्मों वाले हों, तो समान निर्वचन वाले,नाना कर्मों वाले हों,तो नाना निर्वचनों वाले हुए, अर्थानुसार निर्वचन के योग्य होते हैं *। सो यह इक्कीस पृथिवी के नाम अनुक्रम से पढ़े हैं, (द्रव्य सब तीनों लोकों के आश्रित हैं, लोकों में पृथिवी प्रथमा है, इसलिये पहले पृथिवी के नाम कहे हैं)। उन में निर्ऋति (नाम है) निरमण (निरमन्ते-

* जिस अर्थ के वाचक हों, उस अर्थ के अनुसारी धातु आदि से निर्वचन करना चाहिये ॥

ऽस्यां भूतानि=इस पर प्राणधारी पूरी तरह आनन्द भोग रहे हैं। (नि+रम, भ्वा० आ०) से। दूसरी (निर्ऋति जो) कष्टापत्ति (का नाम) है (वह) ऋ० (तु० प०) से है। वह 'कष्टापत्ति-) पृथिवी (अर्थ) के साथ संन्दिग्ध होती है। (अर्थ में) इन दोनों का भेद है (एक रमण कराने वाली, दूसरी कष्ट में डालने वाली) (सन्दिग्ध निर्ऋति) की यह ऋचा है ॥ ७ ॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।

जो (मेघ) इस (वृष्टि) को बनाता है (या बिखेरता है) वह इस को (वृष्टि तत्त्व को) नहीं जानता है। जो इस (वृष्टि) को प्रत्यक्ष देखता है, वह उससे अलग ही (इसके अन्दर) है*। वह (वृष्टि बनाने वाला मेघ) माता की योनि में लपेटा हुआ, अनेक प्रकार से बढ़ता हुआ भूमि पर प्रवेश करता है † (ऋ० १।१६४।३२)

बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजकाः। वर्षकर्मेति नैरुक्ताः। य ईं चकारेति करोतिकिरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। न सो अस्य वेद मध्यमः। स एवास्य वेद मध्यमो यो ददर्शादित्यो पहितं। स मातुर्योनौ। मातान्तरिक्षं

* मेघ वृष्टि बनाता हुआ जगत् की सेवा में लगा है, पर वह यह काम अपने ज्ञान से नहीं कर रहा, किन्तु कला की न्याईं एक विज्ञानी (इन्द्र परमात्मा) के नियम में कर रहा है, जो इससे अलग इसके अन्दर स्थित है।

† बालक माता के गर्भाशय में जेर से लपेटा हुआ अन्दर ही अनेक रूपों में बढ़ता हुआ समय पर (भूमि) पर प्रवेश करता है, इसी तरह मेघ भाप के रूप में अन्तरिक्ष के बड़े हिस्से में वायु से लपेटा हुआ अनेक अवस्थाओं में बदलता हुआ जल बनकर भूमि पर प्रवेश करता है।

निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानि। योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुनायमपीतरो योनिरेतस्मादेव परियुतो भवति। बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा ॥

बहुधा उत्पन्न होता हुआ, वह दुःख में पड़ता है *, यह परिव्राजक (संन्यासी कहते हैं)। वृष्टि का कर्म (यह कहा) है,यह नैरुक्त (कहते हैं)। जो इस को, चकार=करता है, वा बिखेरता है, डुकृञ् करणे (त० उ०) और कॄ विक्षेपे (तु०प०) यह दोनों (धातु) यहां वृष्टि के कर्म के साथ सन्दिग्ध हैं (वृष्टि के अर्थ में दोनों का प्रयोग बन सक्ता है, इसलिये नहीं कह सक्ते, 'चकार' यहां डुकृञ् का है, वा कॄ का है)। वह इस को नहीं जानता है,मध्यम † (मेघ ),(कि किस तरह जल मेरे अन्दर बन रहा है)। वही मध्यम (मध्य स्थानी, मेघ का अधिष्ठाता इन्द्र) इस को जानता है, जो देखता है सूर्य (की किरणों) से ढके हुए को। वह माता की योनि में। माता अन्तरिक्ष है, इस में प्राणधारी बनते हैं (अवकाश में ही सब की उत्पत्ति होती है मा, कु० आ० से) योनि भी यहां अन्तरिक्ष अर्थात् (आकाश का) बहुत बड़ा प्रदेश जो वायु से लपेटा हुआ है (यु,अ०प०से) यह दूसरी योनि (स्त्री योनि) भी इसी से है, लपेटा हुआ होता

---

* परिव्राजक इसका यह अर्थ लेते हैं, कि जो [इस गर्भ] को करता है, वह इसके तत्त्व को नहीं जानता है। (वह केवल कामी वा पुत्रार्थी हुआ करता है) जो इसको देखता है, वही इस से अलग होता है। वह (गर्भ) माता के गर्भाशय में अन्दर (जेर से) लपेटा हुआ अनेक प्रकार से उत्पन्न होता हुआ दुःख में पड़ता है (अर्थात् अज्ञानी बार २ जन्म मरण में पड़ा दुःख भोगता है, इस लिये आत्मा अवश्य ज्ञातव्य है)।

† मध्यम=मध्य लोक में=अन्तरिक्ष में होने वाला, मेघ ॥

है (नसों से और मांस से)। अनेक प्रकार से बढ़ता हुआ वर्षा के कर्म से भूमि पर आपड़ता है *।

शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानानीति तस्मै देवतोभयलिंगा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ, विविदिषाणि त्वेति। साऽस्मा एतामृचमादिदेशैषा मद्देवतेति ॥ ८ ॥

शाकपूणि † ने संकल्प किया, कि मैं सारे (मन्त्र-) देवताओं को जान जाऊं, (उसके सामने) उसके लिये दो चिन्हों वाला देवता ‡ प्रकट हुआ। उसको उसने नहीं जाना, तब उसको पूछा, 'मैं तुझे जानना चाहता हूं' उसने उसको यह ऋचा बतलाई, यह मुझ देवता की (ऋचा) है § ॥८॥

* इस प्रकार इस मन्त्र में निर्ऋति शब्द से नैरुक्तों के पक्ष में भूमि कही है, परिव्राजकों के पक्ष में कष्ट, दुःख। मन्त्रों में जो शब्द हैं, उनके अर्थ खुले हैं, इस लिये दोनों बनसक्ते हैं। मन्त्रों में अर्थ की हद नहीं बांधी गई है, यह बड़े अर्थों वाले हैं, जिनका जानना आसान नहीं। जैसे असवार की योग्यता से घोड़ा अच्छा और बहुत ही अच्छा लेजाता है, इसी प्रकार मन्त्र वक्ता की योग्यता से उत्तम, और उत्तमतर अर्थों को देते हैं। इस लिये इनमें जितने अर्थ बनसक्ते हैं आधि दैविक, आध्यात्मिक, और आधि याज्ञिक, वह सब ही कहने चाहियें, यह कोई दोष नहीं। यहां शास्त्र में उदाहरणतया कहीं २ दिखलाए हैं (दुर्गाचार्य)।

† वस्तुतः देवता तत्त्व बड़ा दुर्ज्ञेय है, यह संदेह के प्रसंग से दिखलाते हैं, कि शाकपूणि जैसे निरुक्ताचार्य को भी देवता के जानने में व्यामोह हुआ है ‡ पुंल्लिङ्ग स्त्री लिङ्ग, अथवा मध्यम और उत्तम के चिन्हों वाला § इस आख्यायिका का अभिप्राय यह है, कि मन्त्रमें जो देवता प्रतिपादित हैं, उन सबका पूरा ज्ञान प्राप्त करने में आचार्यों का भी अभिमान टूट जाता है।

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता । सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति मायुमिवादित्यमिति वा । वागेषा माध्यमिका ध्वंसने मेघेऽधिश्रता। सा चित्तिभिः कर्मभिर्नीचैर्निकरोति मर्त्यं । विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम् । वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः । वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते॥९॥

यह वह ( मेघ ) शोर कररहा है, जिस से वाणी चारों ओर से लपेटी हुई, मेघ के आश्रित हुई, शब्द करती है * वह विजली हुई (अपने दृष्टिरूप) कर्मों से मनुष्य को झुकाती है (कृतज्ञ वनाती है) और फिर रूप को छिपालेती है † (ऋ० १।१६४।२९)यह वह शब्द कर रहा है,जिस से चारों ओर प्रवृत्त हुई वाणी । मिमाति

* यह वाणी माध्यमिका अर्थात् अन्तरिक्ष में होने वाली है, मेघ के होने पर जिस का प्रादुर्भाव होता है † रूप को छिपालेती है अर्थात् पृथिवी पर आए अपने रूप को, जल को, पलटालेती है,फिर आकाश में लेजाती है । यहां अयं, सः,येन से पुंल्लिग देवता कहा है, फिर अभीहता आदि विशेषणों और सा शब्द से स्त्री लिंग कहा है, सो इसका कौन मुख्य देवता है, यह व्यामोह होता है । दूसरा वर्षा करना, और पृथिवी से पानी को खींचना यह दो कर्म कहे हैं, इन में से वर्षा मध्यस्थानी देवता (इन्द्र, पर्जन्य आदि) का कर्म है । दूसरा पानी को ऊपर खींचना उत्तमस्थानी सूर्य का कर्म है । यहां दोनों एक में मिलाए हैं, यह कैसे? यह दूसरा व्यामोह है । समाधान यह है, कि विद्युत् और सूर्य एक ही तत्त्व है, वही विद्युत् के रूप में वर्षा कर रहा है, वही सूर्य के रूप से फिर जल को ऊपर खींच रहा है ।

मायुं=शब्द करती है, अथवा मायु=सूर्य, सूर्य की न्याई (अपने आपको) बनाती है ( चमकती हुई )। यह वाणी है, जो मध्यम की ( मेघ की ) है। ध्वसनौ (ध्वसनि का सप्तम्येकवचन )=मेघ पर, स्थित। वह, चित्तिभिः=कर्मों से । नीचा करती है मनुष्य को। रूप को समाप्त करती है। वत्रि यह रूप का नाम है,ढांपता है (अपने आशय को), इस प्रकार कर्तृकारक से (वृञ् आच्छादने, स्वा० उ )। दृष्टि से पृथिवी को ढांपकर उस (वर्षा) को (सूर्य के रूप में) फिर खींच लेती है ॥९॥ इति द्वितीयः पादः ॥

निघण्टु पाठ–हेम । चन्द्रम । रुक्मम् । अयः । हिरण्यम् । पेशः । कृशनम् । लोहः । कनकम् । काञ्चनम् । भर्म । अमृतम् । मरुत् । दत्रम् । जातरूपमिति पञ्चदश हिरण्य नामानि । १।२

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश । हिरण्यं कस्माद् ध्रियते आयम्यमानमिति वा ह्रियत जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः ॥

अगले पन्द्रह सुवर्ण के नाम हैं। हिरण्य किस से ? लंबा किया हुआ खींचा जाता है ( शिल्पिजन इसके पतले लंबे तार वा पत्रे खींचते हैं )। अथवा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य की ओर खींचाजाता है(क्योंकि इससे व्यवहार होता है,वा एकसे दूसरे के पास जाता है ) हितकारी और आनन्द सुगाने वाला होता है। अथवा हृदय का आनन्द देने वाला होता है। अथवा इच्छा अर्थ वाले हर्य (भ्वा० प०) से है ( सबसे इच्छा किया जाता है )

नि० अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरमितिषोळ शान्तरिक्ष नामानि । १ । ३ ।

अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश । अन्तरिक्षं कस्मा-

दन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते । समुद्रःकस्मात्समुद्द्रवन्त्यस्मादापः,समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि,समुदको भवति, समुनत्तीति वा । तयोर्विभागः । तत्रेतिहासमाचक्षते-देवापिश्चार्ष्टिषेणःशन्तनुश्च कौरव्यौभ्रातरौ बभुवतुः । स शन्तनुःकनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रतिपेदे ।ततःशन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष।तमूचुर्ब्राह्मणा अधर्मस्त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं,तस्मात्ते देवो न वर्षतीति । स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति । तस्यैतद्वर्षकामसूक्तम् । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

अगले सोलह अन्तरिक्ष के नाम हैं । अन्तरिक्ष किससे?(इस से कि ) ( द्यौके ) मध्य में पृथिवी तक होता है (अन्तरा+क्षा= अन्तरिक्ष) अथवा इन दोनों ( द्यौपृथिवी ) के मध्य में (क्षियति= वसता है । अन्तरा+क्षि) अथवा शरीरों के अन्दर न नाश होने वाला है(पृथिवी आदि नाश होते हैं,यह नाश नहीं होता)(अन्तर्+ न+क्षि) इन ( नामों ) में ( जो ) समुद्र, (नाम है) यह पृथिवी के समुद्र के साथ संदेह वाला होता है । समुद्र क्यों?(इस लिये), जल इससे ऊपर उड़ते हैं (भाप बनकर), अथवा ( नदियों के ) जल इसकी ओर दौड़ते हैं ( सम्+उद्+द्रु, भ्वा० प ) अथवा इस में ( जलचर ) जीव प्रसन्न होते हैं ( जल के अथाह और

अपार होने से ) (सम्+मुद् हर्षे भ्वा० आ) अथवा ( सं=संहृतं उदक मास्मिन् ) जल इस में इकट्ठा है ( सम्+उदक ) अथवा गीला करता है ( इससे उड़ी भाप से सारी पृथिवी गीली होती है, सम्+उन्दी क्लेदने, रु०प० ) । इन दोनों का विभाग ( जिस उदाहरण में ) है, उस में ( ऐतिहासिक ) इतिहास कहते हैं। ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि और शन्तनु दोनों कुरुवंशी भाई हुए हैं। शन्तनु जो दोनों में छोटा था, उसने (अपना) अभिषेक किया (राजा बना), दूसरा देवापि तप में लग गया *। उससे शन्तनु के राज्य में बारहवर्ष मेघ न बरसा। उसे ब्राह्मणों ने कहा, तूने अधर्म किया है, कि बड़े भाई को उलांघकर अभिषेक किया है, इससे तेरे (राज्य में) देव नहीं बरसता है। तब शन्तनु ने देवापि को राज्य देनाचाहा। देवापि ने उसे कहा 'तेरा पुरोहित हूंगा, और तुझे यज्ञ कराउंगा' ( मैं अब राजा नहीं हूंगा, राजा आप ही रहें )। उस ( देवापि ) का यह वर्षकामसूक्त (वर्षा की कामना वाले का सूक्त ) है, उस ( सूक्त ) की यह ( ऋचा ) है (दोनों समुद्रों का विभाग दिखलानेवाली) ॥१०॥

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥ आर्ष्टिषेण ऋष्टिषेणस्य पुत्र इषितसेनस्येति वा। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा। होत्रमृषिर्निषदिन्नृषिर्दर्शनात्स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवः। 'तद्येदनांस्तपस्यमानान्ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत्तद्-

* तपसे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुआ विश्वामित्र की न्याईं (दुर्गाचार्य)

षयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति' विज्ञायते। देवापिर्देवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च। देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिं। चिकित्वांश्चेतनवान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्'। उत्तर उद्धततरो भवत्यधरोऽधोरः। अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ११ ॥

ऋष्टिषेण का पुत्र देवापि ऋषि देवताओं की कल्यणी मति ( यज्ञ में पुकारे हुए अवश्य वृष्टिलाएंगे इसमति ) को जानता हुआ होता के कर्म में बैठा। वह ऊपर के समुद्र ( अन्तरिक्ष ) से वर्षा के दिव्य जल निचले(=पृथिवी के) समुद्र की ओर छुड़ा लाया(ऋ० १०।९८।५)। आर्ष्टिषेणः=ऋष्टिषेणस्य, तस्य पुत्रः=बर्छियों वाली सेनावाले का पुत्र,अथवा इषितसेन(आगेबढ़ी हुई सेना वाले ) का। सेना=जो मालिक ( सेना पति ) वाली हो ( स+इन। इन=ईश्वर=मालिक ) अथवा जो समान गति वाली हो। पुत्र=बहुत बचाता है ( पुरु+त्र ) अथवा देने से ( पितरों को देता है, पृ. क्या० प० से )। अथवा पुत्=नरक, उससे बचाता है ( पुत्+त्र )। होता के कर्म में ऋषि बैठा। ऋषि, दर्शन से है ( ऋषति पश्यति=देखता है सूक्ष्म भी विषयों को ) उसने स्तोमों ( मन्त्र समूहों ) को देखा, यह औपमन्यव ( मानता है )। 'सो जो तप करते हुए इनको स्वयम्भु(अकृतक, अनुत्पन्न, अनादि ) वेद सीधा प्राप्त हुआ, वह ऋषि हुए, यह ऋषियों का ऋषिपन है यह ( ब्राह्मण में ) जाना जाता है'। देवापि=देवताओं की प्राप्ति से है। स्तुति से, वा ( हवि ) देने से ( देवताओं को प्राप्त होता है )। देवसुमति=देवताओं की शुभ

मति को। चिकित्वान्=जानता हुआ। 'वह उपरले से निचले समुद्र को'। उत्तरः=अधिक ऊंचा होता है, अधर=नीचे गया हुआ। अधः=नहीं दौड़ता है ( न+धाव् ) ऊपर की गति का निषेध है। इससे अगली ( ऋचा ) ( इस विषय को ) अधिक खोलकर कहने के लिये है ॥ ११ ॥

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्न दीधेत। देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्। शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा। पुरोहितः पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायद्। देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति।वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं।रराणो रातिरभ्यस्तोबृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्सोऽस्मैवाचमयच्छद्बृहदुपव्याख्यातम्

जब देवापि शन्तनु का पुरोहित होकर होता के कर्म के लिये वरा गया, तो उसने ( शन्तनु पर ) कृपा करते हुए ( वृष्टि हो ऐसे ) चिन्तन किया। देवताओं से सुने हुए, वर्षा मांगते हुए ( इस देवापि को वर्षा ) देते हुए बृहस्पति ने, इसको वाणी दी ( ऋ० १० । ९८ । ७ )। शन्तनुः=( किसी रोग पीडित को देखकर कहता था ) हे शरीर तुझे कल्याण हो। अथवा इसको शरीर से कल्याण हो (शं+तनु)। पुरोहित=आगे इसको स्थापन करते हैं(शान्तिक पौष्टिक कर्मों में इसके कहने पर चलते हैं पुरः+धा+क्त)। होता के कर्म के लिये वरा हुआ कृपा करता हुआ चिन्तन करता भया। देवश्रुतं=देवता इसको सुनते हैं(इसकी प्रार्थना मानी जाती है)। वृष्टि वनि = वृष्टि मांगने वाले को। रराणः =रा दाने ( अ० प० ) अभ्यस्त ( द्वित्व हुआ ) है।

बृहस्पति ( इस कर्म में ) ब्रह्मा था। उसने इसको वाणी दी *
वृहद व्याख्या किया गया है (१।७में) † १२ इति तृतीयःपादः

निघण्टु—स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टप्। नभ इति षट्
साधारणानि ॥ १।४ ॥

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च।
यानि त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्टात्तानि व्याख्यास्यामः।
आदित्यः कस्मादादत्ते रसानादत्ते भासं ज्योतिषा-
मादीप्तो भासेति वादितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयो-
गं त्वस्यैतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक् सूर्य्यमादितेयम्।
अदितेःपुत्रम्। एवमन्यासामपि देवतानामादित्यप्रवा
दाःस्तुतयो भवन्ति। तद्यथैतन्मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो

---

* देवापि ने जब शन्तनु के यज्ञ किया, तो इस में स्वयं बृहस्पति ब्रह्मा बना, जिसने देवापि को वह वाणी दी, जिससे देवताओं की स्तुति करके उसने वर्षा पाई। मन्त्र के निदान के द्वारा यह धर्म यहां दिखलाया है, कि बड़े के होते हुए छोटे का राज्य पाना धर्म का उल्लंघन है। और धर्म के उल्लंघन में मेघ नहीं बरसता है (दुर्गाचार्य)

† ( इतिहास पक्ष में अर्थ कहा ) निरुक्त पक्ष में—ऋष्टिषेण=मध्यम (इन्द्र) ( जिसकी बर्छियों वाली सेना गरुत् हैं ) है, उसका पुत्र यह पृथिवी का अग्नि. यही देवापि है ( क्योंकि सब देवताओं में इसकी पहुंचहै)शन्तनु=यज्ञ करने वाला कोई भी यजमान,क्योंकि वह लोगों के शरीर का कल्याण चाहता है )। बृहस्पति=वाणी का पति मध्यम (मेघ)। वाणी जो इसको दी, वह कड़क है (दुर्गाचार्य) ( ऐतिहासिक पक्ष में यह दोष स्पष्ट आता है, कि देवापि ही इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि,अपना निर्देश प्रथम पुरुष से,और भूतकाल से कैसे करता है, इसका यथा कथंचित् यह समाधान दुर्गाचार्य ने लिखा है, कि जैसे इस कल्प में देवापि और शन्तनु हुए, वैसे इस से पूर्व कल्पमें भीहुए,उसके अभिप्राय से इस देवापि का यह वचनहै)

दक्षस्य भगस्यांशस्येति । अथापि मित्रावरुणयोः । आदित्या दानुनस्पती । दानपती । अथापि मित्रस्यैकस्य । प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन । इत्यपि निगमो भवति । अथापि वरुणस्यैकस्य । अथा वयमादित्य व्रते तव। व्रतमिति कर्म्मनाम वृणोतीति सतः । इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम् ॥ १४ ॥

(अन्तरिक्ष से) अगले छः द्यौ और सूर्य के साझे हैं । जो इस ( सूर्य ) के प्रधानता से हैं, वह आगे ( दैवत प्रकरण में, १२ वें में ) व्याख्या करेंगे ( यह नैघण्टुक प्रकरण में लोकों के प्रसंग में कहे हैं ) । आदित्य किससे ? ( इस से कि ) रसों को ( रश्मियों से ) खींचता है, अथवा नक्षत्रों के प्रकाश को ग्रहण करलेता है ( सूर्य के उदय होने पर नक्षत्रों की प्रभा का नाश होजाता है ) ( आ+दा० जु० उ० से ) । अथवा प्रकाश से सब ओर प्रदीप्त होता है ( आ+दीप दीपने, दि० आ० से ) अथवा आदिति का पुत्र है । ऋग्वेद के पाठ में इस का यह ( अदितिपुत्रत्वेन नाम ) थोड़े प्रयोग वाला है, वह भी सूक्त द्वारा स्तुति की है, (उसके उद्देश से हवि का विधान नहीं ) ( जैसा कि ) 'यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिविदेवाः सूर्य मादितेयम्=जब यज्ञिय देवताओं ने आदिति के पुत्र सूर्य को द्यौ में स्थापन किया ( ऋ० ८ । ४ । १२ । १ ) । आदितेयं= अदिति के पुत्र को । इस प्रकार ( सूर्यवत् अदिति के पुत्र होने से ) दूसरे देवताओं की भी आदित्य नाम से स्तुतियें होती हैं ।

जैसा कि' ( ऋ० २।७।६।१ में ) मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग और अंश की ( आदित्य नाम से स्तुति है। देखो १।२।३६) और मित्र वरुण की भी ( आदित्य नाम से स्तुतियें होती हैं ) ' अदिति के दोनों पुत्र (मित्र वरुण) दान के मालिक ( प्रभूत देनेवाले ) ( ऋ० २।८।८।१ )। और अकेले मित्र की भी (आदित्य नाम से स्तुति) है। 'हे मित्र वह मनुष्य प्रभूत अन्न वाला हो, हे अदिति के पुत्र! जो कर्म ( यज्ञ ) द्वारा तुझे देता है, (ऋ० ३।४।५।२) यह भी निगम होता है। और अकेले वरुण की भी ( आदित्य नाम से स्तुति होती है ) 'और हम हे अदिति के पुत्र! तेरे कर्म में ( सेवा में) निष्पाप हो कर अदिति के लिये हों, । ऋ० १।२।१९।५ )। व्रत, यह कर्म का नाम है, ढांपता है ( अन्तः करण को अपने चित्र से ) ऐसा होने से। यह जो दूसरा व्रत ( झूठ के त्याग आदि का, इदमह मनृतात् सत्यमुपैमि इत्यादि ) निवृत्ति अर्थ वाला है, वह भी इसी से, ( वृ, से ) है। हटाता है (झूठबोलने आदि से) ऐसा होने से। अन्न भी व्रत कहा जाता है, क्योंकि ( रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी आदि बनकर ) शरीर को ढांपता है ॥ १३ ॥

स्वरादित्यो भवति सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्,स्वृतो भासं ज्योतिषां,स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता । पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः,संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां,संस्पृष्टो भासेति वा।अथ द्यौःसंस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च । नाक आदित्यो भवति—नेता रसानां नेता भासां,ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौःकमिति सुख-

नाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत ॥ न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम् । न वा अमुं लोकं गतवते किं चनासुखं, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति ॥

( आदित्य शब्द के प्रसक्तानुप्रसक्त कहा, अब प्रकृत साधारण नाम निर्वचन करते हैं ) । स्वः, सूर्य होता है, अच्छी गति वाला ( सु+ऋ गतौ ( भ्वा० प० से ) अथवा अच्छा धकेलने वाला ( अन्धकार का, सु,+ईर् अ० आ०, चु० उ० से ) भली भांति पहुंचा हुआ होता है रसों को । भली भांति पहुंचा हुआ होता है नक्षत्रों के प्रकाश को, अथवा प्रकाश से घिरा हुआ होता है (सु+ऋ) । इससे द्यौ व्याख्या किया गया है (द्यौ अर्थ में भी यथा सम्भव यही निर्वचन करलेने चाहिये । जैसा कि पूर्व कहा है 'तानि चेव समान-कर्माणि समान-निर्वचनानि' (२।७) ) पृश्नि सूर्य है, व्याप लेता है इसको (चमकीला) वर्ण, यह नैरुक्त मानते हैं ( प्र+अश्, स्वा० आ० से ) । अथवा रसों को सदा स्पर्श करता रहता है, अथवा नक्षत्रों के प्रकाश को सदा स्पर्श करता रहता है (मांद करता रहता है) । अथवा प्रकाश से चारों ओर से स्पर्श किया हुआ होता है । और द्यौ ( इस लिये पृश्नि है, कि ) नक्षत्रों से वा पुण्यात्माओं से स्पर्श की हुई है । नाक सूर्य है । रसों का (आकाश में) लेजाने वाला। प्रकाशों का सर्वत्र लेजाने वाला, वा नक्षत्रों का चलाने वाला होता है (णीञ् प्रापणे, भ्वा० उ०)और द्यौ(नाक इसलिये कही जाती है, कि) कं, सुख का नाम है । वह निषेध करके फिर(उस निषेध का) निषेध किया है ( न कं=अकं=असुखं, नअकं यत्र, स नाकः ) ( ब्राह्मण भी इस अर्थ में प्रमाण है ) उस लोक ( द्यौ ) को प्राप्त हुए के लिये कोई असुख नहीं होता है' । नहीं उस लोक

को प्राप्त हुए को कुछ असुख(दुःख वा सुखाभाव), क्योंकि पुण्यात्मा ही वहां जाते हैं (और पुण्यात्माओं को दुःख हो नहीं सकता) ॥

गौरादित्यो भवति । गमयति रसान्,गच्छत्यन्तरिक्षे । अथ द्यौर्यत्पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छति । विष्टवादित्यो भवति । आविष्टो रसान्,आविष्टो भासं ज्योतिषाम्,आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिःपुण्यकृद्भिश्च। नभ आदित्यो भवति । नेता रसानां,नेता भासां,ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः, न न भातीति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता ॥१४॥

गो सूर्य है,रसों को(आकाश में)पहुंचाता है,और द्यौ इसलिये (गौ है) कि पृथिवी के ऊपर दूर (मार्ग) चली गई है,अथवा जिसमे इसमें ग्रहआदि चलते हैं(इससे गौ है)। विष्टप् सूर्य है,रसों में(रश्मियों द्वारा) घुसजाता है, (अपने प्रकाश मे) ज्योतियों के प्रकाश में घुसजाता है, अथवा प्रकाश से घिरा हुआ है । और द्यौ, ज्योतियों से वा पुण्यात्माओं से घिरा हुआ है (इसलिये विष्टप् है। विश् प्रवेश से तु० प० से) । नभ सूर्य है, रसों का लेजाने वाला, प्रकाशों का (सब दिशाओं में) लेजाने वाला है,ज्योतियों (ग्रहादि) का चलाने वाला है (नी से नभ) अथवा भन ही उलटा हुआ है (भासनः=चमकने वाला, आ, स् लुप्त होकर भन, उलटा होकर नभ ) अथवा नहीं चमकता है, यह नहीं (किन्तु चमकता ही है, भादीसौ दि० प० से. न न पूर्वक ननभः=अनभः आद्यक्षर का लोप होकर नभः) इससे द्यौ व्याख्या किया गया ( इन्हीं निर्वचनों से ) ॥ १४ ॥

॥ इति चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

नि०—खेदयः । किरणाः । गावः । रश्मयः । अभीशवः । दीधितयः गभस्तयः । वनम् । उस्राः । वसवः । मरीचिपाः । मयूखाः । सप्त ऋषयः । साध्याः । सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मि नामानि ।

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश । रश्मिर्यमनात्तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः ॥

अगले पन्द्रह नाम रश्मियों के हैं । रश्मि काबूरखने से(किरणें पानी को और रासें घोड़े को काबू रखती हैं । यम उपरमे, भ्वा० प० से ) उनमें से पहले पांच घोड़े की रासों के साथ सांझे हैं ( अगले दस निरे किरणों के हैं ) ।

नि०—आताः । आशाः । उपराः । आष्ठाः । काष्ठाः । व्योम । ककुभः । हरित इत्यष्टौ दिङ् नामानि ।

दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । दिशः कस्माद् दिशतेरासदनादपि वाऽभ्यशनात् । तत्र काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठा दिशो भवन्ति क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति, काष्ठा उपदिशो भवन्तीतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति,आदित्योपि काष्ठोच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति । आज्यन्तोपि काष्ठोच्यते, क्रान्त्वा स्थितो भवति । आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति स्थावराणाम् ॥ १५ ॥

अगले आठ नाम दिशाओं के हैं'दिशः'किससे हैं?दिश् (तु०उ०)से (अंगुलि से बतलाई जाती हैं)अथवा निकट होने से(व्यापक होने से हरएक वस्तु के निकट हैं । आ+सद्, भ्वा० प० ) से । अथवा व्यापने से ( व्यापक हैं । अशूङ् व्याप्तौ ( भ्वा० आ० ) से ) उन ( आठ नामों ) में काष्ठा यह नाम अनेक द्रव्यका भी है ।

'काष्ठाः' दिशाएं हैं, ( हरएक वस्तु को ) पहुंचकर स्थित हैं। काष्ठा उपदिशाएं हैं। एक दूसरे को पहुंचकर ( दिशाओं के साथ ) स्थित हैं। सूर्य भी काष्ठा कहलाता है। ( अपने स्थान पर ) पहुंचकर स्थित है। हद * का सिरा भी काष्ठा कहलाता है ( हदको ) पहुंचकर स्थित है। जल भी काष्ठा कहे जाते हैं। (जलाशय में) पहुंचकर स्थित होते हैं † यह स्थावरों ‡ का (निर्वचन) है

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानांकाष्ठानांमध्ये निहितं शरीरम्
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आ शयदिन्द्रशत्रुः

( भाप की अवस्था में एक स्थान ) न ठहरते हुए, न बैठते हुए (न विश्राम पाते हुए) जलों के मध्य में (मेघ का,) शरीर गुप्त रक्खा हुआ है § जल वृत्र की निचाई में विचरते हैं, तब इन्द्र ने जिसको मार गिराना है, वह बड़े अन्धेरे में स्थित होता है ¶। (१।३२।१०)

अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निण्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमस्तनोतेः। आशयदाशेतेः

---

* दौड़ की हद का सिरा, बाण के मार्ग का अन्त (दुर्गाचार्य)
† सर्वत्र क्रम+स्था से काष्ठा। ‡ जल दो प्रकार के हैं स्थावर ( स्थित ) और जंगम ( चलते )। ऊपर जो निर्वचन किया है, वह जलाशय में स्थित जलों का है। अस्थावरों का क्रामन्ते न तिष्ठन्ति= चलते हैं, ठहरते नहीं, यह निर्वचन होगा ( दुर्गाचार्य )।

§ उसी से मेघ का शरीर प्रकट होता है ¶ वृत्र, मेघ उस अवस्था में, जिस अवस्था में पानी उससे भूमि पर नहीं गिरसका है। ज्यों २ जल अधिक ठंडे होकर निचले भाग में उतरने लगते हैं, त्यों २ अन्धेरा बढ़ने लगता है, अन्ततः इन्द्र से मार गिराया हुआ वही वृत्र भूमि पर आलेटता है।

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः,त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः,अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत्तुखलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार, तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्भवति ॥ १६ ॥

न ठहरते हुए, न बैठते हुए अर्थात् अस्थावर जलों के मध्यमें गुप्त रखा हुआ है,शरीर=मेघ। शरीर शृ धातु(क्र्या० प०)से है।(क्योंकि माराजाता है। दोनों धातुओं का अर्थ हिंसा है) वृत्र की निण्यं=निचाई को (वा बेमालूम स्वरूप को)। विचरन्ति=(मानों) जान लेते हैं जल। दीर्घ, द्राघ (लंबाई अर्थ वाले भ्वा० आ०) से है। तमस्, तम (त० उ०) से है (ततं भवति=फैला हुआ होता है)। आशयत, आ+शी (अ० आ०) से है (लङ् में)। इन्द्रशत्रुः=इन्द्र इसका मारने वाला है, इस लिये इन्द्र शत्रु (शम वा शात से शत्रु है। अर्थ दोनों का मारना है)। वृत्र कौन है? मेघ है, यह नैरुक्त कहते हैं, त्वष्टा का पुत्र असुर है, यह ऐतिहासिक कहते हैं, (यदि मेघ को वृत्र मानें, तो जो मन्त्रों में इन्द्र का वृत्र से संग्राम है,उसका क्या अभिप्राय होगा? उत्तर)—पानी और ज्योति (विद्युत) के मिलने से वर्षा की क्रिया उत्पन्न होती है, तिस पर उपमा के प्रयोजन से युद्ध के वर्णन हैं (वास्तव युद्ध नहीं, किन्तु परस्पर संघर्ष से वज्र (विद्युत) की ताड़ना और वृत्र का कटकर जल रूप में नीचे गिरना रूपक कल्पना से इन्द्र वृत्र का युद्ध वर्णन है)। और

(वृत्र की न्याई) अहि शब्द के साथ मन्त्र वर्ण और ब्राह्मणवाद हैं। ( वृत्रवत् अहि भी इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी पाया जाता है )। ( वृत्र ने ) शरीर की वृद्धि से जलों के स्रोत रोक लिये, उसके मरने पर जल बह निकले। इस(अर्थ) के कहने वाली यह ऋचा है।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपःपणिनेव गावः। अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥

दासों के पालक, अहि * से छिपाए हुए जल, व्यापारी से गौओं की तरह रोके हुए ठहरे। (तब) वृत्र को मारते हुए (इन्द्र) ने, जलों का बिल ( निकलने का द्वार ) जो ढका हुआ था, उसे खोल दिया॥ ( ऋ० १। ३२। ११ )

दासपत्नीर्दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः,उपदासयति कर्म्माणि,अहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः।अहिरयनादेति अन्तरिक्षे,अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसित उपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्।बिलं भरं भवति बिभर्तेः। 'वृत्रं जघ्निवानपववार तद्' । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। 'यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते। 'यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते।'यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति' विज्ञायते ॥ १७ ॥

दास पत्नीः=दासों के पालक। दास. दसु उपक्षये ( दि०

* यहां मन्त्र में अहि वृत्र के अर्थ में है, अतएव आगे अहि न कहकर वृत्र कहा है॥

प०) से है, (खेती आदि) कर्मों को क्षीण करता हैं ( कर २ के पूरा करता है )। 'अहि गोपा=अहि से छिपाए हुए ठहरे। अहि, चलने से, अन्तरिक्ष में चलता है, ( इ, अ० प० से ) यह दूसरा (सांप के अर्थ में) अहि भी इसी से है (चलता है), अथवा मारता है, ( आ+हन् से है ), ह्रस्व हुए ( आ ) उपसर्ग वाला (आहन् से है आ उपसर्ग ह्रस्व होकर)। 'रुके हुए जल व्यापारी से गौओं की न्याई' पणिः=व्यापारी है। पणिः पण, व्यवहारे (भ्वा०आ०) से। वणिक्=व्यवहार के योग्य वस्तुओं को शोधता है। (बहुमूल्य बनाने के लिये)। जलों का बिल जो ढका हुआ था। बिल=भरा हुआ ( जल आदि से ) होता है। भृ ( जु० उ० ) से। वृत्र को मारते हुए, उसको खोल दिया। वृत्र, वृञ् आच्छादने ( स्वा० उ० ) से है। अथवा वृतु वर्तने ( भ्वा० आ० ) से है। अथवा वृधु वृद्धौ ( भ्वा० आ० ) से है। 'जो उसने ढांप लिया, ( अन्तरिक्ष को वा जल को ) यह वृत्र का वृत्रत्व है' यह जाना जाता है। 'जो वर्त्ता *, यह वृत्र का वृत्रत्व है' यह जाना जाता है, 'जो बढ़ा, यह वृत्र का वृत्रत्व है' यह जाना जाता है ॥ १७ ॥ इति पञ्चमः पादः ॥

निघण्टु—श्यावी। क्षपा। शर्वरी। अक्तुः। ऊर्म्या। राम्या। यम्या। नम्या। दोषा। नक्ता। तमः। रजः। असिक्नी। पयस्वती। तमस्वती। घृताची। शिरिणा। मोकी। शोकी। ऊधः। पयः। हिमा वस्वीति त्रयोविंशती रात्रि नामानि ॥

रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोतिरातेर्वा स्याद्दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः

* प्रकट हुआ; जलों को प्रवृत्त करता हुआ ( अन्तर्भावित ण्यर्थ ) ( दुर्गाचार्य )—

अगले तेईस नाम रात्रि के हैं। रात्रि किससे ? रात को विचरने वाले प्राणियों (उल्लूक आदि) को बड़ा आनन्द देती है। और दूसरों (दिन में विचरने वालों) को (काम काज से) हटा देती है=टिका देती है (रम, णिजन्त से, एक स्थान, प्र, दूसरे में 'उप' तात्पर्य बोधन के लिये हैं) अथवा दान अर्थ वाले रा(अ०प०) से होसक्ता है,इसमें ओस दीजाती है (ओस पड़ती है)

निघण्टु—विभावरी। सूनरी। भास्वती। ओदती। चित्रामघा। अर्जुनी। वाजिनी। वाजिनीवती। सुम्नावरी। अहना। द्योतना। श्वेत्या। अरुषी। सूनृता। सूनृतावती। सूनृतावरीति षोडशोषोनामानि॥

उषो नामान्युत्तराणि षोडश। उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः,तस्या एषा भवति॥ १८॥

अगले सोलह नाम उषा के हैं। उषस्, किस से ? निकालती है (अन्धेरे को) इस प्रकार कर्तृकारक से (उच्छी विवासे, भ्वा०प० से)। (उषा) रात का पिछला काल है। उसकी यह ऋचा है (जिस से 'उषा रात्रि का पिछला काल' स्फुट जानी जाती है)।

इदं श्रेष्ठंज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रःप्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततमम्,अजनिष्ट विभूततमं,यथा प्रसूता सवितुःप्रसवाय रात्रिरादित्यस्य।एवं रात्र्युषसे योनिम-रिचत्स्थानम्। स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः। तस्या-एषाऽपरा भवति॥ १९॥

यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ( रातकी ज्योतियों से अधिक उजाला लाती हुए ) ज्योति आई है, रंगीला एक बड़ा दृश्य सारे फैलता हुआ प्रकट हुआ है। जैसे उत्पन्न हुई ( रात्रि ) सूर्य के प्रकट होने के लिये, वैसे ( सूर्य से भी पहले ) उषा के लिये स्थान छोड़ती है (१।११३।१)। यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति आई है। रंगीला प्रकेतन=पूरा स्पष्ट हुआ=दृश्य, प्रकट हुआ है, बहुत फैला हुआ। जैसे उत्पन्न हुई ( रात्रि ) सूर्य के प्रकट करने के लिये, ( प्रसूता, सवितुः= ) रात सूर्य के। वैसे रात उषा के लिये, योनि=स्थान, रिक्त करती है। स्त्री योनि ( योनि इस से है ) मिला हुआ होता है इस में गर्भ *। उस ( उषा ) की यह और (ऋचा) है (इसी विषय की दृढ़ता के लिये, कि उषा रात्रि का पिछला काल है ) ॥ १९ ॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिनाने॥

रुशद्वत्सा सूर्य्यवत्सा रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्म्मणः। सूर्य्यमस्या वत्समाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा। रुशती श्वेत्यागात्। श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत्कृष्णा सदनान्यस्याः कृष्णवर्णा, रात्रिः, कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति। समानबन्धू समानबन्धने अमृते अमरणधर्माणावनूची अनूच्याविती-

* पूर्व २।८ में 'अयमपीतरो योनिरेव तस्मादेव, परियुतो भवति' इस पुंलिङ्ग निर्देश से, और यहां, स्त्री लिङ्ग निर्देश से योनि शब्द पुं स्त्री जानना चाहिये।

तरेतरमभिप्रेत्य।'द्यावा वर्णं चरतः'ते एव द्यावौ द्योतनाद्,अपिवा द्यावा चरतस्तयासहचरत इतिस्याद्,आमिनाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे ॥

चमकते हुए बछड़े वाली, चमकती हुई, श्वेत वर्ण की (उषा) आई है। रात्रि ने इसके लिये स्थान छोड़ दिये हैं(आरैक्+उ। 'उ' पद पूर्ण है)। यह दोनों (रात्रि और उषा) एक बन्धु वाली हैं (सूर्य दोनों का बन्धु है। बन्धुवत् आगे पीछे चलता है) अमर हैं, अनुक्रम से चलती हैं (सूर्य के पीछे रात्रि, रात्रि के पीछे उषा)। (अपना २) रंग उत्पन्न करती हुई चलती हैं (१।११३।२) चमकते बछड़े वाली = सूर्यरूपी बछड़े वाली 'रुशत्' यह (चमकीले) रंग का नाम है, चमकने अर्थ वाले रुच् (भ्वा० आ०) से। (सो यह मन्त्र) सूर्य को इस (उषा) का बछड़ा कहता है। साथ विचरने से (जैसे बछड़ा गौ के साथ पीछे चलता है, वैसे सूर्य उषा के) अथवा रस खींचने से (जैसे बछड़ा गौ का दूधपीता है, वैसे सूर्य उषाकारस=ओस,खींचता है) 'चमकती हुई श्वेत रंग वाली आई' श्वेत्या, श्वितावर्णे (भ्वा० आ०) सेहै। रात्रि ने इसके लिये स्थान खाली किये हैं। (कृष्णा=) काले रंग वाली=रात। कृष्ण कृष् (दि० प०) से है, निकृष्ट वर्ण (रंग)। अब इन दोनों (रात्रि उषा की)इकट्ठी स्तुति करता है। समान बन्धू=एक बन्धन वाली (सूर्य का सम्बन्ध दोनों के साथ है)। अमृते=न मरने के धर्म वाली। अनूची=अनुक्रम से चलती हुई परस्पर के अभिप्राय से, (रात्रि अपने पीछे उषा को लक्ष्य करके आगे २ चलती जाती है, उषा उसके पीछे २ चलीआती

है )। 'द्यावा वर्ण चरतः' वही दोनों द्यौ ( कही ) हैं चमकने से। अथवा द्यौ के साथ विचरती हैं यह होसक्ता है। आमिनाने=आमिन्वाने=एक दूसरे के स्वरूप को बनाती हुई।

निघण्टु—वस्तोः। द्यौः ( द्युः )। भानुः। वासरम्। स्वसराणि। घ्रंसः। घर्मः। घृणः। दिनम्। दिवा। दिवेदिवे। द्यविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि ॥

अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश। अहः कस्मादुपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति वैश्वानरीयायामृचि ॥ २० ॥

अगले बारह नाम दिन के हैं। 'अहः' किस से, (काम करने वाले) इस में कर्म करते हैं (आ+हृ ( भ्वा० उ० ) से ) उसका ( अहः शब्द का ) यह वैश्वानर ( देवता ) की ऋचा में निपात ( अप्रधानतया कथन=नैघण्टुक वर्णन ) है ॥ २० ॥

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः। वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥

अहश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनं 'विवर्तेते रजसी वेद्याभिः' वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरो जायमान इवोद्यन्नादित्यः सर्वेषां ज्योतिषां राजावाहन्नग्निर्ज्योतिषा तमांसि ॥

दिन काला और दिन श्वेत दोनों रंजन ( खुश ) करते हुए जानने योग्य ( प्रवृत्तियों ) से बारी २ घूमते हैं। (रातको) वैश्वानर अग्नि, प्रकट होते हुए राजा (सूर्य) की न्याईं, अपनी ज्योति से सारे अन्धकारों को दूर कर देता है (ऋ० ४।५।

१.१ । १ ) दिन काला=रात, और श्वेत दिन * ( दिन । अर्जुन शुक्ल के अर्थ में है ) बारी २ घूमते हैं रंजन करते हुए ( दिन काम काज और उनके फल दिखलाता हुआ, और रात नक्षत्रों की शोभा दिखलाती हुई और आराम देती हुई मनुष्यों को रंजन करती है ) । वेद्याभिः=जानने योग्य प्रवृत्तियों से (दिन रात में जो दृश्य होते रहते हैं, सब मनुष्य के जानने योग्य हैं) । प्रकट होते हुए की न्याईं, उदय होता हुआ सूर्य सब ज्योतियों का राजा होता है । ( अवातिरत= ) नष्ट करदेता है, अग्नि अपनी ज्योति से अन्धकारों को ।

नि०—अद्रिः । ग्रावा । गोत्रः । वलः । अश्नः । पुरुभोजाः । वलिशानः । अश्मा । पर्वतः । गिरिः । व्रजः । चरुः । वराहः । शंवरः । रौहिणः । रैवतः । फलिगः । उपरः । उपलः । चमसः । अहिः । अभ्रम् । वलाहकः । मेघः । दृतिः । ओदनः । वृषन्धिः । वृत्रः । असुरः । कोश इति त्रिंशन्मेघ नामानि ।

मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत् । मेघः कस्मान्मेहतीति सतः । आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः । उपर उपलो मेघो भवत्युपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राण्युपरता आप इति वा । तेषामेषा भवति ॥२१॥

अगले तीस नाम मेघ के हैं मेघ किसे से,? (जल से भूमि को) सिञ्चन करता है, ऐसा होते हुए (=कर्तृकारक में, मिह, भ्वा० प० से )

---

* अहः शब्द रात और दिन दोनों का कहता है, यह यहां कृष्ण और शुक्ल विशेषण से स्पष्ट है । अर्थात् पूरा दिन एक पूरा वार होता है, उसका एक हिस्सा सूर्य सहित शुक्ल भाग है, और दूसरा भाग जो सूर्य रहित है, वह कृष्ण है ।

(मेघ के इन तीस नामों में ) उपर उपल * से पूर्व (फलिगः तक सारे नाम ) पर्वत के नामों के साथ साझे है। उपर उपल मेघ होता है। इस में धुन्ध बन्द होती जाती है, वा जल (इस में ) बन्द हुए हैं (उप+रम् से ), उनकी यह ऋचा है ॥२१॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्माध्यमिकादेवगणाः प्रथम इति मुख्यनाम प्रतमो भवति। कृन्तत्रमन्तरिक्षं विकर्तनं मेघानां, विकर्त्तनेन मेघानामुदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षैरोषधीःपाचयन्ति।अनूपाअनुवपन्ति लोकान्स्वेन स्वेन कर्म्मणा। अयमपीतरोऽनूप एतस्मादेवानूप्यतउदकेन,अपिवान्वावितिस्याद्यथा प्रागिति तस्यानूप इति स्याद्यथा प्राचीनमिति। 'द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्'। वाय्वादित्या उदकं। बृबूकमित्युदकनाम ब्रवीतेर्वा शब्दकर्मणो भ्रंशतेर्वा, पुरीषम् पृणातेः पूरयतेर्वा ॥ २२ ॥ इति षष्ठः पादः।

देवताओं के रचने (के समय) में (मेघ ही ) मुख्य ठहरे,

---

* 'उपर से पूर्व' कहना ही पर्याप्त था, उपर, उपल दोनों से से पूर्व क्यों कहा? (उत्तर) उपर, उपल वस्तुतः एक ही शब्द हैं, र ल के अभेद से, उपर शब्द ही उपल होगया है, इसी लिये आगे दोनों का एक निर्वचन दिखलाया है, इसी से दोनों इकट्ठे कहे हैं

इनके टुकड़े २ होने से पानी निकले, ( भूमि पर गिरे )। तीन (देवता, मेघ, वायु और सूर्य ) पृथिवी ( पर की ओषिधियों ) को पकाते हैं। दो ( वायु और सूर्य ) तृप्त करने वाले जलको ऊपर उठा लेजाते है ( ऋ० ७। ७। १९ । ३ ) 'देवताओं के रचने में मुखिया ठहरे' ( कौन ? ) मध्यम लोक (अन्तरिक्ष) के देवगण ( मेघ )। प्रथम मुख्य का नाम है, प्रकृष्टतम ( सबे से अच्छा ) होता है (प्र+तम से प्रथम हुआ है)। कृन्तत्रं=अन्तरिक्षं ( खुला स्थान, जिस में मेघों के टुकड़े २ हैं, यहां अभिप्राय ) मेघों का टुकड़े २ करना ( है ) मेघों के टुकड़े २ करने से जल उत्पन्न होता है। 'तीन अनुग्रह करने वाले पृथिवी को पकाते हैं' मेघ, वायु, सूर्य, वर्षा शीत और गर्मी से ओषधियों को पकाते हैं। अनूपाः=अपने २ कर्म से (यथा समय) लोकों पर अनुग्रह करते हैं। यह दूसरा अनूप ( नदी वा समुद्र के पास का स्थान ) भी इसी से है। जलसे अनुगृहीत होता है। अथवा जैसे प्राक् ( प्र+अञ्च् ) से है, वैसे अन्वाप् ( अनु+आप् ) हो ( अन्वाप्यते ऽसावुदकेन=जल से निकट प्राप्त होता है )। उस ( अन्वाप् ) का अनूप हुआ है, जैसे ( प्राच् का ) प्राचीन। 'दो तृप्त करने वाले जलको ऊपर उठा लेजाते हैं' वायु और सूर्य जलको। 'बृबूकं' यह जल का नाम है, शब्द अर्थ वाले ब्रूञ् ( अ० उ० ) से, अथवा भ्रंश ( दि० प० ) से है ( भ्रश्यति मेघात्=मेघ से गिरता है )। पुरीष, पॄ ( क्र्या० प० ) से है, अथवा पूर ( चु० उ० ) से ॥२२॥

नि० श्लोकः। धारा। इळा। गौः। गौरी। गान्धर्वी। गभीरा। गंभीरा मन्द्रा। मन्द्राजनी। वाशी। वाणी। वाणीची। वाणः। पविः। भारती। धमनिः। नाळीः। मेना। मेळिः। सूर्या। सरस्वती। निवित्। स्वाहा। वग्नुः। उपब्दिः। मायुः। काकुत्। जिह्वा। घोषः।

स्वरः। शब्दः। स्वनः। ऋक्। होत्रा। गीः। गाथा। गणः। धेना। ग्नाः। विपा। नना। कशा। धिषणा। नौः। अक्षरम्। मही। अदितिः। शची। वाक्। अनुष्टुप्। धेनुः। वल्गुः। गल्दा। सरः। सुपर्णी। बेकुरेति सप्तपञ्चाशद्वाङ् नामानि ॥ १ । ११ ॥

**वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्माद्वचेतः। तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः। अथैतन्नदीवत् ॥ २३ ॥**

अगले सतावन नाम वाणी के हैं। 'वाच्' किससे है? । वच् ( अ० प० ) से ( उच्यतेऽनया=जिससे बोलते हैं )। इनमें जो सरस्वती ( नाम ) है, इसके (कहीं) नदी की न्याईं और (कहीं) देवता की न्याईं निगम होते हैं। जो देवता की न्याईं हैं, वह आगे (दैवत प्रकरण ११।२७में) व्याख्या करेंगे। अब यह नदी की न्याईं है

**इयंशुष्मेभिर्बिसखाइवारुजत्सानु गिरीणांतविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥ इयं शुष्मेभिः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः। बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणो वृद्धिकर्मणो वा। सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिरूर्मिभिः। पारावतघ्नी पारावारघातिनीं। पारं परंभवत्यवारमवरम्। अवनायसुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेम**

यह अपने बलों से, बड़ी लहरों के द्वारा, पर्वत के शिखरों

को इस तरह तोड़ देती है, जैसे बिस को खोदने वाला (बिस को आसानी से उखाड़ता है)। उस पार वार (दोनों किनारों) के नाश करने वाली सरस्वती को अच्छी प्रवृत्त हुई स्तुति और कर्मों से सेवन करें(ऋ०।४।८।३०।२) यह शुष्मैः=(शत्रु को) सुखाने वाले (बलों) से। शुष्म बल का नाम है, सुखाता है, ऐसा होने से। बिस, बिस् (दि० प०) फोड़ने अर्थ वाले वा वृद्धि अर्थ वाले से है। सानु=बहुत ऊंचा होता है (सम्+उत्, से) अथवा ऊपर को प्रेरा हुआ होता है (सम्+नुद्‌ने)। बड़ी लहरों से। पारावतघ्नीं=पारवार के नाश करने वाली को। 'पार' परे होता है (पर से) 'अवार' वरे होता है (अवर से)। रक्षा के लिये। अच्छी प्रवृत्त हुई शोभन स्तुतियों से,सरस्वती नदी को कर्मों से सेवन करें।

नि०—अर्णः। क्षोदः। क्षद्म। नभः। अम्भः। कबन्धम्। सलिलम्। वाः। वनम्। घृतम्। मधु। पुरीषम्। पिप्पलम्। क्षीरम्। विषम्। रेतः। कशः। जन्म। बृबूकम्। बुसम्। तुग्र्या। बुर्बुरम्। सुक्षेम। धरुणं। सिरा। अररिन्दानि। ध्वस्मन्वत्। जामि। आयुधानि। क्षपः। अहिः। अक्षरं। स्रोतः। तृप्तिः। रसः। उदकं। पयः। सरः। भेषजम्। सहः। शवः। यहः। ओजः। सुखम्। क्षत्रम्। आवयाः। शुभम्। यादु। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। महत्। आपः। व्योम। यशः। महः। सर्णीकम्। स्वृतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गम्भरम्। ईम्। अन्नम्। हविः। सद्म। सदनम्। ऋतम्। योनिः। ऋतस्ययोनिः। सत्यम्। नीरम्। रयिः। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हिः। नाम। सर्पिः। अपः। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दुः। हेम। स्वः। सर्गाः। शम्बरम्। अभ्वम्। वपुः। अम्बु। तोयम्। तूयम्। कृपीटम्। शुक्रम्। तेजः। स्वधा। वारि। जलम्। जलाषम्। इदमित्येकशतमुदक नामानि॥

उदकनामान्युत्तराण्येकशतम्।उदकंकस्मादुनत्तीतिसतः

अगले १०१ एक सौ एक नाम जल के हैं। 'उदक' किससे,

गीला करता है, ऐसा होते हुए से ( उन्दीक्लेदने, उ० प० से उ० २ । ३९ ण्वुल, न लोप निपातित ) ।

नि०—अवनयः । यह्वयः । खाः । सीराः । स्रोत्याः । एन्यः । धुनयः । रुजानाः । वक्षणाः । खादोअर्णाः । रोधचक्राः । हरितः । सरितः । अग्रुवः । नभन्वः । वध्वः । हिरण्यवर्णाः । रोहितः । सस्रुतः । अर्णाः । सिन्धवः । कुल्याः । वर्यः । उर्व्यः । इरावत्यः । पार्वत्यः । स्रवन्त्यः । ऊर्जस्वत्यः । पयस्वत्यः । सरस्वत्यः । तरस्वत्यः । हरस्वत्यः । रोधस्वत्यः । भास्वत्यः । अजिराः । मातरः । नद्य इति सप्तत्रिंशन्नदी नामानि ॥

नदीनामान्युत्तराणि सप्तत्रिंशत् । नद्यःकस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः । बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन । तत्रेतिहासमाचक्षते-विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव (विश्वामित्रःसर्वमित्रः।सर्वं संसृतं। सुदाःकल्याणदानः । पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः।पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा मिश्रीभावगतिर्वा) स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययावनुययुरितरे । स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टावगाधाभवतेति।अपिद्विवदपि बहुवत्,तद्यद् द्विवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामोऽथैतद् बहुवत्॥२४॥

अगले ३७ नाम नदी के हैं । 'नद्यः' किससे,नदनाः=शब्द वाली, यह होती हैं । प्रायः इनका ( नदियों का ) नैघण्टुक ( अप्रधान ) कर्म है, प्रधानता से आश्चर्यसा (वर्णन) है । (नदी को प्रधान देवता मानकर कहीं ही कोई वर्णन है, जिस सूक्त में नदियें प्रधान हैं) उस में यह इतिहास कहते हैं—विश्वामित्र

पैजवन सुदास् * ( राजा ) का पुरोहित हुआ। (विश्वामित्र=सब का मित्र वा सब जिसके मित्र हैं। 'सर्व' फैला हुआ होता है (सृ, भ्वा० प० से)। 'सुदाः' अच्छा देने वाला। पैजवन=पिजवन का पुत्र। और पि-जवन=स्पर्धा के योग्य वेग वाला अथवा न मिली हुई गति वाला ( जिस की गति को कोई नहीं पहुंचता) वह (विश्वामित्र, पुरोहिताई से कमाए) धन को लेकर व्यास और सतलुज के संगम † पर आया। दूसरे ( नौकर वा चोर ) उसके पीछे आए। वहां विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की, (कि मेरे लिये) 'गाध (पाओं से पार उतरने योग्य) हो जाओ'। दो की न्याई भी(दो ही नदियों को लक्ष्य करके भी) और बहु की न्याई भी। जो दो की न्याई है,वह आगे(९।३९में)व्याख्या करेंगे। अब यह बहुत की न्याई (व्याख्या किया जाता है)॥२४॥

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः॥

उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिन ऋतावरीर्ऋतवत्य ऋतमित्युदकनाम प्रत्यृतं भवति। मुहूर्त्तमेवैरयनैरवनैर्वा। मुहूर्तो मुहुर्ऋतुर्ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणो मुहुर्मूढ इव कालो यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णमभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेःप्रक्ष्णुतः कालः। कालः कालयतेर्गतिकर्म्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा। अव-

* सुदास् १०। १३३ सूक्त का द्रष्टा ऋषि है। † जहां व्यास और सतलुज सिन्धु आदि नदियों से मिले हैं (दुर्गाचार्य्य-इस अर्थ में हेतु यह है,कि आगे स्तुति निरे द्विवचन से नहीं, बहुवचन से भी है)

नाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्म्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्म्मणः साधुविक्रोशयितार्थानामिति वा । नद्यः प्रत्यूचुः॥२५॥

हे जलवालियो ! ( देवताओं के लिये ) सोम के तय्यार करने वाले मेरे वचन के (आदर के) लिये मुहूर्त भर (अपनी प्रबल) गतियों से ठहर जाओ * (ताकि मैं पार होजाऊं) । मैं जो कुशिक का पुत्र हूं रक्षा चाहता हुआ, ऊँची दिली स्तुति से सिन्धु को लक्ष्य करके बुलाता हूं, (ऋ० ३ । २ । १२।५) ठहर जाओ मेरे वचन के लिये । सोम्याय=सोम तय्यार करने वाले के लिये । ऋतावरीः=जलवालियो ! ऋत जल का नाम है, प्रति स्थान पहुंचा हुआ है ( ऊंचे पर्वतों पर भी, और उड़ती वायु पर भी है, यद्यपि निचाई की ओर ही जाने वाला है) । मुहूर्त भर 'एवैः' गतियों से, वा चलने वाले (जलों) से। मुहूर्त= बहुत थोड़ा समय । ऋतुः, गति अर्थ वाले ऋ (अ० प०) से । मुहुः छोटासा समय, जितना कि अभीक्ष्ण हो, अभीक्ष्ण=क्षण के बराबर । क्षण (हिंसा अर्थ वाले) क्षण (त० उ०) से है । झट पट चला गया समय ( क्षणुतः, क्षणु० तु० प०+क्त ) 'कालः' गति अर्थ वाले काल ( चु० प० ) से है (कालयति=क्षयं नयति सर्वाणि भूतानि) । सिन्धु को बुलाता हूं बृहसा=बड़ी, मनीषया= मन की तह से निकली स्तुति से वा बुद्धि से, रक्षा के लिये । कुशिक का पुत्र । कुशिक राजा हुआ है, शब्द अर्थ वाले क्रुश् (भ्वा० प०) से (साधु क्रियतामिति सदा क्रोशति=नेकी करो ऐसे सदा पुकारता है) अथवा प्रकाश वाले क्रंश (भ्वा० प०) से है (धर्म का प्रकाश करने वाला) अथवा अर्थों ( हित की बातों )

* उप को रमध्वं के साथ अन्वित करो ।

का भली भांति बतलाने वाला (कुश से)। (विश्वामित्र के इस वचन का) नदियों ने उत्तर दिया ॥ २५ ॥

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः॥

इन्द्रोअस्मानरदद्वज्रबाहूरदतिःखनतिकर्मा।अपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम्। देवोऽनयत्सविता सुपाणिः, कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजा-कर्मणः प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्य ऊर्णोतेर्वृणोतेरित्यौर्णवाभः। प्रत्या-ख्यायान्तत आशुश्रुवुः ॥ २६ ॥

जिसकी भुजा (भुजा के एक देश हाथ) में वज्र है, उस इन्द्र ने हमें खोदा है *, उस ने जलों के घेरने वाले वृत्र को मार गिराया, वही सुन्दर हाथों वाला हमारा प्रेरक देव (हमें समुद्र की ओर) लेजारहा है, उस की प्रेरणा (आज्ञा) में हम फैली हुई जाती हैं †। (ऋ० ३।२।१३।१) 'वज्रबाहु' इन्द्र ने हमें खोदा है'। रद (भ्वा० प०) खोदने अर्थ वाला है। 'जलों के घेरने वाले वृत्र को मार गिराया' यह व्याख्या किया गया है (देखो० २।१.७) 'प्रेरक देव चला रहा है' सुपाणिः= उत्तम हाथों वाला। पाणि, पूजा अर्थ वाले पण (भ्वा० आ०)

* वृत्र जल को रोकता है, इन्द्र उसको वज्र से मारता है, उस के मरने पर पानी पृथिवी पर आकर निचाई की ओर चलते हुए गढ़े बनाते हुए बहते हैं, उन गढ़ों से हम चलती हैं, सो इस प्रकार इन्द्र ने हमें खोदा है (दुर्गाचार्य) † वही हमारा बनाने वाला, वही हमारा चलाने वाला है, इसलिये वही हमें आज्ञा देने योग्य है, न कि तू यह अभिप्राय है (दुर्गाचार्य)

से है। दोनों हाथ जोड़कर देवताओं को पूजते हैं। उस की प्रेरणा में हम फैली हुई चलती हैं। 'ऊर्म्यः' ऊर्णुञ् आच्छादने (अ०उ०) से है,(बहुत स्थान को ढांपने वाली) वृञ् वरणे (स्वा० उ०) से है, यह और्णवाभ मानता है। (विश्वामित्र को इस प्रकार) निषेध करके अन्ततः (उसकी बात को) सुनती भईं॥२६॥

**आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन। नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥**

**आशृणवाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा च रथेन चानिनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं। मर्य्यायेव कन्या परिष्वजनाय। निनमा इति वा॥**

हे (स्तुति) करने वाले! हम तेरे वचनों को स्वीकार करती हैं, अपने (माल के), छकड़े और (बैठने वाले) रथ समेत दूर * (पार) पहुंचजा। (पुत्र को दूध) पिलाने वाली स्त्री की न्याई हम तेरे लिये झुकती हैं, (वा) मनुष्य के लिये कन्या की तरह हम तेरे लिये (झुकती हैं) † (ऋ० ३।२।१३।५)

हे (स्तुति) करने वाले! हम तेरे वचनों को स्वीकार करती हैं। दूर पहुंचजा छकड़े और रथ समेत, पुत्र को पिलाने वाली स्त्री की न्याई हम तेरे लिये झुकती हैं, वा जैसे मनुष्य के गले लगने के लिये कन्या। अथवा 'निनमै' ‡ है।

नि०—अत्यः। हयः। अर्वा। वाजी। सप्तिः। वन्हिः। दधिक्राः। दधिक्रावा। एतग्वा। एतशः। पैद्वः। दौर्गहः। औच्चैश्रवसः। तार्क्ष्यः। आशुः। ब्रध्नः। अरुषः। मांश्चत्वः। अव्यथयः। श्येनासः। सुपर्णाः। पतङ्गाः। नरः। ह्वार्याणाम्। हंसासः। अश्वा इतिषड्विंशति रश्वनामानि

* दूर से तू आया है, इसलिये तेरे ऊपर दया आती है (दुर्गाचार्य)

† आ का अन्वय शृणवाम के साथ और नि का नंसै के साथ है।

‡ 'निनंसै' निनमाम के स्थान,अथवा निनमै(आत्मनेपदी)के स्थान है।

अश्वनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्। अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा। तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा दधत्क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा। तस्याश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद्यद् देवतावदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामोऽथैतदश्ववत् ॥२७॥

अगले २६ नाम घोड़े के हैं। उन में से जो अन्त के आठ हैं (अव्यथयः, इत्यादि) वह बहु-वचन संयुक्त हैं। अश्व किससे ? मार्ग को व्यापता है (अशुङ् व्याप्तौ, स्वा० आ० से) अथवा बहुत खाने वाला होता है (अश भोजने,क्र्या०प०से) (अश्+क्वन्, उ०१।१।४९)।उनमें 'दधिक्राः' यह (विचारणीय है) (असवार को) धारे हुए चलता है (दधत्+क्रम् से) अथवा (असवार को) धारे हुए शब्द करता है (दधत्+क्रन्द् से) वा (असवार को) धारे हुए (विशेष) आकृति वाला होता है (सारे अङ्ग खिल जाते हैं, और ग्रीवा को अकड़ा लेता है)। उस (दधिक्राः शब्द) के घोड़े के अर्थ संयुक्त और देवता अर्थ से संयुक्त निगम होते हैं। जो देवता अर्थ से संयुक्त हैं, वह आगे (१०।३१ में) व्याख्या करेंगे। अब यह अश्व अर्थ से संयुक्त हैं ॥ २७ ॥

उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥ अपि स वाजी वेजनवान्क्षेपणमनु तूर्णमश्नुतेऽध्वानं।ग्रीवायां बद्धो ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा।अपिकक्षआसनीति व्याख्यातम्

क्रतुं दधिक्राः कर्म्म वा प्रज्ञां वा । अनुसन्तवीत्वत्, तनोतेः पूर्व्वया प्रकृत्या निगमः । पथामङ्कांसि पथां कुटिलानि। पन्थाःपततेर्वा पद्यतेर्वा पन्थतेर्वाङ्कोऽञ्चतेरापनीफणदिति फणतेश्चर्करीतवृत्तम् ॥

वह घोड़ा ग्रीवा में ( सुन्दर पटे से ) छाती में ( तंग से ) और मुख में ( लगाम से ) बन्धा हुआ (चाबुक के) मारने के साथ भी जल्दी चलता है। घोड़ा ( असवार के ) काम को ( वा बुद्धि को फैला देता है । रस्तों के टेढे पनों को (जल्दी चलने से) सीधा झटपट लंघजाताहै(ऋ०४।४०।४)वह,वाजी=भयदेनेवाला(शत्रुओं को)( चाबुक ) मारने के साथ भी(विनाभी) जल्दी मार्ग को व्याप लेता है । ग्रीवा में बन्धा हुआ । ग्रीवा, गॄ (निगरणे,तु०प० ) से है, (उस से अन्न को निगलता है) वा गॄ शब्दे (क्र्या०प०) से है,उस से शब्द करता है) वा ग्रह ( क्र्या० उ० ) से है ( उस से जल आदि ग्रहण किया जाता है )। घोड़ा, क्रतुं=कर्म को वा बुद्धि को । 'अनुसंतवीत्वत्' तनु विस्तार ( त० उ० ) की पहली प्रकृति से निगम है * । 'पथामङ्कांसि'=रस्तों के टेढ़े पनों को।

---

* प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च ।
ण्यन्तो ण्यन्त सनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते ॥

धातु छः प्रकार का होता है । प्रकृत्यन्त, सनन्त, यङन्त, यङ् लुगन्त, ण्यन्त और ण्यन्तसनन्त । उदाहरण—पठ् प्रकृत्यन्त, पिपठिष सनन्त, पापठ्य यङन्त, पापठ् यङ् लुगन्त, पाठि ण्यन्त, पिपाठयिष ण्यन्त सनन्त । पठ् पहली प्रकृति है, इसी मूल प्रकृति के साथ सन आदि प्रत्यय लगकर सनन्त आदि पांच प्रकृतियां बनती हैं । यही पहली प्रकृति पूर्वा प्रकृति वा शुद्धा कही जाती है । यहां 'तवीत्वत्' तन् का शुद्ध प्रकृति में छान्दस प्रयोग है । पनी फणत् की तरह यङ्लुगन्त की भूल में न पड़ना, इत्यभिप्रायः ।

'पन्थाः' पत् (भ्वा० प०) से, वा पद् (दि० आ०) से, वा पन्थ (भ्वा० प०) से है। अङ्क, अञ्च् (भ्वा० उ०) से है। 'आ+पनीफणत्' फण का यङ्लुगन्त का प्रयोग है।

नि०—हरी इन्द्रस्य। रोहितोऽग्नेः। हरित आदित्यस्य! रासभावश्विनोः। अजाः पूष्णः। पृषत्यो मरुताम्। अरुण्यो गाव उषसः। श्यावाः सवितुः। विश्वरूपा बृहस्पतेः। नियुतो वायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि॥ १। १५॥

## दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय

अगले दस (भी घोड़ों के नाम हैं, किन्तु) साथ बतलाए गए (देवताओं)के साथ प्रयोग वाले कहते हैं साहचर्य जितलाने के लिये*।

नि०—भ्राजते। भ्राशते। भ्राश्यति। दीद्यति। शोचति। मन्दते। भन्दते। रोचते। द्योतते। ज्योतते। द्युमदित्येकादश ज्वलति कर्माणः॥१६

## ज्वलतिकर्म्माण उत्तर धातव एकादश॥

अगले ११ धातु चमकने अर्थ वाले हैं।

जमत्। कल्मलीकिनम्। जञ्जणाभवन्। मल्मलाभवन्। अर्चिः। शोचिः। तपः। तेजः। हरः। घृणिः। शृङ्गाणि। शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि। [इति निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः]

## तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि॥२८॥

अगले उतने ही (११ ही)चमकते हुए द्रव्य के नाम हैं॥२८॥

इति द्वितीयाऽध्याये सप्तमः पादः, समाप्तश्चायमध्यायः॥

---

* (१) पूर्वपक्षा-परपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति [ताण्ड्य० ब्रा० ६। १। १] ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी [ऐतरेय ब्रा० २। ३। ६] सम्भव है, धनात्मक, ऋणात्मक, दोनों विद्युत् हों (सम्पादक) (२) रोहित=लाल ज्वालाएं, (३) हरितः=रश्मियें, पीले रंग की किरणें प्रातःकाल (४) रासभौ=दो गदहे, कदाचित् अश्वियों के आने के समय काले रंग से अभिप्राय हो (५) अजाः=बकरे (६) पृषत्यः=चितकबरी गौएं=मेघ मालाएं (७) लाल गौएं=लाल किरणें (८) श्यावाः=धूसर रंग की किरणें सविता के समय (९) छन्दांसि वै विश्वरूपाणि (शत० ब्रा०) (१०) नियुतः=मिलाने वाले,वायु के चलने पर तृणपर्णादि मिलजाते हैं[स्कन्दस्वा०]

# अथ तृतीयोऽध्यायः।

नि०—अपः। अप्नः। दंसः। वेपः। वेषः। विष्ट्वी। व्रतम्। कर्वरम्। शक्म। क्रतुः। करणम्। करणानि। करांसि। करन्ती। करिक्रत्। चक्रत्। कर्त्वम्। कर्तोः। कर्तवै। कृत्वी। धीः। शची। शमी। शिमी। शक्तिः। शिल्प मिति षड्विंशतिः कर्म नामानि॥ २। १॥

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः। कर्म कस्मात्क्रियत इति सतः॥

अगले २६ कर्म के नाम हैं। कर्म किससे? किया जाता है, ऐसा होने से (कृ+मनिन्, उ० ४। १४४)।

नि०—तुक्। तोकम्। तनयः। तोक्म। तक्म। शेषः। अप्नः। गयः। जाः। अपत्यम्। यहुः। सूनुः। नपात्। प्रजा। बीजमिति पञ्चदशा पत्य नामानि॥ २। २॥

अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश। अपत्यं कस्मादपततं भवति,नानेन पततीति वा।तद्यथा जनयितुः प्रजैवमर्थीय ऋचा वुदाहरिष्यामः॥ १॥

अगले १५ नाम सन्तान के हैं। अपत्य किससे? (पिता से) अलग होकर फैली हुई होती है(अप+तन् से),अथवा इससे(पिता) पतित नहीं होता है (पितृ ऋण के दूर होजाने से)। (पर पितृ ऋण शोधनादि कार्य में,औरसादि पुत्रों में से मुख्य पुत्रता किस को है? इस के उत्तर में) जैसे उत्पन्न करने वाले की ही सन्तान है, इस विषय में दो ऋचाएं दिखलाएंगे॥ १॥

"परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयःस्याम। नशेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः" परिहर्तव्यंहि नोपसर्तव्यम्। 'अरणस्य रेक्णः'।अरणोऽ

पार्णो भवति। रेक्णइति धननाम, रिच्यते प्रयतः। 'नित्यस्य रायः पतयः स्याम' पित्र्यस्येव धनस्य। 'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति'। शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः। अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति। मा नः पथो विदूदुष इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २ ॥

'बेगाने * का धन निःसन्देह परिसाज्य है' हम मुख्य धन के स्वामी हों, हे अग्ने! दूसरे से उत्पन्न हुई सन्तान (अपनी) नहीं होती, वह एक बेपमझ की होती है, सो हमें (मचे) मार्ग से मत भटका (ऋ० ५।२।६।२) (परिषद्यं) परिसाज्य है, ग्रहण करने योग्य नहीं। बेगाने का धन। 'अरणः' दूर हुए जल सम्बन्ध वाला (अप+अर्णः)। 'रेक्णस्' धन का नाम है। मरते हुए का पड़ा रह जाता है। 'मुख्य धन के हम स्वामी हों' जैसे पिता से आए धन के। 'हे अग्ने! दूसरे से उत्पन्न हुआ पुत्र (मुख्य) नहीं है'। 'शेषस्' सन्तान का नाम है, मरते हुए का शेप रहता है। बेसमझ का=प्रमादी का, वह (सन्तान) होता है। हमें मार्ग से मत भटका (औरस पुत्र दे) ॥ उसकी अगली ऋचा और अधिक खोलकर कहने के लिये है ॥२॥

---

* इस में वसिष्ठ अग्नि का सम्वाद है। हतपुत्र वसिष्ठ ने अग्नि से प्रार्थना की, मुझे पुत्र दे, उसने उसे उत्तर दिया, क्रीतक, दत्तक, आदि पुत्रों में से कोई पुत्र बना ले। यह उत्तर पाकर वह इन दो ऋचाओं से दूसरे से उत्पन्न हुए पुत्रों की निन्दा करता हुआ, औरस पुत्र की ही प्रार्थना करता भया। सो इस में धन से अभिप्राय सन्तानरूपी धन से है, वह जैसे बेगाने का त्याज्य होता है, न कि ग्रहणीय, इसी प्रकार सन्तान भी बेगानी मूर्खों का परितोष मात्र है, सन्तान मुख्य वही है, जो अपनी औरस हो (दुर्गाचार्य)

'नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः

नहि ग्रहीतव्योऽरणःसुसुखतमोऽप्यन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो'ममायं पुत्र' इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति,यत आगतोभवति,ओकइतिनिवासनामोच्यते। एतुनो वाजीवेजनवानभिषहमाणःसपत्नान्नवजातः स एव पुत्र इति ॥ अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति पुत्रदायाद्य इत्येके ॥ ३ ॥

∴ बेगाना निःसन्देह ( पुत्रत्वेन ) ग्रहण करने योग्य नहीं है, चाहे बड़ा सुखदायी भी हो, अन्य उदर से (नकि अपनी स्त्री के उदर से) उत्पन्न हुआ, मन से भी अपना नहीं मानना चाहिये । क्योंकि वह फिर भी ( बहुत काल पीछे भी ) अपने निवास को जाता है ( अपने वंश में जामिलता है ) सो हमें ( शत्रुओं को ) भय देने वाला, दबाने वाला, ( रोबदाब वाला ) नया उत्पन्न हुआ ( पुत्र ) प्राप्त हो ( ५ । २ । ६ । ३ ) नहीं ग्रहण करने योग्य बेगाना चाहे बड़ा सुखदायी भी हो, दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ मन से भी नहीं मानना चाहिये, कि 'यह मेरा पुत्र है' । क्योंकि वह फिर उसी निवास को जाता है, जहां से प्राप्त होता है । 'ओकम्' निवास का नाम कहा जाता है हमें, वाजी= ( शत्रुओं को ) भय देने वाला । दबाता हुआ (प्रति द्वन्द्वियों को), नया उत्पन्न हुआ । वही पुत्र है (दूसरे नहीं) ॥ अब इस (अगली ऋचा) को कन्या के दायभागी होने में उदाहरण देते हैं,कई पुत्र के दायभागी होने में(प्रमाण देते हैं)॥ ३

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥

विवाहने वाला (उत्पत्ति-) यज्ञ (वा वीर्य) को (तुल्य) जानता हुआ, और (उत्पादन के) विधान को पूजता हुआ, जितलाता है (कि कन्या भी पुत्र है, क्योंकि) कन्या से पोते को पाता है। पिता जब कन्या के युवा पति को थापता है,तो सुखी मनसे निश्चिन्त होता है (कि मेरा वंश बना रहेगा) * (३।२।५।१)

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्म्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान्प्रजननयज्ञस्य रेतसो ऽङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि

* आशय यह है, कि जिसके घर पुत्र नहीं, निरी कन्या है, वह अपनी कन्या के पुत्र को पोते के तौर पर लेता है। ऐसा करने से वह प्रकट करता है, कि कन्या भी पुत्र है, अन्यथा पुत्र विना उसका पोता कैसे हो? और उसका अपनी कन्या को पुत्र मानना ठीक भी है, क्योंकि गर्भाधान यज्ञ के मन्त्र पुत्र और कन्या के लिये एक ही हैं, और गर्भाधान की विधि भी दोनों के लिये एक है। जब कन्या और पुत्र का आरम्भ एक धर्म मर्यादा से है, तो दोनों के पुत्र कार्यकारी होने में धर्मानुसार कोई भेद नहीं होसकता, किन्तु भेद इतना है,कि कन्या दूसरे घर में चली जाती है। पर कन्या का पिता यदि दूसरी नर सन्तति नहीं रखता,तो वह कन्या को विवाह कर अपुत्र होने की चिन्ता से छूट जाता है, क्योंकि ऐसी कन्या का प्रथम पुत्र अपने नाना का पोता माना जाता है, और वह उसी का दायाद्य होता है। मन्त्र में 'शासद् वन्हिर्दुहितुर्नप्त्यंगाद्' का अन्वय पूरा स्पष्ट नहीं ॥

प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् ।
अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् इति ।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

विवाहने वाला, सन्तान के कर्तव्य (को पूरा करने) के लिये (अपनी) कन्या का पुत्र भाव (कन्या पुत्र है) जितलाता है। दुहिता=जिसका हित कठिन होता है (उसका वर वरने में बड़ी सावधानी चाहिये-दुर्+हित से दुहितृ) अथवा दूर में हुई हित वाली होती है, अथवा दुह (अ० उ०) से है (पिता से कुछ न कुछ द्रव्य दोहती ही रहती है)। 'पोते को प्राप्त होता है (अर्थात्) दोहते को पोता (मानता हुआ)। जानने वाला उत्पत्ति के यज्ञ का, वा वीर्य का, जो कि अङ्ग २ से निकला, हृदय से (ज्ञानेन्द्रिय लेकर) प्रकट हुआ, माता (के गर्भाशय) में पहुंचा है, उसके विधान का आदर करता हुआ*। सो बिना भेद पुरुष स्त्री दोनों प्रकार के पुत्र दायभागी होते हैं। (यह सिद्ध हुआ) यह (बात) ऋचा और श्लोक से कही गई है '(हे पुत्र)! तू अङ्ग२ से उत्पन्न हुआ है, हृदय से प्रकटा है, इसलिये तू मेरा ही स्वरूप है, केवल पुत्र नाम है, सो तू सौ (शरत्†बरस) जीव'

* मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या होगई, आगे कन्या के दायभागी होने में और भी प्रमाण देकर, फिर कन्या भ्रातृहीना ही दायभागिनी होती है, दूसरी नहीं, इस सिद्धान्त को स्थिर करते हुए उत्तरार्ध की व्याख्या ३। ५ के अन्त में करेंगे। क्योंकि उत्तरार्ध इसी सिद्धान्त का पोषक है। † शरद् असूज, कार्तिक की ऋतु

पुरुष स्त्री पुत्रों का बिना किसी भेद के धर्मानुसार दाय होता है,यह सृष्टि के आदि में स्वायम्भुव मनु ने कहा है* ।

न दुहितर इत्येके । तस्मात्पुमान्दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते । तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च । स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः । पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात् । अभ्रातृमती वाद इत्यपरम् । अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः।अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मान इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकः । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ ॥

कन्याएं दायभागी नहीं हैं,यह कई मानते हैं। (और यह प्रमाण देते हैं ) ' इसलिये पुरुष दायभागी है, स्त्री दायभागी नहीं ' यह जाना जाता है । ( दूसरा प्रमाण ) इसलिये ( घर में ) जन्मी स्त्री को ( पर घर में ) देते हैं (विवाह कर), पुरुष को नहीं, (कन्या अन्य घर में जाती है, पुत्र पितृ घर का मालिक बनता है) । स्त्रियों का देना, बेचना और त्याग हैं †, पुरुष के नहीं ।

---

का नाम है । सारे वर्ष में शरत् ही जीने में कठिन है, क्योंकि इस में रोग बहुत होते हैं । इसलिये शरत् को सामने रखकर सौ शरद् की आयु मांगी जाती है।*इनमें से ऋचासे तो कन्या पुत्रकी उत्पत्ति में अभेद,और श्लोकसे दोनों का दायभागी होने में अभेद दिखलाया है, जो कि मन्त्र के पूर्वार्ध से फल निकाला था, इस से यह सिद्ध हुआ, कि कन्या भी दायभागिनी है, यह एक मत है । †देना=पुण्य विवाहना, बेचना=मूल्य लेकर विवाहना, यद्यपि यह शास्त्र से निन्दित है,तथापि ऐसा होता है,इससे यह सिद्ध होता है,कि कन्या

पुरुष के भी दान विक्रय और त्याग होते हैं, यह कई कहते हैं, क्योंकि शुनःशेप के प्रकरण में देखा गया है*।यह कथन जिसका कोई भाई नहीं†,उसका है (उसके विषय में है) यह और मत है। 'वह जो लाल वस्त्रों वाली (लहू से भरी हुई) सारी नाड़ियें चल रही हैं, यह भ्रातृ हीन स्त्रियों की न्याई बन्द मार्ग वाली होकर ठहरी रहें‡, 'भ्रातृहीन स्त्रियों की न्याईं ठहरी रहें,सन्तान का जो कर्तव्य है, पिण्डदान,उसके लिये, बन्द हुए मार्ग वाली' इस प्रकार भ्रातृहीन कन्या का विवाह निषेध उपमा से सिद्ध है। यह अगली ऋचा उसके अधिक स्पष्ट कहने के लिये है ॥ ४ ॥

'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेवपत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

---

पिता के घर की मालिक नहीं। अतएव दाय योग्य नहीं। त्याग=स्वयंवर=पिता कन्या को स्वयं अपना पति चुनने के लिये छोड़ देता है(यद्यपि यह प्रथा क्षत्रियों में है,तथापि इस से कन्या का दाय सम्बन्ध न रहना सिद्ध है)। * जो कन्या को दाय योग्य मानते हैं, वह इसका उत्तर यह देते हैं, कि दान,बेचना और त्याग दायभागी न होने के हेतु नहीं होसके,क्योंकि यह पुरुष के भी,इतिहासमें देखे जाते हैं, दान, दत्तक पुत्र होते ही हैं, बेचना, शुनः शेप अपने पिता से बेचा गया था, और त्याग, विश्वामित्र ने मधु छन्द आदि का किया था। † तीसरा मत यह है, कि हरएक कन्या दाय-भागिनी नहीं है, क्योंकि वह पिता का वंश नहीं बढ़ाती, किन्तु जिसका भाई कोई न हो, ऐसी कन्या दायभागिनी होती है, प्रमाण इस में आगे देंगे। ‡ यदि गर्भ गिरजाता हो, तो उसके इलाज के लिये जो कर्म किया जाता है, उस में इस ऋचा का विनियोग है। 'इस में जो भ्रातृहीन स्त्रियों की न्याईं ठहरी रहें' कहा है, इस से दिखलाया है,कि भ्रातृहीना को न विवाहे, क्योंकि उससे उत्पन्न हुआ पुत्र, नाना की ओर सन्तान के कर्तव्य को पालता है ॥

अभ्रातेव पुंसः पितॄनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिं । गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी । गर्तः सभास्थाणुर्गृणातेः सत्यसंगरो भवति, तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका सा रोहति, तां तत्राक्षैराघ्नन्ति, सा रिक्थं लभते ।

उषा भ्रातृहीना स्त्री की न्याईं उलटी (फिर लौटकर) पुरुषों को प्राप्त होती है । धनों की प्राप्ति के लिये सभा में चढ़ने वाली की न्याईं (आकाश में चढ़ती है), पति के लिये अच्छे वस्त्र पहने कामना करती हुई स्त्री की न्याईं (सुन्दररूप दिखलाती है) हंसने के स्वभाव वाली स्त्री की न्याईं श्वेत दांतों (श्वेतरूपों) को प्रकाशित करती है (ऋ० १ । १२४ । ७) भ्रातृहीना स्त्री की न्याईं पुरुषों को=पितरों को (पितृ वंश वालों को), उनके अभिमुख हुई प्राप्त होती है, सन्तान का कर्तव्य जो पिण्डदान है, उसके लिये, न कि पति को (प्राप्त होती है), सभा में चढ़ने वाली दक्षिणी स्त्री की न्याईं धन लाभ के लिये । गर्त=सभा का स्थाणु होता है गॄ शब्दे (क्र्या० प०) से, सत्य प्रतिज्ञा वाला होता है (वहां खड़े होकर सत्य २ कहना होता है) उस (गर्त) पर, वह स्त्री, जिसका न पुत्र है, न पति है, चढ़ती है, उस स्त्री को वहां अक्षों से ताड़ते हैं*, तब वह (पति के बन्धुओं से अपने पति का) धन पाती है ।

---

* अक्ष=पांसे के तरह. दक्षिण में ऐसी चाल है, कि जो पति-पुत्र हीना स्त्री हो, वह अपने पति का भाग पति के बन्धुओं से पाने के लिये राज सभा में एक स्थाणु पर बैठ जाती है, उसको अक्षों से ताड़ना करते हुए पूछते हैं, वह उस समय सच सच बात बतलाती है, उसी के अनुसार उसका निर्णय होता है । इसी

श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते गुरतेरपगूर्णो भवति । श्मशानं श्मशयनं। श्म शरीरं। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा । श्मश्रु लोम, श्मनि श्रितं भवति । लोम लुनातेर्वा लीयतेर्वा । 'नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद्गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमान' इत्यपि निगमो भवति । रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः स्तुततमं यानम् । 'आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्' । इत्यपि निगमो भवति । जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषूषा हसनेव दन्तान्विवृणुते रूपाणीति चतस्र उपमाः । नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवतीत्यभ्रातृकाया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः । पिता यत्र दुहितुरप्रत्ताया रेतः सेकं प्रार्जयति सन्दधाति आत्मानं सङ्गमेन मनसेति । अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ॥ ५ ॥

मसानकूट भी गर्त कहलाता है, गुर (तु० आ०) से । (लोक विनाश के लिये) तय्यार होता है । श्मशान=शरीरों का (सदा के लिये) शयन स्थान । श्म=शरीर है । शरीर शॄ वा शम

---

प्रसिद्धि से निरुक्तकार ने इस मन्त्र को खोला है । देशाचार की व्यवस्था से भी कहीं मन्त्रार्थ खोलना चाहिये ( दुर्गाचार्य ) गर्त निघण्टु में घर का नाम है, सो 'धन पाने के लिये राज सभा में जाना' इतना ही आशय मन्त्र से मिल सकता है, अधिक देशाचार है ( सम्पादक )—

( ऋया० प० ) से है । श्मश्रु=लोम ( दाढ़ी मूंछ ) है । शरीर के सहारे होता है । लोम, लूञ् छेदने ( क्या० उ० ) से है, वा, ली ( दि० आ० ) से है । (गर्त का अर्थ श्मशान है, इस में निगम देते हैं) 'यूप का न छीला हुआ प्रदेश नंगा न रक्खे ( कुशा आदि से ढांपदे ) यदि न छीले प्रदेश को नंगा रखेगा, तो यजमान श्मशान में स्थिति वाला=जल्दी मरने वाला होगा' यह भी निगम होता है । रथ भी गर्त कहलाता है, स्तुति अर्थ वाले, गॄ ( क्या० प० ) से । (रथ) बड़ा प्रशंसनीय यान है । 'हे वरुण ! हे मित्र ! रथ पर चढ़ो' ( ऋ० ४ । ३ । ३१ । ३ ) यह भी निगम होता है*। जैसे स्त्री पति के लिये कामना करती हुई अच्छे वस्त्रों वाली ऋतुकालों में, इस प्रकार उषा। हंसती हुई स्त्री जैसे दांतों को खोलती है,वैसे यह रूपों को। यह चार उपमा हैं †। भ्रातृहीना को न विवाहे, क्योंकि उस की (=कन्या के पिता की ) वह सन्तान होती है। इस प्रकार भ्रातृहीना के के विवाह का निषेध और पिता का पुत्र भाव प्रत्यक्ष है ‡।
§ पिता जब न दी हुई कन्या के युवा पति को थापता है, तो

---

* 'श्मशान सञ्चयोपि' से लेकर यहां तक प्रसक्तानुप्रसक्त कह कर प्रकृत मन्त्र के उत्तरार्ध की व्याख्या करते हैं। † इस मन्त्र में चार उपमा हैं। ( १ ) भ्रातृहीना की न्याईं ( २ ) सभा में चढ़ने वाली की न्याईं ( ३ ) स्त्री की न्याईं ( ४ ) हंसती हुई की न्याईं ।

‡ पूर्वले प्रमाण में 'भ्रातृहीना स्त्रियों की न्याईं ठहरी रहें' से भ्रातृहीनके विवाह के निषेध का और कन्याके पुत्र-भावका अनुमान होता था, वह इस ऋचा में प्रत्यक्ष कर दिया है, कि वह उलटी प्राप्त होती है, अर्थात् उसकी सन्तान नाना की सन्तान होती है, इसलिये अपनी सन्तान चाहने वाले को वह नहीं विवाहनी चाहिये।

§ पूर्व जो ३ । ४ में मन्त्र का उत्तरार्ध छोड़ दिया था, उसका अब अर्थ करते हैं, क्योंकि वह भ्रातृहीना के पक्ष में ठीक लगता है।

अपने आपको सुखी मन मे धारता है। (मैं निःसन्तान नहीं हूं, यह पुत्रिका ही मेरा पुत्र है, और इसका पुत्र ही मेरा पोता होगा) *

अब इस (अगली ऋचा) को बहिन के दाय के निषेध में बतलाते हैं, और कई पुत्रिका के ज्येष्ठ भाग (के निषेध में) ॥५॥

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्च कार गर्भं सनितुर्निधानम्। यदीमातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्

न जामये भगिन्यै। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्। जमतेर्वा स्याद्गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति। तान्वः=आत्मजः पुत्रो रिक्थं प्रारिचत्प्रादात्। चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य। यदिह मातरोऽजनयन्त वह्निं पुत्रमवह्निंच स्त्रियम्। अन्यतरः सन्तानकर्ता भवति पुमान् दायादः, अन्यतरो अर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै ॥ ६ ॥

पुत्र बहिन के लिये धन नहीं छोड़ता है, लेने वाले (हाथ पकड़ने वाले) की सन्तान धारने वाली बनाता है। यद्यपि माता पिता (बहू के) विवाहने वाले (पुत्र और न विवाहने वाली कन्या) को † उत्पन्न करते हैं, तथापि भली-भांति उत्पन्न किये उन दोनों में से एक (वंश का) कर्ता

* सिद्धान्त यह ठहरा, कि जिसके घर पुत्र नहीं, पर पुत्री है वह यदि विवाह के समय अपनी कन्या को पुत्रिका लोगों के सामने बनाले; वा मन में धापले, सर्वथा वह इसके पुत्र तुल्य होजाती है, उसका पुत्र कन्या के पति के घर का मालिक नहीं बनता, न वहां रहता है, किन्तु कन्या के पिता का पोता कहलाता है, उसी के घर आता है, और उसी के घर का मालिक बनता है।

† यद्यपि माता पिता एकतुल्य अपने तेज को प्रकट करते हैं [सम्पा०]

होता है (=पुत्र) दूसरा (पाला) पोसा जाता है (कन्या)। नहीं 'जामये=बहिन के लिये।'जामिः'और इस में उत्पन्न करते हैं,जा= सन्तान को। अथवा गति अर्थ वाले जम(भ्वा०प०)से है।(दूसरे घर में) अवश्य जाने वाली है। तान्वः=पुत्र, धन को, और कृ=भारिचव=देता है। बनाता है, इसको गर्भ धारने वाली, लेने वाली की=हाथ पकड़ने वाले की। यद्यपि पिता माता उत्पन्न करते हैं,वन्हि=पुत्र को, और अवन्हि=स्त्री को।पर एक सन्तान का कर्ता होता है,पुत्र,वह दायभागी है,दूसरा=बहिन, पाल पोस कर दूसरे को देदी जाती है॥ ६॥ इति प्रथमः पादः॥

निघण्टु—मनुष्याः। नरः। धवाः। जन्तवः। विशः। क्षितयः। कृष्टयः। चर्षण्यः। नहुषः। हरयः। मर्याः। मर्त्याः। मर्ताः। व्राताः। तुर्वशाः। द्रुह्यवः। आयवः। यदवः। अनवः। पूरवः। जगतः। तस्थुषः।पञ्चजनाः। विवस्वन्तः।पृतना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि॥

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। मनुष्याः कस्मान्मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति मनस्यमानेन सृष्टा मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे मनोरपत्यम् मनुषो वा। तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥७॥

अगले२५ नाम मनुष्यों के हैं (सारे बहुवचन हैं)। मनुष्य किससे? (इससे यह सिद्ध होगा,इस प्रकार साध्य साधन भाव को) जानकर कर्मों को फैलाते हैं ( मन्+सीव से ) ( अथवा ) प्रसन्न होते हुए ( प्रजापति ) ने रचे हैं, ' मनस्यति ' ( नाम धातु ) अच्छे मन वाला होने ( प्रसन्न होने ) अर्थ में है। अथवा मनु की सन्तान (मनुष्य) वा मनुष ( मनोर्जातावञ्यतौषुक् च ४।१।१६१ ) इन ( नामों ) में 'पञ्चजनाः' के निगम ( सन्दिग्ध ) है॥७॥

तदद्य वाचःप्रथमं मसीय येनासुराँ अभिदेवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्॥

तदद्य वाचः परमं मंसीय येनासुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताःस्थानेभ्य इति वा,अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः। 'सोर्देवानसृजत तत् सुराणां सुरत्वमसोर सुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति' विज्ञायते। 'ऊर्जाद उत यज्ञियासः'।अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्गिति अन्ननामो-र्जयततीति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा। 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्'। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्ण-मस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। 'यत्पाञ्चजन्यया विशा'। पञ्चजनीनया विशा॥ पञ्च पृक्ता संख्या स्त्रीपुन्नपुंसकेष्वविशिष्टा॥

मैं वाणी का वह मुख्यबल मानता हूं, कि, हे देवताओ! आज हम असुरों को दबालें। हे अन्न! (हवि) खाने वाले, यज्ञ के योग्य (देवताओ), और हे सारे मनुष्यो! मेरे होत्र को प्यार करो। (सब इस में आओ,मुझ पर अनुग्रह करो (ऋ० ८। १।१३।४)। मैं वाणी का वह उत्तम बल मानता हूं, जिस से हम, हे देवताओ! 'असुरों को दबालें'। 'असुराः' न अच्छे प्रेम वाले स्थानों में। (एक जगह न टिकने वाले। न+सु+रम से) अथवा स्थानों से निकाले हुए (देवताओं द्वारा, असुक्षपणे, दि० प० से) अथवा असु प्राण का नाम है, फैंका हुआ शरीर में

होता है, उससे उस वाले (प्राण वाले=बल वाले, र प्रत्यय अस्त्यर्थ में)। अथवा सु (=उत्तम द्रव्य) से देवताओं को रचा, यह सुरों का सुरत्व है, असु (न उत्तम) से असुरों को रचा, यह असुरों का असुरत्व है, यह (ब्राह्मण में) जाना जाता है 'ऊर्जाद उत यज्ञियासः' अन्न के खाने वाले और यज्ञ के योग्यो। 'ऊर्ज्' अन्न का नाम है, बलिष्ट करता है, ऐसा होने से (ऊर्ज बल प्राणनयोः, चु० उ०) अथवा पका हुआ आसानी से काटा जाता है-(पच्, भ्वा० उ० से वा व्रश्च्, तु० प० से, वा दोनों से)-'हे पञ्चजनो! मेरे होम को प्यार करो' (पांच जन कौन हैं)? गन्धर्व, पितर, देवता, असुर, राक्षस, यह कई (मानते हैं) चारों वर्ण और पांचवां निषद् (शिकारी वा मत्स्यग्राही जातियें, वा वर्णसङ्कर) यह औपमन्यव मानता है। निषाद किस से? बैठने वाला होता है, (रह चुका हुआ नाकामयाब)। अथवा इस में पाप स्थित है। यह नैरुक्त (कहते हैं, नि+षद्, भ्वा० प० से) (पञ्चजन से चारों वर्ण और पांचवां निषाद् अर्थ लेने में यह स्पष्ट प्रमाण है) 'जो ही पांच जातियों की प्रजा ने 'इन्द्रेघोषा असृक्षत=इन्द्र की स्तुतियें की, (ऋ० ६।४।४३।१) पञ्च=मिली हुई संख्या (पृच् रु०प०से) स्त्री पुंनपुंसक में एक जैसी होती है (पञ्च स्त्रियः, पञ्च पुरुषाः, पञ्च कुलानि)।

नि०—आयती। च्यवाना। अभीशू। अप्नवाना। विनङ्गृसौ। गभस्ती। करस्नौ। बाहू। भुरिजौ। क्षिपस्ती। शक्वरी। भरित्रे इति द्वादश। बाहुनामानि॥

बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि॥

अगले १२ भुजाओं के नाम हैं। (सारे द्विवचन हैं) 'बाहू' किससे? इनके द्वारा (पुरुष) कर्मों को झट कर मारता है।

निघण्टु—अग्रुवः। अण्व्यः। विशः। क्षिपः। शर्याः। रशनाः। धीतयः। अथर्यः। विपः। कक्ष्याः। अवनयः। हरितः। स्वसारः। जामयः। सनाभयः। योक्त्राणि। योजनानि। धुरः। शाखाः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। इति द्वाविंशतिरङ्गुलि नामानि ॥ २। ५ ॥

अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। अङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाग्रसारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्जनादेव स्युः। तासामेषा भवति ॥ ८ ॥

अगले २२ नाम अंगुलियों के हैं (सारे बहुवचन हैं)। 'अंगुलियां' किससे? (हरएक काम में) अग्रगामी हैं (अग्र+गम)। पहले निकलने वाली हैं (अग्र+गल) अथवा पहले (काम) करने वाली हैं (अग्र+कृ) अथवा आगे चलने वाली हैं (अग्र+सृ), अथवा अङ्कन (निशान) करने वाली हैं (अङ्क से), अथवा पहुंचने वाली हैं (अञ्च से) अथवा मलने से ही हों (इन से मालिश की जाती है) (अञ्ज् से)। इनकी यह (ऋचा) है ॥ ८ ॥

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्योदशयोजनेभ्यः
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरोदशयुक्तावहद्भ्यः

अवनयो अङ्गुलयो भवन्ति, अवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि। 'दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः'। धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः, इयमपीतरा धूरेतस्मादेव विहन्ति वहं धारयतेर्वा ॥

(हे ऋत्विजो)! जिनके दस रखवाले हैं, दस प्रकाशक हैं, दस जोतर हैं, दस जोड़ने वाले हैं, दस रासें हैं, जो जीर्ण होने वाले नहीं, जो दस प्रदेश में जुड़े हुए दस धुरों को उठाए हुए हैं, उन (सोम ग्रावों) के लिये स्तुति गाओ *। (ऋ० १०।९४।७) 'अवनयः' अंगुलियें हैं, कर्मों की रक्षा करती हैं। (अव्+से) 'कक्ष्याः' (अंगुलियें) कर्मों को प्रकाश करती हैं। 'योक्त्राणि' 'योजनानि' से व्याख्या किया गया (जोड़ने वाले) 'अभीशवः' कर्मों को व्यापती हैं। 'दस प्रदेशों में जुड़े दस धुरों (अंगुलियों) को उठाए हुओं के लिये' 'धुर्' वध अर्थ वाले 'धूर्व' (भ्वा०प०) से है। दूसरी 'धुर्' भी इसी (धूर्व) से है, (घोड़े वा बैल के) कन्धे को ताड़ती है, अथवा धारयति से (बैल वा घोड़े को धारती है)।

निघण्टु—वश्मि। उश्मसि। वेति। वेनति। वेसति। वाञ्छति। वष्टि। वनोति। जुषते। हर्यति। आचके। उशिक्। मन्यते। छन्त्सत्। चाकनत्। चकमानः। कनति। कानिषदित्यष्टादश कान्ति कर्माणः॥ २। ६॥

## कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश॥

अगले १८ धातु कामना (इच्छा) अर्थ वाले हैं॥

निघण्टु—अन्धः। वाजः। पयः। प्रयः। पृक्षः। पितुः। वयः। सिनम्। अवः। क्षु। धासिः। इरा। इळा। इषम्। ऊर्क्। रसः। स्वधा। अर्कः। क्षद्म। नेमः। ससम्। नमः। आयुः। सूनृता। ब्रह्म। वर्चः। कीलालम्। यशइत्यष्टाविंशतिरन्न नामानि॥ २। ७॥

---

* दस रख वाले (सोम के) दोनों हाथों की दस अंगुलियें हैं, इसी तरह प्रकाशक, जोतरे, जोड़ने वाले, और रासें भी दस अंगुलियें हैं। भिन्न २ कर्म प्रकट करने के लिये भिन्न नामों से अंगुलियें ही कही हैं॥

**अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा॥**

अगले २८ अन्न के नाम हैं, 'अन्न' किससे ? झुका हुआ है, प्राणधारियों के (भोजन के) लिये (आ+नम्, भ्वा० प० से) अथवा अद् (अ० प०) से (अद्यते=खाया जाता) है॥

नि०—आवयति। भर्वति। बभस्ति। वेति। वेवेष्टि। अविष्यन्। बप्सति। भसथः। बब्धाम्। ह्वरतीति दशात्तिकर्माणः॥ २। ८॥

**अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश॥**

अगले १० धातु खाने अर्थ वाले हैं॥

निघण्टु—ओजः। पाजः। शवः। तरः। तवः। त्वक्षः। शर्धः। बाधः। नृम्णम्। तविषी। शुष्मम्। शुष्णम्। शूषम्। दक्षः। वीळु। च्यौत्नम्। सहः। यहः। वधः। वर्गः। वृजनम्। वृक्। मज्मना। पौंस्यानि। धर्णसिः। द्रविणम्। स्यन्द्रासः। शंबरमित्यष्टाविंशति-र्बलनामानि॥ २। ९॥

**बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः। (बलं कस्माद्) बलं भरं भवति बिभर्तेः॥**

अगले २८ बल के नाम हैं। (बल किससे ?) बल=धारने पोसने वाला है (वा धारा जाता है। भृ, भ्वा० उ० से) अथवा भृ (जु० उ०) से॥

निघण्टु—मघम्। रेक्णः। रिक्थम्। वेदः। वरिवः। श्वात्रम्। रत्नम्। रयिः। क्षत्रम्। भगः। मीळ्हुम्। गयः। द्युम्नम्। इन्द्रियम्। वसु। रायः। राधः। भोजनम्। तना। नृम्णम्। बन्धुः। मेधा। यशः। ब्रह्म। द्रविणम्। श्रवः। वृत्रम्। ऋतमित्यष्टाविंशतिरेव धन नामानि॥ २। १०॥

धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव । धनं कस्माद्-धिनोतीति सतः ॥

अगले २८ ही धन के नाम हैं । धन किससे ? तृप्त करता है ऐसा होते हुए ( धि, स्वा० प० ) से ॥

निघण्टु—अघ्न्या । उस्रा । उस्रिया । अही । मही । अदितिः । इळा । जगती । शक्वरीति नवगोनामानि ॥ २ । ११ ॥

गोनामान्युत्तराणि नव ॥

अगले ९ गौ के नाम हैं ॥

निघण्टु—रेळते । हेळते । भामते । हृणीयते । भ्रीणाति । भ्रेषति । दोधति । वनुष्यति । कम्पते । भोजत इति दश क्रुध्यति कर्माणः २।१२

क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश ॥

अगले १० धातु क्रोध अर्थ वाले हैं ॥

निघण्टु—हेळः । हरः । हृणिः । त्यजः । भामः । एहः । ह्वरः । तपुषी । जूर्णिः । मन्युः । व्यथिरित्येकादश क्रोधनामानि ॥ २ । १३ ॥

क्रोधनामान्युत्तराण्येकादश ॥

अगले ११ नाम क्रोध के हैं ॥

निघण्टु—वर्तते । अयते । लोटते । लोठते । स्यन्दते । कसति । सर्पति । स्यमति । स्रवति । स्रंसते । अवति । श्चोतति । ध्वंसति । वेनति । मार्ष्टि । भुरण्यति । शवति । कालयति । पेलयति । कण्डति । पिस्यति । विस्यति । मिस्यति । प्रवते । प्लवते । च्यवते । कवते । गवते । नवते । क्षोदति । नक्षति । सक्षति । म्यक्षति । सचति । ऋच्छति । तुरीयति । चतति । अतति । गाति । इयक्षति । सश्चति । त्सरति । रंहति । यतते । भ्रमति । ध्रजति । रजति । लजति । क्षियति । धमति । मिनाति । ऋण्वति । ऋणोति । स्वरति । सिसर्ति । विवेष्टि । योषिष्टि । रिणाति । रीयते । रेजति । दध्यति । दभ्नोति ।

गुध्यति । धन्वति । अरुण्यति । आर्यति । सीयते । तकति । दीयति । ईर्यति । फणति । हनति । अर्दति । मर्दति । सर्त्ति । नमते । इयति । इयर्त्ति । ईर्ते । इङ्खते । अयति । श्वात्रति । गन्ति । आगनीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जसति । गमति । ध्रति । भ्राति भ्रयति । वहत । रथर्यति । जेहते । स्वः कति । क्षुम्पति । प्सराति । वाति । याति । इषति । द्राति । ह्वळति । पजति । जमति । जवति । वञ्चति । अनिति । पवते । हन्ति । सधति । अगन् । अजगन् । जिगाति । पतति । इन्वति । द्रमति । द्रवति । वेति । इन्तात् । पति । जगायात् । अयुथुरिति । द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ २।१४

गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम् ॥

अगले १२२ धातु गति अर्थ वाले हैं ।

निघण्टु—नु । मंक्षु । द्रवत् । ओषम् । जीराः । जूर्णिः । शूर्ताः । शूघनासः । शीभम् । तृषु । तूयम् तूर्णिः । अजिरम् । भुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः । तूतुजानः । तुज्यमानासः । अज्राः । साचीवित् । द्युगत् । ताजत् । तरणिः । वातरंहा । इति—षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ २।१५

क्षिप्रनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः । क्षिप्रं कस्मात् संक्षिप्तो विकर्षः ॥

अगले २६ नाम जल्दी के हैं । 'क्षिप्र'—किससे ? संक्षिप्त होता है=खिंचा हुआ, थोड़े काल में हुआ ( क्षिप् से ) ।

निघण्टु—तळित् । आसात् । अम्बरम् । तुर्वशे । अस्तमीके । आके । उपाके । अर्वाके । अन्तमानाम् । अवमे । उपमइत्येकादशान्तिकनामानि ।

अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश । अन्तिकं कस्मादानीतं भवति ॥

अगले ११ समीप के नाम हैं । 'अन्तिक' किससे ? ( निकट ) लाया हुआ होता है (आ+नी० भ्वा० उ० से ) ॥

निघण्टु—रणः । विवाकृत विखादः। नदनुः। भरे। आक्रन्दे। आहवे । आजौ । पृतनाज्यम् । अभीके । समीके । ममसत्यम् । नेमधिता । सङ्काः । समितिः । समनम् । मीह्ळे । पृतनाः । स्पृधः । मृधः । पृत्सु । समत्सु । समर्ये । समरणे । समोहे । समिथे । संख्ये । सङ्गे । संयुगे । संगथे । संगमे । वृत्रतूर्ये । पृक्षे । आणौ । शूरसातौ । वाजसातौ । समनीके । खले । खजे । पौंस्ये । महाधने । वाजे । अज्म । सद्म । संयत् । संवत् । इति षट्चत्वारिंशत्संग्राम नामानि । २ । १७

संग्रामनामान्युत्तराणि षट्चत्वारिंशत् । संग्रामः कस्मात्संगमनाद्वा, संगरणाद्वा; संगतौ ग्रामाविति वा। तत्र खल इत्येतस्य निगमा भवन्ति ॥ ९ ॥

अगले ४६ संग्राम के नाम हैं। संग्राम किस से ? इकट्ठे होने से ( इसमें योधे इकट्ठे होते हैं ) वा इकट्ठे शब्द करने से ( इसमें योधे मिलकर गर्जते हैं ) अथवा दो दल संगत होते हैं ( सं+ग्राम ) । उन ( ४६ नामों ) में से 'खले' के ( संदेह वाले ) निगम हैं (क्योंकि 'खले'=अनाज के खलयान का नाम भी है) ।

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति । खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥ अभिभवामीदमेकमेकोऽस्मि निःषहमाणः सपत्नानभिभवामि द्वौ । किं मा त्रयः कुर्वन्ति । एक इता संख्या । द्वौ द्रुततरा संख्या । त्रयस्तीर्णतमा संख्या । चत्वारश्चलिततमा संख्या । अष्टावश्नोतेः । नव न वननीया नावाप्ता वा । दश दस्ता दृष्टार्था

वा। विंशतिर्द्विर्दशतः। शतं दशदशतः। सहस्रं सहस्व-त्। अयुतं नियुतं प्रयुतं तत्तदभ्यस्तम्। अर्बुदो मेघो भवति-अरणमम्बु तद्दोऽम्बुदोम्बुमद्भातीति वाम्बुमद्भवतीति वा। स यथा महान्बहुर्भवति वर्षस्तदिवार्बुदम्। 'खलेन पर्षान्प्रति हन्मि भूरि' खल इव पर्षान्प्रति हन्मि भूरि। खलइति सङ्ग्रामनाम खलतेर्वा स्खलतेर्वा। अयमपीतरः खल एतस्मादेव समास्कन्नो भवति। 'किं मा निन्द-न्ति शत्रवोऽनिन्द्राः'। य इन्द्रं न विविदुरिन्द्रो ह्यह-मस्म्यनिन्द्रा इतर इति वा॥

(शत्रुओं को) पूरा २ दबाने वाला मैं अकेला एक २ को दबालेता हूं, दो को दबा (लेता हूं) तीन क्या करसक्ते हैं। खल्यान में बहुत से पूलों की तरह मैं संग्राम में बहुत से सख्त जवानों को पीसडालता हूं, क्या वह शत्रु जो इन्द्र नहीं, मुझ निन्द सकते हैं (ऋ० ८।१।६।२) दबालेता हूं यहां एक २ को अकेला मैं। दबाता हुआ शत्रुओं को। अभि=दबाता हूं, दो को। क्या मुझे तीन कर सकते हैं। 'एक' पहुंची हुई संख्या (दो आदि में अलग २ एकता रहती है) (इ, अ० प० से) 'द्वि' (एक की अपेक्षा) अधिक आगे बढ़ी हुई संख्या। 'त्रि' (दो से भी) आगे तैरकर गई हुई संख्या। 'चतुर्' बहुत दूर चलीगई संख्या। (तीन से भी आगे गई हुई) 'अष्टन्' अश् (स्वा० आ०) से (सात से आगे

व्यापी हुई संख्या ) । 'नवन्' न सेवने योग्य * ( नौपर पहुंच कर प्रायः ठहराव नहीं करते, पूरा दहाका कर देते हैं ) अथवा न पाई हुई (छोड़ी हुई) । 'दशन्' क्षीण हुई संख्या (क्योंकि संख्या मुख्य यहां तक ही हैं, आगे फिर वही मिलाकर बनती हैं) अथवा देखे हुए अर्थ वाली (आगे एकादश, द्वादश आदि में इसका अर्थ बार २ पाया जाता है ) 'विंशति' दो बार दस से ( द्वि+दश+तिः ) 'शत' दस दहाके से । 'सहस्र' बल वाला ( सहस्रों दुर्बल भी मिलकर बड़े २ काम करते हैं ) अयुत, नियुत, प्रयुत, वह २ बार २ हुआ होता है ( सहस्र दस बार हुआ अयुत, अयुत दसबार हुआ नियुत, नियुत दसबार हुआ प्रयुत ) । अर्बुद' मेघ होता है । अम्बु=जल है, उसका देने वाला 'अम्बुद' =मेघ ( अर्व भी मेघ के जल की तरह बहुत सारा होता है, इस लिये अम्बुद का ही अर्बुद बनगया है ), अथवा ( अर्व ) मेघ होकर भासता है, वा मेघ होता है ( अर्थात् ) वह जैसे बहुत बड़ा होता है, जब बरसता है, इस प्रकार अर्बुद है (-बहुत बड़ा ) 'खल्यान में बहुत से पूलों की तरह पीसडालता हूं' (न=इव के अर्थ में हैं)। 'खल'संग्राम का नाम है,खल (भ्वा०प०) से(उसमें योधा गिरते हैं) वा स्खल(भ्वा०प०)से (उसमें योधे मारे जाते हैं) यह जो दूसरा खल (अनाज का खल्यान) है, यह भी इसी से है ( इसमें पूले गिरते हैं, वा पिसते हैं ) अथवा दबा हुआ होता है (बिखरे हुए पूलों से ) । 'क्या मुझे निन्द सकते हैं शत्रु, जो कि इन्द्र नहीं हैं, 'जो मुझ' इन्द्र को पूरा नहीं समझते हैं, अथवा मैं इन्द्र हूं, दूसरे अनिन्द्र हैं ।

* नवमी को कोई अच्छा काम नहीं किया जाता है (दुर्गाचार्य)

निघण्टु—इन्वति । नक्षति । आक्षाणः । आनट् । आष्ट । आपानः । अशत् । नशत् । आनशे । अश्नुते । इति दश व्याप्ति कर्माणः ।

**व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश । तत्र द्वे नाम्नी आक्षाण अश्नुवान आपान आप्नुवानः ॥**

अगले दस धातु व्याप्ति अर्थ वाले हैं । उनमें दो नाम (आक्षाणः । आपानः हैं ) आक्षाणः=अश्नुवानः=व्यापता हुआ ( अशूङ् व्याप्तौ, से शानच्, सिब बहुलं लेटि ३।१।३४ बाहुलक से सिप् और उपधा दीर्घ, व्रश्चादि से श को ष्,षढोः कः सि ८।२।४१ से ष् को क,आदेश-प्रत्ययोः ८।३।५९ से स् को ष्, और रषाभ्यां,अट्कु सेन् को ण् आक्षाणः) आपानः=आप्नुवानः=व्यापता हुआ ( आप्लृ व्याप्तौ, स्वा० प० से शानच् ) ।

नि०-दभ्नोति । श्नथति । ध्वरति । धूर्वति । वृणक्ति । कृन्तति । क्रुध्यति । कृणवति । क्नथति । श्वसिति । नमते । मर्दयति । स्तृणाति । स्नेहयति । यातयति । स्फुरति । स्फुलति । निवपन्तु । अवतिरति । वियातः । आतिरत् । तळित् । आखण्डल । दृणाति । रम्णाति । श्रुणाति । शम्नाति । तृणेढि । ताहळि । नितोशते । निवर्हयति । मिनाति । मिनोति । धमतीति । त्रयस्त्रिंशद्वधकर्माणः । २ । १९ ।

**वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत् । तत्र वियात इत्येतद्वियातयत इति वियातयेति वा ॥ आखण्डल प्र हूयसे । आखण्डयितः खण्डं खण्डयतेः । तडिदित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म ताडयतीति सतः ॥१०॥**

अगले ३३ धातु वध अर्थवाले हैं । उन में 'वियातः' यह पद, (नाम) वियातयते=(शत्रुओं का जो) नाना प्रकार से नाश करता है, ( इस अर्थ में है ) या वियातय=नाश कर (शत्रुओं को) यह जिस की स्तुति की जाती है ( वह वियात है ) । ( आखण्डल

भी नाम है ) हे ( शत्रुओं वा मेघों के ) टुकड़े करने वाले ( इन्द्र ) तू ( हमसे ) बुलाया जारहा है ( हमारी सहायता के लिये आ ) (ऋ० ६।६।२४।२) आखण्डयितः=टुकड़े करने वाले। 'खण्ड'=टुकड़ा खण्ड (चु० प०) से है। (तड़ित् भी नाम है ) तड़ित् यह समीप और वध के सांझे अर्थ वाला है, ताड़ना करता है, ऐसा होते हुए से॥

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि। या नो दूरे तडितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः॥ त्वया वयं सुवर्द्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददीमहि। याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिकेऽरातयोऽदानकर्माणो वाऽदानप्रज्ञा वा।जम्भय ता अनप्नसः।अप्नइति रूपनामाप्नोतीति सतः। विद्युत्ताडिद्भवतीति शाकपूणिः साह्यवताडयति दूराच्च दृश्यते। अपि त्विदमन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्॥ 'दूरे चित्सन्ताळदिवाति रोचसे'। दूरेऽपि सन्नन्तिक इव सन्दृश्यस इति॥

हे ब्रह्मणस्पते! तुझ अच्छा बढ़ाने वाले के साथ हम मनुष्यों से उत्तम धनों को ग्रहण करें, जो दूर और जो निकट न देने वाले शत्रु हमें दबाते हैं, उनको वेरूप बनाकर नाश कर (२।६।३०। ४) 'तुझ अच्छा बढ़ाने वाले के साथ हे ब्रह्मणस्पते चाहने योग्य धनों को मनुष्यों से लेवें'। 'जो हमारे दूर और जो' तडितः=निकट, अरातयः=न देने के कर्म वाले, वा न देने की मति वाले हैं, 'नाश कर उन रूप हीनों को'। 'अप्नस्' रूप का नाम है, व्यापता है

( आश्रय को ) ऐसा होने से । तड़ित यह बिजली है, यह शाकपूणि (मानता है,) क्योंकि वह ( गिरकर ) नाश करती है, और दूर से दीखती है । किन्तु यह ( वक्ष्यमाण तडित् शब्द ) समीप का वाचक ही अभिप्रेत होसकता है । 'दूर हुआ भी तू समीप की न्याईं अतीव चमकता है' ( ऋ० १।६।३१।२ ) दूर हुआ भी समीप की न्याईं दीखता है ।

निघण्टु—दिद्युत् । नेमिः । हेतिः । नमः । पविः । सृकः । वृकः । वधः । वज्रः । अर्कः । कुत्सः । कुलिशः । तुजः । तिग्मम् । मेनिः । स्वधितिः । सायकः । परशुरित्यष्टादश वज्र नामानि । २।२०

वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश । वज्रः कस्माद्वर्जयतीति सतस्तत्र कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः । ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः । अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति तत्सख इन्द्र शुष्णं जघानेति ॥

अगले १८ वज्र के नाम हैं । 'वज्र' किस से ? अलग करदेता है ( प्राणों से प्राणियों को ) ऐसा होते हुए से । उन में 'कुत्स' यह नाम, कृती छेदने ( तु० प० ) से है ( कृत्यते ऽनेन=जिससे टुकड़े किया जाता है ) ऋषि । ( भी ) कुत्स है, क्योंकि वह स्तोमों का कर्ता है, यह ( इस प्रकार, कृधातु से ) औपमन्यव (मानता है) ( किन्तु हमारी सम्मति में ) यहां भी ( ऋषि विशेष के अर्थ में भी ) इस ( कुत्स शब्द ) का वध अर्थ ही है । ( क्योंकि उनसे स्तुति किये ) उसके सखा इन्द्र ने शुष्ण ( वृत्र ) को मारा था ।

निघण्टु—इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजतीति चत्वार ऐश्वर्य कर्माणः । २।२१

ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ॥

अगले ४ धातु ऐश्वर्य अर्थ वाले हैं।

निघण्टु—राष्ट्रि । अर्यः नियुत्वान् । इन इन इति चत्वारीश्वरनामानि ।

इति निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि तत्रेन इत्येतत्सनित ऐश्वर्येणेति वा सनितमनेनैश्वर्यमिति वा ॥११॥

अगले ४ नाम ईश्वर के हैं। उनमें 'इन' यह (नाम इस प्रकार निर्वचन करना चाहिये) ऐश्वर्य ने इस पाया है, वा इसने ऐश्वर्य पाया है ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश ॥

अच्छा उड़ने वाले अमृत के भाग को लगातार समझकर जहां पहुंचाते हैं। जो सारे भुवन का स्वामी है, और रक्षक है, वह सच्चा ज्ञानी यहां मुझ पकने योग्य में आवेश करे*(ऋ० २।३।१८।१)

यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः। 'अमृतस्य भागम्,उदकस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति

* इस मन्त्र के अधिदैवत और अध्यात्म दो अर्थ लिये हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। अधिदैवत में उड़ने वाले=सूर्य के किरण, अमृत=जल, समझ कर अर्थात् जैसे समझ कर कोई अपने नियम का पालन करे, जहां=सूर्य में, सारा भुवन=सारा ब्रह्माण्ड, सच्चा ज्ञानी=यथार्थ नियम पर चलने वाला, पकने योग्य=अनुग्रह योग्य। अध्यात्म में, उड़ने वाले=ज्ञानेन्द्रिय, अमृत=ज्ञान, जहां= आत्मा में, सारा भुवन=हरएक प्राणधारी, और सब पूर्ववत् ।

वाभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरःसर्वेषां भूतानां गोपायिता-ऽऽदित्यः'स मा धीरःपाकमत्राविवेशे'ति धीरो धीमान्पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आदित्य इत्युपनिषद्वर्णो भवतीत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मं यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाण्यमृतस्य भागं ज्ञानस्याभिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीतिवाभिप्रयन्तीति वा।ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा। 'स मा धीरःपाक-मत्राविवेशे'ति। धीरो धीमान्पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥१२॥

जहां, सुपर्णाः=अच्छा उड़ने वाले सूर्य के किरण। अमृतस्य= जल के, भाग को। लगातार समझकर तपाते हैं वा पहुंचाते हैं। ईश्वर, सब भूतों का रक्षक सूर्य 'वह सच्चा ज्ञानी मुझ पकने योग्य में आवेश करे। धीरः=बुद्धिमान्। पाकः'=पकने योग्य होता है। 'पके हुए ज्ञान वाला सूर्य है' यह उपनिषद् का वर्णन है। यह अधिदैवत (अर्थ) है। अब अध्यात्म (कहते हैं) जहां, सुपर्णाः= अच्छे उड़ने वाले इन्द्रिय, अमृतस्य=ज्ञान के, अंशको। लगातार समझकर चमकाते हैं, वा पहुंचाते हैं। ईश्वर, सारे इन्द्रियों का रक्षक आत्मा। 'वह सच्चा ज्ञानी मुझ पकने योग्य में आवेश करे' धीरः=बुद्धिमान्। पाकः=पकने योग्य होता है। पक्के ज्ञान वाला परमात्मा है, इस प्रकार (यह मन्त्र) आत्मज्ञान को बतलाता है ॥ १२ ॥

नि०उरु। तुवि। पुरु। भूरि। शश्वत्। विश्वम्। परीणसा। व्यानशिः। शतम्। सहस्रम्। सलिलम्। कुविदिति द्वादश बहुनामानि। ३। १।

**बहुनामान्युत्तराणि द्वादश। बहु कस्मात्प्रभवतीति सतः**

अगले १२ बहुत के नाम हैं। 'बहु' किससे? प्रभूत होता है, ऐसा होते हुए से ( भू, से )॥

नि०ऋहत्। ह्रस्वः। निघृष्वः। मायुकः। प्रतिष्ठा। कृधुः। वम्रकः। दभ्रम्। अर्भकः। क्षुल्लकः। अल्प इत्येकादश ह्रस्व नामानि। ३। २

**ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश। ह्रस्वो ह्रसतेः॥**

अगले ११ छोटे के नाम हैं, ह्रस्व, ह्रस (भ्वा० प०) से है ( ह्रसति=छोटा होता है )॥

नि०महत्। ब्रध्नः। ऋष्वः। बृहत्। उक्षितः। तवसः। तविषः। महिषः। अभ्वः। ऋभुक्षाः। उक्षा। विहायाः। यह्वः। ववक्षिथ। विवक्षसे। अम्भृणः। माहिनः। गभीरः। ककुहः। रभसः। आधत्। विरप्शी। अद्भुतम्। बर्हिष्ठः। बर्हिषदिति पञ्च विंशतिर्महन्नामानि।

**महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः। महान्कस्मान्मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिर्महनीयो भवतीति वा। तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्येते वक्तेर्वा वहतेर्वा साऽभ्यासात्॥**

अगले२५नाम बड़े के हैं। महत्' किस से? माप से दूसरों को ( नीचे ) छोड़ता है (मा+हा दो धातुओं से) यह शाकपूणि (मानता है) अथवा पूजनीय होता है ( मह से )। उनमें 'ववक्षिथ' और 'विवक्षसे' यह दोनों द्वित्व हुए वच् से वा वह से ( आख्यात रूप ) हैं॥

नि०गयः। कृदरः। गतः। हर्म्यम्। अस्तम्। पस्त्यम्।दुरोणे। नीळम्। दुर्याः। स्वसराणि। अमा। दमे। कृत्तिः। योनिः। सद्म। शरणम्। वरूथम्। छर्दिः। छदिः। छाया। शर्म। अज्मेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि।

**गृहनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः। गृहाः कस्माद् गृह्णन्तीति सताम् ॥**

अगले २२ घर के नाम हैं, 'गृह' किस से ? (जो कुछ आए) लेते जाते हैं (दुष्पूर हैं) ऐसा होते हुए से ॥

नि०इरज्यति। विधेम। सपर्यति। नमस्यति। दुवस्यति! ऋध्नोति। ऋणद्धि। ऋच्छति। सपति। विवासतीति दश परिचरण कर्माणः।

**परिचरणकर्माण उत्तरे धातवो दश ॥**

अगले १० धातु सेवा अर्थ वाले हैं।

नि० शिम्बाता। शतरा। शातपन्ता। शल्नं। स्यूमकम। शेवृधम मयः। सुग्म्यम्। सुदिनम्। शूषम्। शुनम्। शेपजम्। जलाषम्। स्योनम्। सुम्नम्। शेवम्। शिवम्। शम्। कमिति। विंशतिः सुखनामानि। ३।६

**सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः। सुखं कस्मात्सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः ॥**

अगले२० सुख के नाम हैं। सुख किससे ? अच्छा हितकारी है इन्द्रियों के लिये (सु+ख)। 'ख' खन् (भ्वा० प०) से है (इन्द्रिय शरीर में मानो खोदे हुए हैं)।

नि०निर्णिक्। वव्रिः। वर्पः। वपुः। अमतिः। अप्सः। प्सः। अप्नः। पिष्टम्। पेशः। कृशनम्। प्सरः अर्जुनम्।ताम्रम्। अरुपम्। शिल्पमिति। षोडश रूपनामानि। ३।७।

**रूपनामान्युत्तराणि षोडश। रूपं रोचतेः ॥**

अगले १६ रूप के नाम हैं। रूप रुच् (भ्वा० आ०) से है।

नि० अस्रेमाः। अनेमाः। अनेद्यः। अनवद्यः। अनभिशस्ताः। उक्थ्यः। सुनीथः। पाकः। वामः। वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि। ३।९

प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश ॥

अगले १० प्रशंसा योग्य के नाम हैं ॥

नि० केतः। केतुः। चेतः। चित्तम्। क्रतुः। असुः। धीः। शचीः माया। वयुनम्। अभिख्येत्येकादश प्रज्ञा नामानि।

प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश ॥

अगले ११ प्रज्ञा के नाम हैं ॥

नि० बट्। श्रत्। सत्रा। अद्धा। इत्था। ऋतमिति षट् सत्यनामानि।

सत्यनामान्युत्तराणि षट्। सत्यं कस्मात्सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा ॥

अगले ६ सत्य के नाम हैं। सत्य किससे? भलों में फैलता वा भलों से उत्पन्न होने वाला है ॥

नि०-चिकयत्। चाकनत्। आचक्ष्म। चष्टे। विचष्टे। विचर्षणिः। विश्वचर्षणिः। अवचाकशदित्यष्टौ पश्यतिकर्माणः। ३।११

अष्टा उत्तराणिपदानिपश्यतिकर्माण उत्तरे धातवश्चायतिप्रभृतीनि च नामान्यामिश्राणि ॥

अगले आठ पद देखने अर्थवाले धातु हैं, चायति आदि भी.* (इन में, नाम मिलजुले हैं) ॥

---

* चायति आदि और धातु भी वेद में देखने अर्थ वाले हैं, जो इन में नहीं पढ़े। चिकयत्, कित ज्ञाने (भ्वा० प०) यङ्लुगन्त से शतृ। चाकनत्, कन् (भ्वा० प०) यङ्लुगन्त से शतृ। आचक्ष्म चष्टे, विचष्टे (चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अ० आ के आख्यात रूप) विचर्षणिः, विश्व चर्षणिः नाम हैं, वि, विश्वपूर्वक कृष उ० २। ९७। अवचाकशत्, काशृ दीप्तौ (भ्वा० आ०) यङ्लुक्, शतृ।

नि० हिकम् । नुकम् । सुकम् । आहिकम् । आकीम् । नकिः । माकिः। नकीम् । आकृतामिति नवोत्तराणि पदानिसर्वपदसमाम्नानाय ।

नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ॥

अगले ९ पद सारे पदों के पढ़ने के लिये हैं *॥

नि०इदमिव।-इदंयथा । अग्निर्नेव । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वृक्षस्यनुते पुरुहूत वयाः । जार आ भगम् । मेषो भूतो भियन्नयः। तद्रूपः । तद्वर्णः । तद्वत् । तथेत्युपमाः ।

अथात उपमाः । यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यस्तदासां कर्म । ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते।अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ॥ १३ ॥

अब आगे उपमा हैं, * जो ( वस्तु ) वह न हो, ( पर ) उसके सदृश हो (जैसे 'सिंह इव विक्रान्तः'=शेर नहीं, पर शेर के सदृश है) यह इनका अर्थ है यह गार्ग्य कहता है। बड़े गुण से वा प्रसिद्ध गुण से छोटे को वा अप्रसिद्ध को उपमा दीजाती है ( जैसे 'सिंह इव विक्रान्तः' यहां बड़े गुण से छोटे को, और

---

*निघण्टु में नाम आख्यात भिन्न२खण्डों में पढ़े हैं। उपसर्ग आख्यातों के साथ 'आचक्ष्म, विचष्टे' इत्यादि रूप से पढे हैं। निपातकहीं नहीं पढ़े थे, सो इन में कुछ निपात दिखलाए हैं । हिकम्, नुकम् इत्यादि एकार्थ नहीं, किन्तु चतुर्विधपद पढे जाएं, इसके लिये पढे हैं। 'इदमिव'और 'इदं यथा'यह'इदम'सामान्यनाम.नाम विशेष के स्थान पर है । इसी प्रकार तद्रूपः, 'तद्वर्णः, तद्वत्' में तत्शब्द । इनसारी उपमाओं के उदाहरण आगे क्रमशः आएंगे ।

'चन्द्र इव कान्तः शिशुः' यहां प्रसिद्ध गुण से अप्रसिद्ध को उपमा दी है ) । और कहीं छोटे गुण से बड़े को भी ( उपमा दीजाती है, यह वेद में ही है ) ॥ १३ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । तनूत्यक्तनूत्यक्ता । वनर्गू वनगामिनावग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते । तस्करस्तत्करो भवति, करोति यत्, पापकमिति नैरुक्ताः । तनोतेर्वा स्यात्सन्ततकर्मा भवत्यहोरात्रकर्मा वा । रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । अभ्यधीतामित्यभ्यधाताम् । ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

शरीर त्यागने वाले ( प्राणों को हथेलीपर रखे हुए ) वन में घूमने वाले दो चोरों की न्याईं ( हे अग्ने ! हमारी दोनों भुजाएं ) दस रस्सियों ( अंगुलियों ) से तुझे बांधें * ( ऋ० ७ । ५ । ३२ । ६ ) तनूत्यक्=शरीर त्यागने वाला । वनर्गू=वनगामी । अग्नि के मन्थन करने वाली दोनों भुजाओं को चोरों से उपमा देता है । 'तस्कर' उसका करने वाला होता है, (तत्+कर) तत् से अभिप्राय

* जैसे वन में लूटमार करने वाले दो चोर जान को हथेली पर रखकर पथिकों को बांधते हैं, वैसे हम मन्थन करते हुए हे अग्ने दोनों भुजाओं से तुझ को बांधते हैं, अवश्य ही तुझे अपने बल से यहां प्रकट करेंगे । यहां चोर निकृष्ट गुणवाले हैं, और अग्नि के मन्थन करने वाली भुजाएं उत्कृष्ट गुणवाली हैं, इस प्रकार निकृष्ट से उत्कृष्ट को उपमा दी है, किन्तु प्राण हथेलीपर रखकर अपने काम में डट कर लगने का गुण ही उपमा से यहां अभिप्रेत है ।

जो (काम) वह करता है। (तत् से अभिप्राय) पाप कर्म यह नैरुक्त (कहते हैं) अथवा तनु विस्तारे (त० उ०) से है, लगातार कामवाला, दिन रात काम वाला (दिनको साधारण काम, रात को चोरी) दस रश्मियों से अभ्यधीताप=बांधें। यहां उनमें (भुजाओं में) बड़ा गुण अभीष्ट है॥ १४॥

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ क्व स्विद्रात्रौ भवथः, क्व दिवा, क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः, क्व वसथः, को वां शयने 'विधवेव देवरम्' देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधावनाद्वेति चर्मशिरा, अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौतेः। आकुरुते सहस्थाने॥

(छोटे से बड़े की उपमा का उदाहरण और भी दिखलाते हैं) हे अश्विनो! तुम दोनों रात को कहां होते हो, दिन को कहां होते हो (जिस से कि न रात को, न दिन को दीखते हो) कहां तुम (प्राप्तव्यवस्तुओं की) प्राप्ति करते हो, कहां वास करते हो, कौन (यजमान) तुमको (यजमान और देवताओं के) साथ मिल बैठने के स्थान (वेदि) पर अपनी ओर झुकाता है, जैसे शय्या के रूप विधवा देवर को, वा (सधवा) स्त्री अपने

पति को * (अपनी ओर झुकाती है) (ऋ० ७।८।१८।२)। कहां रात थे, कहां दिनको, कहां प्राप्ति करते हो, कहां वास करते हो, कौन तुम दोनों को शय्या पर 'विधवा जैसे देवर को' देवर किससे ? दूसरा वर कहलाता है। विधवा=विना पालने पोसने वाले के होती है (वि+धा० जु० उ० से) अथवा कम्पने से (पति के मरने से कांपी हुई होती है. (वि+धूञ् कम्पने, स्वा० उ०) अथवा (पति न रहने के हेतु) इधर उधर दौड़ने से (वि+धाव् से) यह चर्मशिरा (मानता है)। अथवा धव मनुष्य का नाम है, उसके न रहने से विधवा। देवर, खेलन अर्थवाला है। मर्य=मनुष्य, मरने के धर्म वाला (मृङ्. मरणे, तु० आ० से) योषा. यु (अ०१०) से (पुरुष के साथ अपने आपको मिलाती है)। झुकाता है इकट्ठे बैठने के स्थान पर।

अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः । यथेति कर्मोपमा ॥ यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति॥

---

* "जैसे विधवा देवर को, और जैसे स्त्री पति को" इन दो अलग उपमाओं से, विधवा का देवर से सम्बन्ध स्पष्ट है, और यही बात 'देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते' से स्पष्ट की है। किन्तु विधवा का ब्रह्मचर्य में रहना अधिक उच्च धर्म है, देवर वा दूसरे वर से सम्बन्ध भी शास्त्र विहित ही है। दुर्गाचार्य के अर्थ से भी यही बात सिद्ध है। महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तशर्मा ने इस पर अपनी सविस्तर टिप्पणी देकर चार पक्ष दिखलाए हैं, विधवा का ब्रह्मचर्य में रहना, उत्तम है, सती हो जाना मध्यम है, और फिर विवाह करलेना अधम है,इनतीनों पक्षो को वेद सम्मत कह कर चौथे पक्ष अर्थात् विना विवाह व्यभिचार को वेद विरुद्ध और गर्भहत्यादि पातकों का मूल ठहराया है।

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ आत्माऽततेर्वाप्तेर्वापि वाप्त इव स्याद्यावद् व्याप्तिभूत इति ॥ अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः । अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः ॥ १५ ॥

अब निपात (कहते हैं, वह सामान्यतः) पूर्व ही (१।४–१।११ में) व्याख्या किये गए हैं ( अब निघण्टु में पढ़े उपमावाचकों में जो विशेषतः व्याख्येय हैं, उनकी व्याख्या करते हैं ) 'यथा' यह क्रिया की उपमा ( में ) है । ( जैसे । ) जैसे वायु, जैसे वन ( के वृक्ष ), जैसे समुद्र कांपता है ( वैसे तू हे दसवें महीने के गर्भ ! जेर समेत बरे आ–ऋ०५ । ४।२० ।४) (दूसरा उदाहरण) जैसे चमकती हुई अग्नियें ( वैसे चमकती हुई किरणें दीखती हैं ऋ० १ । ४ । ७ । ३ ) (तीसरा उदाहरण–) ( यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे–जूंही कि मैं बल डालता हुआ ओषधियों को हाथ में लेता हूं, ( उसी समय ) क्षयरोग (तपदिक,वा सिल) का आत्मा पहले ही नष्ट होता है, जैसे जीते पकड़े हुए ( पक्षी का ) * ( ऋ० ८ । ५ । १० । १ ) आत्मा, अत ( भ्रा०

* जैसे शिकारी से पकड़े हुए पक्षी का शरीर, हनन से पहले ही अधमरा होजाता है, इसी तरह ओषधि हाथ में लेने से प्रयोग से पहले ही रोग नष्ट हो जाता है. 'यावत् पुरा निपातयोर्लट् ( ३ । ३ । ४ ) से पुरा के योग में भविष्यत् अर्थ में लट् है, यहां 'पुरा' निपात, निश्चय का द्योतक है 'इसी सूत्र पर भट्टो जिदीक्षित ने कहा है 'निपातावेतौ निश्चयं द्योतयतः' । अर्थात्

प० ) से है ( निरन्तरगति है, कहीं भी उसकी पहुंच को रोक नहीं, परम सूक्ष्म है ) अथवा आप्लृ व्याप्तौ ( स्वा० उ० ) से है, पहुंचे हुए की न्याईं है, यह ( अभिप्राय ) होसक्ता है, सारे व्याप्ति वाला ( अर्थात् सारे शरीर में चेतनता का प्रकाश है, वा परमात्मा सारे व्यापक है ) । अग्नि की न्याईं चमकते हुए, चमकती हुई छातियों वाले (=छाती पर लटकते सुनहरी पदकों वाले, शूरवीर मरुत्–ऋ० ८ । ३ । १२ । २ ) अग्नि की न्याईं जो मरुत् चमकते हुए, चमकती हुई छातियों वाले=चमक वाले, सुनहरी छातियों वाले ॥ १९ ॥

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥ चतुरोऽक्षान्धारयत इति तद्यथा कितवाद् विभीयादेवमेव दुरुक्ताद् विभीयान्न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ॥ आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातोऽथाप्युपमार्थे दृश्यते ॥ 'जार आ भगम्' । जार इव भगमादित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता स एव भासाम् । तथापि निगमो भवति 'स्वसुर्जारः

यह पक्का निश्चय है, कि रोग दूर होजाएगा, इस आशय को इस तरह बोधन किया है. कि ज्यूंही ओषधि को हाथ में लिया, त्यूंही ओषधि प्रयोग से पहले ही, यक्ष्मा का आत्मा नष्ट होजाता है। इस से यह बोधन किया है, कि वैद्य ऐसा होना चाहिये, कि उसके ओषधि प्रयोग से राजरोग भी निःसदेह शरीर से निकलजाए, क्या फिर सामान्यरोग (जैसे शिकारी से वा मृत्यु से-सायण) ।

शृणोतु नः' इत्युषसमस्य स्वसारमाह-साहचर्याद्रसहर-णाद्वा। अपि त्वयं मनुष्यजार एवाभिप्रेतः स्यात्स्त्री-भगस्तथा स्याद्भजतेः॥

दुर्वचन ( अनिष्ट वचन=गाली निन्दा आदि के कहने वा सुनने ) की कामना न करे; अपितु डरे, जैसा कि चार (पांसे) धारे हुए से ( पांसों ) के फैंकने तक डरता है * ( १।४१।९ ) चार नर्दों को धारे हुए से, सो जैसा ऐसे जुआरिये से डरे, ठीक ऐसे ही दुरुक्त से डरे, दुरुक्त की कभी कामना न करे (सदा सूक्त ही कहने सुनने की कामना करे) । 'आ' उपसर्ग पूर्व ही (१।३में) व्याख्या किया गया है। और यह ( आ ) उपमा अर्थ में भी देखा जाता है। 'सूर्य जैसे अपनी ज्योति को (ऋ० १० । ११। ६ )। सूर्य यहां जार कहा जाता है, ( क्योंकि ) रात्रि का जीर्ण करने वाला है, वही ( चन्द्र आदि की ) प्रभाओं का ( जीर्ण करनेवाला है )। वैसा भी निगम है † 'उषा का जीर्ण करने वाला ( सूर्य ) हमें सुने ( ऋ० ४ । ८ । २१ । ५ ) उषा को इस ( सूर्य ) की बहिन कहता है, साथ विचरने से ( जैसे बहिन भाई आगे पीछे चलते है, वैसे उषाके पीछे २ सूर्य चला आता है ) अथवा रस खींचने से । अथवा ‡ यह मनुष्य

* पांसे की खेल में जिसके हाथ में पांसे हैं, उससे दूसरा पुरुष डरता है, न जाने क्या पड़ेगा, न हो कि मुझे जीते, यह डर पांसे फैंकने तक पूरा रहता है, ऐसा ही दुर्वचन से सदा डरता रहे † 'जार आभगम्' में जार का अर्थ सूर्य लिया है, ऐसा अर्थ लेने में स्पष्ट निगम 'स्वसुर्जारः शृणोतुन' है, क्योंकि यहां पूषा ( सूर्य ) का ही वर्णन है ‡ 'जार आभगम्' में जार से सूर्य अभिप्रेत है, यह

जार ही अभिप्रेत होसकता है, ऐसा होने में स्त्री का भग ( ही भग ) होसकता है भज ( भ्वा० उ० ) से।

मेष इति भूतोपमा ॥ 'मेषो भूतो३ भियन्नयः'। मेषो मिषतेस्तथा पशुः पश्यतेः। अग्निरिति रूपोपमा। 'हिरण्यरूपःस हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः'। हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्॥था इति च।'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा'प्रत्न एवपूर्व इव विश्वइवेम इवेति।अयमेततरोऽमुष्मात्। असावस्ततरोऽस्मात्।'अमुथा'यथा सावित्रि व्याख्यातम्। वदिति सिद्धोपमा। ब्राह्मणवद्वृषलवत्। ब्राह्मणा इव वृषला इवेति। वृषलो वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा॥

'मेढा' यह ( इन्द्र की ) भूतोपमा * है। 'मेंढा हुआ अभिमुख जाता हुआ तू पहुंचा है ( ऋ० ८।२४।४० ) मेष मिष् (तु० प०) से है, तथा पशु दृश् (भ्वा०प०) से है। अग्नि यह रूपोपमा† है—'वह अपांनपात् ‡ सुवर्ण के रूप वाला, सुवर्ण के

---

कहा, और इस में निगम प्रमाण भी दिया, अब यह कहते हैं, कि संभव है,'जार आभगम्'में मनुष्यजार और स्त्री का उपस्थ अभिप्रेत हो

* भूतोपमा=हो चुके रूप से उपमा=मेषोभूतः=मेढा बन कर † रूपोपमा=रूप की उपमा ‡ अपां नपात्=जलों का पोता=अग्नि। जलों से ओषधियें, ओषधियों से अग्नि उत्पन्न होता है। यहां बिजली रूपी अग्नि अभिप्रेत है। समुद्र का पुत्र सूर्य जैसा कि 'समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारत् ( ऋ० ३।८।१ ) इस में सूर्य कहा है ( ऐसा ) मानते हैं। इस श्रुति से जलों का पुत्र सूर्य, सूर्य का

तुल्य ( प्यारा ) दीखनेवाला, और सुवर्ण के तुल्य कान्ति वाला ( ऋ० २ । ३५ । १० ) सुवर्ण के रंग के तुल्य इसका रंग है । 'था' यह भी ( उपमा वाचक ) है । 'उसको ( इन्द्र को ) पुराने ( यजमानों ) की न्याई, अपने बड़ों की न्याई, सबकी न्याई, इन ( वर्तमान यजमानों ) की न्याई ( दोहसे गिरा=स्तुति से दोहता हूं—ऋ० ५ । ४४ । १ ) पुराने की न्याई, बड़े की न्याई, सबकी न्याई, इनकी न्याई, । 'अयम् ( किस से ? ) अधिक आया हुआ ( अधिक निकट) है उसमे, ( इण्गतौ अ० प० मे ) 'असौ' अधिक फैंका हुआ ( अधिक परे ) है इससे ( असुक्षेपणे दि०प०से) । 'अमुथा' 'जैसे वह' (=असौ) इससे व्याख्या किया गया है । 'वत' यह सिद्धोपमा § है । ब्राह्मणवत्,वृपलवत्=ब्राह्मणों की न्याई, शूद्रों की न्याई । वृपल=बैलके स्वभाव वाला ( अनाड़ी ), अथवा धर्म में न रुचिवाला ॥ १८ ॥

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् । अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥ प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा यथैतेषामृषीणामेवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम् । प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम् । अर्चिषि भृगुःसम्बभूव भृगुर्भृज्यमानो न देहे।अङ्गारेष्वङ्गिराः ( अंगारा अङ्कना अञ्चना ) अत्रैव

पुत्र वैद्युत अग्नि ( दुर्गाचार्य ) ( 'आपः' अन्तरिक्ष का नाम भी है, देखो निघण्टु १ । ३ अन्तरिक्ष का पुत्र मेघ, मेघ, का पुत्र वैद्युत अग्नि—सम्पादक) § सिद्धोपमा=वत् उपमा वाचक लोकसिद्ध है 'ब्राह्मणवदधीते ' वृपलवच्चाक्रोशति ॥

**तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिर्न त्रय इति । विखनना-द्वैखानसो भरणाद्भारद्वाजो विरूपो नानारूपो महि-व्रतो महाव्रत इति ॥ १७ ॥**

हे बड़े कर्मों वाले जात वेदस् (अग्नि) प्रियमेध की ( पुकार की न्याईं ) अत्रि की न्याईं विरूप की न्याईं, अंगिरा की न्याईं, कण्व के पुत्र की पुकार को सुन ( ऋ० १ । ४५ । ३ ) प्रिय-मेधः=प्यारे हैं इनको यज्ञ । जैसे इन ऋषियों की, वैसे प्रस्कण्व की पुकार को सुन । प्रस्कण्व=कण्व का पुत्र,कण्वप्रभवः कण्व से उत्पन्न हुआ । जैसे प्राग्र है * । ज्वाला में से भृगु उत्पन्न हुआ, भृगु=जो देह में नहीं पका । अंगारों में से अंगिरा (हुआ)। अङ्गार=ठप्पा लगाने वाले ( जहां पड़े हों, वहां अपने होने का ठप्पा लगा देते हैं ) अथवा 'यहां ही तीसरा ढूंढो' यह उन्होंने कहा, इस लिये वह अत्रि ( अत्र+त्रि ) हुआ । अथवा तीन ही नहीं ( न+त्रि ) । खोदने से वैखानस ( वि+खन से ) † भरण

* प्रगतम् अग्रम्=अगला सिरा । जैसे 'प्रगतं अग्रं' में से गत ( जो प्र के अर्थ का द्योतक है ) का लोप होकर प्राग्र हुआ, वैसे 'कण्व प्रभवः' में भव का लोप होकर और प्र पूर्व आकर और स का आगम आकर प्रस्कण्व बना है ( दुर्गाचार्य ) प्रगतः कण्वं=प्रस्कण्वः प्राप्त हुआ कण्व को ( सम्पादक ) † प्रजापति ने अपना वीर्य अग्नि में होमा, उस होम से जलती लाट में से भृगु उत्पन्न हुआ, लाट के बुझ जाने पर अंगारों में से अंगिरा उत्पन्न हुआ, दो को देखकर उन्होंने कहा 'यहां ही तीसरा ढूंढो, इससे तीसरे प्रकट हुए ऋषि का नाम अत्रि हुआ, अथवा अत्रि के उत्पन्न होने पर उन्होंने कहा, तीन ही यहां नहीं, किन्तु खोदो इस अग्नि स्थान को चौथा भी यहां होगा, सो तीसरे के पीछे 'नत्रयः' कहने से वह अत्रि हुआ, और चौथे के लिये 'विखन्यताम्' कहने से वैखानस हुआ ।

पोषण से भारद्वाज। विरूप=नानारूपों वाला। महि व्रतः=बड़े कर्मों वाला ॥ १७ ॥ इति तृतीयः पादः ॥

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते सिंहो व्याघ्र इति पूजायां, श्वा काक इति कुत्सायाम्। काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः, काकोऽपकालयितव्यो भवति तित्तिरिस्तरणात्तिलमात्रचित्र इति वा। कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः कपिरिव जवत ईषत्पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति वा। श्वाऽऽशुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा। सिंहः सहनाद्धिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति वा। व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादायहन्तीति वा॥

अब लुप्त उपमा वाले (वाक्य,) जिन को (आचार्य) अर्थ सिद्ध उपमा वाले कहते हैं *। सिंह और व्याघ्र यह प्रशंसा में होते हैं श्वा और काक यह निन्दा में †। (उदाहरण में आए काकादि शब्दों का निर्वचन करते हैं) 'काक' यह (इसके शब्द की अनुकृति (नकल) है (काकु, काकु करता है इस लिये काक नाम हुआ है) सो यह (अपनी आवाज़ से नाम) पक्षियों के विषय में प्रायः है। (नामों में) शब्दों की

* जिन में उपमा वाचक 'इव' आदि नहीं बोला गया। † सिंहोऽयम्, व्याघ्रोऽयम्, इसप्रकार अलगपद वा पुरुष सिंहः, रघुसिंहः, पुरुष व्याघ्रः, नरव्याघ्रः, इस प्रकार समस्तपद। सिंह, व्याघ्र उदाहरण मात्र हैं, राजशार्दूलः, नृसोमः, इत्यादि भी प्रशंसा में हैं। इसी प्रकार 'श्वाऽयम्, काकोऽयम्' अथवा नरश्वा, नर काकः अथवा

अनुकृति ( कहीं ) नहीं है, यह औपमन्यव ( मानता है किन्तु ) ( कड़वी ध्वनि के हेतु, वस्तुओं को बिगाड़ देने के हेतु ) काक=निकालने योग्य होता है ( काल, चु० से ) ( इसी प्रकार तित्तिर भी 'तित्ति' शब्द बोलने से नहीं, किन्तु ) तित्तिरिः= उछलने से ( उछल कर चलता है, तृप्लवने, भ्वा० प० से ) अथवा तिल जितने चित्रों वाला होता है ( तिल चित्र से ) कपिञ्जल ( भी कपिञ्ज् ध्वनि से नहीं, किन्तु ) वानर की न्याईं (रंगमे) जीर्ण(धूसर) होता है (कपि+जॄ से) अथवा कपि की न्याईं वेगवाला होता है ( कपि+जुषे ) अथवा थोड़ा सा पिंगल रंग का होता है ( कु+ पिङ्गल से ) अथवा प्राप्त होने योग्य अच्छा) शब्द बोलता है ( गम+पिञ्ज् से ) । 'श्वन्' जल्दी चलने वाला ( शु+या ) अथवा गति अर्थ वाले श्व ( भ्वा० प० मे चलता रहता है ) अथवा श्रम ( वध अर्थ वाले देखो पूर्व २ । १० ) से है । सिंह दबाने से ( सहते=दबालेता है, दूसरे प्राणियों को ) अथवा ( आदि अन्तवर्ण ) उलटे हुए हिंसि ( हिंसायाम्, रु० प० ) से हो ( हिनस्तीति 'हिंसः' होकर सिंहः ) अथवा संपूर्वक हन् ( अ० प० ) से, मिलकर मारता है ( संहाय=मिलकर ओ हाङ् गतौ, जु० अ० से )। व्याघ्र=विशेष सूंघने से ( उसको हरिणआदि का गन्ध आजाता है ) अथवा ( मुंह ) खोल कर मारता है * ॥ १८ ॥

नि०अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्धयति । गृणाति । जरते । ह्वयते । नदति । पृच्छति । रिहति । धमति । कृपायति ।

---

श्ववृत्तिः, काकवृत्तिः, काकयवः इत्यादि * अथवा व्यादाय=वापिस ला कर, व्याघ्र जिस शिकार को पहली झपट में न मारले, उसको जहां जा पड़े, क्रोध से फिर वहीं पहली झपट के स्थान पर वापिस लाकर मारता है ( दुर्गाचार्य ) ।

कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । मन्दते । छन्दति । छदयते । शशमानः । रञ्जयति । रजयति । शंसति । स्तौति । यौति । रौति । नौति । भनति । पणायति । पणते । सपति । पपृक्षाः । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते । मदति । रसति । स्वरति । वेनति । मन्द्रयते । जल्पतीति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ ३ । १४ ॥

## अर्चतिकर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत् ॥

अगले ४४ धातु पूजा अर्थ वाले हैं *।

नि०–विप्रः । विग्रः । गृत्सः । धीरः । वेनः । वेधाः । कण्वः । ऋभुः । नवेदाः । कविः । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विपः । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यवः । आकेनिपः । उशिजः । कीस्तासः । अद्धातयः । मतयः । मतुथाः । वाघत । इतिचतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि ।

## मेधाविनामान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः ।

## मेधावी कस्मान्मेधया तद्वान्भवति मेधा मतौ धीयते ॥

अगले २४ नाम मेधावी के हैं †। मेधावी किससे ? मेधा से उसवाला ( मेधावाला ) होता है। मेधा=बुद्धि में रखी जाती है ( धारण शक्ति युक्त बुद्धि )।

नि०–रेभः । जरिता । कारुः । नदः । स्तामुः । कीरिः । गौः । सूरिः । नादः । छन्दः । स्तुप् । रुद्रः । कृपण्युरितित्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

## स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश । (स्तोता स्तवनात्)

अगले १३ नाम स्तोता (स्तुति करने वाले) के हैं ‡।

---

* इनमें 'शशमानः' शंसुस्तुतौ का शानच् प्रत्ययान्त निपातित है। और पपृक्षाः' पृच् सन्नन्त से है।

† इन में 'विपन्यवः, से पूर्व सब एक वचनान्त और विपन्यवः से लेकर सब बहु वचनान्त हैं।

‡ इस से आगे कई पुस्तकों में 'स्तोता स्तवनात्=स्तोता स्तुति से है, इस प्रकार स्तोता का निर्वचन मिलता है पर बहुत

नि॰ -यज्ञः । वेनः । अध्वरः । मेधः । विदथः । नार्यः । सवनम् । होत्रा । इष्टिः । देवताता । मखः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः घर्म इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥३।१७॥

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश । यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञ्यो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा ॥

अगले १५ नाम यज्ञ के हैं । यज्ञ किस से ? प्रसिद्ध है 'यजन क्रिया' ( लोक वेद में, वही यज्ञ शब्द से कही है अर्थात यजनं=यज्ञः ) यह नैरुक्त ( मानते हैं ) । अथवा प्रार्थनीय होता है ( चाहने योग्य है ) । अथवा यजुओं से गीला सा होता है ( बहुत यजुर्मन्त्र इस में होते हैं ) । बहुत काली मृगानों वाला होता है, (काले हरिण के मृग छाल इस में प्रायः वर्तने में आते हैं अजिन=चमड़ा, से यज्ञ है ) यह औपमन्यव मानता है । अथवा यजु इस को ( आरम्भ से समाप्ति तक ) चलाते हैं ।

नि॰—भरताः । कुरवः । वाघतः । वृक्तबर्हिषः । यतस्रुचः । मरुतः । सबाधः । देवयव इत्यष्टौ ऋत्विङ्नामानि ॥३ । १८॥

ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ । ऋत्विक् कस्मादीरण ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिर्ऋतुयाजी भवतीति वा ॥

अगले ८ ऋत्विजों के नाम हैं 'ऋत्विज्' किस से ? प्रेरने वाला होता है ( स्तुतियों का ) ( ईर से ऋत्विज् ) ऋचाओं से यज्ञ करने वाला है (ऋच्+यज् से) यह शाकपूणि (मानता है)· अथवा ऋतु (समय २) पर यज्ञ करने वाला है (ऋतु+यज् से) ॥

---

पुस्तकों में नहीं मिलता, और दुर्गाचार्य ने भी कहा है, कि प्रत्यक्ष वृत्ति होने से स्तोता का निर्वचन नहीं किया ।

नि०—ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्धि । मिमिड्ढि । मिमीहि । गिरिड्ढि । रिरीहि । पीपरत् । यन्तारः । यन्धि । इषुध्यति । मनेमहि । मनामहे । मायत इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः॥ ३।१९॥

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश ॥

अगले सत्तरह धातु याचना अर्थ वाले हैं।

नि०—दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्षि । पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहत इति दश दानकर्माणः ॥ ३ । २०॥

दानकर्माण उत्तरे धातवो दश ॥

अगले दस धातु दान अर्थ वाले हैं।

निघण्टु—परिष्वव । पवस्व । अभ्यर्ष । आशिप । इति चत्वारो ऽध्येषणकर्माणः ॥ ४ । २१ ॥

अध्येषणकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।

अगले चार धातु अध्येषणा(सत्कार पूर्वक प्रेरणा) अर्थ वाले हैं।

निघण्टु—स्वपिति । सस्तीति द्वौ स्वपिति कर्माणौ ॥३।२२॥

स्वपिति सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥

स्वपिति, सस्ति यह दो सोने अर्थ वाले हैं।

निघण्टु—कूपः । कातुः । कर्तः । वव्रः । काटः । खातः । अवतः । क्रिविः । सूदः । उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवट इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ ३ । २३ ॥

कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश । कूपः कस्मात्कुपानं भवति कुप्यतेर्वा ॥

अगले १४ कूएं के नाम हैं। 'कूप' किस से=(उससे पानी) पीना कठिन होता है (जब तक कि पानी निकालने का साधन पास न हो) अथवा कुप् (क्रोधे, दि०प०) से है (पानी दीखता है, पर विना लोटे डोरी के पीने को नहीं मिलता, इस लिये

ध्यामे इस पर कुपित होते हैं) * ।

निघण्टु—तृपुः । तक्वा । रिभ्वा । रिपुः । रिक्वा । रिहायाः । तायुः । तस्करः । वनर्गुः । हुरश्चित् । मुषीवान् । मलिम्लुच । अघशंसः । वृक इति चतुर्दशैव स्तेन नामानि ॥ ३ । २४ ॥

**स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दशैव । स्तेनः कस्मात् । संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः ॥**

अगले १४ ही नाम चोर के हैं । 'स्तेन' किस से इकट्ठा हुआ हुआ है इस में पाप कर्म, यह नैरुक्त ( मानते हैं ) ।

निघण्टु—निण्यम् । सस्वः । सनुतः । हिरुक् । प्रतीच्यम् । अपीच्यमिति षण्णिर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ ३ । २५ ॥

**निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि षट् । निर्णीतं कस्मान्निर्णिक्तं भवति ॥**

अगले छः निर्णय किये हुए गुप्त (द्रव्य) के नाम हैं । निर्णीत किस से ! शोधा हुआ होता है ।

निघण्टु—आके । पराके । पराचैः । आरे । परावत इति पञ्च दूरनामानि ॥ ३ । २६ ॥

**दूरनामान्युत्तराणि पञ्च । दूरं कस्माद् द्रुतं भवति दुरयं वा**

अगले पांच दूर के नाम है दूर किससे ? बढ़ा हुआ होताहै(आगेर चला जाता है) अथवा दुष्प्राप होता है (दुर्+इण्)से (जैसा पाठ वेद में देखा है वैसे यह नाम (आ के, परा के इत्यादि) पढ़े हैं) ।

निघण्टु—प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्व्यम् । अह्नायेति षट् पुराण नामानि ॥ ३ । २७ ॥

**पुराणनामान्युत्तराणि षट् । पुराणं कस्मात्पुरा नवं भवति**

अगले छः पुराने के नाम हैं । पुराण किस से ? पहले ( कभी ) नया होता है ( अब नहीं ) ( पुरा+नव )

---

* कुवन्ति मण्डूका अस्मिन्, कु+पक्, (दीर्घ. उ० ३ । २७ ।

निघण्टु—नवम् । नूत्नम् । नूतनम् । नव्यम् । इदा । इदानीमिति षळेव नवनामानि ॥ ३ । २८ ॥

नवनामान्युत्तराणि षडेव । नवं कस्मादानीतं भवति १९

अगले छः ही नए के नाम हैं। नव किस से ? ( मानों अभी कहीं से ) लाया गया है ॥ १९ ॥

निघण्टु—प्रपित्वे । अभीके । दभ्रम् । अर्भकम् । तिरः । सतः । त्वः । नेमः । ऋक्षाः । स्तृभिः । वम्रीभिः । उपजिह्विका । ऊर्दरम् । कृदरम् । रम्भः । पिनाकम् । मेना । ग्नाः । शेपः । वैतसः । अया । एना । सिषक्तु । सचते । भ्यसते । रेजत इति षड्विंशति द्विश उत्तराणि नामानि ॥ ३ । २९ ॥

द्विश उत्तराणि नामानि । प्रपित्वेऽभीके इत्यासन्नस्य प्रपित्वे प्राप्तेऽभीकेऽभ्यक्ते। आपित्वे नःप्रपित्वे तूयमा गहि । अभीके चिदुलोककृदित्यपि निगमौ भवतः। दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । दभ्रं दभ्नोतेः सुदम्भं भवत्यर्भकमवहृतं भवति। उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य इत्यपि निगमौ भवतः। तिरःसत इति प्राप्तस्य। तिरस्तीर्णं भवति सतः संसृतं भवति। तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या। पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षस इत्यपि निगमौ भवतः ॥

अगले २६ नाम दो दो ( एक २ अर्थ में) हैं (मन्त्रों में जैसा पाठ पाया जाता है, वैसा ( उसी विभक्ति और वचन में ) यहां पढ़ा है। अर्थ और निगम क्रमशः आगे दिख लाते हैं ) प्रपित्वे,

और 'अभीके' यह (दो नाम) निकट के हैं। प्रपित्वे=प्राप्ते। अभीके=अभ्यक्ते। मिल कर (सोम) पीने का समय प्राप्त होने पर (हे इन्द्र) तू जल्दी हमारी ओर आ (ऋ ५।७।३०।३)। (नर से नर मिले हुए) भीड़ में भी तू स्थान बनाने वाला है (ऋ। ८।७।२१।१)। 'दभ्र, अर्भक' यह थोड़े के नाम हैं। दभ्र दम्भू (दम्भने, स्वा० प) से है। आसानी से उखाड़ने योग्य होता है (थोड़ा होने से)। अर्भक. संकुचित होता है (अव+हृसे) "पूरी तरह सोच ले (वा छू ले) मत मेरे छोटे (रोम) समझ (ऋ २।१।११।७) 'नमस्कार है बड़ों को नमस्कार है छोटों को (ऋ १।२।२४।३) यह भी निगम होते हैं। 'तिरस्, सतः' यह प्राप्त के (नाम) हैं। तिरस्=तैरा हुआ=पाया हुआ होता है (तॄ, भ्वा० प० से) 'सतः' प्राप्त होता है (सृ, भ्वा० प० से) 'हे धोखे में न आने वाले स्वामियो (अश्वियो) अपने पाए हुए (स्थान) से (हमारे यज्ञ) घर को लौट आओ (ऋ ५। ७५।७) (मट्टी के) बर्तनों की न्याई (सामने) विद्यमान राक्षसों को फोड़ता हुआ (इन्द्र) पहुंचता है (ऋ ७।१०४।२१)*।

त्वो नेम इत्यर्धस्य। त्वोऽपततो नेमोऽपनीतः। अर्धो हरतेर्विपरीताद्धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवत्यृध्नोतेर्वा स्यादृद्धतमो विभागः। 'पीयति त्वो अनु त्वो

---

* देव राज और दुर्गाचार्य दोनों ने 'प्राप्तस्य' के स्थान 'अप्राप्तस्य' पाठान्तर दिया है। तब अर्थ दोनों निगमों का यह होगा 'हे धोखे में न आने वाले स्वामियो! दूर से भी हमारे घर लौट आओ' और 'बर्तनों की न्याई फोड़ता हुआ दूर से राक्षसों की ओर आता है'

गृणाति'। 'नेमे देवा नेमेऽसुरा' इत्यपि निगमौ भवतः। ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणो नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणमृक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते । स्तृभिः स्तीर्णानीव ख्यायन्ते । 'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा' । 'पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः' इत्यपि निगमौ भवतः । वम्रीभिरुपजिह्विका इति सीमिकानां।वम्र्यो वमनात्सीमिका स्यमनादुपजिह्विका उपजिघ्रयः।'वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम्'। 'यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति' इत्यपि निगमौ भवतः।ऊर्दरं कुदरमित्यावपनस्य। ऊर्दरमुदीर्णं भवत्यूर्जे दीर्णं वा । 'तमूर्दरं न पृणता यवेन' इत्यपि निगमो भवति। तमूर्दरमिव पूरयत यवेन । कुदरं कृतदरं भवति । 'समिद्धो अञ्जन्कृदरं मतीनामि' त्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

'त्व, नेम,' यह आधे के ( नाम ) हैं 'त्व' अलग हुआ (तन् से) । नेम, अलग किया हुआ (नी से) । अर्ध,उलटे हुए ह (भ्वा० उ०) से है (ह+र्+अ उलट कर अर्ह,हकोध हो कर अर्ध) अथवा धृमे है, निकाला हुआ ( सारे में से ) होता है, अथवा ऋधु (वृद्धौ, स्वा ० प) से है, बहुत बड़ा टुकड़ा । ( हे अग्ने ) कोई ( तुझ से ) विमुख है, कोई स्तुति करता ह (ऋ १ । १४७ । २) 'आधे देवता, आधे असुर ये' ( मैत्रा ब्रा०) यह भी निगम होते

हैं। 'ऋक्षाः' स्तृभिः,यह नक्षत्रों के (नाम) हैं। 'नक्षत्र' गति अर्थ वाले नक्ष ( भ्वा० प० ) से है। ( चलते हैं )। यह धन नहीं हैं (यद्यपि सोने की तरह चमकते हैं)यह ब्राह्मण है। (न+क्षत्र से)। 'ऋक्षाः' ऊपर पहुंचाए हुए की न्याई दीखते हैं ( ईर्,चु०से) 'स्तृभिः' ढके हुए से दीखते हैं (स्तृञ् आच्छादने, क्र्या०उ० से) 'यह नक्षत्र (जो वरुण ने) ऊंचे रखे हुए हैं (ऋ १।२४।१०) 'नक्षत्रों से' ( भरे हुए ) द्यौ की न्याई देखते हुए ( हे अग्ने तुझे स्वीकार करते हैं। ऋ०४।७।३) यह भी निगम होते हैं। 'वम्रीभिः' उपजिह्विका,यह दीमक के(नाम हैं)वम्री=उगलने से (वमन्त्युदकं येनाद्रीभवन्ति भोज्यं)'सीमिका'चलने से(सदा चलती रहती हैं,स्यम्, भ्वा० प० से )। उपजिह्विका सूंघने वाली ( इन का घ्राण बड़ा तेज़ होता है, उप+घ्रा, भ्वा० प० से ) दीमकों से खाए जाते हुए अग्रु के पुत्र को ( हे इन्द्र तू ले आया—ऋ ४। १९। ९ ) 'जिस को दीमक खाती है, जिस को मोटा दीमक घेरता है (ऋ ८। ९२। २१) यह भी निगम होते हैं। 'ऊर्दर कृदर' यह कुशूल (अनाज की कोठी) के नाम हैं, 'ऊर्दर' ऊपर छेद वाला होता है वा अनाज के लिये छेद वाला होता है। 'उस (इन्द्र) को जौ से कुसूल की न्याई (सोम से) पूर्ण करो ( ऋ २। १९। ११ ) यह भी निगम होता है। उस को कुसूल की न्याई पूर्ण करो जौ से। कृदर=किये हुए छेद वाला होता है। प्रदीप्त हो-

---

* त्वः=कोई (न कि सारे) नेम ही फारसी में नीम हुआ है। नक्षरति, उ० ३। १०५) † अग्रू, अंगुलि और नदी का नाम है, अभिप्राय ज्ञातव्य है। अग्रूः (काचित् स्त्रीति सायणः) वम्री=दीमक और मोटी जाति की दीमक=वम्र॥

कर बुद्धियों के कुशल को व्यक्त करता हुआ ( यं २९ । १ ) । यह भी निगम होता है ॥२०॥

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम्।'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भे'।इत्यपि निगमो भवति । रभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन । 'कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवतत-धन्वा'इत्यपि निगमो भवति।'मेना ग्ना इति' स्त्रीणां। स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणो मेना मानयन्त्येना ग्ना गच्छन्त्येनाः। 'अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ'। 'ग्ना-स्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत'इत्यपि निगमौ भवतः। शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य। शेपः शपतेः स्पृशतिकर्म-णो वैतसो वितस्तं भवति । 'यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्'।'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन,इत्यपि निगमौ भवतः । अयैने इत्युपदेशस्य । 'अया ते अग्ने समि-धा विधेम'ति' स्त्रियाः। 'एना वो अग्निमिति' नपुंस-कस्य । 'एना पत्या तन्वं संसृजस्वेति' पुंसः।सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य । 'स नः सिषक्तु यस्तुरः' । स नः सेवतां यस्तुरः । 'सचस्वा नः स्वस्तये' । सेवस्व नः स्वस्तये । स्वस्तीत्यविनाशिनामास्तिरभि पूजितः स्वस्तीति । व्यसते रेजत इति भयवेपनयोः

'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्'।'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्य' इत्यपि निगमौ भवतः' ॥

'रम्भ, पिनाक' दण्ड के नाम हैं। रम्भ=इस का सहारा लेते हैं (रभ्, भ्वा० आ० से) 'वृद्ध जैसे दण्ड का वैसे हम (तेरा) सहारा लेते हैं (हे बल पते अग्ने, ऋ० ८।४५।२०) पिनाक=पीस डालता है इस (साधन) से।'(हे रुद्र तू) धनुष को ढीला कर के,हाथ में दण्ड लिये, चमड़े का वस्त्र पहने हुए (अहिंसन्नः शिवोऽतीहि=हमें पीडा न देता हुआ कल्याण कारी होकर उलांघ जा यजु० ३।६१) यह भी निगम होता है। मेनाः, ग्नाः, यह स्त्रियों के हैं। स्त्रियः, लज्जा अर्थ वाले स्त्यै (भ्वा० प०) से है। 'मेनाः' इन का मान करते हैं (पुरुष)। 'ग्नाः' इन का गमन करते हैं। 'जिन के स्त्रियें न थीं, उन को तू ने (हे इन्द्र) स्त्रियों वाला बनाया है (ऋ० ५। ३१। २) (हे वस्त्र) स्त्रियों ने तुझे काता काम करने वालों ने तना, (मा० कौ० ब्रा० १।१।८) यह भी निगम होते हैं। 'शेप, वैतस*' यह पुरुष के प्रजननेन्द्रिय के हैं। शेप, स्पर्श अर्थ वाले (स्पृश भ्वा, दि० उ०) से है। (गमन काले ऽनेन स्पृशति=स्पर्श सुख मनु भवति। वैतस, क्षीण सा होता है (प्राक् स्त्री स्मरणात्)। 'जिस में कामना करते हुए हम प्रजननेन्द्रिय को डालें' (ऋ १०। ८५। ३७) 'दिन में तीन बार मुझे तू प्रजनन से ताडन करता भया, (ऋ १०। ९५। ५)। 'अयाएना' यह उपदेशके नाम हैं†। 'इस समिधा से हे

---

* वैतस=वैत का दण्ड, गौणी वृत्ति से यहां पुंस्प्रजनन का नाम है। † यहां उपदेश से अभिप्राय प्रत्यक्ष के बतलाने से है। अया=अनया, इदम् का तृतीयकवचन। एना=एनेन । एतद्

अग्ने ! हम तेरी सेवा करते हैं, ( ऋ० ४ । ४ । १९ ) यह स्त्री लिङ्ग का ( उपदेश ) है । 'एना वो अग्निं नमसोर्जोनपातमा हुवे=इस झुकाव (=भक्ति नमस्कार ) से मैं अग्नि को तुम्हारे लिये बुलाता हूं ( ऋ ७ । १६ । १ ) यह नपुंसक का (उपदेश) है । ( हे वधु ) इस पति के साथ अपने शरीर को मिला ( इस की अर्धाङ्गिनी बन कर गृह कार्यों को साध—ऋ० १० । ८५ । २७ ) यह पुल्लिङ्ग ( का उपदेश ) है । 'सिषक्तु, सचते' सेवन करने वाले के ( नाम ) हैं । 'वह ( ब्रह्मणस्पति ) हमें सेवन करे (हमें स्वीकार करे, हम पर अनुग्रह करे) जो शीघ्र कारी (शीघ्र फल प्रद ) है (ऋ १ । १८ । २) 'सेवन करे जो शीघ्र कारी है' 'सेवन कर हमें कल्याण के लिये' (ऋ १ । १ । ९) 'सेवन कर हमें कल्याण के लिये' स्वस्ति यह अविनाशी ( अर्थ ) का वाचक है । अस्ति=होना । आदरणीय अर्थात् अच्छा होना (स्वस्ति है)। भ्यसते, रेजते, यह भय और कांपने के हैं । जिस के बल से द्यौ और पृथिवी कांपते हैं ( वा डरते हैं, सजनास इन्द्रः=हे लोगो ! वह इन्द्र है ( ऋ० २ । १२ । १ ) 'कांपती है हे अग्ने ! पृथिवी यज्ञ के योग्यों ( मरुतों ) से' ( ऋ० ६ । ६६ । ९ ) यह भी निगम होते हैं ॥

---

का तृतीयैक वचन है । अया, समिधा.का विशेषण होने से स्त्रीलिंग है । एना, एकत्र 'नमसा' का विशेषण होने से नपुंसक. इतरत्र 'पत्या' का विशेषण होने से पुल्लिंग है । 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्त स्तृतीयादौ २ । ४ । ३२ से अया, और 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' २।४।३४ से एनम् एनेन. बिना अन्वादेश के छान्दस है । ‡ सेवन करने वाले के ज्ञापक हैं । यह 'सिषक्तु, सचते' कर्ता में हैं । वस्तुतस्तु 'सेवनस्य' कहना ही उचित था ॥

निघण्टु—स्वधे । पुरन्धी । धिषणे । रोदसी । क्षोणी । अम्भसी । नभसी । रजसी । सदसी । सद्मनी । घृतवती । बहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओण्यौ । चम्वौ । पार्श्वौ । मही । उर्वी । पृथ्वी । अदिती । अही । दूरेअन्ते । अपारे अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावा पृथवी नामधेयानि ॥ ३ । ३० ॥

द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि चतुर्विंशतिः । तयोरेषा भवति ॥ २१ ॥

अगले २४ द्यौ और पृथिवी के नाम हैं (दोनों के नाम होने से सब द्विवचन हैं) उन (दोनों) की यह (ऋचा) है॥२१॥

कतरा पूर्वा कतरापराऽयोः कथा जाते कवयः को वि वेद ।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥

कतरा पूर्वा कतरा परैनयोः कथं जाते कवयः क एने विजानाति । सर्वमात्मना बिभृतो यद्धैनयोः कर्म । विवर्तेते चैनयोरहनी अहोरात्रे चक्रयुक्ते इवेति द्यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्ट आचष्टे॥२२॥इति चतुर्थः पादः

इन दोनों (द्यावा पृथिवी) में से कौन पहली है, कौन पिछली है, और कैसे (यह दोनों) उत्पन्न हुई हैं, हे कवियो! यह कौन जानता है, क्योंकि जो नाम (वस्तु) है, उस सबको यह आप धारे हुए हैं, (इन्हीं के कारण) दिन रात्र चक्र में युक्त की न्याईं घूमते हैं (ऋ० १ । १८५ । १) कौन पहली है, कौन पिछली है (अयोः=एनयोः) इन दोनों में से । कैसे उत्पन्न हुई हैं, हे कवियो! कौन इन दोनों को जानता है । उस सब को यह आप धारण किये हैं, जो इन दोनों का कर्म है, घूमते हैं, इन दोनों में, अहनी=दिन रात, चक्रियेव=पहिये से युक्तों की न्याईं । इस प्रकार द्यौ और पृथिवी के महत्त्व को कहता है, कहता है ॥ २२ ॥

# अथ चतुर्थाध्यायः ।

एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् । अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगत संस्कारांश्च निगमान् । तदैकपदिकमित्याचक्षते। जहा जघानेत्यर्थः ॥ १ ॥

एक अर्थ वाला और अनेक शब्दों वाला, यह (प्रकरण) कहा है। अब जो अनेक अर्थों वाले एक शब्द वाले हैं, उनको आगे क्रमशः कहेंगे, और जिनका (प्रकृति प्रत्यय आदि का) संस्कार ज्ञात नहीं होता है, ऐसे निगमों को भी (यहां ही व्याख्या करेंगे) इस प्रकरण को 'ऐकपदिक' कहते हैं * । (१—जहा) जहा=जघान, मारा, यह अर्थ है ॥ १ ॥

* पहले तीन अध्यायों में एक-२ अर्थ के वाचक अनेक २ पर्याय शब्द कहे हैं, कि इतने पृथिवी के नाम हैं, इतने अन्तरिक्ष के इत्यादि । यह एक प्रकरण होचुका, इसका नाम नैघण्टुक प्रकरण है । निघण्टु के पहले तीन अध्यायों की इस में व्याख्या होचुकी । अब आगे तीन अध्यायों में उन शब्दों का विचार करेंगे, जो नानार्थ शब्द हैं, जैसे अकूपार शब्द अथवा जिनका संस्कार दुर्बोध है (जैसे जहा शब्द, यह पद हन् से बना है वा ओहाक् से और कैसे बना, यह जानना आसान नहीं)। इन दोनों प्रकार के शब्दों को इस दूसरे प्रकरण में कहेंगे, इस प्रकरण को 'ऐकपदिक' कहते हैं । क्योंकि पूर्व प्रकरण में तो पदों के गण थे, अब इस में हरएक पद अकेला २ है । दूसरा इस का प्रसिद्ध नाम नैगम-काण्ड है । निघण्टु का चौथा अध्याय नैगम-काण्ड है, उसी अध्याय के शब्दों

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते। मर्या इति मनुष्यनाम, मर्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्यादा मर्यैरादीयते, मर्यादा=मर्यादिनोर्विभागः। मेथतिराक्रोशकर्मा। अपापकं जघान कमहं जातु। कोऽस्मद्भीतः पलायते॥ निधा=पाश्या भवति यन्निधीयते। पाश्या पाशसमूहः। पाशः पाशयतेर्विपाशनात्॥ २॥

हे मनुष्यो! कौन न झिड़का हुआ मित्र अपने मित्र के विषय में

---

की इस में व्याख्या है। नैघण्टुक काण्ड में तो निघण्टु के सारे शब्दों की व्याख्या नहीं थी, पर इस नैगम-काण्ड में निघण्टु में आए हरएक शब्द का व्याख्यान है, इसलिये यहां हमने निघण्टु का पाठ अलग नहीं दिया, तथापि व्याख्या में हरएक पद अपनी संख्या और अर्थ सहित बन्धनी में लिख दिया है, जैसे (१—जहा=जघान) निघण्टु में यह विशेष ज्ञातव्य पद ही संग्रह कर दिये हैं, अर्थ नहीं दिये। किन्तु हरएक खण्ड के अन्त में लिख दिया है, कि यह इतने पद हैं। खण्ड इस अध्याय में ३ हैं। अब प्रश्न यह उठता है, कि यह खण्ड किस अभिप्राय से हैं, जब कि इन पदों का आपस में कोई मेल नहीं। उत्तर यह है, कि यह खण्ड निघण्टु में निरुक्त की अपेक्षा से पीछे बने, पहले नहीं थे। निघण्टु में इस अध्याय में २७८ पद हैं। उन में से पहले ६२ पदों की व्याख्या निरुक्त के चौथे अध्याय में है, इन्हीं ६२ का निघण्टु में पहला खण्ड बना दिया गया। अगले ८४ पदों की व्याख्या ५ वें अध्याय में है, उन्हीं ८४ पदों का दूसरा खण्ड बना दिया गया। अगले १३२ की व्याख्या निरुक्त के छठे अध्याय में है, उन्हीं १३२ का निघण्टु में तीसरा खण्ड बना दिया गया। बस इतना ही कारण है, और कोई कारण नहीं। सो उन में पहले ६२ पदों की व्याख्या इस अध्याय में आएगी, जिन में पहला पद जहा है॥

कहता है, किस को मैंने मारा है। कौन हमसे भागता है (ऋ० ८। ४५।३७) 'मर्या' मनुष्य का नाम है। अथवा (मर्या से) मर्यादा का कथन है। मर्यादा=मनुष्यों से पकड़ी जाती है। मर्यादा= दो हद वालों का विभाग (यहां तक इस गाओं की भूमि है, और यहां तक इसकी है यह विभाग) है। मिथ, (भ्वा० प०) झिड़कने अर्थ वाला है। 'किस अपापी को मैंने मारा है कभी' कौन हम से (डरकर) भागता है*। (२-) निधा=फांसों का समूह होता है। जिस लिये (पक्षियों के पकड़न के अर्थ) नीचे डाली जाती है। पाश्या=फांसों का समूह। पाश, पाश .ति से है। फांसने से ॥ २ ॥

---

* 'मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु। वधीर्मा शूर भूरिषु' (८।४५।३४)=हे शूर इन्द्र! मत हमें एक भूल में, दो में भी, तीन में भी और बहुत में भी मार॥ इस प्रकरण में इन्द्र का उत्तर है। कि जो मेरी ओर मुख मोड़े हुए हैं, उनका मैं सखा हूं. उनको मैं झिड़कता भी नहीं, वह मेरे मित्र हैं, मैं उनका मित्र हूं. उनको अपने मित्र के अर्थात् मेरे विषयमें यह नहीं कहना चाहिये.'हमें मत मार' मैं किसी अपापी का नहीं मारता हूं, यदि पापकारियों को भी न मारूं तो अनर्थ होजाए किन्तु कोई भी अपापी हम से डरकर नहीं भागता है, वह तो शुद्ध चित्त से हमारे सन्मुख आता है. पापी ही अपने अपराध से डरता हुआ हम से मुख मोड़ता है। सो तुम पाप से बचे रहो। इसप्रकार प्रकरण,पूर्वोक्त पदों की सङ्गति (जहा, जघान में) शब्द का सादृश्य और अर्थ की सङ्गति से 'जहा' हन् धातु का सिद्ध होता है अर्थात् जघान। यह ओहाक् त्यागे का प्रयोग नहीं, क्योंकि अर्थ सङ्गत नहीं होता। 'अपापकं जघान कमहं जातु' में 'अपापकं कं जातु' यह अर्थ को स्पष्ट करने के लिये निरुक्तकार ने अध्याहार किया है। 'भीतः पालयते' यहां 'भीतः' शब्द भी अध्याहृत है, क्योंकि न डरा हुआ, कोई नहीं भागता है (दुर्गाचार्य)—

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य स्मान्निधयेव बद्धान्
वयो वेर्बहुवचनं । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः ।
उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः । अपोर्णुह्याध्वस्तं । चक्षुः ।
चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा । पूर्धि पूरय देहीति वा ।
मुञ्चास्मान्पाशैरिव बद्धान् ॥

अच्छे पङ्खों वाले पक्षी, यज्ञों के प्यारे ऋषि (प्रकाशक किरण) याचना करते हुए इन्द्र के पास आए, कि (जगत् के) अन्धकार को हटा, (जगत् के) नेत्र को पूर्ण कर (वा जगत् को नेत्र दे) फांसों के समूह से बन्धे हुओं (पक्षियों के छोड़ने) की न्याईं हमें छोड़ * । (ऋ० १० । ७३ । ११ ) । वयः,

* दुर्गाचार्य ने यहां इन्द्र का अर्थ सूर्य लिया है। और अभिप्राय यह लिया है, कि रात्रि के अन्त में सूर्य के किरण सूर्य से यह याचना करते हैं । पर इस सारे सूक्त में मरुतों के साथ माध्यमिक इन्द्र की स्तुति देख हम यह अभिप्राय लेते हैं । कि मेघ से ढके हुए अन्तरिक्ष में पहुंचकर किरणों की याचना माध्यमिक इन्द्र से है । सूर्य से उड़कर मेघ तक आने में किरणों को 'वयः सुपर्णाः'=अच्छे पङ्खों वाले पक्षी, कहा है । और आगे इन्द्र से याचना करने में उनको 'प्रियमेधा ऋषयः'=यज्ञ के प्यारे ऋषि कहा है । किरण पृथिवी पर पड़कर वायु आदि को शुद्ध बनाते हैं, रोगों को हटाते हैं, भाप को उत्पन्न कर मेघ को बनाते हैं, यह इन का यज्ञ है, इसलिये यज्ञ प्रिय ऋषियों की न्याईं इन्द्र से याचना इन का हक है । और याचना भी यही है, कि हम नीचे जाकर ऋषियों की न्याईं, जगत् को प्रकाश दें । अन्धकार से यहां अभिप्राय मेघरूपी अन्धकार से है, अतएव अर्थ 'आध्वस्तं'=आच्छादितं=ढका हुआ किया है । ऊपर उड़ते आए पक्षियों की न्याईं किरण मेघ के जाल में फंसकर आगे नहीं जासकते, इसलिये जाल से बन्धे हुओं की न्याईं कहा है । इत्थं सर्वं समञ्जसम्भवति ।

'वि'का बहुवचन है। सुपर्णाः=अच्छा उड़ने वाले सूर्य के किरण, इन्द्र के पास आए,याचना करते हुए। दूर कर अन्धकार को। 'नेत्र को-' 'चक्षुस्' (दर्शन अर्थ वाले) ख्या (अ० प०) से वा चक्षिङ् (अ०आ०) से है। पूर्द्धि=पूरण कर वा दे। 'छोड़ हमें जैसे फांसों से बन्धे हुओं को'।

'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः'। पार्श्वं पर्शुमयमङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेःसंस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः। अंगमङ्गनादञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गतिचलाकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शितामं भवति दोर्द्रवतेः। योनिः शितामिति शाकपूणिर्विषितो भवति। श्यामतो यकृत्त इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृद्यथा कथा च कृन्तते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः।शितिः श्यतेः।मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा मेदो मेदतेः३

(३—शितामतः) (दोर्षणे वाणं) पासे से, ऊपर से, और शिताम (=भुजा, वा योनि वा यकृत् वा मेद) से (यजु० २१।४३) पार्श्व=पसलियों से भरा अङ्ग होता है। पर्शु=स्पृश (तु० प०) से है। पृष्ठ देश के प्रति स्पर्श किये हुए होती है। पृष्ठ, स्पृश से है,अङ्गों से स्पर्श किया होता है। अङ्ग, अग (भ्वा० प०) से वा अञ्चु (भ्वा० प०) से है (अपने समय पर प्राप्त होना है, वा जाता रहता है)। 'श्रोणि' (चूक की) गति से (दूसरे के) चलने अर्थ वाले श्रोण (भ्वा० प०) से है। श्रोणि, चलते हुए की मानों चलती है। (शिताम शब्द के अर्थ की विवेचना करते हैं) शिताम भुजा होती है (पशु के

प्रसङ्ग में पासे और कमर के अनन्तर भुजा का कहा जाना सम्भव है, निर्वचन—श्रितं कार्यं भवति )। शाकपूणि मानता है, शिताम योनि है। व्याप्त होता है (विष्लृ व्याप्तौ, जु० उ० से) शितामतः=श्यामतः=काले से, अर्थात् जिगर से, यह तैटीकि (मानता है) श्याम, श्यैङ् ( गतौ, भ्वा० आ ) से है। यकृत्= जैसे कैसे काटी जाती है (नर्म होने से आसानी से काटी जाती है)। शितामतः=श्वेत मांस=चर्बी से, यह गालव मानता है, शिति, शो ( तनू करणे दि० प० ) से है। मांस, मानन ( मान के योग्य ) है, वा मानस (मन का) है*, वा मन इसमें बैठता है(खुभता है)। मेद,मिद(दि०प०)से(मेद्यति=स्निग्ध होताहै)

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्या भर॥

यदिन्द्र चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति। यन्म इह नास्तीति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया नस्तद् दातव्यम्।अद्रिवन्।अद्रिरादृणात्येनेनापि वात्तेः स्यात्'ते सोमाद्'इति ह विज्ञायते। राध इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन। तन्नस्त्वं वित्तधनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहर। उभौ समुब्धौ भवतः। दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा।अथवा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः॥ ४॥

(४—मेहना=धनं,मे,इह,नवा)—हपूजनीयइन्द्र!हेवज्रवाले! नो तुझ देन

---

* माननं=जो मान्य हो, उसके लिये बनाया जाता है, मानसं=मनस्वी इसे ग्रहण करते हैं ( दुर्गाचार्य )।

योग्य पूजनीय धन है,(अथवा जो यहां मेरे नहीं है), हे धन ! को पाए हुए, दोनों हाथों से (बहुत बड़ी उदारता से) वह हमारे लिये ला (ऋ० ५। ३९। १; साम० ४। २। १। ४) हे इन्द्र ! चित्र=पूजनीय। मेहना=पूजनीय धन अथवा जो मेरे यहां नहीं है ( मे, इह, नास्ति ) इस प्रकार तीन मध्यम पद हैं*, तुझ से वह हमें दिया जाना चाहिये। हे वज्र वाले ! अद्रि=इस से फाड़ देता है ( आ+दृ, क्र्या० प० से )। अथवा अद् (अदा० प०) से है, 'वह सोम के खाने वाले ( सोम ग्राव, जिन से सोम कूटा जाता है ) यह जाना जाता है। राध धन का नाम है, इस से ( कार्य ) सिद्ध होते हैं ( राध्, स्वा० उ० से )। वह हमारे लिये तू हे पाए हुए धन वाले ! दोनों हाथों से ला। उभौ=पूर्ण होते हैं ( उभ पूर्णे, तु० प० से )। ( ५—दमूनाः =अग्निः ) दमूनाः=अग्नि, ( दुष्टों के ) दमन में मन वाला, अथवा दान में मन वाला ( दानी ), वा वस में मन वाला, अथवा दम घर का नाम है, उस में मन वाला हो ( गृह पति अग्नि )। मनस्, मन ( तु० आ० ) से है ॥ ४ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामाभरा भोजनानि
अतिथिरभ्यतितो गृहान्भवति। अभ्येति तिथिषु पर कुलानीति वा, परगृहाणीति वा। अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव। दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति

* ऋग्वेद के पदकार शाकल्य मुनि ने 'मेहना' एक पद माना है, और सामवेद के पदकार गार्ग्य मुनि ने 'मे, इह, न' तीन पद किये हैं। दोनों अर्थ सङ्गत हो सकते हैं, इसलिये दोनों को प्रमाण मानकर यास्क मुनि ने दोनों दिखला दिये हैं॥

दुस्तर्पाः। 'इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्त्सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामाभर भोजनानि'। विहत्यान्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानीति वा धनानीति वा। मूषो मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनर्मुष्णातेर्मूषोऽप्येतस्मादेव॥ ५॥

(हम से) प्यार किया हुआ (और सेवन किया हुआ) दान में मन वाला (वा दमन में मन वाला वा दान्त मन वाला वा घर में मन वाला) अतिथि (=वत् पूज्य) हुआ यज्ञ गृह में इस हमारे यज्ञ को जानता हुआ तू आ, हे अग्ने! सब सामना करनी वाली सेनाओं को मारकर शत्रुता करने वालों के धन हमें लादे (ऋ० ५।४।५) अतिथि (अग्नि) घरों में प्राप्त होता है (अत, भ्वा० प० से) अथवा तिथियों (पूर्णमासी आदि) में पर कुलों वा पर घरों में आता है (इ+तिथि से)। यह दूसरा (प्रसिद्ध) अतिथि भी इसी से है। दुरोण, घर का नाम है, दुरवाः=इनका पूर्ण करना कठिन होता है (दुर्+अव से)। 'हमारे इस यज्ञ को जानता हुआ तू आ, हे अग्ने! सामना करने वालों को मारकर शत्रुता करने वालों क ले आ भोग्य' मारकर दूसरों की सेनाओं को शत्रुओं के घर से ला भोजन वा धन(६-मूषः=मूषिकाः) मूष=चूहियां यह अर्थ है। 'मूषिकाः' मुषस्तेये (क्र्या०प०) से है। मूष भी इसी से है॥ ५॥

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माऽऽध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो! वित्तं मे अस्य रोदसी॥ सन्तपन्ति मामभितः सपत्न्य इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवो मूषिका इवास्नातानि सूत्रा-

णि व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधानं वा स्याच्छिश्नानि व्यदन्तीति । सन्तपन्ति माध्यः कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो ! वित्तं मे अस्य रोदसी । जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति । त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति त्रितस्तीर्णतमोमेधया बभूव। अपिवा सङ्ख्यानामेवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवुः ॥ ६ ॥

( कुएं की ) पसलियें ( ईंटें ) चारों ओर से मुझे सौतिनों की न्याई तपाती हैं, तेरे स्तोता मुझ को हे शतक्रतो ! मानसी व्यथाएं खारही हैं ( वा निचोड़ रही हैं ) जैसे चूहियें (जुलाहों की माया लगी) नलियों को (वा तेल मे लिबड़ी अपनी पूंछों को) हे द्यावा पृथिवी ! तुम मेरे इस ( स्तोत्र को वा दुःख ) को जानो ( ऋ० १ । १०५ । ८ ) तपा रही हैं, मुझे चारों ओर से सौतिनों की न्याई यह पसलियें=कुएं की पसलियें ( ईंटें ) । चूहियें जैसे ( अन्न से ) लिबड़े हुए सूत्रों ( जुलाहों की नलियों ) को खाती हैं । अथवा ( शिश्ना' से ) अपने अङ्ग का कथन हो सकता है (　 ) अर्थात् अपनी पूंछों को चाटती हैं (चूहों का यह स्वभाव होता है कि तेल के कूंज़ें में अपनी पूंछ डुबोर कर चाटते हैं ) । तपाती हैं, मुझे आधियें=कामनाएं । 'तेरे स्तोता को हे शतक्रतो' ! 'वित्तं मे अस्य रोदसी' जानें मेरे इस (स्तोत्र वा दुःख) को द्यावा पृथिवी ॥ कुएं में पड़े हुए त्रित को यह सूक्त प्रतिभात ( प्रकाशित ) हुआ (यह कैसे जाना, कि यह त्रित को प्रतिभात हुआ) उस सूक्त में वाक्य *, इतिहास से मिला हुआ है । जैसाकि

* चारिय ब्रह्म (पे०ब्रा० ५।२।५)

('त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये'=कुएं में गिरा हुआ त्रित) रक्षा के लिये देवताओं को पुकारता है (१।१०५।१७) (तथा इतिहास) ऋचासे मिलाहुआ और गाथा से मिला हुआ होता है *। त्रित=मेधा से (अपने) दूसरे दो भाइयों (एकत, द्वित से) बढ़ा हुआ, हुआ है। (तृ० भ्वा० प० से) अथवा (त्रि) संख्या के कारण ही त्रित नाम हुआ हो। एकत, द्वित और त्रित यह तीन हुए हैं

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोमराजन्प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥

ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा। 'ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य प्रवर्द्धय च न आयूंषि सोमराजन्! अहानीव सूर्यो वासराणि'। वासराणि वेसराणि विवासनानि गमनानीति वा। कृन्तनेत्य-नर्थका उपजना भवन्ति कर्त्तन हन्तन यातनेति। जठरमुदरं भवति जग्धमस्मिन्ध्रियते धीयते वा॥७॥

(७—इषिरेण)—तुझ में, लगे हुए (वा इच्छा वाले, वा तेरी महिमा को साक्षात् देखने वाले) मन से निचोड़े हुए (सोम) को हम भक्षण करते हैं, जैसे पिता के धन को (निर्विघ्न भोगते हैं)। हे सोम राजन्! हमारी आयुओं को बढ़ा सूर्य जैसे (जगत् के) बसाने वाले (वसन्ती) दिनों को बढ़ाता है (ऋ० ८।४८।७)। लगे हुए, वा इच्छा वाले वा (साक्षात्-) देखने वाले (ईष, गतौ, वा इष इच्छायां वा ऋष दर्शने से) 'मन से' निचोड़े हुए तुझ को भक्षण करते हैं हम, पिता के धन

---

* मन्त्र गत कोई वचन, वा पूरी ऋचा, वा सूक्त वा ब्राह्मण गत गाथा इतिहास का मूल हैं यह अभिप्राय है।

की न्याई बढ़ा हमारी आयुओं को हे सोमराजन् ! सूर्य जैसे वसन्ती दिनों को 'वासर=वेसर=विविध चलने वाले =वसन्ती दिन। रात को शीत और दिन को गर्मी होती है वि+सृ भ्वा० प० में) अथवा (अन्धकार के) निकालने वाले होते हैं (वास.चु० उ० में) (८—कुरुतन=कुरुत) कुरुतन, यह अनर्थक ( 'न' क ) आगम होते हैं ( अर्थात् जो अर्थ 'कुरुत' का है, वही 'कुरुतन' का है, ' न ' बढ़ने से अर्थ नहीं बढ़ा ) ( ऐसे ही ) कर्तन, हन्तन, यातन (=कर्त, हन्त, यात) ॥ (९—जठरे=उदरे) जठर=पेट होता है, खाया हुआ इस में धारा जाता है ( जग्ध+धर, अथवा, जग्ध+धा से ) ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्॥

मरुत्वानिन्द्र! मरुद्भिस्तद्वान्। वृषभो वर्षिताऽपां। रणाय रमणीयाय संग्रामाय पिब सोममनुष्वधमन्वन्नं मदाय मदनीयाय जैत्राय। आसिञ्चस्व जठरे मधुन ऊर्मिम्। मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः। इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव। त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहस्सु सुतानाम् ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! तू जो मरुतों वाला है (जलों का) बरसाने वाला है, संग्राम के लिये अन्न ( पुरोडाश ) के पीछे सोम को पी। सोम की तरंग ( उमंग उत्पन्न करने वाली ) को पेट में डाल, पहले दिनों में निचोड़े हुए ( सोमों ) का भी तू राजा है * । ( ऋ० ३ । ४७ । १ ) मरुत्वान्=इन्द्र है, मरुतों वाला, वृषभ= बरसाने वाला, जलों का । रणाय=रमणीय संग्राम के लिये । पी सोम को । अनुष्वधं=अन्न के पीछे । मदाय=(शत्रुओं को)

* अर्थात् सोमरस की हवि का तू ही सदा से स्वामी है।

जीतने वाले जोश के लिये* । 'डाल पेट में सोम के तरंग को' मधु,सोम है, उपमा के सम्बन्ध (मधुवत्=शहदवत् तृप्तिकारक होने) से । मद ( दि० प०१) से । यह दूसरा मधु (शहद) भी इसी से है । "तू राजा है पहले भी दिनों में निचोड़े हुओं का" ॥ ८ ॥

तितउ परिपवनं भवति ततवद्वा तुन्नवद्वा तिल-मात्रतुन्नमिति वा ॥ ९ ॥

( १०-तितउः=परिपवनं ) तितउ=छानने का साधन ( चालनी ) होता है । तत=विस्तृत चमड़े वाला है, वा छेदों वाला है, वा तिल मात्र छेदों वाला है ॥ ९ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रासखायःसख्यानिजानतेभद्रैषांलक्ष्मीर्निहिताधिवाचि

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः । सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो भवति । यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानं । धीराः प्रज्ञान-वन्तो ध्यानवन्तः । तत्र सखायःसख्यानि सञ्जानते । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचीति । भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा।लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा(लप्स्यमाना-द्वा) लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः । शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १० ॥

---

* मद द्विविध होता है, संमोह करने वाला और जैत्र, यहां संग्राम में जैत्र इष्ट है ( दुर्गाचार्य )

चालनी से सत्तु की न्याई मन से छानकर जहां बुद्धिमानों ने वाणी ( ज्ञान ) का प्रयोग किया है, वहां वह मित्र होकर मैत्री को पहचानते हैं। इनकी वाणी के ऊपर कल्याणी लक्ष्मी स्थापन की गई है*. (ऋ० १० । ७१ । २) 'सत्तु की तरह छानने से छानते हुए' सक्तु, सच ( समवाये, भ्वा० उ० ) से है ( सूक्ष्म होने से हाथ मुंह पर चिमट जाता है, अतएव ) धोना कठिन होता है। वा कस (भ्वा० प०) से उलटा हुए से (कस्तु उलटकर सक्तु) खिला हुआ होता है। 'जहां बुद्धिमानों ने मन से ज्ञान का प्रयोग किया, वहां मित्र मैत्री को पहचानते हैं। इनकी वाणी के ऊपर कल्याणी लक्ष्मी रखी हुई है'। भद्र, भग से व्याख्या किया गया, ( भग=भाग्य की तरह ) भजनीय है, प्राणधारियों को पाने योग्य है। अथवा होता हुआ रमण कराता है, (जिसका भद्र होता है वह आनन्द मनाता है)

---

* १० । ७१ सूक्त में ऋषियों को वेद की प्राप्ति और वर्तमान जनों को उसके जानने में फल बतलाए हैं। वाच् से यहां वेद वाणी अभिप्रेत है, इस वाणी का ऋषियों के हृदय में ज्ञान प्रकाशित हुआ, अतएव वाच् का अर्थ प्रज्ञान किया है। सो आशय यह है, कि ऋषियोंके हृदयमें प्रकाश ज्ञान का जब उन्होंने वाणी द्वारा प्रयोग किया,तो उन ऋषियों ने मित्र बनकर मैत्री को पहचाना,कि(सब को एक ही ओर से इस वाणी का प्रकाश हुआ है, और एकही सब की वाणी का उद्देश्य है, अर्थात् धर्म और ब्रह्म ज्ञान। क्योंकि उन की वाणी के ऊपर कल्याणी सरस्वती स्थापन की गई थी। व्यंग्यार्थ यह भी है, कि जिस यज्ञ वा समाज वा देश में मन से छानकर सच्ची और दूसरों की हित की वाणी बोलते हैं, वहां सब मित्र बनकर मैत्री के सुख को अनुभव करते हैं, वा एक दूसरे के विज्ञान की वृद्धि को जानते हैं, क्योंकि उन की वाणी के ऊपर लक्ष्मी स्थापित है, उस लक्ष्मी से वह एक दूसरे के परिश्रम की कदर करते हैं, दूसरा अविद्वान् वा असभ्य क्या करेगा ॥

अथवा पात्र वाला है ( जो पुण्यात्मा है, वही उसके पात्र हैं )। लक्ष्मी लाभ से (लाभ की जाती है, वा लक्ष्मी वाले ही सब कुछ पाते हैं) अथवा लखने से है (लक्ष्मीवान् को सब लखते हैं) अथवा लांछन से है (उस से पुरुष चिन्ह वाले की न्याईं दूसरों से विशेष प्रतीत होने लगता है) अथवा इच्छा अर्थ वाले लष (भ्वा० उ०) से है, अथवा लगने अर्थ वाले ( दि० प० ) से है, ( लक्ष्मी मानों पुरुष को लगी रहती है तेजस्वी प्रतीत होने से ) अथवा न सराहने अर्थ वाले लज्ज ( तु० आ० ) से है (लक्ष्मी वाले अपनी आप श्लाघा नहीं करते हैं)(१.१—शिप्रे=हनू नासिके वा) 'शिप्रे' यह आगे ( ६ । १७ ) में व्याख्या करेंगे ॥ १० ॥

तत्सूर्यस्यदेवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदासावयुङ्क्त हरणानादित्यरश्मीन्हरितोऽश्वानिति वा। अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै, वेसरमहरवयुवती सर्वस्मात्। अपि वोपमार्थे स्याद्रात्रीव इति। तथापि निगमो भवति। वासस्तनुते 'पुनःसमव्यद्विततं वयन्ती'। समनात्सीत् ॥११॥

( १.२—मध्या=मध्ये ) सूर्य का यह देवत्व है, यह महत्व है, कि ( किये जाते ) कर्मों के मध्य में फैले हुए ( रश्मि समूह ) को समेट लेता है। (लोगों की अपेक्षा से अपने उदय अस्त के नियम को नहीं टालता है)। जूं ही कि वह पृथिवी लोक से ( खींचकर ) किरणों को ( अन्यत्र ) जोड़ता है, तब रात सब के लिये ( अन्धकार रूपी ) वस्त्र फैलाती है ( ऋ०

१।११५।४ ) सूर्य का यह देवत्व, यह महत्त्व है, कि किये जाते, कर्मों के मध्य में फैले हुए रश्मि जाल को समेट लेता है, जब वह जोड़ता है ( हरितः= ) ( रस- ) हरने वाली सूर्य की किरणों को अथवा हरितः=घोड़ों को (यह ऐतिहासिक पक्ष में है)॥ रात 'वासस्तनुते सिमस्मै' वासः=वेसर=( छोटा बड़ा होता रहने के कारण ) विविध गति वाले, दिन को अलग करती हुई, सिमस्मै=सब से ( विभक्ति व्यत्यय है ) ( अन्धकार को फैलाती है ) अथवा ( वासः ) उपमा के अर्थ में होसकता है, रात ( अन्धेरे को ) वस्त्र की न्याईं फैलाती है॥ ऐसा भी निगम है। 'बुनने वाली ( स्त्री ) की न्याईं (वह जैसे वस्त्र को लपेटती है) रात ने फिर फैले हुए ( अन्धेरे ) को लपेटा है ( नए उदय के समय )। समव्यत्=लपेटा है ॥ ११ ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा। इन्द्रेण हि सन्दृश्यसे सङ्गच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन। मन्दू मदिष्णू युवां स्थोऽपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्॥१२

(१३—मन्दू मदिष्णू,मन्दुनावा) समर्थ,भय रहित (मरुद्गण) के साथ संगत हुआ तू दीखता है, ( हे इन्द्र ! और मरुद्गण ) तुम दोनों हर्ष से भरे हुए और एक जैसी कान्ति वाले हो (ऋ०१। ६।७) समर्थ, भय रहित ( मरुत्- ) गण के साथ सङ्गत हुआ तू दीखता है, मन्दू=तुम दोनों हर्ष से भरे हुए हो। अथवा हर्ष से भरे हुए उस (गण) के साथ(अर्थ)होसकता है*। 'समानवर्चसा'

* मन्दू, प्रथमाद्विवचन, वा तृतीयैकवचन होसकता है. प्रथमा द्विवचन में इन्द्र और मरुद्गण दोनों की महिमामेंहै,दोनों का प्रकरण

यह ( मन्दू ) से व्याख्या किया गया * ॥ १२ ॥

ईर्मान्तासःसिलिकमध्यमासःसं शूरणासोदिव्यासोअत्याः
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः ॥

ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा वा। अपि वा शिर आदित्यो भवति यदनुशेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चैषां तिष्ठति। इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति। 'सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः'। शूरः शवतेर्गतिकर्मणो दिव्या दिविजा अत्या अतनाः। 'हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते'। हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्। श्रेणिश इति श्रेणिः

---

है ही, अर्थात् तुम दोनों हर्ष से भरे हुए हो, तृतीयैकवचन में तृतीयान्त इन्द्रेण और अविभ्युषा के साथ मरुद्गण का विशेषण है।

* यदि मन्दू द्विवचन है, तो समानवर्चसा भी प्रथमाद्विवचन। और यदि मन्दू तृतीयैकवचन है, तो समानवर्चसा भी तृतीयैकवचन। अर्थ—समान कान्ति वाले के साथ। मन्दू प्रथमाद्विवचन तो भानुवत् सीधा है, तृतीयैकवचन में सुपां सुलुक् पूर्व सवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ( ७।१।३९ ) से पूर्व सवर्ण होकर मन्दू। और 'समानवर्चसा' तृतीयैकवचन में सीधा है, प्रथमाद्विवचन में इसी सूत्र से आहुआ है। पदकार शाकल्य को मन्दू द्विवचन ही अभिमत है। यतः 'मन्दू इति' इस प्रकार प्रगृह्य दिखलाया है 'इन्द्रेण' निरुक्त के अनुसार यहां यौगिक है, क्योंकि गणेन विशेष्य अध्याहार किया है। सूक्त में इन्द्र और मरुद्गण दोनों का वर्णन होने से 'इन्द्रेण' विशेष्य मानकर तृतीयान्त उसके विशेषण माने जासकते हैं, और हे मरुद्गण! सम्बोधन भी अध्याहृत होसकता है॥

श्रयते समाश्रिता भवन्ति। यदाक्षिषुर्यदापन्। दिव्यमज्ममजनिमाजिमश्वाः। अस्यादित्यस्तुतिरश्वस्यादित्यादश्वो निस्तष्ट इति। 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' इत्यपि निगमो भवति॥ १३॥

(१४–ईर्मान्तासः) विरली जङ्घों वाले (वा मोटी जङ्घों वाले) सघन उदरों वाले (एक दूसरे से सटे हुए पेट वाले), पराक्रमी, लगातार चलने वाले दिव्य अश्व जब दिव्य मार्ग को व्यापते हैं, तो हंसों की न्याईं पंक्ति बनाकर भली भान्ति यत्न करते हैं (ऋ० १। १६३। १०) ईर्मान्ताः=परे प्रेरे हुए=विरले, अन्तों=जङ्घों वाले, अथवा ईर्म=मोटी जङ्घों वाले। सिलिक मध्यमाः=एक दूसरे के साथ लगे मध्य भागों वाले, अथवा (सातों के) मध्यवर्ती (अश्व) उन में प्रधान है। अथवा सिर आदित्य है, क्योंकि सब प्राणियों के साथ (प्राणरूप होकर) स्थित है। (शी, अ० आ० से)। और वह (आदित्य) इन (अश्वों) के मध्य में स्थित होता है *। यह दूसरा सिर भी इसी से है, इन्द्रिय इसके आश्रित होते हैं। 'संशूरणासो दिव्यासोऽत्याः' शूर गति अर्थ वाले शव (भ्वा० प०) से है। दिव्य=द्यौ में होने वाले। असाः=चलने वाले। 'हंसों की न्याईं पंक्ति बना कर यत्न करते हैं'। 'हंसाः' हन् (अ० आ०) से है, मार्ग को मार लेते हैं, (बड़ी जल्दी पहुंचते हैं)। श्रोणि, श्रिञ् (सेवायां भ्वा० उ०) से है, आश्रय लिये होते हैं। 'यदाक्षिषुः' जब व्यापते हैं, दिव्य, अज्म=अजनि=आजि=मार्ग को, अश्व। यह

* सिलिक मध्यमा के तीन अर्थ हुए—(१) उन अश्वों के मध्य देश परस्पर मिले हुए हैं। (२) उन में मध्यवर्ती अश्व प्रधान हैं। (३) उन के मध्य में सूर्य स्थित है।

आदित्य की ही स्तुति है, जो यह अश्व की है, क्योंकि अश्व आदित्य से बनाया गया है ( जैसाकि ) '(हे वसुओ) सूर्य से तुम ने अश्व को बनाया (१।१६३।२)' यह भी निगम है*॥१३॥

'कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्त्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः' ॥

कायमानश्चायमानः कामयमान इति वा । वनानि त्वं यन्मातॄरपोऽगम उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने ! प्रमृष्यते निवर्त्तनं दूरे यत्सन्निह भवसि जायमानः ॥

(१५—कायमानः) कामना करता हुआ तू जब (शान्त होकर) वनों वा (जगत् के) बनाने वाले जलों में चला जाता है, तो तेरा लौटना हे अग्ने ! नहीं दूर होता, (तेरे लौट आने की कृपा हम पर बनी रहती है), जो दूर (अदृश्य) होकर भी यहां (हमारे पास) होता है (जब अरणियों से) प्रकट होता है (ऋ० ३।९।२) कायमानः= देखता वा कामना करता हुआ, वनों में तू जब, (जगत् के वा अपने) बनाने वाले जलों में चला जाता है, ठंडा हुआ, उस से हे अग्ने ! तेरा मिट नहीं जाता है लौटना, क्योंकि दूर हुआ (भी) यहां होता है जब प्रकट होता है।

'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' । लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः । 'शीरं पावकशोचिषम्' । पावकदीप्तिम् । अनुशायिनमिति वाशिनमिति वा ॥१४॥

(१६—लोधम=लुब्धं) लोभी को लेजाते हैं पशु समझते हुए (ऋ० ३।५३।२३)। (१७—शीरम्) शीर=(सब भूतों में)

* वस्तुतः सूर्य के अश्व सूर्य की किरणें हैं। जो सूर्य से निकलती हैं, और हम से दूर गए सूर्य को फिर हमारे सामने उठालाती हैं

स्थित (धी, अ० आ० से) वा व्यापक (अशूङ् व्याप्तौ से) है, पवित्र करने वाला जिसका प्रकाश है, उस (अग्नि) की (स्तुति कर) (८ । ९१ । ११) ॥ १४ ॥

'कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते'॥ कनीनके कन्यके । कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः । कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः । विद्धयोदारुपाद्रोः दारु दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा। तस्मादेव द्रु । नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे । ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते । बभ्र्वोरश्वयोः संस्तवः ॥

(१८–विद्रधे । १९–द्रुपदे ) ( हे इन्द्र ! तेरे ) भूसले(दोनों) घोड़े यज्ञों में ऐसे शोभा पाते हैं, जैसे छेदों वाले ( सुन्दर बने हुए ) नए छोटे से पीढ़े पर पुत्तलियें हों ( ४ । ३२ । ७ ) कनीनके=दो पुत्तलियें ( वा कन्याएं )· कन्या=चाहने योग्य होती है(कम् ०भ्वा०आ०से)कहां यह पहुंचानी(=देनी)चाहिये,यह उसके विषय में पिता को चिन्ता होती हैं, (क+नी से) अथवा चाहने वाले से लाई जाती है । अथवा इच्छा अर्थ वाले कन (भ्वा०प०) से है । ( सो विद्रधे, नवे, द्रुपदे, अर्भके, यह चार पद ) कन्याओं के बैठने के आसन (पीढ़े) के वाचक हैं । सप्तमी का एकवचन है.यह शाकपूणि मानता है। छेदों वाले दो पीढ़ों पर*।

* शोभा के लिये पीढ़े के पीठ जालीदार बनाते हैं, और नीचे रंगली जालीदार फट्टी वाले पीढे भी होते हैं ।–मन्त्र में विद्रधे, द्रुपदे, सप्तम्येकवचन हैं, पर एक वचन अलग २ पीढे के अभिप्राय

दारु, दृ (विदारणे; क्र्या० प०, से है या दॄ (हिंसार्थ; क्र्या० प०) से है। उसीसे द्रु है। नत्र=नए वने हुए। अर्भके=न बड़े हुए, पर=छोटे पर, वड़(पुत्तलियें। जैसे अधिष्ठानों पर शोभा पाती हैं, इस प्रकार भूतले दोनों यज्ञों में * शोभा पाते हैं। भूतले घोड़ों का संस्तव (=एक साथ स्तुति ) है।

इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसंख्यायाह। 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि'। सुवास्तुर्नदी। तुग्व तीर्थं भवति तूर्णमेतदायन्ति। 'कुविन्नंसन्ते मरुतःपुनर्नः' पुनर्नो नमन्ते मरुतः। नक्षत इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। 'ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्'। ये ते मदा आहननवन्तो वञ्चनवन्तस्तैरिन्द्रं चोदय दानाय मघम् ॥ १५ ॥

( २०—तुग्वनि=तीर्थे ) ( इस निगम के अर्थ का निर्णय पिछली ऋचा के अनुसार है, इसलिये पहले पिछली ऋचा का अर्थ संक्षेपतः कहते हैं) यह उस ने मुझे दिया, यह उसने मुझे दिया, इस प्रकार ऋषि गिनकर कहता है 'सुवास्तु के घट पर' ( ८। १९। ३७ ) सुवास्तु नदी है †। तुग्व=घाट होता है, जल्दी इसकी ओर आते हैं, ( न्हाने के लिये )। ( २१—नंसन्ते=नमन्ते ) 'मरुत फिर हमारे लिये बहुत

से है, इसलिये व्याख्या में दो कन्याओं के सम्बन्ध से 'विद्ध्योर्दारु पाद्योः' द्विवचन है। * घुड़शाला में (दुर्गाचार्य)।

† सुवास्तु=कश्मीर प्रान्त के उद्यान नगर के नीचे बहने वाली अब सुयत प्रसिद्ध है ( साम० सत्यव्रत )

झुकते हैं' ( ७।५८।५ ) (२२—नसते) 'नसते' यह आगे ( ७। १.७ में ) व्याख्या करेंगे (नमतिराप्नोति कर्मा वा नमति कर्मा वा) (२३—आहनसः=आहननवन्तः) जो 'तेरे बड़े मद उत्साह देने वाले हैं, उन से ( हे सोम ) ! इन्द्र को धन देने के लिये प्रेर ( ऋ० ९। ७५। ५ )=आहनसः=आहननवन्तः=जोश देने वाले—वज्रवन्तः=( शत्रुओं के ) नाश करने वाले ॥ १५ ॥

'उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधाइवाविरकृत प्रियाणि। अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्'॥

उपादर्शि शुन्ध्युवः। शुन्ध्युरादित्यो भवति शोधनात्तस्यैव वक्षो भासोऽध्यूढम्। इदमपीतरद्वक्ष एतस्मादेवाध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते शोधनादेवोदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्युव उच्यन्ते शोधनादेव। नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसदद्मान्नं भवत्यद्ममादिनीति वाऽन्नसानिनीति वा 'ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्'। स्वपतो बोधयन्ती शाश्वतिकतमागात्पुनरागामिनीनाम् ॥

( २४—अद्मसद=अद्मसादिनी वा अन्नमानिनी ) (यह उषा सब को) समीप दीखती है, सूर्य की छाती ( प्रकाश समूह ) की न्याई, नोधा की न्याई प्रिय ( रूपों ) को प्रकट करती है, घर की मालिका ( वा भोजन देने वाली माता ) की न्याई सोए हुओं को जगाती हुई वापिस आने वालियों (गौओं) की न्याई यह नित्य उषा फिर आती है (१।१२४।४) 'देखी गई है सूर्य

की' शुन्ध्यु सूर्य है शोधन से ( अशुचि वस्तु को अपनी किरणों के स्पर्श से शुचि बनाता है ), इसी की छातीः=प्रकाश का ऊंचा उठा हुआ रूप ( यही उषा है )। यह दूसरी छाती भी इसी से है, शरीर पर ऊपर उठी हुई होती है ( वह्, भ्वा० उ० से )। (जलचर-) पक्षी भी शुन्ध्यु कहलाता है, जल में चरने वाला होता है। जल भी शुन्ध्यु कहे जाते हैं, शोधन से ही। नोधा ऋषि है, ( वह देवता के प्रति ) स्तुति धारण करता है, वह जैसे स्तुति से कामनाओं को प्रकट करता है, इस प्रकार उषा रूपों को प्रकट करती है। अद्मसत्=अद्म=अन्न है, सो अन्न ( बनाने ) के लिये बैठने वाली वा अन्न के सेवन करने वाली ( तय्यार करने वाली, वह जैसे )। 'सोए हुओं को जगाती हुई' फिर आने वालियों में से यह निस आती है'॥

'ते वाशीमन्त इष्मिणः'। ईषणिन इति वैषणिन इति वार्षणिन इति वा। वाशीति वाङ्नाम वाश्यत इति सत्याः।'शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्'। अभिवहनस्तुतिमभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्त ऐन्द्री त्वेव शस्यते। परितक्म्यत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः॥ १६॥

(२५—इष्मिणः=ईषणिनः,वा एषणिनः आर्षणिनः वा) सुन्दर ध्वनि वाले, गति वाले (मरुत्, सेचन करना चाहते हैं—ऋ० १।८८।६)। गति वाले, वा इच्छा वाले वा देखने वाले। वाशी वाणी का नाम है, बोली जाती है, ऐसा होते हुए से (वाशृ शब्दे, भ्वा; दि० आ०)(२६—वाहः=स्तोत्रं, सोमरस वहनं वा) हे अध्वर्यो!

तू मुझ को प्रोत्साहन कर* (इस प्रकार) हम दोनों स्तुति करें, इन्द्र के लिये प्यारा स्तोत्र करें (ऋ० ३। ५३। ३) ('वाहः' से) (देवता को यज्ञ में) ले आने की स्तुति, वा (सोमरस के) निचोड़ने (बहाने) के कहने वाली स्तुति† मानते हैं। (दोनों प्रकार से यह ऋचा) इन्द्र की कही गई है (२७—परितक्म्या= रात्रि यह आगे (११।२५ में) व्याख्या करेंगे॥१६॥इति द्वितीयः पादः

सुविते=सु इते, सूते=सुगते, प्रजायामिति वा। 'सुविते मा धा' इत्यपि निगमो भवति। दयतिरनेककर्मा। 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम' इत्युपदयाकर्मा। 'य एक इद्विदयते वसु' इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा। 'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानी'ति दहतिकर्मा। दुर्वर्तुर्दुर्वारः। 'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रूनिति' हिंसाकर्मा। इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्। अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत्' ॥ दयमान इति। नू चिदिति निपातः पुराणनवयोर्नू चेति च। 'अद्या चिन्नू चित् तदपो नदीनाम्'। अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्।

---

* अध्वर्यु का देवता की स्तुति के लिये होता को प्रेरणा प्रतिगर कहलाता है, और होता का ऋचाओं से स्तुति करना शंसन कहलाता है (देखो ऐ० ब्रा० ३। २। १ आश्व ७। ११)॥

† 'वाहः'=स्तोम, क्योंकि देवताओं को यज्ञ में ले आता है (देखो ऋ० ८। २६। १६, ऐ० ब्रा० ।१। २ निरु० ५। १) अथवा वाहः=बहाना (सोमरस का)॥

'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्' । अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम् । रयिरिति धननाम रातेर्दानकर्मणः ॥१७॥

(२८—सुविते=सुइते, सूतेवा) सुविते=सुइते है वा सूते है, (सुइते का अर्थ) सुगत=अच्छे पाए में, और (सूते=उत्पन्न हुए में, का अर्थ) प्रजायां=सन्तान में । अच्छे पाए (=जिसका पाना शुभ हो ऐसे) स्थान में मुझे स्थापन कर, (वा सन्तान में मुझे स्थापन कर, मैं बहुत सन्तान वाला होऊं *) यह भी निगम होता है । (२९—दयति=रक्षा दान दहन हिंसोज्झयनेषु) । दयति अनेक अर्थों वाला † है । 'नए (कमाए) से पहले (कमाए) की रक्षा करते हुए हों, यहां रक्षा अर्थ वाला है । 'जो अकेला ही विशेषता से धन देता है (वा सब को अलग२ बांटता है) (ऋ० १ । ८४ । ७) 'न रुकने वाला भयंकर (अग्नि) वनों को जलाता है' (ऋ० ६ । ७ । ९) यहां जलाने के अर्थ वाला है । दुर्वर्तुः=न रुकसकने वाला । 'धन पाया हुआ (इन्द्र) शत्रुओं को मारता हुआ' (ऋ० ३ । ३४ । १) यहां मारने अर्थ वाला है । 'हे प्रातःकाल आने वाले, समान प्रीति वाले अश्वियो ! यह सोम निचोड़े गए हैं, इन को पियो, यह रात को उड़ते हुए काक ने तुम दोनों से रक्षा पाने के लिये और तुम्हारी स्तुति करने के लिये मुझे जगाया है' । दयमानः= उड़ता हुआ (३०—नूचित ३१—नूच=पुराणं नवं च) 'नूचिव' यह निपात पुराने और नए अर्थ में है, और 'नूच' भी । 'अब भी और पहले ‡ भी यही कर्म है नदियों का' (ऋ० ६ । ३० ।

* 'सुविते' पाठ तैत्तिरीय में है, यजु० में 'स्विते' पाठ है ॥
† जैसे 'सुविते' इण् से वा सू से निष्पन्न मानकर अनेक प्रकृति होने से अनेकार्थ माना है वैसे यह नहीं; किन्तु वस्तुतः एक शब्द अनेकार्थक है । ‡ 'अद्याचित' के प्रतियोग में 'नूचित' पुराचित

३ ) 'अब भी और पहले*भी धनों के घर ( अग्नि को देवताओं ने धारण किया' । ऋ० १ । ९६ । ७ ) ॥ १७ ॥

'विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने'। विद्याम तस्य ते वयमकुपरणस्य दानस्य। आदित्योऽप्य-कूपारो उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽप्यकू-पार उच्यतेऽकूपारो भवति महापारः। कच्छपोऽप्य-कूपार उच्यतेऽकूपारो न कूपमृच्छतीति। कच्छपः कच्छं पाति कच्छेन पातीति वा कच्छेन पिबतीति वा। कच्छः खच्छः खच्छदः। अयमपीतरो नदी-कच्छ एतस्मादेव कमुदकं तेन छाद्यते। 'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे'। निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्ष-णाय। रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत इति वा। 'अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः'। सुतु-कनः सुतुकनैरिति वा सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा। 'सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे वि श्रयन्ताम्'। सुप्रगमनाः१८

( १२—दावने=दानस्य । १३—अकूपारस्य=अकुपरणस्य=सुपूर्णस्य, अकूपारः=आदित्यः, कच्छपः, समुद्रश्च )। हम तेरे उस सुपूर्ण ( भोगने और देने के लिये पर्याप्त ) दान को प्राप्त हों ( ऋ० ५ । ३९ । २ ) प्राप्त हों हम तेरे उस न थोड़ा पूरने वाले दान को। सूर्य भी अकूपार कहलाता है, न थोड़े पार वाला=दूर पार वाला ( बहुत बड़ा होने से ) होता है। समुद्र

' से अतिरिक्त किस अर्थ का बोधक हो। * 'पुराच' के प्रतियोग में 'नूच' 'अद्य च' से अतिरिक्त किस अर्थ का वाचक हो।

भी अकूपार कहलाता है, न थोड़े पार वाला=बड़ी दूर पार (परले तट) वाला होता है। कछुआ भी अकूपार कहलाता है, अकूप+अरः=नहीं कुंएं में जाता है (जोहड़ों में रहता है)। कच्छप (किससे ?) कच्छ=संपुट=खोल. मुख संपुट की रक्षा करता है, (=भय देखकर मुख को अपने ऊपर के कड़ाहे में छिपा लेता है)। अथवा कच्छ=कड़ाहे से (दूसरे अंगों की) रक्षा करता है (भय देखकर सारे अङ्गों को कड़ाहे में छिपा लेता है)। अथवा मुख सम्पुट से पीता है। (अब यह सम्पुट वा कड़ाह के अर्थ वाला कच्छ किससे है ?) कच्छ=खच्छ=खोखलपन का ढकने वाला (खोल) होता है। यह दूसरा कच्छ=नदी के पास की भूमि भी इसी से (ढकने के अर्थ से) है। क=जल,उस से ढकी जाती है। (३४—शिशीते=निश्यति=तीक्ष्णी करोति) राक्षसों के नाश करने के लिये (अग्नि) अपने सींगों (ज्वालाओं) को तीक्ष्ण करता है (ऋ० ५।२।९) रक्षस्=इस से अपने आपको बचाना चाहिये (रक्ष् भ्वा० प० से) अथवा 'निर्जन में मार डालता है' (रहस्+क्षण्,त०उ०से) अथवा रात को चलता है (रात्रि+नक्ष्, भ्वा० प० से)। (३५—सुतुकः=सुतुकनः=अच्छी गति वाला वा अच्छी सन्तान वाला) अच्छी गति वाला अग्नि अच्छी गति वाले घोड़ों से (वा अच्छी प्रजा वाला अग्नि अच्छी प्रजा वाले घोड़ों से *) (ऋ० १० । ३ । ७) । (३६—सुप्रायणाः=सुप्रगमनाः=यज्ञ गृहद्वारो, अर्चिषा वा) अच्छी गति वाले (यज्ञ गृह के द्वार वा अग्नि की ज्वालाएं) इस यज्ञ में खुलजाएं (यजु० १८।२५)॥१८॥

* सोना अग्नि की सन्तान है, अथवा सभी अग्नि की सन्तान हैं। घोड़े अच्छी सन्तति वाले, अच्छी कुल के होते हैं (दुर्गाचार्य)

'देवानो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे'

देवा नो यथा सदा वर्धनाय स्युरप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तो रक्षितारश्चाहन्यहनि। च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानाम्। च्यवानमित्यप्यस्य निगमा भवन्ति। 'युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः'। युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथं पुनर्युवानं चरणाय ततक्षथुः। युवा प्रयौति कर्माणि। तक्षतिः करोतिकर्मा। रजो रजतेः ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते। 'रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यव' इत्यपि निगमो भवति। हरो हरतेः। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोका हरांस्युच्यते। असृगहनी हरसी उच्येते। 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाही'त्यपि निगमो भवति। 'जुहुरे विचितयन्तः'। जुह्विरे विचेतयमानाः। व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा। 'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः' इति पश्यतिकर्मा। 'वीहि शूर पुरोडाशम्' इति खादतिकर्मा। 'वीतं पातं पयस उस्रियायाः'। अश्नीतं पिबतं पयस उस्रियायाः। उस्रियेति गोनामोत्स्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रेति च। 'त्वामिन्द्र मतिभिःसुते सुनीथासो वसूयवः। गोभिः क्राणा अनूषत'। गोभिः कुर्वाणा अस्तोषत। 'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्त-

क्षनाश्मन्मयीभिः' । आसिश्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममस्य । हरिः सोमो हरितवर्णः । अयमपीतरो हरि रेतस्मादेव । 'वाशीभिस्तक्षनाश्मन्मयीभिः' । वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा । 'स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः' । स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य मा शिश्नदेवा अब्रह्मचर्याः (शिश्नं श्नथतेः) अपि गुर्ऋतं नः। सत्यं वा यज्ञं वा।

( ३७–अप्रायुवः=अप्रमाद्यन्तः ) 'जिससे कि देवता दिन पर दिन अप्रमत्त ( सावधान ) होकर रक्षा करते हुए हमारी बढ़ती के लिये हों' । ( ऋ० १ । ८९ । १ ) जिससे कि देवता सदा हमारी बढ़ती के लिये हों । अप्रायुवः= न प्रमाद करते हुए रक्षक हों दिन पर दिन । ( ३८–च्यवन ) च्यवन ऋषि है, स्तोमों का (अपने अन्दर से) निकालने वाला है । 'च्यवानं' * ऐसे भी इस के निगम हैं । 'तुम दोनों ने ( हे अश्विया ! ) बूढ़े च्यवन को रथ की न्याईं † चलने के लिये फिर युवा बनाया (१० । ३९ । ४) तुमने च्यवानं=च्यवन को, सनयं=पुराने - बूढ़े को । रथ की न्याईं फिर युवा करके चलने के लिये बनाया । युवा=कर्मों को मिलाता है (यु, अ० प० से) तक्षति=करने के अर्थ वाला है । (३९–रजः=ज्योतिः, उदकं, रजांसि=लोकाः, रजसी=अहर्गहनी) रजस्, रंज (रागे, भ्वा० प०) से है । ज्योति रजस् कही जाती है ( ज्योति वस्तुओं को

---

* च्यवन के अर्थ में ही च्यवान भी आया है । च्यवान अप्रसिद्ध होने से उसी का उदाहरण दिया है । † जैसे शिल्पी पुराने रथ को छील छालकर और पुर्जे लगाकर नया बनादे ।

रंग देती है (याने अग्ने रजःशयातनू=जो तेरा हे अग्ने ज्योति में स्थित स्वरूप है। यजु०५।८ ज्योति का नाम है) जल रजस् कहा जाता है (रजसश्च नेता=जल का प्राप्त कराने वाला। ऋ० १०।८।६) लोक रजांसि कहे जाते हैं। लहू और दिन 'रजसी' कहे जाते हैं। (फैले हुए (मरुत्) विचित्र लोकों में घूमते हैं, ऋ० ५। ६३।५) यह भी निगम होता है *। (४०-हरस्) हरस् हृ (भ्वा० उ०) से है। ज्योति हरस् कहलाती है (अन्धेरे को हरती है) जल, हरस् कहलाता है। लोक 'हरांसि' कहलाते हैं। लहू और दिन 'हरसी' कहलाते हैं। 'हे अग्ने! अपने तेज से हमारे तेज को पका' ऋ० १०। ८७। २५. यह भी निगम होता है)। (४१-जुहुरे=जुह्वते) 'पूरा न समझते हुए होम करते हैं (५। १९।२) (४२-व्यन्तः. वी गति व्याप्ति प्रजनकान्त्यसनखादनेषु. अ० प० से है) 'व्यन्तः' यह अनेकार्थक है 'देवता के पद को नमस्कार से देखने हुए' (६। १। ४) यहां देखने अर्थ वाला है। 'हे शूरवीर! (इन्द्र' हम से दिये) पुरोडाश को भक्षण कर' (ऋ० ३। ४१। ३) यहां (वी) खाने अर्थ वाला है। 'गौ के दूध (से बनी खीर, और घी) को खाओ और पियो' (१। १६३। ४) (यहां अशन=नर्म खाना, अर्थ वाला है)। 'उस्रिया' गौ का नाम है, उससे (दूध आदि) भोग बहते हैं उस्रा भी (गौ का नाम है)। (४३-क्राणाः= कुर्वाणाः) 'हे इन्द्र! बुद्धिमानों से (सोम बहाए जाने पर धन चाहते हुए अच्छे स्तोता हम अपने वचनों से तुझे अभिमुख करते हुए स्तुति करते हैं'। (४४-वाशी=वक्षणसाधनं, वाक् वा)

---

* रजस्.लहू के अर्थ में लोक प्रसिद्ध स्त्री रज हैं, दिन के अर्थ में देखो 'रजस्' (ऋ० ४। ५। ११। १)॥

'इन सोम को लकड़ी के ( फलक ) पर डालो, और पत्थर की बनी वासियों ( तेसों )से इसको तय्यार करो (अथवा व्यापने वाली वाणियों से इसका संस्कार करो ) ( १० । १०१ । १० ) डाले सोम को लकड़ी के ( फलक के ) ऊपर,=लकड़ी के बने के। हरि सोम होता है, हरे रंग का। यह दूसरा हरि ( तोता ) भी इसी से है, । वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः' वाशी जो पत्थर की बनी हैं, उन से वा वाणियों से ( ४५-विषुणस्य=विषमस्य ) '( हमारे यज्ञ में आने का ) वह उत्साह करे, जो समर्थ हो, विषम (अन्यायी पुरुष) के लिये.ब्रह्मचर्य से शून्य पुरुष हमारे यज्ञ (वा सत्य)में मन आवें(७।२१।५) शिश्न श्नथ (श्ना०प०) से है॥१९॥

'आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ॥

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्य वोपजनः।उपधेहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम्२०

( ४६-जामि=भगिनी, बालिशः, पुनरुक्तं च ) वह युग ( समय ) आगे आएंगे, जब कि बहिनें न बहिनों वाला काम करेंगी, सो हे सुभगे ! तू मुझ से भिन्न पति को ढूंढ, उसी पूर्ण युवा के लिये अपनी भुजा को तकिया बना (१० । १० । १०) आएंगे वह अगले युग,जब कि बहिनें करेंगी न बहिनों के काम। जामि,पुनरुक्त का नाम है,वा मूर्ख का,वा समान जातीय (बहिन) का । (जामि, जा से मि) आगम है (अर्थ जो 'जा' का है, वही जामि का है) 'स्थापन कर नवयुवक के लिये अपनी भुजा को,

हे सुभगे ! मुझ से भिन्न पति को ढूंढ' यह स्पष्टार्थ है ॥ २० ॥

"द्यौर्मे पिताजनितानाभिरत्रबन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पितादुहितुर्गर्भमाधात्" ॥

द्यौर्मे पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महतीयम् । बन्धुः सम्बन्धनात् । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव ज्ञातीन्त्सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च । ज्ञातिः सञ्ज्ञानात् । 'उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः'। उत्तान उत्तान ऊर्ध्वतानो वा । तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥

(४७–पिता=पाता वा पालयिता) द्यौ मेरा रक्षक पालक है, और जन्मदाता है, यहां (हमारी) नाभि (उत्पत्ति का मूल) है। यह महती पृथिवी मेरी माता है बन्धु है, इन दोनों दूर फैली हुई भोग्य साधने वालियों के मध्य में अन्तरिक्ष है, यहां रक्षक पालक (मेघ) (जल–) दुहिने वाली (पृथिवी) को गर्भ स्थापन करता है (जल देता है (१।१६४।३३) द्यौ मेरा, पिता=रक्षक वा पालक, जन्म दाता, यहां नाभि है। बन्धु है, मेरी माता है, यह बड़ी पृथिवी । बन्धु=सम्बन्ध से, नाभि= बांधने से, 'नाभि से बन्धे हुए गर्भ उत्पन्न होते हैं' यह कहते हैं। इसी से ज्ञातियों को सनाभि कहते हैं, सबन्धु भी । ज्ञाति, एक नाम (=एक मूल नाम वाला होने) से। 'इन दोनों दूर फैली हुई, भोग्य साधने वालियों के मध्य में अन्तरिक्ष है' उत्तान= उत्तम फैला हुआ वा ऊपर फैला हुआ। वहां पिता दुहिता को= मेघ पृथिवी को, गर्भ स्थापन करता है (=जल से सेचन करता है)।

शंयुः सुखंयुः । 'अथा नः शं योररपो दधात'। रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् । अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते 'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये' इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये॥२१॥

(४८–शंयोः=शं=शमनं, योः=यावनं, अथवा शंयुः=बृहस्पति पुत्रः)'और हमारे लिये (रोगों की) शान्ति और(भयों का) परे हटाना और निष्पाप होना दे * (१०। १५। ४) 'रपम्, रिप्र' यह दोनों पाप के नाम हैं। शान्त होना रोगों का और परे हटाना भयों का। और बृहस्पति का पुत्र भी शंयु कहलाता है। 'यह हम शंयु से मांगते हैं, कि यज्ञ ( देवताओं को ) प्राप्त हो' यह भी निगम है॥ २१. ॥ इति तृतीयः पादः ॥

अदितिरदीना देवमाता ॥ २२ ॥

(४९–)अदिति=अनखुट,देवताओंकीमाता(सर्वत्रावस्थित प्रकृति)

'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिःपञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्' इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति वा । 'यमेरिरे भृगवः'। एरिर इतीर्तिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः ॥२२॥

अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वह पिता है, वह पुत्र है, सब देवता अदिति है, सारे मनुष्य अदिति है, अदिति है, जो वस्तुएं उत्पन्न हो चुकी है. और अदिति है,

* हम नीरोग निर्भय और निष्पाप हों। यहां शं और योः दो पद हैं।

जो उत्पन्न होगी ( १ । ८९ । १० ) इस प्रकार अदिति की महिमा कहता है। अथवा यह अदिति=अदीन=क्षीण न होने वाले हैं। ( ५०—एरिरे=आ+इरिरे ) 'जिस ( अग्नि ) को भृगु स्थापन करते भए' (१।१४३।४) एरिरे, यह (आ) उपसर्ग से मिले हुए ऋधातु को द्विन्व होकर बना है ॥ २३ ॥

'उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥

अपि स्मैनं वस्त्रमथिमिव वस्त्रमाथिनम्। वस्त्रं वस्तेः। तायुरिति स्तेननाम संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्तास्तस्यतेर्वा स्यात्। अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु। भर इति संग्रामनाम भरतेर्वा हरतेर्वा नीचायमानम् नीचैरयमानम्। नीचैर्निचितं भवत्युच्चैरुच्चितं भवति।

यश को और पशुओं के यूथों को लक्ष्य करके, छूटे हुए, नीचे ( पक्षी के ऊपर ) आपड़ते हुए व ज़ की न्याई. संग्रामों में इस ( दधिक्रा ) को ( देखकर ) मनुष्य (=शत्रु ) वस्त्र चुराने वाले चोर ( को देखने ) की न्याई पुकार उठते हैं ( ४ । ३८ । ५ ) और इस वस्त्रमथिमिव=वस्त्र चुराने वाले की न्याई। वस्त्र, वस् ( आच्छादने, अ, आ० ) से है। तायु, चोर का नाम है, इकट्ठा हुआ है इसमें पाप। यह नैरुक्त ( मानते हैं, स्त्यै से ) अथवा तसु(उपक्षये०दि०प)से है। 'पुकार उठते हैं मनुष्य सङ्ग्रामों में'। 'भर' सङ्ग्राम का नाम है। भृञ् ( भरणे. भ्वा० उ० ) से। ( भरतियोद्धृन् विजितेन=जीते धन से योद्धाओं को पुष्ट करता है ) वा हृञ् ( हरणे भ्वा० उ० ) से है। ( हरति जीवितानि वसूनि वा=जीवन को वा धन को हरता है ) । 'नीचायमानं'=

नीचे चलता हुआ। नीचैः=नीचे को चुना हुआ, उच्चैः=ऊपर को चुना हुआ होता है।

'जस्तमिव श्येनम्'। श्येनः शंसनीयं गच्छति। 'अवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्'। अवश्चाऽपि पशुमच्च यूथम्। प्रशंसा च यूथं च धनं च यूथं चेति वा। यूथं यौतेः समायुतं भवति। 'इन्धान एनं जरते स्वाधीः'। गृणाति। मन्दी मन्दतेः स्तुतिकर्मणः। 'प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः'। प्रार्चत मन्दिने पितुमद्वचः। गौर्व्याख्यातः॥ २४॥

छोड़े हुए * बाज़ की न्याईं। श्येन=प्रशंसनीय चलता है। 'अवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्'=प्रशंसा भी और पशुओं का यूथ भी, अथवा धन भी और यूथ भी। यूथ यु ( अ०प० ) से है। मिला हुआ होता है ( छोटे बड़े नर-नारी पशुओं से )।

( ५२—जरत=गृणाति ) 'सुबुद्धि इस ( अग्नि ) को प्रज्वलित करता हुआ ( इसकी ) स्तुति करता है' (१० । ४५ । १) जरते=गृणाति=स्तुति करता है। ( ५३—मन्दी=स्तोतव्यः ) मन्दी, स्तुति अर्थ वाले मन्द ( भ्वा० उ० ) से है। 'स्तुति के योग्य ( इन्द्र ) के लिये अन्न युक्त वचन उचारो (=हवि दो और स्तुति मन्त्र गाओ) ( ऋ०१।१०१।१ ) 'उचारो स्तोतव्य के लिये अन्नयुक्त वचन।(५४—)'गौ' व्याख्या किया गया है(पूर्व२।५-८)

'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे'। अत्र ह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नामापीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वा-

* जसुमोक्षणे ( दि० प० ) ( जस्तं=बद्धम, दुर्गाचार्य )॥

ऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे ॥ गातुर्व्याख्यातः। 'गातुं कृणव-न्नुषसो जनाय' इत्यपि निगमो भवति। दंसयः कर्माणि दंसयन्त्येनानि। 'कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः' इत्यपि निगमो भवति। 'स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः'। स तुताव नैनमंहतिरश्नोति। अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात्। 'बृहस्पते चयस इत्पियारुम्'। बृहस्पते यच्चातयसि देवपीयुम्। पीयतिः हिंसाकर्मा। वियुते द्यावापृथिव्यौ वियवनात्। 'समान्या वियुते दूरे अन्ते'। समानं सम्मानमात्रं भवति। मात्रा मानात्। दूरं व्याख्यातम्। अन्तोऽततेः। ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवत्यथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते। 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः'। ऋध्नुवन्नयाक्षीर्ऋध्नुवन्नशमिष्ठा इति च। 'अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तमल्पीयोर्थतरमनुदात्तम्। अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व'। अस्यै नः सातय उपभवाहेळमानोऽक्रुध्यन्ररिवान्रातिरभ्यस्तोऽजाश्वेति पूषणमाहाजाश्वाजा अजनाः। अथानुदात्तम्। 'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः

शतम्। शरच्छ्रुता अस्यामोषधयो भवन्ति शीर्णा आप इति वा।अस्येत्यस्या इत्येतेन व्याख्यातम्॥२५॥

(सूर्य की दूसरी रश्मियों ने) यहां उस चन्द्र ग्रह में सूर्य से अलग हुई रश्मि को झुकने(ठहरने) की अनुमति दी। (१।८४।१५) रश्मि को अनुमति दी। यहां सूर्य की रश्मियों ने झुकने की। अपीच्यं=अलग रखी हुई,अलग हुई,वा ढकी हुई को। उस चन्द्र ग्रह में। (५५-)गातु,व्याख्या किया गया है। (३।२१ में) *। (५६)-दंसयः=कर्म हैं। इनको क्षीण करते हैं। 'स्तुति होने पर तूने कुत्स † के लिये ( जल निकाले ) और वृत्र के कर्मों को ( विफल किया ) (१०।१३८।१) यह भी निगम होता है। ( ५७-तूताव=तुताव ) 'वह बढ़ता है, इस को पाप ( वा दरिद्रता ) नहीं पकड़ता है (१।९४।२) 'अहतिः, अंहः, अंहुः' यह हन् धातु से हैं। उपधा (अ) को निकाल कर (पहले रखकर) और ( ह् न् को ) उलट करके ( अर्थात् न् को ह् से पूर्व लाकर )। (५८-चयसे=चातयसि=नाशयसि) हे बृहस्पते ( देवताओं के ) हिंसक को तू नाश करता है ( १।१९०।५ ) हे बृहस्पते! देवताओं के हिंसक को तू नाश करता है ‡। 'पीयति' हिंसा अर्थ वाला है। (५९-वियुते=विमिश्रीभूते) वियुते =द्यौ और पृथिवी हैं, अलग होने से। एक जैसी (दोनों=प्रजा के उपकार में प्रवृत्त ) अलग होकर स्थित हुई, दूर किनारों

* 'गातुं कृणवन्नुषसो जनाय' इत्यपि निगमो भवति—उषाएं (अपने) जन के लिये (चलने के लिये) मार्ग बनाती हैं। (४।५१।१) यह भी निगम होता है। यह पाठ कई पुस्तकों में पाया जाता है, कइयों में नहीं, दुर्गाचार्य ने भी स्वीकार नहीं किया।

† कुत्स=किसान ( दुर्गाचार्य ) कुत्स ऋषि ( सायणाचार्य )

‡ चातयतिर्नाशने ( देखो० ६।३० )

वाली ( द्यावा पृथिवी ) ( १ । ९४ । ७ ) समान=बराबर की मात्रा ( परिमाण ) वाला । मात्रा=मापने से । 'दूरं' व्याख्या किया गया है ( ३ । १९ । में ) अन्त, अत ( भ्वा० प० ) से । (६०—ऋधक्=पृथग्भावो वा ऋद्धं कुर्वन् वा) ऋधक्, यह अलग होने का कहने वाला है, और वृद्धि के अर्थ में भी दीखता है । (जो हव्य हमने दियाहै)उसको तूने(हे अग्ने) समृद्ध बनाकर यजन किया और समृद्ध बनाकर ( हमारी भूल को ) शान्त किया (य० ८। २०) समृद्ध करके यजन किया और समृद्ध करके शान्त किया यह भी * । (६१—) 'अस्याः' और (६२—) 'अस्य' पहली वार कहने में उदात्त होते हैं, दुबारा कहने में अनुदात्त । स्फुट अर्थ वाला उदात्त होता है, अस्फुट अर्थ वाला अनुदात्त † । 'इस लाभ के लिये क्रोध न करता हुआ और देता हुआ, हे अजरूपी ! घोड़ों वाले ( पूषन् ) हमारे समीप हो, हम जोकि धन की इच्छा वाले हैं, उनको हे अजाश्व । (१।१।३८।४) इस लाभ के लिये हमारे समीप हो, अहेळमानः=क्रोध न करता

---

*यहांयह एकही उदाहरण देखकर कई यह अभिप्राय लेतेहैं,कि इस एक ही उदाहरण में दोनों अर्थ घट सकते हैं ' (मिली हुई हवियों को भी) तू हे अग्ने ! अलग२ करके उन से देवताओं को पूजता है, और समृद्ध बनाकर शान्त करताहै'दूसरे अलग के अर्थमें यह उदाहरण देते हैं 'यदिन्द्र दिविपार्ये यदृऋधक्'=हे इन्द्र जो तू दूरवर्ती द्यौ में है, यद्वा उससे अलग कहीं है ( ६ । ४० । ५ ) ।

† जब प्रत्यक्ष अन्वय किसी विशेष्य के साथ हो, तो 'अस्याः, अस्य' अन्तोदात्त होते हैं । अन्तोदात्त को ही उदात्त कहा है । और जब पूर्व कहे का 'अस्याः, अस्य' से निर्देश किया जाता है, तो सर्वानुदात्त 'अस्याः, अस्य' होते हैं । 'अस्याः ऊधुणः उपसातये' में 'अस्याः' षष्ठी चतुर्थी के अर्थ में है, और, सातये' से अन्वित है । 'दीर्घायुरस्याः यः पतिः' में 'अस्याः' से पूर्व निर्दिष्ट

हुआ। ररिवान्, रा (अ० प०) द्वित्व हुआ है (लिट् के स्थान क्सु प्रत्यय आकर)। अजाश्व इस से पूषा को कहता है, अजाः= चलने वाले। अत्र अनुदात्त (अस्याः दिखलाते हैं) इस (कन्या) का जो पति है, वह दीर्घ आयु वाला हुआ सौ वर्ष जिये (१०।८९।३९)। शरत्=पकी हुई, इस में ओषधियें होती हैं, अथवा (बरसात में बढ़े हुए) जल (इस ऋतु में) घटे हुए होते हैं। 'अस्य' 'अस्याः' से व्याख्यात है * ॥ २५ ॥

अस्यवामस्यपलितस्य होतुस्तस्यभ्रातामध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

अस्य वामस्य वननीयस्य पलितस्य पालयितु-र्होतुर्ह्वातव्यस्य तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यशनः। भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिं सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति ॥ २६ ॥

यह जो सेवनीय (सब का) पालन करने वाला, बुलाने योग्य (सूर्य) है, इसका भ्राता है मध्यम (अन्तरिक्ष स्थानी

---

कन्या निर्दिष्ट है। * 'अस्याः' और अस्य में स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग का ही विशेष है और कोई विशेषता नहीं, जैसे 'अस्याः' प्रथमा देश में अन्तोदात्त, और अन्वादेश में सर्वानुदात्त है, वैसे 'अस्य' प्रथमा देश में अन्तोदात्त और अन्वादेश में सर्वानुदात्त है, उदाहरण आगे देते हैं ॥

वायु) जोकि(सारे अन्तरिक्ष में) व्यापक है। इसका तीसरा भाई* घृत से स्पर्श किया हुआ (अग्नि) है, इनमें से मैं प्रजा के पालक (सूर्य) को देखता हूं सात पुत्रों वाला (सात किरणों वाला)† (१।१६४।१) इस, वामस्य=सेवनीय का, पलितस्य=पालन करने वाले का, होतुः=बुलाने योग्य का। उसका भाई है मध्यम, जो व्यापक है। भ्राता, हरने अर्थ वाले भृ (भ्रा० उ०) का है। भाग लेता है, वा पालने योग्य होता है, (सूर्य से भेजे हुए गर्मी के भाग को, वा सूर्य की किरणों से लाए हुए जल भाग को वायु ग्रहण करता है, वा सूर्य से गर्मी और जल द्वारा पाला जाता है)। तीसरा भाई इसका घी से स्पर्श किया हुआ वह अग्नि है। उन में से मैंने देखा है, विश्पतिं=सब के रक्षक वा सब के पालक को। सप्त पुत्रं=सातवें पुत्र को (सूर्य अदिति का सातवां पुत्र है), अथवा फैले हुए पुत्रों वाले (इस की रश्मियें सर्वत्र फैली हुई हैं)। सप्त फैली हुई संख्या है,सात सूर्य की रश्मियें हैं, ऐसा कहते हैं ॥ २६ ॥

---

* सूर्य, वायु और अग्नि इन तीन भाइयों में से अग्नि तीसरा है।

† पहला 'अस्य' वामस्य के साथ अन्वित है, इस लिये अन्तोदात्त 'अस्य' है। दूसरा पूर्वोक्त 'वामस्य' का निर्देशक है, इसलिये सर्वानुदात्त 'अस्य' है। दुर्गाचार्य ने जो उदात्त से प्रधान और अनुदात्त से अप्रधान लिया है, और इस लिये अगले 'अस्य' से 'वायु' का ग्रहण किया है, क्योंकि सूर्य इस में प्रधान है, और वायु अप्रधान है, यह भूल है। 'अस्य' से सूर्य ही अभिप्रेत हो सकता है। प्रथमादेश और अन्वादेश का अर्थ पूर्वोक्त ही है। दुर्गाचार्य ने जो काइयों का यह मत दिखलाया है, कि प्रथमादेश =प्रारम्भ में कहना, और अन्वादेश किसी पद के पश्चात् आना, यह भी भूल है।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

सात एक पहिये वाले रथ को जोड़ते हैं, सात नामों वाला एक अश्व लेजाता है, यह पहिया तीन नाभियों वाला है, यह कभी पुराना नहीं होता, किसी के सहारे नहीं, (यह वह रथ है) जिसमें यह सब भुवन बैठे हुए हैं * (ऋ० १।१६४।२).

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणम्। चक्रं चकतेर्वा चरतेर्वा क्रामतेर्वा। एकोऽश्वो वहति सप्त-नामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा। इदमपीतर न्नामैतस्मा-देवाभिसन्नामात्। संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभि चक्रं त्र्यृतुःसंवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः।वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः।हेमन्तो हिमवान्हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वा। अजरमजरणधर्माणमनर्वम-प्रत्यृतमन्यास्मिन्। यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिस-न्तिष्ठन्ते तं संवत्सरं सर्वमात्राभिःस्तौति। 'पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमानः' इति पञ्चर्तुतया। पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति

* रथ सूर्य मण्डल है, पहिया गर्मी है, सात अश्व सात किरण हैं, पर वस्तुतः अश्व एक प्रकाश ही है, जिसके सात भेद होने से सात नाम हैं, तीन नाभि = तीन मुख्य किरण हैं, सब भुवन = ग्रह उपग्रह और जीव जन्तु, इस में बैठे हैं, इस के आश्रित हैं, इस की क्रिया से क्रियावान् हैं (सम्पादक—नैरुक्त अर्थ आगे मूल में देखो)

च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरोः समासेन । पञ्चार आहुरर्पितमिति षड्ऋतुतया । अराः प्रत्यृता नाभौ । षट् पुनः सहतेः।'द्वादशारं नहि तज्जराय'। द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्' इति मासानाम् । मासा मानात् । प्रधिः प्रहितो भवति । 'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः'। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं समासेन। 'सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः'। सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्योरात्रा इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥

सात ( किरण ) जोड़ते हैं रथ को, एक चक्रं=अकेला चलने वाले को। चक्र, चक (भ्वा० उ०) से, वा चर (भ्वा० प०) से वा क्रम् (भ्वा० उ०) से (चकति वा चरति वा क्रामति=चलता है) 'एक अश्व लेजाता है, सप्तनामा=सूर्य (क्योंकि) सात किरण इसकी ओर जलों को झुकाती हैं। अथवा सात ऋषि इसकी स्तुति करते हैं। यह जो दूसरा नाम है,यह भी इसी से है, ( झुकाव से=अपने अर्थ की ओर झुकता है )। ( ऋचा का पूर्वार्ध तो सूर्य के अभिप्राय से कहा है) ऋचा का उत्तरार्ध वर्ष को मुख्य रखकर पढ़ा है । तीन नाभि वाला पहिया=( तीन नाभियें ) तीन ऋतुएं, गर्मी, बरसात, जाड़ा । संवत्सर=बसते हैं इसमें प्राणधारी। ग्रीष्म=ग्रसे जाते हैं इसमें रस। वर्षाः=बरसता है इनमें मेघ। हेमन्त=बर्फ वाला। हिम=हन्(अ०प०) से वा हि(स्वा०उ) से है। अजर=न जीर्ण होने के धर्म वाला,अनर्व=न दूसरे के आश्रित। जिसमें यह सब भूत स्थित हैं। उस बरस

को मारे अवयवों ( ऋतु मास, दिन. रात ) से स्तुति करता है* । 'पांच अरों ( ऋतुओं ) वाला चक्र जो घूम रहा है, उस में (सब भूत स्थित हैं—१ । १६४ । १३) यहां पांच ऋतुओं वाला होने से (संवत्सर की स्तुति है) । वर्ष के पांच ऋतु हैं । हेमन्त और शिशिर को एक करके, यह ब्राह्मण है ( ऐत० ब्रा० १ । १ । १ ) 'छः अरों ( ऋतुओं ) वाले ( पहिये ) पर स्थित कहते हैं (१।१६४।१२) यहां छः ऋतुओं वाला होने से ( संवत्सर की स्तुति ) है । अराः=नाभि में लगे होते हैं ( ऋ, भ्वा० प० से ) पंद्=सह ( भ्वा० आ० ) से (=दबा लेते हैं—पांच को ) । 'बारह अरों ( महीनों ) वाला वह (चक्र) पुराना होने के लिये नहीं होता है, ( १ । १६४ । ११ ) 'बारह डण्डे एक पहिया' (१।१६४।४८) यहां महीनों की ( स्तुति ) है । मापाः=मापने से (=बरस को मापते हैं ) मधिः=अलग २ करके ( पहिये की नेमि बनाने के लिये ) रखा हुआ होता है । 'उन (पहिये) में सदा चलते रहने वाले तीन सौ साठ कीलसे जड़े होते हैं ( १ । १६४ । ४८ ) 'तीन सौ साठ बरस के दिन रात होते हैं, इकट्ठे कहने में' यह ब्राह्मण है ( ऐ० ब्रा० ४ । २ । ६) ( आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र=हे आग्निमय सूर्य इस चक्र पर तेरे जोड़े पुत्र ) सात सौ बीस बैठे हैं (१।१६४।११) 'सात सौ बीस बरस के अलग२ करके दिन और रात होते हैं, यह ब्राह्मण है(ऐ०ब्रा०२।१।७)॥२७॥

* इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः *

---

* कैसे ज्ञात हो, कि उत्तरार्ध वर्ष को मुख्य करके है. क्योंकि यहां संवत्सर का ग्रहण स्पष्ट नहीं किया, इसलिये अगले ग्रन्थ से यह दिखलाते हैं, कि इसी सूक्त में अगले मन्त्रों में ऋतु, मास, और दिन रात की गिनती से संवत्सर की स्तुति की ही है ॥

# अथ पंचमोऽध्यायः ।

(इस अध्याय में 'सस्नि' से लेकर स्रुणिः' तक ८४ पदों की व्याख्या है)

'सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्'। मेघं संस्नातं। 'वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा'। वोढृतमो ह्वानानांस्तोमो दूतो हुवन्नरौ। नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु। दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा ।'दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्' इत्यपि निगमो भवति।वावशानो वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा । 'सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानः' इत्यपि निगमो भवति । वार्यं वृणोतेरथापि वरतमम् । 'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्' । तद्वार्य्यं वृणीमहे वर्षिष्ठं गोपायितव्यं गोपायितारो यूयं स्थ युष्मभ्यमिति वा । अन्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति । 'आमत्रेभिःसिञ्चता मद्यमन्धः' । आसिञ्चतामत्रैर्मदनीयमन्धः। अमत्रं पात्रममा अस्मिन्नदन्ति । अमा पुनरनिर्मितं भवति। पात्रं पानात् । तमोऽप्यन्ध उच्यते नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनमन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते । अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव । 'पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः' इत्यपि निगमो भवति ॥ १ ॥

(१—सस्निं=मेघं) (इन्द्र ने) धोए हुए (मेघ) को जलों के घूमने के स्थान (अन्तरिक्ष)में पाया (१०।१४०।६)धोए हुए को=

मेघ को । (२—वाहिष्ठः = वोढृतमः।३—दूतः) 'बुलाने वालों में से सब से बढ़कर बुलाने वाला मेरा स्तोत्ररूपी दूत तुम दोनों (अश्वियों) को बुलावे (८ । २६ । १६) सब से बढ़कर बुलाने वाला बुलाने वालों में से स्तोत्ररूपी दूत बुलावे,हे वीरो! नर = मनुष्य, कामों में नाचने रहते हैं । दूत, जु (भ्वा० आ०) से, वा द्रु (भ्वा०प०) से (जाता है) वा वारयति से (वारयति = निवारयत्यनर्थान्) (दूत है देवताओं का और मनुष्यों का। (ऋ०१०।४।२) यह भी निगम होता है) । (४—)वावशानः = वश (कान्तौ० अ० प०) से, वा वाशृ (शब्दे० भ्वा०आ०) से है (अर्थ—चाहता हुआ वा शब्द करता हुआ) । '(यज्ञ की) कामना करते हुए (वा यज्ञ में ध्वनि करते हुए) तूने (हे अग्ने) सात चमकती हुई वाहिनों (सात ज्वालाओं) को (विद्वान् मध्व उज्जभार दृशे कम् = जानकर यज्ञ से निकाला है देखने के लिये—१० । ५ । ५) यह भी निगम होता है । (५—वार्यं = वरणीयं) 'उस स्वीकार करने योग्य बहुत बड़े और रक्षा के योग्य धन को हम स्वीकार करते हैं' (८।२५।१३) उस स्वीकार के योग्य को हम स्वीकार करते हैं, बहुत बड़े को । (गोपयत्यं) रक्षणीय को, अथवा तुम (मित्र, वरुण, अर्यमा) जिसके रक्षक हो, अथवा जो तुम्हारे लिये (रक्षणीय) है । (६—अन्धस् = अन्नं, तमो वा) अन्धस् अन्न का नाम है । प्रार्थनीय होता है। 'पात्रों (चमसों) से (हे अध्वर्युवो) उत्साह जनक अन्न (सोम) (अग्नि में) डालो (ऋ० २ । १४ । ५) डालो बर्तनों से उत्साह जनक अन्न । अमत्र = पात्र होता है । एक साथ इस में खाते हैं (अमा+अद्+त्र) से । और अमा = न मिना हुआ होता है । पात्र पीने से । अन्धेरा भी 'अन्धस्' कहलाता है।

इस में ध्यान अर्थात् दर्शन नहीं होता है। (गाढ़ अन्धेरे-अर्थ में) अन्धन्तमः ऐसा बोलते हैं। यह दूसरा अन्ध भी इसी से (न देखने से) है। 'देखता है नेत्र वाला (ज्ञानी) नहीं समझता है अन्धा (अज्ञानी) (१।१६४।१६) यह भी निगम होता है ॥१॥

'असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती'। असज्यमाने इति वाऽव्युदस्यन्त्याविति वा बहुधारे उदकवत्यौ। वनुष्यतिर्हन्तिकर्मानवगतसंस्कारो भवति। 'वनुयाम वनुष्यतः' इत्यपि निगमो भवति। 'दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यात वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः'। दीर्घप्रनत यज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानां पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा पापत्यतेर्वा स्यात्। तरुष्यतिरप्येवंकर्मा। 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्' इत्यपि निगमो भवति। भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः। 'पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः' इत्यपि निगमो भवति। 'स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः' इति च। 'अन्येन मदाहनो याहि तूयम्'। अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रमाहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवत्येतस्मादाहनःस्यात्। ऋषिर्नदो भवति नदतेःस्तुतिकर्मणः। 'नदस्य मा रुधतःकाम आ गन्'। नदनस्य मा रुधतः काम आगमत्। संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥ २ ॥

(७—असश्चन्ती=असज्यमाने, अव्युदस्यन्त्यौ वा) '(आपस में एक दूसरे से) मिले हुए ( अथवा न क्षीण होने वाले ) सब के पूजने वाले, बहुत-जल वाले (द्यौ और पृथिवी—घृतं दुहाते= जल भरते हैं। ऋ० ६।७०।२) ( असश्चन्ती= ) न मिले हुए, वा न क्षीण होने वाले। सब के धारने वाले*, जल वाले। (८—वनुष्यति=हन्ति) वनुष्यति मारने अर्थ वाला अज्ञातसंस्कार शब्द है। 'मारने वालों ( शत्रुओं ) को हम मारें' (ऋ० ८।४०। ७) यह भी निगम होता है। 'लम्बे फैले यज्ञ वाले (यज्ञ शील) को जो मारना चाहता है, उस पाप बुद्धि को हम सङ्ग्रामों में जीतें' (ऋ० ७।८२।१) लम्बे विस्तृत यज्ञ वाले को मारना चाहता है जो, हम उसको जीतें, युद्धों में। दूढ्यं = दुर्बुद्धि = पाप-बुद्धि वाले को †। 'पापः' = पीने वाला न पीने योग्यों का (पा, भ्वा० प०) से। अथवा बार २ गिरता हुआ नीचे ही गिरता जाता है (पत्, भ्वा० प० से)। अथवा पापत्य (पत, यङ् लुगन्त) से है ( बार २ गिरने वाला। (९—तरुष्यति= हन्ति) तरुष्यति = भी इसी अर्थ वाला। 'साथी इन्द्र के साथ हम शत्रु को मारें' ( ऋ० ७।४८।२ ) (१०)—मन्दना, स्तुति अर्थ वाले मन्दु ( भ्वा० आ० ) से है। 'सब का प्यारा, कवि ( अग्नि ) अपने तेजों से स्तुति किया जाता है‡'।(ऋ०१।१४) 'वह सन्तान ( के देने ) वाली स्तुतियों को उचारना है' ( ऋ० ९।८६।४१ ) यह भी। ( ११—आहनः = हे आहन्त्रि ! ) है

---

* अथवा बहुत धाराओं वाले। द्यौ से जल की धाराएं पृथिवी की ओर और पृथिवी से (मनुष्य कृत वा स्वाभाविक) यज्ञों द्वारा रस की धाराएं) द्यौ की ओर जाती हैं। †पूर्व 'यः' एक वचन होने से 'दूढ्यः' बहुवचन को 'दूढ्यं' एकवचन में परिणत किया है।

‡ अथवा उस अग्नि को सब का प्यारा ऋषि स्तुति करता है॥

चोट देने वाली जल्दी तू मुझ से भिन्न (किसी दूसरे) के पास जा (ऋ० १०।१० । ८) आहनाः=चोटसी देती है, तू बात करती हुई। इस प्रकार असभ्य भाषण से 'आहनाः' कही है, उस से है आहनः (सम्बोधन में) 'स्तुति करने वाले (इन्द्रियों को) रोकने वाले का काम मुझे प्राप्त हुआ है (ऋ० १।१७२।४) स्तुति करने वाले, रोके हुए का काम मुझे प्राप्त हुआ है। (रुधतः=) रोके हुए प्रजनन वाले ब्रह्मचारी का, इस प्रकार ऋषि पुत्री (लोपामुद्रा) का (यह) विलाप बतलाते हैं ॥ २ ॥

'न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः'। अक्षोतेरित्येके। 'अनूपे गोमान्गोभि रक्षाः। सोमो दुग्धाभिरक्षाः' क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके। अनूपे गोमान्गोभिर्यदा क्षियस्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति। सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः। श्वात्रमिति क्षिप्रनामाशु अतनं भवति। 'स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः'। स पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तत्क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः। ऊतिरवनात्। 'आ त्वा रथं यथोतये' इत्यपि निगमो भवति। हासमाने इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः। 'वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्'। पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति वा। 'ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्'। स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनं

तादिद्वाविदज्ज्वलयमानम् । 'द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः' । द्वैतं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च । शम्भुः सुखभूः । 'मृगं न व्रा मृगयन्ते' । मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः ॥ ३ ॥

(१३—सोमो, अक्षाः*) 'न जिसको (जिसकी महिमा को) द्यौ और पृथिवी, न जल, न अन्तरिक्ष, न पर्वत (पाते हैं), (उनको) सोम पाता है (१० । ८९ । ६) । (अक्षाः) अशूङ् (व्याप्तौ० स्वा० आ०) से है । यह कई कहते हैं । 'गौओं का स्वामी जल प्राय देश में वसता है, तो दुही (गौओं) से सोम झरता है (९ । १०७ । ९) इस में पहला (अक्षाः) क्षि (निवासगत्योः, तु० प०) का निगम है, और अगला क्षर (भ्वा०प०)का निगम है । यह कई कहते हैं । अर्थात् जल प्रायदेश में जब गोस्वामी गौओं के साथ निवास करता है,तब सोम दुही (गौओं) से झरता है पर शाकपूणि मानता है, कि सब क्षि (तु०प०) के निगम हैं । अर्थात् दुही गाओं (के थनों) में (भी) सोम (दूध) निवास करता हैं (बना रहता है) (१४—) भ्वात्रं, यह क्षिप्र का नाम है, जल्दी चला जाने वाला (समय) है । उस अग्नि ने उड़ने वाले, चलने वाले और स्थावर जगत् को जल्दी बनाया (१० । ८८ । ४) (१५—ऊतिः = अवनं = रक्षा) ऊतिः, रक्षा से । 'आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि' = रक्षा के लिये और सुख के लिये तुझे लौटाते हैं जैसे रथ को (८।६८।१)

---

* 'अक्षाः' अश् से है, वा क्षि से है वा क्षर से है, यह सन्देह है । सो निघण्टु में 'अक्षाः' पद ही पढ़ना चाहिये था 'सोमो अक्षाः' इस प्रकार इकट्ठा पाठ 'अक्षाः' पद का पता देने के लिये है ॥

यह भी निगम होता है। (१६—हासमाने = स्पर्धमाने,हर्षमाने वा) हासमाने आगे (९। ३९ में) व्याख्या करेंगे। (१७—पड्भिः = पानैः स्पाशनैर्वा) 'बभ्रु इन्द्र की शरण आया है (सोम—)पानों के साथ ( वा गुण वर्णन के साथ—१०।९९।१२ )। (पड्भिः—) (सोम—) पानों के साथ (=इन्द्र के लिये सोम लेकर) अथवा (गुणों को)स्पर्श करने वाली स्तुतियों के साथ,पा०भ्वा०पं०से,वा स्पश् से) (१८—ससं=स्वपनं) 'सोने वाली की न्याई ( कभी २ दिखलाई देने वाली विद्युत् की न्याई ) प्रकट हुए चमकते हुए ( अग्नि ) को उस ने पाया ( १० । ७९ । ३ ) सोने वाली यह अन्तरिक्ष की ज्योति ( विद्युत् ) है, क्योंकि उसका ( सूर्य वा अग्नि की न्याई ) नित्य दर्शन नहीं है, उस ज्योति की न्याई जाज्वल्यमान ( अग्नि ) को उस ने पाया ( १९—द्विता = द्वैध ) 'दो प्रकार से बैठा हुआ अन्न से सुख उत्पन्न करने वाला है। ( ३ । १७ । ५ ) दो प्रकार से बैठने वाला अर्थात अन्तरिक्ष में और द्यो में ( इन्द्र वा वायु ) (वृष्टि द्वारा अन्न उत्पन्न करके) शम्भुः = सुख का उत्पन्न करने वाला है। (२०—व्राः = व्राताः) 'मृग को जैसे शिकारी वैसे ढूंढते हैं (८। २। ६) मृग को जैसे शिकारी (वैसे हमारे) बुलावे ( तुझ को ढूंढते हैं )॥ ३॥

वराहो मेघो भवति वराहारः। 'वरमाहारमाहर्षी' रिति च ब्राह्मणम्। 'विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता' इत्यपि निगमो भवति। अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। बृहति मूलानि,वरं वरं मूलं बृहतीति वा। 'वराहमिन्द्र एमुषम्' इत्यपि निगमो भवति। अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः'। अथाप्येते माध्य-

मिका देवगणा वराहव उच्यन्ते । 'पश्यन्हिरण्यचक्रा-
नयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्' । स्वमराण्यहानि भव-
न्ति स्वयं सारीण्यपि वा स्वरादित्यो भवति स एनानि
सारयति।'उस्रा इव स्वसराणि' इत्यपि निगमो भवति ।
शर्य्या अंगुलयो भवन्ति(सृजन्तिकर्माणि)।शर्या इषवः
शरमय्यः । शरः शृणातेः । 'शर्याभिर्न भरमाणो गभ-
स्त्योः' इत्यपि निगमो भवति । अर्को देवो भवति ।
यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति ।
अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति
संवृत्तः कटुकिम्ना ॥ ४ ॥

(२१-वराहः=मेघः सूकरो वा।वराहाः=अंगिरसः । विराहवो मरुतः) वराह मेघ होता है । उत्तम (=जल) आहार वाला है, 'उत्तम आहार उस ने खाया' यह ब्राह्मण भी है । 'उस ने पहुंच कर मेघ को ताड़ना किया', उस पर वज्र फैंका (१ । ६१ । ७) यह भी निगम होता है । यह दूसरा वराह ( सूअर ) भी इसी से है । जड़ों को उखाड़ता है (वृह से) अथवा अच्छे २ मूल को उखाड़ता है । 'हे इन्द्र चुराने वाले वराह को ( तूने ताड़ना किया ) ( ८ । ६६ । १० ) यह भी निगम होता है । अंगिरस भी वराह कहलाते हैं । ' ब्राह्मणस्पति श्रेष्ठ अंगिरसों के साथ ( धन को प्राप्त हुआ ( १० । ६७ । ७ ) । यह अन्तरिक्ष के देवगण ( मरुत ) भी वराहु कहलाते हैं । ' सुनहरी चक्रों वाले, लोहे की दाढ़ों ( चक्र धाराओं ) वाले इधर उधर दौड़ते हुए मरुतों को देखता हुआ ' ( १ । ८८ । ५ ) ॥

(२२–) 'स्वसराणि' दिन होते हैं। अपने आप चले जाते हैं (स्व+सृ) अथवा स्वर् सूर्य होता है, वह इनको चलाता है (स्वर्+सृ+णिच्) 'जैसे किरणें दिनों की ओर' (आती हैं–१।३।८) यह भी निगम होता है। (२३–) 'शर्याः' अंगुलियें होती हैं (कर्मों को रचती हैं)। 'शर्याः' बाण होते हैं, शर के बने हुए होते हैं। शर शॄ (हिंसायां, क्र्या० प०) से है। 'दोनों भुजाओं में (स्थित धनुष को) धारता हुआ जैसे कोई बाणों से (पीड़ित करे–९।१००।५) यह भी निगम होता है। (२४–अर्कः=देवः, मन्त्रः, अन्नं, वृक्षविशेषश्च) अर्क देवता (होता है, क्योंकि इस को पूजते हैं। अर्क मन्त्र है, क्योंकि इस से पूजते हैं। अर्क अन्न है, क्योंकि प्राणधारियों का सत्कार करता है। अर्क वृक्ष (=अक) है, व्याप्त होता है कड़वे पन से (वृ० से)॥ ४॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्मणास्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव। वंशो वनशयो भवति वननाच्छ्रूयत इति वा। पवी रथनेमिर्भवति यद्विपुनाति भूमिम्। 'उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा'। 'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः' इत्यपि निगमौ भवतः। वक्षो व्याख्यातम्। धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः। 'तिरोधन्वातिरोचते' इत्यपि निगमो भवति। सिनमन्नं भवति 'सिनाति भूतानि'। 'येन

स्मा मिनं भरथः सखिभ्यः' इत्यपि निगमो भवति। इत्थामुथेत्येनेन व्याख्यातम्। सचा सहेत्यर्थः। 'वसुभिः सचाभुवा'। वसुभिः सहभुवौ। चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः। 'चिदसि मनासि'। चितास्त्वयि भोगाश्चेतयसे इति वा। आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथाप्यध्यर्थे दृश्यते। 'अभ्र आँ अपः'। अभ्रे आ अपः। अपोऽभ्रेऽधीति। द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा। 'अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि'। अस्मासु द्युम्नं च रत्नं च धेहि॥ ५॥

हे बड़ी शक्ति ( वा ज्ञान ) वाले इन्द्र, साम गाने वाले तुझे गाते हैं, मन्त्रों वाले ( तुझ ) पूजनीय ( देव ) को पूजते हैं *, ब्राह्मण तुझे वंश की न्याई ऊंचा उठाते हैं ( यज्ञों में तेरी ही महिमा को बढ़ाते हैं ) ( ऋ० १। १०। १ ) गायत्र वाले (=सामग) तुझे गाते हैं, मन्त्रों वाले पूजनीय देव को पूजते हैं, ब्राह्मण तुझे हे शतक्रतो ऊंचा उठाते हैं, वंश की न्याई। वंश=वन में स्थिति वाला होता है(अथवा झण्डे के तौर पर) सेवन से प्रसिद्ध है ( वनन+श्रू से )॥ (२८—) पवि=रथ की धार होती है। क्योंकि भूमि को लताड़ती है। 'और अपने रथों की धार से बल के साथ पर्वतों को फोड़ देते हैं (मरुद—

* "अर्क मर्किणः" में अर्क से देवता और अर्किणः वाले अर्क से मन्त्र अभिप्रेत है॥

५।५२।९ ) 'उस ( वृत्र ) को मरुतों ने बर्छे की धार से नाश किया' यह भी दोनों निगम हैं। ( २६— ) वक्षस् ( ४।१६ में ) व्याख्या किया गया है। (२७—) धन्व=अन्तरिक्ष-है, आते हैं, इस से जल। 'जो (अग्नि) अन्तरिक्ष को उलांघकर चमकता है'। ( १० । १८७ । २ )। (२८—) मिन=अन्न होता है, (क्योंकि) प्राणियों को बांधता है। 'जिस (महिमा) से तुम ( हे मित्र वरुण) अन्न धारते हो मित्रों (यजमानों) के लिये' (३।६२।१)। (२९—) 'इत्था' अमुथा मे व्याख्या किया गया है। (३।१६ में,अमुथा=यथाऽसौ, इत्थ=यथाऽयं)। (३०—) सचा=साथ, यह अर्थ है। 'वसुओं के साथ होकर ( सोम पियो हे अश्वियो ! ८। ३५।१) (३१—) चित्, यह निपात अनुदात्त पूर्व ( १ । ४ में ) व्याख्या किया गया है। पर यहां पशु का नाम भी है ( इस अर्थ में ) उदात्त होता है। 'तू समझ देने वाली है, दिक्षरी देने वाली है, (यजु० ४ । १९) चित्=तुझ में भोग इकट्ठे हैं, वा तू समझ देने वाली है। 'आ' यह आकार उपसर्ग पूर्व ही ( १ । ३ ) व्याख्या किया गया है। अधि ( ऊपर ) के अर्थ में भी देखा जाता है 'मेघों के ऊपर जलों को' (५।४८।१) (३३—) द्युम्नं द्युत् (भ्वा० आ०) से है। यश वा अन्न होता है। 'हम में यश ( वा अन्न ) और रत्न को स्थापन कर' (७।२५।३) ॥५॥ इति प्रथमः पादः ॥

पवित्रं पुनातेः। मन्त्रः पवित्रमुच्यते। 'येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा' इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। 'गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः' इत्यपि निगमो भवति। आपः पवित्रमुच्यन्ते। 'शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः'। बहूदकाः। अग्निः

पवित्रमुच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । सोमः पवित्र-मुच्यते । सूर्यः पवित्रमुच्यते । इन्द्रः पवित्रमुच्यते । 'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु' । इत्यपि निगमो भवति । तोदस्तुद्यतेः ॥ ६ ॥

(३४–पवित्रं=मन्त्रः, रश्मयः, आपः, अग्निः, वायुः, सोमः, सूर्यः, इन्द्रश्च) पवित्रं, पूञ् (पवने, क्र्या० उ० ) से है। मन्त्र पवित्र कहलाता है। 'जिस मन्त्र से देवता ( ऋत्विज् और यज-मान ) अपने आपको सदा पवित्र करते हैं' (मा० उ० आ० ५। २।८।९) रश्मियें पवित्र कहलाती हैं (वह स्पर्श से पवित्र करती हैं)। 'रश्मियों से पवित्र हुआ नेताओं (ऋत्विजों) से बहाया हुआ (सोम)' (९।८।३४६) यह भी निगम होता है। जल पवित्र कहलाते हैं (वह पवित्र करते हैं)। 'बहुत जलों वाली, अन्न (को उत्पन्न करके उस) से तृप्त करती हुई ( देवताओं के मार्ग पर चलता है। ऋ० ७।४७।३ ) ( शतपवित्राः ) बहुत जल वाली। अग्नि पवित्र कहलाता है, वायु पवित्र कहलाता है, सोम पवित्र कहलाता है, सूर्य पवित्र कहलाता है, इन्द्र पवित्र कहलाता है। 'अग्नि पवित्र है, वह मुझे पवित्र करे, वायु, सोम, सूर्य, इन्द्र पवित्र हैं, वह मुझे पवित्र करें' । यह भी निगम होता है ( ३५–तोदः=भूमे र्बिलं, कूप इत्येके ) तोद, तुद् ( व्यथने, तु० उ० ) से है। ( तुन्नं भवति=छेदा हुआ होता है ) ॥

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा । तोद-स्येव शरण आ महस्य । बहुदाश्वाँस्त्वाभिह्वयाम्य-रिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोऽप्यरि रितस्मादेव । यदन्य-

देवत्या अमावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्। 'तादस्येव शरण आ महस्य'।तुदस्येव शरणेऽधिमहतः। स्वश्वाःसु अश्वनः।'आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वश्वाः' इत्यपि निगमो भवति । शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः।कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः॥७

बहुत ( हवि ) देता हुआ, बहुत बड़े गर्त के घेरे में ( जलों की तरह ) तेरे ( घेरे में ) ही पहुंचाने वाला हुआ * । मैं तुझे बुलाता हूं ( १।१५०।१ ) 'बहुत देता हुआ, तुझे ही बुलाता हूं'। अरिः=शत्रु, ऋ ( भ्वा० प० ) से ( उणा० ४।१३८ ) समर्थ भी अरि होता है, इसी ( धातु ) से । जिस लिये और देवताओं की आहुतियें भी अग्नि में होमी जाती हैं, यह देखकर ही कहा होगा कि 'जैसे बड़े गर्त के घेरे में' (३६—) स्वश्वाः= अच्छी गति वाला । 'चारों ओर से होमा हुआ, घृत जिस की पीठ पर है ( घी से लदा हुआ ) अच्छी गति वाला ( अग्नि दूत) (५।३७।१) यह भी निगम होता है । (३७, ३८) शिपिविष्ट और विष्णु यह दो विष्णु के नाम हैं । औपमन्यव मानता है, कि इनमें से पहला निन्दा ( अश्लील ) अर्थ वाला है ॥ ७ ॥

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥

किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः

* जैसे बड़े गर्त=समुद्रादि में बहुत जल चारों ओर से आते हैं, इस प्रकार अग्नि में चारों ओर से हविये दीजाती हैं, जो अग्नि के लिये हविये होती हैं, वह भी, और जो दूसरे देवताओं के लिये होती हैं, वह भी ।

प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति। 'मा वर्पो अस्मदप गूह एतत्'। वर्प इति रूपनाम वृणोतीति सतः। यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ८ ॥

हे विष्णो ! क्या यह तेरा रूप कहने योग्य है, जो तू कहता है, कि मैं शिपिविष्ट हूं। मत हम से इस रूप को ढांप, जब तू संग्राम में दूसरे रूप वाला होता है (७। १००। ६) क्या तेरा, हे विष्णो ! यह अप्रसिद्ध=न प्रसिद्ध करने योग्य (छिपाने योग्य) रूप है, जो तू बतलाता है, कि मैं शेप की न्याईं नंगा हूं।=रश्मियें न पाया हुआ। अथवा शिपिविष्ट प्रशंसा नाम ही अभिमत हो, क्या तेरा हे विष्णो ! यह प्रसिद्ध=प्रसिद्ध करने योग्य रूप है, जो तू कहता है, मैं रश्मियों से घिरा हुआ हूं। रश्मियें यहां शिपि कही है, उन से लपेटा हुआ होता है। 'मत हम से इस रूप को ढांप' वर्पस् रूप का नाम है। स्वीकार करता है (आश्रय को) ऐसा होते हुए से। जो तू अन्य रूप वाला, समिथे=सङ्ग्राम में होता है, रोकी हुई रश्मियों वाला। अगली ऋचा इस के अधिक खोलने के लिये है ॥ ८ ॥

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥

तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि । अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानाम् । अर्यस्त्वमसीति वा । तं त्वां स्तौमि।तवसमतव्याँस्तवस इति महतो नामधेयमुदितो भवति । निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते । आघृणिरागतहृणिः। 'आघृणे सं सचावहै'। आगतहृणे संसेवावहै । पृथुज्रयाः पृथुजवः । 'पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः'। प्रामापयदायुर्दस्योः॥१॥

हे शिपिविष्ट ( हे रश्मियों से भरे हुए) तेरे कर्मों को जानता हुआ मैं ( स्तुति ) के समर्थ हुआ तेरे उस नाम की प्रशंसा करता हूं । मैं जो बढ़ा हुआ नहीं, उस बढ़े हुए की स्तुति करता हूं, जो इस लोक के दूर ऊंचा रहता है (७ । १०० । ५) 'आज तेरे उस नाम की हे शिपिविष्ट समर्थ हुआ । मैं प्रशंसा करता हूं' । 'मैं अर्य=समर्थ हूं, स्तोत्रों के (तेरे स्तोत्र कहने में समर्थ हूं ) अथवा तू समर्थ है । उस तुझ को स्तुति करता हूं । बढ़े हुए को न बढ़ा हुआ । 'तवस' यह बढ़े का नाम कहा जाता है । निवास करते हुए को । इस लोक के । पराके= दूर चले गए ( स्थान ) में । (३९—) आघृणि=आए हुए तेज वाला ' हे आए हुए तेज वाले ( पूषन् ) हम दोनों संगत हों ' ( ६ । ५५ । १ ) । (४०—) पृथुज्रयाः=बड़े वेग वाला । 'बड़े वेग वाला वह (इन्द्र) दस्यु के आयु को नष्ट करता है'(३।४९।२)॥१॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥ दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति धीयन्ते कर्मसु । अरणी प्रत्यृत एने

अग्निः समरणाज्जायत इति वा। हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्याऽजनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदर्शनं गृहपतिमतनवन्तम् ॥ १० ॥

(४१–अथर्युं=अतनवन्तं=गति वाले) '(यज्ञ के) नेताओं ने दूर दीखने वाले (वा देखने वाले)' घर के मालिक, गति शील, प्रशंसनीय अग्नि को अरणियों में से हाथों की गति से अंगुलियों द्वारा उत्पन्न किया है (७।१।१)। दीधिति= अंगुलियें होती हैं, कर्मों में लगाई जाती हैं। 'अरणी' अग्नि इनके आश्रित होता है (ऋ, भा० प० से) अथवा इनकी संगति से (अग्नि) उत्पन्न होता है। हस्तच्युती=हाथों की गति से। प्रशंसनीय, दूर दीखने वाले, घर के मालिक,गति वाले को॥१०॥

एकया प्रतिधाऽपिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका। एकेन प्रतिधानेनापिबत्साकं सहेत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका कान्तकानीति वा। क्रान्तकानीति वा कृतकानीति वा। इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा कणे घात इति वा कणे हतः कान्तिहतः। तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यंदिने सवन एकदेवतानि, तान्येतस्मिन्काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्तास्तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। तथापि

निगमो भवति। 'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ती'ति। तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति । तथापि निगमो भवति। 'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ती'ति। अध्रिगुर्मन्त्रो भवति गव्यधिकृतत्वात्। अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात्तच्छन्दवत्त्वाद्'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो' इति। अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते। 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः'। अधृतगमन कर्मवन्। इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते। 'अध्रिगव ओहमिन्द्राये'त्यपि निगमो भवति। आंगूष स्तोम आघोषः। 'एनांगूषेण मयमिन्द्रवन्तः'। अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः॥११॥

(४२—काणुका=कान्तकानि, क्रान्तकानि, कृतकानि वा=प्यारे, भरे हुए वा तय्यार किये हुए)। 'एक घूंट (डीक) से इन्द्र ने सोम के तीस प्यारे सरोवर इकट्ठे पीलिये (८।६६।४) एक घूंट से पीलिये इकट्ठे, इन्द्र ने सोम के। काणुका=प्यारे वा भरे हुए, वा तय्यार किये हुए। अथवा इन्द्र जो सोम का प्यारा है। अथवा (काणुका) कणेघातः=कणेहतः=इच्छा को पूरा करके (मन भरकर=रज्जकर, पिये)। इस विषय में याज्ञिक यह जितलाते हैं, कि माध्यन्दिन सवन में तीस उक्थ पात्र * एक देवता वाले (इन्द्र देवता वाले) होते हैं। उनको इस समय एक घूंट से पीते हैं। वह यहां सरोवर कहे जाते हैं। नैरुक्त कहते हैं, तीस दिन रात (=१५ दिन १५ रात) कृष्णपक्ष

* माध्यन्दिन सवन में तीन उक्थ पर्याय होते हैं, हरएक पर्याय में दस दस सोम चमस (सोम के प्याले) होते हैं, यह सभी

के होते है । तीस शुक्रपक्ष के । जो यह चांदनी रातों में आने वाले जल ( ओस ) होते है, उन को रश्मियें कृष्णपक्ष में पीजाती हैं । ऐसा भी निगम होता है । 'जिस अक्षिति ( न क्षीण होने वाले चन्द्र) को न क्षीण होने वाली किरणें पीती हैं (यजु० ५।७) 'उस (चन्द्र) को शुक्रपक्ष में बढ़ाती हैं' वैसे भी निगम होता है । 'जैसे देवता सोम को बढ़ाते हैं' ( ५ । ७ ) (४३–) अध्रिगु= मन्त्र होता है । गौ में अधिकृत होने से *। अथवा (अध्रिगुनामी देवताओं में शमिता होता है, उसका) प्रेरण अभिप्रेत होसकता है, क्योंकि ( वह मन्त्र ) उस शब्द वाला है † । 'हे अध्रिगो तुम सब काटो, अच्छो काट काटो,काटो हे अध्रिगो' ! ( ऐ० ब्रा० २ । १ । ७ ) अग्नि भी अध्रिगु कहलाता है, 'तेरे लिये गिरती हैं ( घृत की बूंदें ) हे न रुकने वाली गति वाले, हे शक्ति वाले ( ३ । २१ । ४ ) (अध्रिगो=) न रुकने वाली गति वाले (शचीवः=) कर्म वाले । इन्द्र भी अध्रिगु कहलाता है । 'अप्रतिहत गति वाले इन्द्र के लिये पहुंचने वाला(स्तोम भेजता हूं । १ । ६१ । १ ) यह भी निगम होता है । (४४–) आंगूष= स्तोत्र होता है । ऊंचा घोषणे योग्य होता है । 'इस स्तोत्र से इन्द्र वाले ( इन्द्र के साथ ) हुए हम ( संग्राम में शत्रुओं को दबाएं' ) ( १ । १०५ । १९ ) ॥ ११ ॥

**आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिःशिमीवाञ्छरुमाँऋजीषी सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानिदेभुः**

---

अर्थात् ३० सोमपात्र इन्द्र के लिये ही होते हैं । * यह मन्त्र गौ के अधिकरण में पढ़ा गया है, इस लिये 'अधिगु' हुआ 'अध्रिगु' बन गया है (दुर्गाचार्य) । † अथवा गौ अधिकार से अध्रिगु नहीं, किन्तु उस मन्त्र में अध्रिगु शब्द है, इस लिये इस मन्त्र का नाम अध्रिगु है ॥

आपातितमन्युस्तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी सृप्रप्रहारी सोमो वेन्द्रो वा। धुनिर्धूनोतेः। शिमीति कर्मनाम शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा। ऋजीषी सोमो 'यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति' तेनर्जीषी सोमः। अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति 'ऋजीषी वज्री' इति। हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति। धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति, फले हिता भवन्तीति वा। 'बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्' इत्यपि निगमो भवति। आदिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते बभस्तिरत्तिकर्मा। सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि नावागिन्द्रं प्रति मानानि दभ्नुवन्ति, यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्त्यर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति। इन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं सोमकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्। श्मशा शु अश्नुत इति वा श्माश्नुत इति वा। 'अवश्मशा रुधद्वाः'। अवारुधच्छमशा वारिति ॥ १२ ॥

डाले गए तेज वाला, जल्दी प्रहार करने वाला, (शत्रुओं के) कंपाने वाला, कर्म वाला, हथियारों वाला, ऋजीष वाला। निरा सोम है, सारी बेलें और वन (सोम के) प्रतिनिधि रूप से इन्द्र के सामने धोखा नहीं देते* (१०।८९।५) (४८—)। डाले

*इस मन्त्र के शब्द अप्रसिद्धार्थक हैं। दूसरा-सोम और इन्द्र दोनों का वर्णन होने से 'आपान्त मन्युः' इत्यादि किस के विशेषण हैं, ऐसा निर्धारण करना कठिन है। इस लिये इस के तात्पर्य में मत

गए तेज (क्रोध वा प्रकाश) वाला। जल्दी प्रहार करने वाला सोम वा इन्द्र। धुनिः, धूञ् (कम्पने, स्वा० उ०) से है। शिमी कर्म का नाम है, शम (चु० उ०) से, वा शक् (स्वा० उ०) से है। ऋजीष वाला सोम है, छाने हुए सोम का जो भाग बाकी रह जाता है (=फोग) वह ऋजीष कहलाता है। फैंका हुआ होता है (अर्ज से)। इस (अर्थ) से ऋजीष वाला सोम ठहरता है, और जब इन्द्र का निगम है, तो 'ऋजीष वाला, वज्र वाला' (५।४०।४) (यहां इन्द्र को ऋजीष वाला कहा ही है)। वह (ऋजीष) और धाना (यज्ञ में) हरियों (इन्द्र के घोड़ों) का भाग हैं (इसलिये इन्द्र ऋजीषी कहा जाता है)। धानाः=भड़े में डाली होती हैं, अथवा (भड़े से उतारकर) फलक पर डाली जाती हैं। (धाना और ऋजीष हरियों का भाग है, इस में मन्त्र प्रमाण देते हैं) '(हे इन्द्र तेरे हरि धाना खाएं और और ऋजीष को सूंघें' यह भी निगम

---

भेद हुआ है, यह इसके निरुक्त में दिखलाया है। एक मत यह है, कि 'आपान्तमन्यु' इत्यादि सब इन्द्र के विशेषण हैं, इन्द्र ही इसका देवता है, सोम का यहां नैघण्टुक वर्णन है। अर्थात् ऐसा जो इन्द्र है, उस को सोम ही प्यारा है, सोम के स्थानापन्न किये हुए वेलें और वन उस को धोखा नहीं देसकते, वह किसी अन्य लता वा वनस्पति को स्वीकार नहीं करता, वा सोम का स्थान नहीं देता, सोम को ही स्वीकार करता है, वा सोम को ही सोम का स्थान देता है। दूसरा मत यह है, कि पहले तीन पाद सोम परक हैं, 'सोमो विश्वान्यत सा वनानि' का अर्थ है, सोम सब वेलों वनस्पतियों को (बढ़ाता है) चौथा पाद इन्द्र परक है, इन्द्र को जो उपमाएं दीजाती हैं, वह इन्द्र को धोखा नहीं देतीं=इन्द्र की बराबरी नहीं कर सकतीं, अपितु वरे ही=इन्द्र की पूरी महिमा को पहुंचे बिना ही, नष्ट होजाती हैं। इस प्रकार यह ऋचा इन्द्र और सोम दोनों को प्रधान करके है॥

होता है। ( यहां 'बप्सां' भस् का रूप है ) आदि में अभ्यास ( द्वित्व ) का रूप है, तिस पीछे उपधा ( भस् के अ ) का लोप हुआ है ( घसिभसोर्हलिच ६ । ४ । १०० ) से, (फिर घ् और जश् होकर बप्सां रूप हुआ है ) बभस्ति=खाने अर्थ वाला है ( ३ । ९.) । 'सोम है,सारी बेलें और वनस्पति प्रतिनिधि रूप से सामने आए इन्द्र को धोखा नहीं देते हैं' । जिन से इस का सादृश्य बनाते हैं, वह इस को नहीं धोखा देते हैं, पहले ही, इस को बिन पहुंचे ही नष्ट होजाते हैं । कई कहते हैं, इस ऋचा में इन्द्र प्रधान है, गौण है सोम का कर्म । दोनों ( सोम और इन्द्र) प्रधान हैं, यह दूसरा मत है । (४६–) श्मशा=शीघ्र व्यापने वाली ( नदी वा नहर ) वा शरीर में व्यापने वाली ( नाड़ी )। 'नहर जैसे पानी को ( वा नाड़ी जैसे रस को ) रोकेगी' ( १० । १०५ । १ ) ॥ १२ ॥ इति द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्नुत ऊरुभ्यामश्नुत उरुर्वा वशोऽस्याः । अप्सरा अप्सारिण्यपि वाप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवत्यादर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिर्यदप्स इत्यभक्षस्याप्सो नामेति व्यापिनस्तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा । तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ १३ ॥

(४७–) उर्वशी अप्सरा है, बहुत ( यश ) को व्याप्त होती है, अथवा ऊरुओं से व्याप्त होती है, अथवा बड़ी इसकी कामना है । अप्सराः=जल में चलने वाली, अथवा 'अप्स' रूप का नाम है, अ+प्सा ( भक्षणे, अ० प० ) से । अ+प्सानीयं=

भक्षण के योग्य नहीं होता है, (किन्तु) पूरी तरह देखने योग्य होता है। अथवा स्पष्ट देखने के लिये व्यापने योग्य होता है (आप्लृ व्याप्तौ० स्वा० प०) से। यह शाकपूणि मानता है। 'जो अभक्ष्य (चकृमा वयं=हमने खाया है'। यजु० ३०। १७)। यहां (अप्न) अभक्ष्य का नाम है। और 'अप्सो नाम=व्यापने वाली है'। यहां (अप्सस्) व्यापने वाले का नाम है। (सो अप्सस्=रूप) उस वाली (अप्सरा) होती है अर्थात् रूपवती (रा, मत्वर्थक है)। अथवा वह (अप्सस्=रूप) इस ने ग्रहण किया है, अथवा यह (अप्सस्) इस को दिया गया है (अप्सस्+रादानादानयोः, अदा० प०)। उसके (उर्वशी के) दर्शन से मित्र और वरुण का रेतस् गिरा, उसके कहने वाली यह ऋचा है॥

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाःपुष्करे त्वाददन्त॥

अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः सम्भृतःप्सानीयो भवति। सर्वे देवाःपुष्करे त्वाऽऽधारयन्त। पुष्करमन्तरिक्षं पोषाति भूतानि। उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यम्। इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा पुष्पं पुष्प्यतेः।वपुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञावा

और हे वसिष्ठ! तू मित्रवरुण का पुत्र है, हे ब्रह्मन्! उर्वशी से तू मन से उत्पन्न हुआ है। (मानसपुत्र है)। (मित्र वरुण का) जब वीर्य गिरा, तब सारे देवताओं ने दिव्य ब्रह्म से तुझ को पुष्कर (जल वा अन्तरिक्ष) में धारण किया

( ७ । ३३ । ११ ) । और तू है मित्रवरुण का पुत्र हे वसिष्ठ ! हे ब्रह्मन् ! उर्वशी से मन से तू उत्पन्न हुआ है । 'गिरे वीर्य को दिव्य ब्रह्म से' । द्रप्सस्=पुष्ट हुआ भक्षण योग्य ( स्त्री के लिये अपने शरीर में धारणे योग्य ) होता है ( भृ+प्सा से ) । सारे देवताओं ने पुष्कर में तुझ को धारण किया । पुष्कर=अन्तरिक्ष है, पुष्ट करता है, भूतों को ( वायु वृष्टि आदि के देने से ) । जल पुष्कर होता है । पूजा का साधन है, अथवा पूजने योग्य होता है (पूज पूजायां, चु० उ० से) जो दूसरा पुष्कर (कमल) है, यह भी इसी से है ( पूजा का साधन वा पूजने योग्य होता है ) । अथवा पुष्करं=वपुष्करं=शरीर को सजाने वाला है । ( कमल के प्रसंग से पुष्प का निर्वचन करते हैं ) पुष्प, पुष्प् ( विकसने दि० प० ) से है । (४८—) वयुन, वी (अ०प०)से है। ( अर्थ )—कान्ति वा प्रज्ञा ॥ १४ ॥

'स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार' ।

स तमोऽप्रज्ञानं ततन्वत्स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार। वाजपस्त्यं वाजपतनम् । 'सनेम वाजपस्त्यम्' इत्यपि निगमो भवति । वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरपदम् । 'अश्याम वाजगन्ध्यम्' इत्यपि निगमो भवति । गध्यं गृह्णातेः । 'ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्' इत्यपि निगमो भवति । गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा । 'आगधिता परिगधिता' इत्यपि निगमो भवति । कौरयाणः कृतयानः । 'पाकस्थामा कौरयाणः' इत्यपि निगमो भवति । तौरयाणस्तूर्णयानः । 'स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरु-

द्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः" । इत्यपि निगमो भवति। अह्रयाणोऽह्रीतयानः।'अनुष्टुया कृणुह्यह्रयाण'इत्यपि निगमो भवति । हरयाणो हरमाणयानः । 'रजतं हरयाणे' इत्यपि निगमो भवति । 'य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः" । प्रत्यृतः स्तोमान् । व्रन्दी व्रन्दते-र्मृदुभावकर्मणः ॥ १५ ॥

'उसी इन्द्र ने कुछ सूझ न पड़ने वाले ( रात के ) अन्धेरे को फैलाया, (उसी ने) सूर्य से प्रकाश वाला बनाया (६।२१।२) उसी ने सूझ न पड़ने वाले अन्धेरे को फैलाया, उसी ने उस (लोक) को सूर्य से प्रकाश वाला बनाया । (४९-) वाजपस्त्यं=अन्न, जिस पर कि गिरते हैं । 'सेवन करें, हम ( सोम रूप ) अन्न को, जिस पर देवता आते हैं (९।९८।१२) (५०-) वाजगन्ध्यं=गध् ( दि० उ० ) उत्तर पद है । 'पाएं हम अन्न (हवि) से मिलने योग्य (सोम) को (९।९८।१२) यह भी निगम होता है (५१-) गध्यं, ग्रह (क्या०उ० ) से है। 'ग्रहण करने योग्य अन्न की न्याई सरल मार्ग से ( अपने को ) बार२ (संग्रामों में) मिलाता हुआ (इन्द्र दबा लेता है) (४।१६।११) यह भी निगम होता है । (५२-) गध्यति, मिलने अर्थ वाला है । 'मिली हुई, चारों ओर से मिली हुई (=साथ लगी हुई') (१।१२६।६) । यह भी निगम होता है । (५३-) कौरयानः= सजाए ( वा तय्यार ) रथ वाला । 'पूर्ण शक्ति वाले, तय्यार रथ वाले (इन्द्र ने और मरुतों ने जो मुझे दिया है)(८।३।२१)यह भी निगम होता है । (५४-)तौरयानः = तेज़ रथ वाला । 'वह तू तेज़ रथ वाला हुआ,अपने सखा मरुतों के साथ समान प्रीति वाला

हुआ हमारे यज्ञ में आ'।(५५–)अह्रयाणः = न लज्जित गति वाला। 'हे न लज्जित (प्रशस्त) गति वाले अग्ने अनुष्ठान से (इस को) पूरा कर' (४।४।१४)। (५६–) हरयानः = चलते हुए यान वाला 'चांदी के (रथ) को हम ने चलते हुए यान वाले में (पाया)' (८।२५।२२) यह भी निगम होता है। (५७–) आरितः=हरएक को प्राप्त हुआ 'जो (इन्द्र) हरएक (कर्म) में प्राप्त हुआ,दृढ़ स्थिति वाला है (१।१०१।४) (५८–) व्रन्द्री, नर्म होने अर्थ वाले व्रन्द (भ्वा०पं०) से है ॥ १५ ॥

'नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद्व्रन्दिनो रोरुवद्वना'। निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः शुष्णस्यादित्यस्य च शोषयितू रोरूयमाणो वनानीति वा वधेनेति वा। 'अव्रदन्त वीळिता'इत्यपि निगमो भवति।वीळयतिश्च व्रीळयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण सम्प्रयुज्येते। निष्पपी स्त्रीकामो भवति विनिर्गतसपः। सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः। 'मा नो मघेव निष्पपी परा दाः'। स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादाः। तूर्णाशमुदकं भवति तूर्णमश्नुते।'तूर्णाशं न गिरेरधि'इत्यपि निगमो भवति। क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति यत्क्षुभ्यते॥१६

हे इन्द्र! वायु की चोटी पर वा (रसों के) सुखाने वाले और (किरणों से पकाकर फल आदि) को नर्म करने वाले (सूर्य) की भी चोटी पर तू जिस लिये जलों को (नीचे) झुकाता है (१।५४।५) झुकाता है तू जिस लिये वायु की चोटी

पर' (श्वसनस्य =) शब्द करने वाले (वायु) की। और शुष्णस्य = सुखाने वाले सूर्य की। अत्यन्त शब्द करता हुआ। वना = जलों को, वा वज्र से। 'अकड़े हुए मृदु होगए' (२।२४।३) 'वीळयति और व्रीळयति' अकड़ने अर्थ वाले पूर्वले (व्रन्द) से सम्बद्ध होते हैं (इसलिये अकड़ के प्रतियोग में व्रन्द मृदु भाव अर्थ वाला है) (५९—) निष्पपी = स्त्री- कामी होता है, (निस्+सप) निकले हुए सप (=प्रजननेन्द्रिय) वाला। सप स्पर्श, अर्थ वाले (भ्वा० प०) से। 'व्यभिचारी जैसे धनों को (अस्थान में नाश करता है, वैसे) मत हमें (अस्थान में) नाश कर (१।१०४।५) (६०—) तूर्णाश = जल होता है, जल्दी व्यापता है (इस अर्थ से)। '(वर्षार्थी) जैसे पानी को मेघ पर से बुलाते हैं' वैसे हे इन्द्र तुझे बुलाता हूं(८।३२।४)यह भी निगम होता है।(६१—)क्षुम्प = खुंभ होती है,क्योंकि(छूनेमात्र से)हिलजाती है॥

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्।
कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अंग॥

कदा मर्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति कदा नः श्रोष्यति च गिर इन्द्रोअंग। अंगेति क्षिप्रनामाश्चितमेवाङ्कितं भवति। निचुम्पुणः सोमो निचान्तपृणो निचमनेन प्रीणाति॥ १७॥

(इन्द्र की) आराधना न करते हुए मनुष्य को पाद से खुंभ की तरह कब हिलाएगा (गिराएगा, वा नाश करेगा)। और कब जल्दी हमारी स्तुतियों को सुनेगा (१।८४।८) कब आराधना न करते हुए मनुष्य को पाओं से खुंभ की तरह

हिलाएगा । कब हमारी स्तुतियों को सुनेगा इन्द्र जल्दी । अंग जल्दी का नाम है । पाया हुआ ही होता है (मानों पाया ही हुआ है) । वा चिन्हित होता है । (६२–) निचुम्पण=सोम होता है।(निचुम्पुणः=)निचान्त पृणः=भक्षणसे तृप्त करताहै॥१७

'पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये । अपां जग्मिर्निचुम्पुणः' । पत्नीवन्तः सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानायापां गन्ता निचुम्पुणः । समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते निचमनेन पूर्यते । अवभृथोपि निचुम्पुण उच्यते नीचैरस्मिन्क-णन्ति नीचैर्दधतीति वा । 'अवभृथ निचुम्पुण' इत्यपि निगमो भवति । निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च । पदिर्गन्तुर्भवति यत्पद्यते ॥ १८ ॥

पत्नियों वाले, निचोड़े हुए यह सोम कामना करते हुए (देवताओं) के पीने के लिये प्राप्त होते हैं । (सोम) जलों के प्रति जाने वाला, भक्षण से तृप्त करने वाला है (८।८२।२२) पत्नियों वाले निचोड़े हुए यह । अर्थात् जलों सहित सोम (जल सोम की पत्नी कहे हैं) । कामना करते हुए प्राप्त होते हैं । वीतये=पीने के लिये । जलों के प्रति प्राप्त होने वाला, पीने से तृप्त करने वाला ॥ समुद्र भी निचुम्पुण कहलाता है । जल से पूरा जाता है । अवभृथ (सोम यज्ञ के अन्त में स्नान) भी निचुम्पुण कहलाता है । इस में नीचा शब्द करते हैं (ऊंचे नहीं बोलते हैं) अथवा इस (स्नान) में यज्ञ पात्रों को नीचे (पानी में) रख देते हैं । 'हे अवभृथ हे निचुम्पुण (नीचे शब्द वाले

वा नीचे पात्रों वाले )' (यजु० ३।४८) यह भी निगम होता है। निचुम्पुण भी है और निचुङ्कुण भी है। (९३—) पदि= चलने वाला होता है, जिस लिये चलता है ( इसलिये पदि है, पद् गतौ० दि० आ० से ) ॥ १८ ॥

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति। यस्त्वा यन्तं वसुना प्रातरित्वोमुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति

सुगुर्भवति सुहिरण्यः स्वश्वो महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति यस्त्वा यन्तमन्नेन प्रातरागामिन्नतिथे 'मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति' कुमारः। मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च ततनाच्च। पादुः पद्यतेः। 'आविःस्वःकृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते'। आविष्कुरुते भासमादित्यो गूहते बुसम्। बुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः शब्दकर्मणो भ्रंशतेर्वा यद्वर्षन्पातयत्युदकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते ॥ १९ ॥

वह अच्छी गौओं वाला, अच्छे घोड़ों वाला, अच्छे धन वाला हो। इन्द्र इन को प्रभूत अन्न देवे, जो तुझ आते हुए को, हे प्रातःकाल आने वाले इन्द्र धन ( हवि ) से ( अपने यज्ञ में ) बांध लेता है, जैसे फांस से चलने वाले ( पशुपक्षी ) को। (१।१२५।२) अच्छी गौओं वाला होता है, अच्छे धन वाला अच्छे घोड़ों वाला, इन्द्र इस को प्रभूत अन्न देता है, जो तुझ आते हुए को अन्न से। हे सवेरे आने वाले अतिथि फांस से जैसे चलने वाले (पशुपक्षी) की न्याईं बांध लेता है कोई कुमार। मुक्षीजा=छोड़ने,बांधने,फैलाने से(मुच्+सी+तन् से, फांस पक्षी

के पाओं में छोड़ी जाती है, उस से पक्षी बांधे जाते हैं, वह फैलाई जाती है )। (६४—पादुः=गति) 'सूर्य (जगत को) प्रकट करता है, जल को ढांपता है (फिर खींच लेता है) इस शोधक की यह गति कभी छूटती नहीं है (इस कर्तव्य को सदा करता है—१०।२७।२४) प्रकट करता है, प्रकाश को सूर्य, ढांपता है, जल को। बुस जल का नाम है। शब्द अर्थ वाले ब्रूस् (अ० उ०) से। (शब्द करता है) अथवा भ्रंश् (भ्वा० आ०) से (गिरता है मेघ से)। (इस ऋग्भाग का आशय यह है, कि) बरसाता हुआ जिस जल को गिराता है, रश्मियों से उसको फिर वापिस लेता है (खींच लेता है) ॥ १९ ॥ इति तृतीयः पादः ॥

वृकश्चन्द्रमा भवति विवृतज्योतिष्को वा विकृत ज्योतिष्को वा विक्रान्तज्योतिष्को वा ॥ २० ॥

(६५—) वृक=चन्द्रमा होता है। खुली हुई ज्योति वाला है (वृ०से) अथवा विकृत ज्योति वाला होता है। (इसकी ज्योति ठंडी होती है) अथवा (ग्रह नक्षत्रों से, बढ़ी हुई ज्योति वाला होता है२०

अरुणो मासकृद्वृकः पथा यन्तं ददर्श हि ।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठ्यामयी वित्तं मेअस्य रोदसी

अरुण आरोचनो मासकृन्मासानां चाऽर्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमा वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणमभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः। तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति। आदित्योऽपि वृक उच्यते यदा वृङ्क्ते। 'अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो

यत्सीममुञ्चतं वृकस्य'। आह्वयदुषा अश्विनावादित्ये-[नाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्। श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात्। 'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः'। उरणमथिः। उरण ऊर्णावान्भवत्यूर्णा पुनर्वृणतेरूर्णोतेर्वा। वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते। 'शतंमेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार'। इत्यपि निगमो भवति। जोपवाकमित्यविज्ञातनामधेयं जोषयितव्यं भवति ॥ २१ ॥

प्रकाश करने वाला, महीनों के बनाने वाला चन्द्र आकाश मार्ग से चलते हुए (नक्षत्रगण) को देखता है। देखकर पीठ के रोग वाले (थकी हुई पीठ वाले) बढ़ई की न्याईं ऊपर देखता है (जिस २ नक्षत्र से युक्त होना है, उस २ के साथ युक्त होकर उदय होता है) मेरे इस (स्तोत्र) को द्यावापृथिवी जानें। (१।१०५।१८) अरुणः=प्रकाशक, मासकृत्=महीनों का और आधे महीनों का बनाने वाला होता है*। चन्द्रमा वृक है। मार्ग से जाते हुए को देखता है नक्षत्र गण को। उदय होता है, देखकर जिस २ से जुड़ने वाला होता है चन्द्रमा। '(लकड़ी को) छीलता हुआ जैसे पीठ का रोगी'। जानें मेरे इस को द्यावापृथिवी। सूर्य भी वृक कहलाता है, क्योंकि (अन्धेरे को) दूर करता है। 'हे अश्वियो! (सूर्य से ग्रसी हुई) उषा ने तुम दोनों को पुकारा, जब तुम ने उसे सूर्य के मुख से छुड़ाया (१।११७।१६) सूर्य से ग्रसी हुई उषा ने अश्वियों को बुलाया, तब अश्वियों ने उसे छुड़ाया, यह आख्यान है। कुत्ता

* मासकृत्=मा, सकृत्=मुझे एक बार (इतिपदकारः)।

भी वृक कहलाता है काटने से (कृत् से वृक है) 'कुत्ता भी इस (इन्द्र) का है, रोकने वाला, मेढ़ों का मथन करने वाला है'। (८।६६।८) (उरामथिः) उरणमथिः=मेढ़ों का मथन करने वाला। उरणः=ऊन वाला होता है। और ऊर्णा वृञ्, (वरणे, स्वा० उ०) से, वा ऊर्णु. ञ् (आच्छादने अ० उ०) से है। (स्वीकार की जाती है, वा शरीर को ढांपती है) लम्बा शब्द करने वाली (गीदड़ी) भी वृकी कहलाती है 'सौ मेढे गीदड़ी को देते हुए उस ऋज्राश्व को पिता ने अन्धा कर दिया' (१।११६।१६) यह भी निगम होता है। (६६—) जोषवाकं=यह वे मालूम का नाम है, सेवने योग्य (जितलाने योग्य वाक्य) होता है।२१.

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥

यं इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथोऽथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीर्थः। कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वान्नं वा। 'महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र'। सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेति। इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव सूत्रमप्युपमार्थे वा 'अवतत धन्वापिनाकहस्तः कृत्तिवासः' इत्यपि निगमो भवति। श्वघ्नी कितवो भवति स्वं पुनराश्रितं भवति। 'कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने'। कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान्वाशीर्नामकः। समामिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्॥

हे यज्ञ के बढ़ाने वाले ! इन्द्राणी जो ( यजमान ) सोम निचोड़ने पर तुम्हारी स्तुति करता है ( तुम उस का खाते हो ) चुप वचन बोलते हुए ( निरा जप करते हुए, न कि हवि देते हुए को ) हे प्रभूत यज्ञ वाले देवताओ तुम नहीं खाते हो (ऋ० १०।८६।१४) हे इन्द्राणी ! सोम के निचोड़ने पर जो तुम्हारी स्तुति करता है, उसके तुम खाते हो, और जो यह चुपचाप वचन बोलता है, निरा जपशील है, हे प्रभूत यज्ञ वाले देवताओ ! तुम उसके नहीं खाते हो। (६७—) कृत्ति, कृती (छेदने, तु० प०) से है। यश वा अन्न (का नाम है) (यश दुर्विषयों के मर्म काटता है, अन्न दुरुपयोग किया आयु को काटता है)। 'बहुत बड़ा है तेरा घर ( अन्तरिक्ष में हे इन्द्र ) जैसे ( बड़ा ) यश वा अन्न हो'। (ऋ० ८।७२।६) यह दूसरी कृत्ति सूत्रमयी ( गुदड़ी ) भी इसी से है ( टुकड़े २ से बनी होती है )। अथवा उपमा के अर्थ में है ( कृत्ति=खाल, उसकी न्याई पहनी जाती है ) 'चर्म की वस्त्र पहने हुए, हाथ में दण्ड लिये, धनुष को उतारे हुए' यह भी निगम होता है। (६८—) श्वघ्नी=जुआरिया होता है। धन को नष्ट करता है। 'स्व' (स्वामी का) आश्रय लिये होता है। 'जुआरिया जैसे जुए में कृत को (पौबारा को) ढूंढता है' (१०।४३।५) कृत को जैसे जुआरिया ढूंढता है, जुए में। कितव:=क्या तेरे ( पास ) है, ( ऐसा दूसरे जुआरियों से पूछा जाता है ) यह ( कितव ) शब्द का अनुकरण है ( कितव वाक्य का अनुकरण कितव है ) । पूरे कार्य वाला हो। इस असीस के नाम वाला है ( उसके सुहृद् उसके लिये यह असीस देते हैं ) (६९) समा यह नारा और अर्थ वाला सर्व नाम अनुदात्त है ॥ २३ ॥

मा ना समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः ।

ऊर्मिर्न नावमा वधीत्' । मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधियःसर्वतो द्वेषसोअंहतिरूर्मिरिव नावमावधीत्। ऊर्मिरूर्णोतेः । नौः प्रणोत्तव्या भवति । नमतेर्वा । तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्याद्। दृष्टव्ययं तु भवति । 'उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो' इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा । 'उरुष्या णो अघायतः समस्माद्'इति पञ्चम्याम् । उरुष्यती रक्षाकर्मा । अथापि प्रथमाबहुवचने । 'नभन्तामन्यके समे' ॥ २३ ॥

मत हमें पाप बुद्धि वाले सब द्वेषी का पाप हनन करे, जैसे कि तरंग नौका को हनन करती है ( ८ । ६४ । २ ) मत हमें हरएक, दुर्धियः=पाप बुद्धि वाले, सब ओर से द्वेष करने वाले का पाप, नौका को तरंग की तरह बाधा करे । ऊर्मि, ऊर्णुञ् ( आच्छादने, अ० उ० ) से है ( ढांप लेती है, निचले जल को, वा तीर को ) नौ=प्रेरणे योग्य होती है (पार जाने के लिये, नुद् से है) अथवा नम् (भ्वा०प०) से है (झुकी हुई होती है पार जाने के लिये) । सो कैसे अनुदात्त स्वभाव वाला नाम हो सकता है ( इसलिये अव्यय होना चाहिये ) पर यह देखे हुए व्यय ( तबदीली वाला है=अव्यय सारी विभक्तियों में एक रूप रहता है, यह भिन्न २ विभक्तियों में भिन्न २ रूप धारता है, इसलिये अव्यय नहीं होसकता, जैसाकि) 'और च, हरएक (अन्न) में हे दयालो ! हमें दानदे' ( ८ । २१ । ८ ) यह सप्तमी में ( व्यय है ) । शिशीति ( शी, जुहो० ) दान अर्थ वाला है । 'बचा हमें हरएक पाप चाहने वाले से,' यह पञ्चमी में ( व्यय है )

उरुष्यति रक्षा अर्थ वाला है * । और प्रथमा के बहुवचन में भी ( व्यय है ) 'और सब नष्ट हों' † ॥ २३ ॥

'हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा । पिता कुटस्य चर्षणिः'। हविषाऽपां जरयिता।पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा । पिता कृतस्य कर्मणश्चायितादित्यः । शम्ब इति वज्रनाम, शमयतेर्वा शातयतेर्वा । 'उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन'इत्यपि निगमो भवति ॥ केपयः कपूया भवन्ति । कपूयमिति पुनाति कर्मकुत्सितं दुष्पूयं भवति॥२४॥

( ७०—कुटस्य=कृतस्य, ७१—चर्षणिः=द्रष्टा ) हे नेताओ ( अश्वियो ) जलों का जीर्ण करने वाला, (=सुखाने वाला) और पूरने वाला ( वर्षा द्वारा ) ( सब का ) पिता और कर्म का द्रष्टा ( सूर्य ) हवि से सब देवताओं। को पूर्ण करता है (वा तृप्त करता है १।४६।८ ) हवि से जलों का, (जारः)= जीर्ण करने वाला पिपर्त्ति और पपुरिः यह पृ (पूरणे,क्र्या०प०) वा प्रीञ् ( तृप्तौ, क्र्या० उ० ) के निगम हैं । पिता, किये कर्म का ( चर्षणिः= ) द्रष्टा सूर्य । (७२—) शम्ब, वज्र का नाम है, शमयति वा शातयति ( चु० उ० ) से है । ' हे बहुतों से बुलाए जाने वाले इन्द्र ( तेरा जो ) उग्र वज्र है, उससे ( हमारे शत्रु को दूर मार फैंक—१०।४२।७ ) यह भी निगम होता है । ( ७३— ) केपयः=पापी होते हैं । निन्दित कर्म को (प्रायश्चित्त

* 'अथापि' से 'सभे' तक ग्रन्थ दुर्गाचार्य ने नहीं व्याख्या किया ॥
† सो व्यय देखने से अव्यय नहीं होसकता, इस लिये अनुदात्त होकर भी यह नाम ही है ॥

में) पवित्र करती है अर्थात् जो सोचना कठिन होता है, वह (पाप कर्म) कपूय है ॥ २४ ॥

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥

पृथक् प्रायन् (पृथक् प्रथतेः) प्रथमा देवहूतयो ये देवानाह्वयन्ताकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराण्यन्यैर्ये शक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुम् । अथ ये नाशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोढुमीर्मैव ते न्यविशन्त इहैव ते न्यविशन्त ऋणे हैव ते न्यविशन्तास्मिन्नेव लोक इति वा । ईर्म इति बाहुनाम समीरिततरो भवति ॥

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे । एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व ॥ असत्रमेव अस्त्राणं धनुर्वा कवचं वा । कवचं कु अञ्चितं भवति काऽञ्चितं भवति कायेऽञ्चितं भवतीति वा ॥ २५ ॥

प्रथम मुखिया, देवताओं के बुलाने वाले अलग २ (मार्गों देवयान पितृयाण से परलोक में) पहुंचे हैं, जिन्होंने बड़े २ कठिन यश के काम किये हैं । पर जो यज्ञ की नौका पर नहीं चढ़ सके हैं, वह पापाचरण वाले यहां ही (पृथिवी लोक में ही) टिके रहे (ऋ० १०।४४।६)। अलग २ पहुंचे हैं । पृथक् प्रथ (विस्तारे, भ्वा० आ०) से है । मुखिया, देवहूतयः ऋषियों ने देवताओं को बुलाया । सुनने योग्य यश (दुस्तराणि) जो दूसरे

से वियुक्त करना कठिन है। यहां वह है जो यज्ञ की नौका पर चढ़ सके हैं। और जो यज्ञ की नौका पर नहीं चढ़ सके हैं, 'इर्मैवतेन्यविशन्त'=यहां ही वह टिके रहे, अथवा ऋण में ही वह टिके रहे। अथवा इसी लोक में (न कि पितृलोक वा देवलोक में गए) ईर्म, भुजा का नाम है, अधिक दूर गई (लम्बी) होती है। (७४—तूतुमाकृषे=तूर्णमुपाकुरुषे) 'इन सारे सवनों (स्थानों) को तू जल्दी स्वयं बनाता है, हे बल के पुत्र (बलवान् इन्द्र) जिनको तू धारण करता है' (१०।५०।६) इन सारे स्थानों को जल्दी तू स्वयं बनाता है, हे बल के पुत्र जिनको तू धारण करता है। (७५—) असत्र=दुःख से बचाने वाला धनुष वा कवच है। कवच=टेढ़ा गया हुआ होता है, वा टेढ़ा किया हुआ होता है, वा शरीर पर अञ्चित होता है॥ २०॥

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्॥

प्रीणीताश्वान्सुहितं जयथ जयनं वो हितमस्तु स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्। द्रोणाहावं द्रोणं द्रुममयं भवति। आहाव आह्वानात्। आवह आवहनात्। अवतोऽवातितो महान्भवति। अश्मचक्रम् अशनचक्रम् असनचक्रमिति वा। अंसत्रकोशमंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु। कोशः कुष्णातेर्विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोश एतस्मादेव सञ्चय आचितमात्रो महान्भवति। सिञ्चत नृपाणं नरपाणं कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते।

**काकुदं तात्वित्याचक्षते जिह्वा कोकुवा सास्मिन्धीयते जिह्वा कोकुवा कोकूयमाना वर्णान्वदतीति वा कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः । जिह्वा जोहुवा । तालु तरतेस्तीर्णतममङ्गं लततेर्वा स्याल्लम्बकर्मणो विपरीताद्यथा तलं, लतेत्यविपर्ययः ॥ २६ ॥**

घोड़ों को तृप्त करो, भलाई जीतो, कल्याण उठाने वाला रथ बनाओ, इस ( संग्राम रूपी ) कुंएं को भरदो, जिसके चाहवचे लकड़ी के (=रथ ) हैं, व्यापक ( वा फैंके जाने वाले शस्त्र ) जिसके चक्र हैं, धनुष ( वा कवच ) जिसके कोश ( डोल ) हैं, और वीर पुरुष जिसका पानी हैं (१०।१०१।७) तृप्त करो घोड़ों को, बड़ी भलाई जीतो, जीतना तुम्हारी भलाई हो। कल्याण उठाने वाले रथ को बनाओ। द्रोणाहावं=द्रोण=लकड़ी का बना होता है । आहाव=बुलाने से, आवह=भार्ग कराने से । अवत=बहुत नीचे गया होता है। अश्मचक्र=व्यापक चक्र वाला, वा फैंकने वाले चक्र वाला। अंसत्र कोश, अंसत्र (धनुष वा कवच) तुम्हारे कोशों (डालों) के स्थान हों। कोष. कुष् (क्या०प०)से है फाड़ा हुआ होता है। (बीच में से भरने योग्य होता है) यह दूसरा (धन–) का कोश भी इसी से (कुष् से) है। (सञ्चय–कोश) सञ्चय, इकट्ठे किये परिमाण वाला हुआ ढेर होता है।सिंचो, नृपाणं=वीर जिसका पानी है।इस प्रकार कुंएं के कर्म से संग्राम को उपमा देता है। (७६–) काकुद=तालु को कहते हैं। कोकुवा, जिह्वा होती है, वह इस में ( तालु में ) रखी जाती है ( कोकुवा+धा=काकुदं, पृषोदरादि )। अथवा जिह्वा जो कोकुवा है, वह शब्द करती हुई ( तालु में ) वर्णों को

प्रेरती है ( कोकुवा+नुद=काकुदं )। अथवा शब्द अर्थ वाले कोकूय से है। जिह्वा=वार २ बुलाने वाली ( जुहु से )। तालु, तृ ( भ्वा० प० ) से ( शरीर में ) ऊंचा अंग होता है। अथवा आश्रय लेने वाले लत ( भ्वा० प० ) से विपरीत हुए से ( लत से लातु होकर विपरीत हो तालु हुआ है )( इसी धातु से) लता बिना उलटने के है ॥ २६ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥

सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवसि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः । सिन्धुः स्रवणात् । यस्य ते सप्त स्रोतांसि तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति सूर्मिं कल्याणोर्मिं स्रोतःसुषिरमनु यथा ॥ वीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह पूर्वं वयतेरुत्तरमिरतेर्वयांसीरन्त्यस्मिन्भांसि वा । तदेतस्यामृच्युदाहरन्त्यपि निगमो भवति

तू शोभन देवता है, हे वरुण ! जिस तुझ के तालु (समुद्र) की ओर सात नदियें बहती हैं, जैसे छेदों वाले झरने की ओर ( ८ । ६८ । १२ ) सुदेवः=भला देवता वा सुहावना देवता है तू हे वरुण ! जिस तुझ के सात सिन्धु । सिन्धु बहने से है। जिस तुझ के सात प्रवाह तालु की ओर बहते हैं। छेदों वाले अच्छे झरने की ओर जैसे-(७७-) वीरिट, अन्तरिक्ष का नाम तैटीकि कहता है, पहला (भाग, वी) वयति से है, अगला (रिट) इरति से है। पक्षी इस में चलते हैं (वि+इर्+इट) अथवा ज्योति इसमें चलते हैं (भास्+इर्+इट) यह इस ऋचा में दिखलाते हैं॥२७

तति=वीरिट )-अथवा उपमा के अर्थ में है। सब के पति दो 'राजाओं की न्याई। वीरिट=गण=सेना समूह में* मनुष्यों के। रात के बीतने पर पहले बुलावे में, वायु जो नियुतों वाला है, और पूषा, कल्याण के लिये'। नियुत्वान्=नियुत इस के घोड़े हैं। नियुतः=रोकने से वा जोड़ने से ( नि+यम् से वा नि+युज् से ) ( ७८- ) अच्छ, अभि के अर्थ में है, 'अर्थात् पाने के लिये, यह शाकपूणि मानता है। ( ७९.- ) परि ( ८०- ) ईम् ( ८१.- ) सीम्, यह व्याख्या किये गये (१।३;१।१.२;१।७)(१८२-) एन (८३)एनां,अस्याअस्य से व्याख्या किया गया(८४-)सृणिः,अंकस होता है। चलने से (हाथी के सिर पर चलाया जाता है) अंकुश, अञ्च्(भ्वा०प०) से (चलाया जाता है,हाथी के सिर पर) अथवा टेढ़ा किया हुआ होता है (आ+कुञ्च् से) अंकस से भी निकट पका हुआ अनाज ( हमारे घर ) आवे ( यजु० १२। ६८ ) यह भी निगम होता है॥२८॥ इति पञ्चमाऽध्यायःचतुर्थःपादःसमाप्तः॥

# अथ षष्ठोऽध्यायः ।

('आशुशुक्षणिः' से लेकर 'ऋबीसं' तक १३२ पदों की व्याख्या-)

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिः।आशु इति च

* वीरिट का अर्थ अन्तरिक्ष मानकर 'विश्पती इव' में इव 'अव' के अर्थ में लेकर विश्पती द्विवचन वायु और पूषा का विशेषण पूर्व किया है। और अब वीरिट का अर्थ गण मानकर विश्पती इव यह उपमा दी है, जैसे दो राजे गण के मध्य में आते हैं, वैसे यह दोनों गण के मध्य में आवें॥

शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः । क्षणिरुत्तरः क्षणोते-
राशु शुचा क्षणोतीति वा । सनोतीति वा । शुक्
शोचतेः । पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा । तथा हि वाक्यसं-
योगः । आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितज
उत्तर आशुशोचयिषुरिति । शुचिः शोचतेर्ज्वलति
कर्मणः । अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव । निःषिक्तम-
स्मात्पापकमिति नैरुक्ताः । 'इन्द्र आशाभ्यस्परि स-
र्वाभ्यो अभयं करत्'। आशा दिशो भवन्त्यासदना-
त् आशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात् । काशिर्मुष्टिः
प्रकाशनात् । मुष्टिर्मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा ।
'इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते'
इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात्।
रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः । कूलं रुजतेर्विपरीताल्लो-
ष्टोऽविपर्ययेण । अपारे दूरपारे । यत्सङ्गृभ्णासि
मघवन्काशिस्ते महान् । 'अहस्तमिन्द्र सं पिणक्कु-
णारुम्' । अहस्तमिन्द्रं कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्कणनं
मेघम् ॥ १ ॥

हे वीरों के वीर पति अग्ने तू प्रतिदिन चमकता हुआ उत्पन्न होता है, तू शीघ्र प्रकाश से (असुरों का) क्षय करता हुआ (वा यजमान को देता हुआ उत्पन्न होता है, (वा प्रदीप्त करने वाले यजमान से उत्पन्न होता है) तू जलों मे (विद्युद्रूप से) तू पत्थरों (की परस्पर रगड़) में, तू वनों मे (वनाग्नि रूप से)

तू ओषधियों से उत्पन्न होता है ( २।१।१ ) तू हे अग्ने ! द्युभिः=दिनों से ( प्रतिदिन वा दर्श पौर्णमासादि दिनों से ) तू 'आशुशुक्षणि', आशु और शु शीघ्र के नाम हैं (निघ०२।१५) क्षणि अन्त में क्षण ( त० उ० ) से है। शीघ्र प्रकाश से (असुरों का) क्षय करता है, वा (यजमानों को) देता है। शुक् शुच् (भ्वा० प०) से है। ( आशु+शुक्+क्षणिः, वा सनिः=आशुशु क्षणिः ) अथवा पञ्चमी के अर्थ में प्रथमा है, क्योंकि वैसा सारे वाक्य का सम्बन्ध है (अद्भ्यः, अश्मनः, वनेभ्यः, ओषधिभ्यः सब पञ्चम्यन्तों मे अग्नि के प्रादुर्भाव का निमित्त कहा है, वैसे ही आशुशुक्षणि भी निमित्त पञ्चमी है। तब आशुशुक्षणि में) आ, यह आ उपसर्ग पूर्व है। अगला शुशुक्षणि ( शुच् का ) सन्नन्त से बना है, ( अर्थ— ) आशुशोचयिषुः=वार २ प्रदीप्त करने वाला (यजमान)। शुचि जलने अर्थ वाले शुच् (भ्वा०प०) से है। यह दूसरा शुचि(शुद्ध) भी इसी से है(चमकता है यह वैयाकरण) और निकाल डाला गया है इस से पाप,यह नैरुक्त कहते हैं(शुचि शुच् से है। वैयाकरण मानते हैं, सिच् से नैरुक्त ) । ( २— ) आशाभ्यः=दिग्भ्य उपदिग्भ्यो वा ) 'इन्द्र सारी दिशाओं ( उपदिशाओं ) मे हमें अभय करे ( २।४१।१२ )। आशाः, दिशाएं होती हैं। आमने सामने स्थिति से ( आ+सद् से ) आशाः, उपदिशाएं ( कोणें ) होती हैं व्यापने से ( अशूङ् व्याप्तौ स्वा० आ० से ) । (३—) काशिः, मुट्ठी होती है, प्रकाशने से ( काश्ट दीप्तौ, भ्वा० आ० से ) मुष्टिः, खोलने से ( मुच्+ति ) वा चुराने से (मुट्ठी मे चुराते हैं मुष+ति), भूलने से (इस में क्या है, ऐसा मालूम नहीं होता है मुह+ति) 'हे इन्द्र! इन दोनों दूर पार वाले द्यौ और पृथिवी को जो तूने पकड़ा हुआ

है, हे धन वाले यह तेरी बड़ी मुट्ठी है, ( ३ । ३० । ५ ) रोदसी=रोधसी, द्यौ और पृथिवी हैं रोकने से ( सब प्राणियों को अपने अन्दर रोके हुए हैं ) । रोधम्, किनारा होता है, प्रवाह को रोकता है, कूल रुज् ( तु० प० ) से है । विपरीत से (=रूक, होकर कूर=कूल, हुआ है ) लोष्ठ ( उसी का ) बिना विपरीत होने के है ( रुज्+त=रोष्ट=लोष्ठ ) । अपारे=दूर पार वाले, जो तू पकड़ता है, हे धन वाले तेरी मुट्ठी बड़ी है । (४–कुणारुं=मेघं) 'हे इन्द्र इस गर्जते हुए ( मेघ ) को बिना हाथ ( पाओं ) का करके पीस डाल ( ३ । ३० । ८ ) हाथ से शून्य करके ( आगे से कुछ न करते हुए को ) हे इन्द्र पीस डाल । गर्जते हुए=मेघ को ॥१॥

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार। सुगान्पथोअकृणोन्निरजेगाःप्रावन्वाणीःपुरुहूतंधमन्तीः

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघो वलो वृणोतेर्व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे गो रेतस्या माध्यमिकाया वाचः । पुरा हननाद्भयमानो व्यार । सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः । सुगमनान्पथोऽकरोन्निर्गमनाय गवाम् । 'प्रान्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः'। आपो वा वहनाद्वाचो वा वदनात् बहुभिराहूतमुदकं भवति धमतिर्गतिकर्मा

(५–अलातृणः=अलमातर्दनः) (जल से भरा हुआ होने के हेतु) पूरा २ छेदने योग्य, गौ (=वाणी) का वाड़ा, मेघ ताड़ने से पहले ही डरता हुआ शिथिल होगया । गौओं ( जलों ) को निकलने के सुगम मार्ग बना दिये, तब ( मेघस्थ ) जल (तालाब आदि के ) जल को प्राप्त होकर उस की रक्षा करते हैं (३।३०।

१०) अलातृणः=पूरा २ छेदने योग्य। वल मेघ, वृणोति से। व्रज=चलता है अन्तरिक्ष में। गोः=इस माध्यमिक वाणी का। ताड़ने से पहले डरकर शिथिल होगया। 'गौओं के निकलने के लिये सुगम मार्ग बना दिये'। रक्षा करते हैं जल(नदी आदि) जल को प्राप्त होते हुए। (वाणीः) जल,बहने से,वा वाणियें, बोलने से। बहुतों से बुलाया हुआ=जल। धमति गति अर्थ वाला है ॥ २ ॥

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य ॥

उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र। मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा। वृश्च मध्यं। प्रतिशृणीह्यग्रम्। अग्रमागतं भवति। आ कितयो देशात्सललूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ताः। सररूकं वा स्यात्सर्त्तेरभ्यस्तात्। तपुषिस्तपतेर्हेतिर्हन्तेः। 'त्यं चिदित्था कत्पयं शयानम्'। सुखपयसं सुखमस्यपयः। विस्रुह आपो भवन्ति विस्रवणात्। 'वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः' इत्यपि निगमो भवति। वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्। 'वीरुधः पारयिष्ण्वः' इत्यपि निगमो भवति। नक्षद्दाभमश्नुवानदाभमभ्यशनेन दभ्नोतीति। 'नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्'इत्यपि निगमो भवति।अस्क्रधोयुरक्रध्वायुः। क्रध्विति ह्रस्वनाम विकृत्तं भवति। 'यो अस्क्रधोयुरजरः स्वर्वान्' इत्यपि निगमो भवति। निशृम्भा निश्रथ्यहारिणः ॥ ३ ॥

( ६—तलल्हकं=तलुब्धं, सरूकं वा ) हे इन्द्र राक्षस को जड़ समेत उखाड़, ( इसके ) मध्य को काट और अग्र को नाश कर, किसी स्थान से इस लालची (वा चलने वाले) को काट, ब्रह्मद्वेषी के लिये तपाने वाला वज्र फेंक (३।३०।१७) उखाड़ राक्षस को जड़ समेत हे इन्द्र। मूल, छुड़ाने से ( उखाड़ने से ) चुराने से वा धोखे से ( अज्ञात होने से ) है। मध्य को काट। नाश कर अग्र को। अग्र=प्राप्त होता है (आ+गम् से) किसी स्थान से लेकर। सलल्कं=लालची होता है, पापी यह नैरुक्त ( मानते हैं ) अथवा सरूक ( ही सलल्क ) है। मृ ( भा० प० ) द्वित्व हुए से। तपुषि, तप ( भा० प० ) से। हेति, हन् (अ० प०) से है। ( ७—कत्पयं=कपयं=सुखपयसं ) 'उस, सुखकारी जल वाले, इस प्रकार ( अन्तरिक्ष में ) लेटे हुए ( मेघ को इन्द्र ने मारा—१।३२।६ ) सुखपयसं=सुखकारी है ( खेतियों के लिये ) इस का जल। ( ८—विसुहः=विस्रवाः ) 'शाखाओं की न्याई उगती हैं, सात बहने वाली ( नदियें वा समुद्र ६।८।६ ) (९—) वीरुधः=ओषधियें होती हैं, उगने से (वि+रुह् से) 'ओषधियें पार लगाने वालीं (१०।९७।३) यह भी निगम होता है। (१०—) नक्षद्दाभं=अश्नुवानदाभं=पहुंच कर मारने वाला। 'पहुंचकर मारने वाले, त्वरित गति वाले, मेघ पर स्थित ( इन्द्र ) को ( बज्रवान बनाते हुए—६।२२।२ )।(११—) अस्कृधोयुः=न थोड़ी आयु वाले। कृधु थोड़े का नाम है, कटा हुआ होता है (कृत से)। 'जो (धन) दीर्घ आयु ( देने ) वाला जीर्ण न होने वाला, सुख वाला (है उसको हमारे लिये ला—६।२२।३ ) यह भी निगम होता है। (१२—) निश्रृम्भाः= दृढ़ लेजाने वाले ॥ ३ ॥

'आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम् । देवं वहन्तु बिभ्रतः' । आवहन्त्वजाः पूषणं रथे निश्र-थ्यहरिणास्ते जनश्रियं जातश्रियम् । बृबदुक्थो मह-दुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृबदुक्थो वा ।'बृब-दुक्थं हवामहे'इत्यापि निगमो भवति। ऋदूदरः सोमो मृदूदरो मृदुरुदरेष्विति वा। 'ऋदूदरेण सख्या सचेय' इत्यपि निगमो भवति । ऋदूपे इत्युपरिष्टाद् व्याख्या-स्यामः। पुलुकामः पुरुकामः'पुलुकामो हि मर्त्य'इत्यपि निगमो भवती । असिन्वति असङ्खदन्त्यौ । 'असि-न्वती बप्सति भूर्यत्त' इत्यपि निगमो भवति ! कपनाः कम्पनाः क्रिमयो भवन्ति।'मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः' इत्यपि निगमो भवति । भाऋजीकः प्रसिद्धभाः । 'धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः'इत्यपि निगमो भवति। रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि ।'सं रुजानाः पिंपिष इन्द्रशत्रुः' इत्यपि निगमो भवति। जूर्णिर्ज-वतेर्वा द्रवतेर्वा दूनोतेर्वा ।'क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षतिइत्यपि निगमो भवति । 'परि ध्रंसमोमना वां वयो गात्' । पर्यगाद्वां ध्रंसमहरवनायान्नम् ॥४॥

वह दृढ़ होकर लेजाने वाले अज (बकरे पूषा के घोड़े) पूषा देव को रथ में धारण किये हुए लावें, जो जन्तुमात्र का आश्रय

है ( ६ । ५५ । ६ ) लावें अज पूषा को रथ में, दृढ़ होकर लाने वाले वह । जनश्रियं=जो उत्पन्न हुए ( मद ) का आश्रय है। (१३—) बृबदुक्थः=बड़े उक्थ ( स्तोत्र ) वाला । अथवा इस के लिये उक्थ कहना चाहिये । 'बड़े उक्थ वाले ( इन्द्र ) को हम बुलाते हैं ( ८ । ३२ । १० ) यह भी निगम होता है । (१४—) ऋदूदरः=सोम, मृदु उदर वाला, अथवा मृदु होता है उदरों में। 'मृदु उदर वाले सखा (सोम ) से मैं संगत होऊं' ( ८।४८।१० ) यह भी निगम होता है । (१५—) ऋदूपे आगे व्याख्या करेंगे। (अर्दन पातिनौ=पीड़कर गिराने वाले । देखो ६।३३) । (१६—) पुलुकामः=बहुत कामनाओं वाला । 'क्योंकि मनुष्य बहुत कामनाओं वाला है' । ( १ । १७९ । ५ ) यह भी निगम होता है । (१७—) असिन्वती=न खाती हुई '(अग्नि की हनु) (मानो) न खाती हुई भी चबाती हैं ( १० । ७९ । १ ) यह भी निगम होता है । (१८—) कपनाः=कंपाने वाले, कृमि होते हैं । 'वींधने वाले कृमि ( घुण आदि ) जैसे वृक्ष को (चुराते हैं=सार खींच लेते हैं, वैसे तुम हे मरुतो ! मेघ को) चुराते हो ( जल खींचकर बरसाते हो (५।५४।६) यह भी निगम होता है । ( १९— ) भा ऋजीकः=ऋजु भाः=सीधी दीप्ति वाला । 'धुएं के झंडे वाला समिधा से सीधी दीप्ति वाला (ऊपर को जलता हुआ अग्नि— १० । १२ । २ ) (२०—) रुजानाः=नदियें होती हैं, किनारों को तोड़ती हैं । 'इन्द्र जिसका नाशक है, वह ( वृत्र ) नदियों को पीस डालता भया (नदियों के किनारे टूट गए—१।३२।६) यह भी निगम होता है । (२१—) जूर्णिः जु गतौ से, द्रु गतौ वा दु उपतापे से है। शक्ति वा सेना '( असुरों से ) फेंकी हुई शक्ति ( वा भेरी हुई सेना ) हमें प्राप्त होगी ( १ । १२९ । ८ ) यह

भी निगम होता है (२२-) ओमना=अवनेन 'प्रतिदिन तुम दोनों की रक्षा के द्वारा अन्न च रों ओर से प्राप्त होता है(७।६९।४) परि+अगात्=चारों ओर से प्राप्त होता है। घ्रंसं=दिन,ओमना= अवनेन=रक्षा से, ( वयस्=) अन्न ॥ ४ ॥

उपलप्रक्षिण्युपलेषु प्रक्षिणात्युपलप्रक्षेपिणी वा । (इन्द्र ऋषीन्पप्रच्छ दुर्भिक्षे केनजीवतीति तेषामेकः प्रत्युवाच

शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् ।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्यता) ॥ ५ ॥

उपलप्रक्षिणी=पत्थरों पर (डालकर) पीसने वाली, वा पत्थर पर (दाने) फेंकने वाली (भूनने वा पीसने के लिये) (इन्द्र ने ऋषियों से पूछा, दुर्भिक्ष में किस से जीविका करता है, उन में से एक ने उत्तर दिया। 'छकड़ा, शाकवाली भूमि,गौएं, जाल, (पानी के) बहाव का रोकना,वन,समुद्र,पर्वत,राजा, यह नौ दुर्भिक्ष में आजीविकाएं हैं' । यह पढ़ने से ही व्याख्या की गई है*)॥५॥

'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना । नाना-धियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव'॥ कारुरहमस्मि, कर्ता स्तोमानां, ततो भिषक् । तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा । उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका । नना नमतेर्माता वा दुहिता वा ।

* बन्धनी के अन्तर्गत पाठ वृत्तिकार ने भी नहीं लिखा, सायणाचार्य ने भी नहीं लिखा ॥

नानाधियो नानाकर्माणः,वसूयवो वसुकामाः,अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम् । इन्द्रायेन्दो परिस्रव, इत्यध्येषणा ।'आसीन ऊर्ध्वामुपसिक्षिणाति' ।उपस्थे। प्रकलविद्वणिग्भवति कलाश्च वेदप्रकलाश्च ।'दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः' इत्यपि निगमो भवति । अभ्यर्धयज्वाभ्यर्धयन्यजाति । 'सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा' इत्यपि निगमो भवति । ईक्ष ईशिषे । 'ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्'इत्यपि निगमो भवति।क्षोणस्य क्षयणस्य 'महःक्षोणस्याश्विना कण्वाय'इत्यपि निगमो भवति।६।

मैं स्तोता हूं, मेरा पिता (वा पुत्र) चिकित्सा करता है,माता (वा कन्या) सत्तु बनाने वाली है । भिन्न २ कर्मों वाले,धन चाहते हुए हम (इस लोक में) गौओं की न्याईं ( अनेक उपकारों से ) स्थित हैं* । इन्द्र के लिये हे सोम ! तू बह (९।१।१२।३) में, कारु= बनाने वाला स्तोमों का हूं । तात चिकित्सा करने वाला है । तत सन्तान का नाम है । पिता का है वा पुत्र का है । उपल प्रक्षिणी =सत्तु बनाने वाली । नना, नम् (भ्वा० प०) से है । माता वा कन्या । नानाधियः=भिन्न २ कर्मों वाले । वसूयवः=धन की कामना वाले । स्थित हैं लोक में गौओं की न्याईं । इन्द्र के लिये

---

* यहां चिकित्सा करने वाले से ब्रह्मा (जो यज्ञ का चिकित्सक होता है । यज्ञ की त्रुटि को पूरा करता है) अभिप्रेत है, और सक्तु कारिका से यज्ञ के लिये सत्तु बनाने वाली अभिप्रेत है । अर्थात् हम सारा परिवार यज्ञ में लगे हैं । तत से पिता अभिप्रेत मानें, तो नना से माता अभिप्रेत है । तत से पुत्र लें,तो नना से कन्या लेनी चाहिये

हे इन्द्रो ! वह' यह प्रार्थना है। (२४–) उपसि=उपस्थे 'निकट उपरली ( भूमि ) में बैठा हुआ वह (इन्द्र) ( शत्रुओं को ) मारता है ( १० । २७ । १३ )। ( उपसि= ) उपस्थ में=निकट। (२५–) प्रकलविद् वाणिया होता है (व्यवहार की) कला प्रकला (सूक्ष्माति सूक्ष्म भेद) जानता है। 'खोटे मित्र वाणियें (की न्याई) मिनते हुए (थोड़ा जल देते हुए, मेघ, इन्द्र से ताड़े हुए बहुत जल छोड़ते भए'–७ । १८ । १५)। (२६–) अभ्यर्द्धयज्वा=अभ्यर्धयन् यजति=बढ़ाकर मान करने वाला 'सेवन करता है पूषा ( अपने स्तोताओं को धन आदि से ) बढ़ाकर मान करने वाला। (६ । ५० । ५ ) यह भी निगम होता है। (२७–) ईक्षे=ईशिषे 'क्योंकि तू हे राजन् ! ( इन्द्र ) दोनों प्रकार के ( पार्थिव और दिव्य ) धन पर ईशन करता है ( ६ । १९ । १० ) । (२८–) क्षोणस्य=क्षयणस्य 'कण्व को हे अश्वियो ! तुम ने बड़ा निवास ( घर, दिया'–१ । ११७ । ८ ) ॥ ६ ॥

'अस्मे ते बन्धुः' वयमित्यर्थः। 'अस्मे यातं नासत्या सजोषाः'। अस्मानित्यर्थः। 'अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः'। अस्माभिरित्यर्थः। 'अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्'। अस्मभ्यमित्यर्थः। 'अस्मे आराचिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु'। अस्मादित्यर्थः। 'ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे'। अस्माकमित्यर्थः। 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि'। अस्मास्वित्यर्थः। पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्। 'श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः' इत्यपि निगमो भवति। उदकमपि पाथ उच्यते पानात्। आ

चष्ट आसां पाथो नदीनाम्'इत्यपि निगमो भवति। अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव। 'देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्'इत्यपि निगमो भवति। सवीमनि प्रसवे। 'देवस्य वयं सवितुः सवीमनि'इत्यपि निगमो भवति। सप्रथाः सर्वतः पृथुः। 'त्वमग्ने सप्रथा असि'इत्यपि निगमो भवति। विदथानि वेदनानि। 'विदथानि प्रचोदयन्' इत्यपि निगमो भवति॥ ७॥

(२९.—'अस्मे' यह पद अस्मद् शब्द का बहुवचन सर्व विभक्तियों में है जैसे) 'हम तेरे बन्धु हैं' (यजु० ४। २२) (यहां अस्मे का) हम, यह अर्थ है। 'हमारी ओर आओ हे समान प्रीति वाले अश्वियो' (१।११८।११) हम को=हमारी ओर, यह अर्थ है। 'हे वज्रवन् (इन्द्र) हम (मरुत) जो तेरे बराबर के (साथी) हैं, उनके साथ मिलकर अपने पुरुषार्थों से (तूने बड़ा काम किया—१।१६५।७) हमारे साथ, यह अर्थ है। 'हमारे लिये दे हे धन वाले हे ऋजीष वाले'। (३।३६।१०) हमारे लिये, यह अर्थ है। 'हम से दूर स्थित भी द्वेषियों को बेमालूम दूर कर' (६।४७।१३) हम से, यह अर्थ है। 'अग्नि की तरह फैलती जाती है हमारी कामना' (३।३०।१९) 'हमारी' यह अर्थ है। 'हम में रखो हे वसुओ! धन (यजु० ८।१८) 'हम में' यह अर्थ है। (३०—पाथम्=अन्तरिक्षं, उदकं, अन्नं वा) पाथस् अन्तरिक्ष है पथिन् से व्याख्या किया गया है '(पततेर्वा पद्यतेर्वा पन्थतेर्वा २।२८)'। 'उड़ते हुए बाज़ की तरह अन्तरिक्ष में आता है (सूर्य, ७।६३।५)। यह भी निगम होता है। जल

भी पाथस् कहलाता है पीने से ( पा, भ्वा० प० से ) 'देखता है, इन नदियों के जल को ( वरुण—७ । ३४ । १० ) यह भी निगम होता है । अन्न भी पाथस् कहलाता है पीने से ही। 'जानता हुआ तू देवताओं के अन्न को (उनके) पास लेजा (१०।७०।१०) यह भी निगम होता है । (३१–) सवीमनि=प्रेरणा में ' सविता की प्रेरणा में हम (उत्तम दान के देने में लगें—६।७१।२) यह भी निगम होता है । (३२–) सप्रथाः=सब ओर फैला हुआ । ' हे अग्ने तू सब ओर फैला हुआ है (५ । १३ । ४) यह भी निगम होता है । (३३–) विदथानि=ज्ञान 'ज्ञानों को भरता हुआ (अग्नि आता है—३ । २७ । ७) यह भी निगम होता है ॥ ७ ॥

**आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।**
**वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥**

समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते । अपि वोपमार्थे स्यात्सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त इति।सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः। स यथा धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च तं वयं भागमनुध्यायामौजसा बलेन। ओज ओजतेर्वोब्जतेर्वा।आशीराश्रयणाद्वा श्रपणाद्वा अथेयमितराशीराशास्तेः । 'इन्द्राय गाव आशिरम्'इत्यपि निगमो भवति ।'सा मे सत्याशीर्देवेषु'इति च । 'यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः' । यदा ते मर्तो भोगमन्वापदथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः। जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा

वा गृह्णातिकर्मा वा । 'मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से' । मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्व-मसि न वयं विद्मो महत्वमग्ने त्वं तु वेत्थ । शशमानः शंसमानः । 'यो वां यज्ञैःशशमानो ह दाशति'इत्यपि निगमो भवति ।'देवो देवाच्या कृपा'।देवो देवान्प्रत्य-क्तया कृपा । कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा ॥ ८ ॥

(सूर्य का) आश्रय लिये हुए (किरण) इन्द्र (सूर्य) के सारे धनों (जलों) को ( बांटना चाहते हुए ) सूर्य के पास आते हैं, (अथवा सूर्य की न्याईं इन्द्र के पास आते हैं, इन्द्र के धनों को बांटना चाहते हुए) वह (सूर्य वा इन्द्र) जैसे हरएक उत्पन्न हो चुके और उत्पन्न होने वाले में धनों को बल से ( ऐश्वर्य से) बांटता है, (उस भाग को सब भोगते हैं) हम उस भाग का ( अपने लिये) ध्यान करते हैं (८ । ८८ । ३) आश्रय लिये हुए सूर्य के पास आते हैं (इस अर्थ में यहां 'इव' अनर्थक है) अथवा उपमा के अर्थ में होसकता है 'सूर्य की न्याईं इन्द्र के पास आते हैं' । 'सारे इन्द्र के धनों को बांटना चाहते हुए' । 'वह जैसे धनों को बांटता है उत्पन्न हुए में और उत्पन्न होने वाले में' उस भाग का ध्यान करें (यहां 'न' अनर्थक है, अथवा अनु के अर्थ में है ' अनु ध्यायाम' ) ओजसा=बल से । ओजस् ओज (चु० उ०) से । वा उब्ज ( तु० प० ) से । (३५–) आशीः=मिलाने से ( सोम से मिलाया जाता है) वा किञ्चिद् पकने से (दूध) और यह जो दूसरा आशीः (आशीर्वाद के अर्थ में) है, आ+शास् ( अ० प० ) से है । 'इन्द्र के लिये गौएं ( सोम में मिलाने का ) दूध दुहाती हैं' ।

(८ । ५८ ।-६) यह भी निगम होता है । (दूसरे का उदाहरण-) 'वह मेरी सच्ची आशा देवताओं में ( पहुंचे ) यह भी । (३६-अजीगः=अगारीः) 'जब मनुष्य तेरे भोग को प्राप्त होता है' (सवारी करके आनन्द उठाता है)तब तू हे बहुत खाने वाले (अश्व) ओषधियों को निगलता है(पहले मनुष्य का उपकार करके तब उस से दिये घास को तू खाता है) (१।१६३।७) जब मनुष्य तेरे भोग को प्राप्त होता है, तब हे बहुत खाने वाले तू ओषधियों को निगलता है, जिगर्ति ( गृ, जुहो० ) खाने अर्थ वाला वा शब्द करने अर्थ वाला वा ग्रहण करने अर्थ वाला है । (३७-अमूरः=अमूढः) 'हे न भूलने वाले । हे जानने वाले हम भूलने वाले हैं, हे अग्ने तू ही अपनी महिमा को जानता है ( १० । ४ । ४ ) हम भूलने वाले हैं, तुझ में कोई भूल नहीं है, हम नहीं जानते हैं । ( तेरी ) महिमा, हे अग्ने तू जानता है । (३८-) शशमानः=स्तुति करता हुआ । 'जो तुम दोनों को ( हे मित्र वरुण) स्तुति करता हुआ यज्ञों से देता है (१ । १५१ । ७) यह भी निगम होता है। (३९-) देवो देवाच्या कृपा=देवाच्या=देवों के प्रति प्राप्त हुई । 'हे देव (अग्नि) देवताओं को पहुंचने वाले सामर्थ्य से (हवि लेकर देवताओं के पास पहुंचने वाले सामर्थ्य से युक्त हुआ-१।१२७।१) देव देवताओं को पहुंची हुई सामर्थ्य से, कृप्, कृप् (भ्वा० आ०) से है वा कल्प(भ्वा० आ) से है (एवं च कृप्,कल्पेति धातुद्वयं यास्कमते) ॥ ८ ॥

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्
अथासोमस्यप्रयतीयुवभ्यामिन्द्राग्नीस्तोमंजनयामिनव्यम्

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वां विजामातुरसुसमाप्ता-ज्जामातुः। विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीता-पतिमाचक्षतेऽसुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः। जामाता जा अपत्यं तन्निर्माता। उत वा घा स्यालादपि च स्यालात्। स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः। स्याल्लाजानावपतीति वा। लाजा लाजतेः स्यं शूर्पं स्यतेः। शूर्पमशनपवनं शृणातेर्वा। अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यं नवतरम्। ओमास इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः॥९॥

हे इन्द्राग्नी! तुम दोनों को मैंने विजामाता से भी और साले से भी बहुत बढ़कर देने वाला सुना है, अब मैं तुम दोनों के लिये सोम देने के साथ नया स्तोत्र बनाता हूं (१।१०९।२) सुना है मैंने तुम दोनों को बहुत बढ़कर देने वाले, विजामाता से, न ठीक पूर्ण हुआ जामाता=विजामाता,यह दाक्षिणात्य खरीदी हुई कन्या के पति को कहते हैं (अर्थात् जो गुण हीन होने से कन्या पाने के योग्य न होकर रुपया खर्च के किसी से कन्या लेता है, ऐसा जामाता विजामाता है) ऐसा वर अभिमेत है जो मानों ठीक पूरा नहीं हुआ (गुण हीन होने से)। जामाता=जा सन्तान, उसका बनाने वाला। 'उतवाघा स्यालात्' साले से भी। स्यालः=सम्बन्ध से निकट होता है यह निदान के जानने वाले कहते हैं। अथवा (बहिन के विवाह में) छजली से लाजा देता है (लाजा होम के लिये)। स्यं, छाज का नाम है, पो ( अन्त

कर्मणि, दि० प० ) से । शूर्प=अनाज का शोधने वाला । अथवा शॄ (क्र्या० प०) से है। अब सोम के देने के साथ तुम दोनों के लिये हे इन्द्राग्नी स्तोत्र बनाता हूं,तथा (४१.—) ओमासः आगे ( १२ । ४० में) व्याख्या करेंगे, ( अवितारः=रक्षक, वा अवनीयाः=रक्षणीय ) ॥ ९ ॥ इति द्वितीयः पादः ॥

'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः' । सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः । कक्षीवान्कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्रः । उशिग्वष्टेःकान्तिकर्मणः । अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानां सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते॥१०

(४२—सोमानं=सोतारं) हे ब्रह्मणस्पते ( वेद के पति ) सोम बहाने वाले को प्रकाश वाला बना कक्षीवान् की तरह जो उशिज् का पुत्र था ( १ । ५८ । १ ) सोम रसों के बहाने वाले को प्रकाश वाला बना हे ब्रह्मणस्पते ! कक्षीवान् की न्याईं, जो उशिज का पुत्र था । कक्षीवान् कक्ष्याओं ( डेउढ़ियों ) वाला । औशिजः=उशिज् का पुत्र । उशिज् कामना अर्थ वाले वश ( अ० प० ) से है । अथवा यह (कक्ष्या) मनुष्य की छाती ही अभिप्रेत हो'सोम के बहाने वाले उस मुझको प्रकाश वाला बना हे ब्रह्मणस्पते (जो मैं छाती वाला=शूरवीर, उशिज्पुत्र हूं) ॥१०॥

'इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तुचरुरग्निवाँ इव । ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो

धंत्तमनवायं किमीदिने "॥ इन्द्रासोमावघस्य शंसितारम् । अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति । तपुस्तपतेः । चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः । ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्ट्रे क्रव्यमदते घोरचक्षसे घोरख्यानाय । क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः । द्वेषो धत्तमनवायमनवयवं यदन्ये न व्यवेयुरद्वेषस इति वा । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते । पिशुनः पिंशतेर्विपिंशतीति ॥ ११ ॥

(४३–अनवायं=अनवयवं, ४४–किमीदिने=किमिदंकारिणे = पिशुनाय) हे इन्द्रसोम पाप की ओर झुके हुए पाप कहने वाले को संतप्त करो, वह तप्त हुआ, अग्नि-युक्त चरु की न्याईं नष्ट हो, ब्राह्मणों के द्वेषी, कच्चा मांस खाने वाले, भयंकर दृष्टि वाले, क्या यह है (धर्मकार्यों में) ऐसा वर्तते हुए (दुर्जन) के लिये पूरा २ द्वेष धारो (७।१०४।२) हे इन्द्रसोम, पाप के कहने वाले को । अघ, (पूर्वला)आ, उपसर्ग ह्रस्व होकर हन् (अ० प०) से है, (= चोट देता है)।तपु,तप(सन्तापे,भ्वा०प०) से है।चरु,मट्टी का ढेर होता है(चिञ् चयने,स्वा०उ०से)अथवा चर(भ्वा०प०) से;निकलते हैं इससे जल (मेघ का नाम भी है २।२१) । ब्रह्मद्विषे=ब्राह्मणों से द्वेष करने वाले के लिये । कच्चा मांस खाने वाले भयंकर दृष्टि वाले के लिये । क्रव्य=काटने से उत्पन्न होता है (कृती छेदने,तु० प०से) यह नैरुक्त कहते हैं । द्वेष धारो । अनवायं=पूरा २

(अनवयव से अनवाय हुआ है) अथवा जिसको दूसरे अद्वेषी भी हटा न सकें (न हटने वाला द्वेष धारी—न+अवयु, से) किमी दिने =क्या है अब, ऐसा ढूंढते हुए विचरने वाले के लिये। अथवा यह क्या? यह क्या? (ऐसा आक्षेप ही करने वाले के लिये= दुर्जन के लिये जो फिरता रहता है)। पिशुन पिंश (तु० उ०) से है, विविध रूप बनाता है ॥ ११ ॥

"कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन। तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः"॥ कुरुष्व पाजः। पाजःपालनात्प्रसितिमिव पृथ्वीम्। प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा। याहि राजेवामात्यवानभ्यमनवान्स्ववान्वेराभृता गणेन गतभयेन हस्तिनेति वा। तृष्व्यानु प्रसित्या द्रूणानः। तृष्वीति क्षिप्रनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा। आसितासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैस्तप्ततमैस्तृप्ततमैःप्रपिष्ठतमैरिति वा॥'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये'। अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातः। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमिः क्रव्ये मेद्यति, क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणःक्रामतेर्वा॥ 'अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा'। अतिक्रममाणा दुर्गतिगमनानि सर्वाणि। अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते व्याधिर्वा भयं वा।'अप्वे परेहि'इत्यपि निगमो भवति। अमतिरमामयी मतिरात्ममयी। 'ऊर्ध्वा

यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सत्वीमनि' इत्यपि निगमो भवति । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ १२ ॥

(४५–अमवान्=अमात्यवान्, अभ्यमनवान्, आत्मवान् वा) (हे अग्ने) फैले हुए फंदे की न्याईं अपना बल बना (फैला) और हाथी से (वा सेना से) युक्त मन्त्रियों वाले राजा की न्याईं तेज़ हमले से मारता हुआ तू (राक्षसों पर) चढ़ाई कर, तू फेंकने वाला है, तपती २(चिंगाड़ियां) से राक्षसों को वींध दे (४।४।१) फैला बल । पाजस्, पालन से (बल से पालन होता है) प्रसितिः, बांधने से, (षिञ्‌बन्धने से) फंदा वा जाल । 'जा राजा की न्याईं (अमवान्–) मन्त्रियों वाले, वा रोग वाले (जो शत्रुओं के लिये रोग रूप है) अथवा अपनों वाले (जिस के साथ अपने जन हैं) (इभेन–)अन्न के धारने वाले गण(=सेना) के साथ(इरा। भृ से) अथवा दूर हुए भय वाले हाथी के साथ (इत+भय से) 'तेज़ हमले से मारता हुआ' । तृष्वी शीघ्र का नाम है । तृ (भ्वा०प०) से, वा त्वर (भ्वा०आ०) से । तू फेंकने वाला है, वींध राक्षसों को,तपिष्ठैः=बहुत तपतीहुईयों से वा बहुत पिसीहुइयों (सूक्ष्म चिंगाड़ियों) से (४६–अमीवा=अभ्यमनं=रोगः) 'जो दुर्णामा (कीट–) रोग तेरी योनि में गर्भ में लेटता है (अर्थात् जो गर्भ का बाधक है, उसको अग्नि नष्ट करे–१०।१६२।। २) अमीवा, (पूर्व अम की व्याख्या६।१२ में कहे) अभ्यमन से व्याख्यात है। दुर्णामा, क्रिमि होता है, पापनामा । क्रिमि=कच्चे मांस में पुष्ट होता है (क्रव्य+मिद) अथवा गति अर्थ वाले क्रम(भ्वा०प०) से है । (४७–दुरितं=दुर्गतिगमनं) 'उलांघते हुए सब दुर्गतियों को, (४८–) अग्ने, जिस लिये इस से वींधा हुआ (पुरुष) अलग

होता है (सुख से,वा प्राणों से)। रोग वा भय। 'हे भय तू (शत्रुओं में) चलाजा' (१०।१०३।१२) (४९—) अमतिः=अमामयी मतिः= अपना स्वरूप भूत प्रकाश 'ऊंचा जिसका प्रकाश, जो उसका अपना रूप है, चमकता है (साम० छ० आ० ५।२।३।८) (५०—) श्रुष्टी, शीघ्र का नाम है, (शु+अष्टिः) जल्दी व्यापना ॥ १२ ॥

'ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्"। तानध्वरे यज्ञे उशतः कामयमानान्, यजाग्ने श्रुष्टी भगं नासत्यौ चाश्विनौ। सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः। सत्यस्य प्रणेताराविल्याग्रायणः। नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। पुरन्धिर्बहुधीस्तत्कः पुरन्धिर्भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। इन्द्र इत्यपरं स बहुकर्मतमः पुरां च दारयितृतमः। वरुण इत्यपरं। तं प्रज्ञया स्तौति। 'इमामू नु कवितमस्य मायाम्'इत्यपि निगमो भवति। रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। 'समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः' इत्यपि निगमो भवति ॥१३॥

(५१—पुरन्धिः=पुरुधीः=बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा) कामना करते हुए उन देवताओं भग, अश्वि और पुरन्धि को हे अग्ने यज्ञ में जल्दी पूज(७।३९।४) उनको यज्ञ में, उशतः=कामना करते हुओं को पूज हे अग्ने जल्दी। भग को, और 'नासत्यौ=अश्वियों को। सच्चे ही नासत्य हैं(अर्थात् उनमें असत्य सर्वथा नहीं है) यह और्णवाभ कहता है। सत्य के चलाने वाले(सत्य+नी, भ्वा० उ०

से,ना पूर्व में होकर) यह आग्रायण कहता है। अथवा नासिकाओं से प्रकट हुए थे। पुरन्धि=बहुत कर्म वाला या बहुत प्रज्ञा वाला। (प्रश्न) कौन है पुरन्धि(उत्तर)भग पूर्व(कहा है)उसका यह पुनर्वचन है (गुण-नाम से), यह एक मत है, इन्द्र (पुरन्धि) है यह दूसरा मत है, क्योंकि वह बहुत कर्मों वाला। अथवा (मेघों के) किलों का सबसे बढ़ कर फाड़ने वाला है। वरुण(यहां पुरन्धि) है, यह और मत है (क्योंकि) उसको 'बुद्धि से' स्तुति करता है (स्तोता) (जैसा कि) 'बड़ी प्रज्ञा वाले (वरुण) की इस प्रज्ञा को (नकिरा दधर्ष=कोई नहीं दबा सकता है—५।८५।६) यह भी निगम होता है (इस लिये बड़ी प्रज्ञा वाला वरुण ही यहां पुरन्धि शब्द से अभिप्रेत, यह अभिप्राय है) (५२—) रुशत्=रंग का नाम, चमकने अर्थ वाले रुच् (भ्वा० आ०) से। 'प्रदीप्त हुए (अग्नि) का चमकता हुआ वर्ण और बल देखा गया है (५।१।२) यह भी निगम होता है॥ १३॥

'अस्ति हि वःसजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्'। अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदारिणो देवा अस्त्याप्यम्। आप्यमाप्नोतेः। सुदत्रः कल्याणदानः।'त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः'इत्यपि निगमो भवति। सुविदत्रः कल्याणविद्यः।'आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्'इत्यपि निगमो भवति। आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति। 'स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्'इत्यपि निगमो भवति। तुर्वणिस्तूर्णवनिः। 'स

तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये' इत्यपि निगमो भवति । गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति । 'जुष्टं गिर्वणसे बृहत्'इत्यपि निगमो भवति ॥ १४ ॥

(५३–रिशादसः=रेशयदारिणः) 'हे हिंस्रों के फैंकने वाले देवताओ ! है तुम्हारी आपस में सजातिता और है (हमारे साथ तुम्हारा) बन्धुभाव (८।२७।१०) है तुम्हारी समान जातिता हे हिंस्रों के फैंकने वाले देवताओ ! और है बन्धुभाव। आप्यं, आप्लृव्याप्तौ से है । (५४–) सुदत्रः=अच्छे दान वाला 'अच्छे दान वाला त्वष्टा धन देवे' (७।३४।२२) यह भी निगम होता है। (५५–) सुविदत्रः=अच्छी विद्या वाला 'अच्छी विद्या वालों (पितरों) के साथ हे अग्ने हमारी ओर आ (१०।१५।९) यह भी निगम होता है । (५६–) आनुषक्, यह लगातार का नाम है, साथ लगा होता है (अनु+सज्, भ्वा० प० से)'कुशा को लगातार बिछाते हैं'(८।४५।१)यह भी निगम होता है(५७–)तुर्वणिः=जल्दी सेवन करने वाला (जल्दी करने वाला) 'वह शीघ्र कारी महान् है (उसका) धूलरहित (बल) संग्राम में (चमकता है–१।५६।३) यह भी निगम होता है। (५८–) गिर्वणस्, देवता होता है, स्तुतियों से इस को सेवन करते हैं। 'स्तुतियों से सेवने योग्य (इन्द्र) के लिये प्यारा बृहत ( सामगाओ–८।७८।७ ) यह भी निगम होता है ॥ १४ ॥

'असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि' । असुसमीरिता सुसमीरिते वातसमीरिता माध्यमिका देवगणा ये रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो

भूतानि च कुर्वन्ति, त आयजन्तेत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम् ॥ 'अभ्यक्ता त इन्द्र ऋष्टिः' । अमाक्तेति वाभ्यक्तेति वा 'यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्' । यादृशेऽधायि तमपस्यया विदत ॥ 'उस्रःपितेव जारयायि यज्ञैः' । उस्र इवगोपिताऽजायि यज्ञैः ॥१५॥

(५९–असूर्तेसूर्ते=असु–समीरिताः सुसमीरिते) 'वायु से प्रेरे हुए (माध्यमिक देवगण–मेघ), अच्छे प्रेरे हुए निश्चल ठहरे हुए लोक (अन्तरिक्ष) में जो इन सब भूतों ( प्राणियों ) को ( जल बरसाकर ) उत्पन्न करते हैं ( त आयजन्त=वह यजन करते हैं–१०।८२।४)(असु+ऊर्ते) = असु–समीरिताः=(असु=प्राण=वायु) वायु से प्रेरे हुए (सु+ऊर्ते) सुसमीरिते=अच्छे प्रेरे हुए में। वायु से प्रेरे हुए माध्यमिक देवगण (मेघ) जल से पृथिवी को तृप्त करते हुए भूतों को बनाते हैं। 'वह यजन करते हैं' यह पहले आचुका है प्रतिनिर्देश*( ६०–अभ्यक् )' हे इन्द्र शत्रुओं के सम्मुख जानेवाली वह तेरी वर्छी'(१।१६९।३)(अभ्यक्=)न मुझे प्राप्त हो(अ+मा+अच्)अथवा सीधी गई (अभि+अच्)(६१–यादृश्मिन्=यादृशे) 'जैसे में ( जैसी कामना में, मन को ) धारण करता है, उसको कर्म से पाता है ( ५।४४।८ ) । (६२–जारयायि=अजायि) '(गौओं के) पिता साण्ड की न्याई ( अग्नि ) यज्ञों द्वारा प्रकट होता है ( जैसे साण्ड गौओं से मानों अपने ही नए रूपों से प्रकट होता है–६।१२।४ ) ॥ १५ ॥

'प्रवोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्नियोत वाजाः' । प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत

* 'ये' का प्रति योगी 'तें' मन्त्र के पूर्वार्ध में आचुका है।

सर्वेऽग्रगमनेनेति वाग्रगरणेनेति वाग्रसम्पादिन इति वा । अपिवाऽग्रमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत ॥ 'अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्' । अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि चनो दधिष्व । चन इत्यन्ननाम । पचतिर्नामीभूतः । 'तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्'इत्यपि निगमो भवति । अपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्याद्यत्र ह्येकवचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति । 'पुरोडा अग्ने पचतः' इति यथा । शुरुध आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति । 'ऋतस्य हि शुरुधःसन्ति पूर्वीः'इत्यपिनिगमो भवति । अमिनोऽमितमात्रो महान्भवत्यभ्यामितो वा । 'अमिनः सहोभिः'इत्यपि निगमो भवति।जजझतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्यः । 'मरुतो जजझतीर्वः'इत्यपि निगमो भवति ।अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वा । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः'इत्यपि निगमो भवति । शाशदानःशाशाद्यमानः 'प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः' इत्यपि निगमो भवति ॥ १६ ॥

(६३—अग्रियाः=मुख्याः)तुम्हें लक्ष्य करके प्यार करते हुए (सोम तुम्हारी ओर) प्रस्थित हुए हैं । हे वाजाः (हेऋभुओ) तुम सब मुखिया बनो (४।३४।३) प्रस्थित हुए हैं तुम्हारी ओर प्यार करते हुए । होवो सारे । (अग्रियाः) आगे चलने वाले वा आगे

निगलने वाले वा आगे तय्यार करने वाले। अथवा 'अग्र'ही अनर्थक आगम ग्रहण किये हों (अर्थात् अग्र से स्वार्थ में 'इय' आकर अग्रिय बना है) (६४—चनस्=अन्न, ६५—पचता=पक्वानि) ' हे इन्द्र यह हवियें जो (तेरी ओर) प्रस्थित हुई हैं, इनको भक्षणकर, अन्न को, पके हुए (पुराडाशों) को और सोम को (अपने उदर में) डाल, (१०।११६।८) । भक्षण कर हे इन्द्र प्रस्थित हुई इन हवियों को । अन्न को धारण कर । चनस्, अन्न का नाम है। (पचता, यह) पच् धातु नाम हुआ है (अर्थात् क्रियापद नहीं, किन्तु पच् का नाम पचत होकर पचता विभक्त्यन्त रूप है)। 'उस पके हुए को (हे इन्द्राग्नी) चर्बी से स्वीकार करो' यह भी निगम होता है (यहां पचता=पचतं के स्थान है) अथवा मेदस् का और पशु का (अर्थात् दोनों मिले हुओं का) द्रव्यप्रधान द्विवचन होसकता है (अर्थात् जैसे 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' द्विवचन हैं, इसी तरह 'पचता' द्विवचन है,अर्थात् पके हुए उस पशु को यह अर्थ नहीं, किन्तु पकेहुओं उस (पशु) और चर्बी को, इस प्रकार दोनों का विशेषण है)। क्योंकि जहां एक वचन का अर्थ है,वहां प्रसिद्ध रूप है (पचतः)जैसे यहां है' हे अग्ने!पका हुआ पुरोडाश (तेरेलिये तय्यार किया गया है, (३।२८।२) । (६६— ) शुरुध्=जल हैं। शोक (गर्मी) को रोकते हैं (शुच्+रुध् से) । 'ऋत के बहुत जल हैं (४।२३।८) यह भी निगम होता है । (६७—) अमिनः=न मिनी मात्राओं वाला=महान् । अथवा हिंसा न किया हुआ 'वर्णों से न मिने परिमाण वाला ( वा हिंसा न किया हुआ—इन्द्र —६।१९।१) यह भी निगम होता है । (६८—) जज्झतीः=जल हैं—शब्द करने वाले'मरुत(शब्द करते हुए—)जलों की न्याईं(५।५२।

६) यह भी निगम होता है (६९—) अप्रतिष्कुतः = न पराङ्मुख किया हुआ अथवा न फिसला हुआ। 'हमारे लिये (मेघ को खोलदे, तू जो) किसी से पराङ्मुख नहीं किया गया (वा कहीं नहीं फिसला है) (१।७।६) यह भी निगम होता है। (७०—) शाशदानः = वार २ मारते हुए 'वृत्र को वार २ मारते हुए (इन्द्र) ने अपनी मति (ख्याल) को वढाया (१।३३।१३) यह भी निगम होता है ॥ १६ ॥ इति तृतीयः पादः ॥

सृपः सर्पणादिदमपीतरत्सृप्रमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा। 'सृप्रकरस्नमूतये' इत्यपि निगमो भवति। करस्नौ बाहू कर्मणां प्रस्नातरौ। सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्। 'वाजे सुशिप्र गोमति' इत्यपि निगमोभवति। शिप्रे हनू नासिके वा हनुर्हन्तेर्नासिका नसतेः। 'विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने' इत्यपि निगमो भवति। धेना दधातेः। रंसु रमणात्। 'स चित्रेण चिकिते रंसु भासा' इत्यपि निगमो भवति। द्विबर्हा द्वयोःस्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थाने उत्तमे च। 'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः' इत्यपि निगमो भवति। अक्र आक्रमणात्। 'अक्रो न बभ्रिःसमिथे महीनाम्' इत्यपिनिगमो भवति। उराण उरु कुर्वाणः। 'दूत ईयसे प्रदिव उराणः' इत्यपि निगमो भवति। स्तिया आपो भवन्ति-स्त्यायनात्। 'वृषा सिन्धूनां वृषभःस्तियानम्' इत्यपि

निगमो भवति। स्तिपा स्तियापालन उपस्थितान्पालयतीति वा। 'स न स्तिपा उत भवा तनूपाः' इत्यपि निगमो भवति। जवारु जवमानरोहि जरमाणरोहि गरमाणरोहीति वा।'अग्रे रुप आरुपितं जवारु'इत्यपि निगमो भवति। जरूथं गरूथं गृणातेः 'जरूथं हन्यक्षिराये पुरन्धिम्'इत्यपि निगमो भवति। कुलिश इति वज्र नाम कुलशातनो भवति॥ 'स्कन्धाँसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः'। स्कन्धो वृक्षस्य समास्कन्नो भवति। अयमपीतरः स्कन्ध एतस्मादेवास्कन्नं काये। अहिः शयत उपपर्चनः पृथिव्याः। तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः॥१७॥

(७१.—) सृप, फैलने से। यह दूसरा सृप भी इसी से है घी वा तेल। 'फैली हुई भुजाओं वाले (इन्द्र) को रक्षा के लिये (बुलाते हैं—८।३२।१०) यह भी निगम होता है। करस्नाँ = भुजाएं हैं—कर्मों के संवारने वाली। (७२—सुशिप्रः) इसी से (सृप) से व्याख्या किया गया। (शिप्र = हनु वा नासिका। सुशिप्र = अच्छे हनुवाला वा अच्छी नासिका वाला)। 'हे अच्छी हनुवाले (वा अच्छी नासिका वाले इन्द्र) गौओं वाले संग्राम में (हमें तीक्ष्ण बना—८।७१।८) यह भी निगम होता है। शिप्रे = दोनों हनु वा दोनों नासिकाएं। हनु = हन् (अ०प०) से। नासिका नस् (भ्वा०आ०) से। 'दोनों हनू (सोम पान के लिये, वा दोनों नासिकाएं

सोम के सूंघने के लिये) खोल, और दाढें खुलीकर' (१।१०१।१०) यह भी निगम होता है। धेना, धा (जु०उ०) से है। (७३- रंसु = रमणीयेषु) रंसु रमण से। 'वह (अग्नि) रंगीले प्रकाशों से रमणीय (स्थानों) में ज्ञात होता है' (२।४।९) यह भी निगम होता है। (७४-) द्विवर्हाः = दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ=मध्यम स्थान में और उत्तम स्थान में 'और दोनों लोकों में बढ़ा हुआ, बलों से अपरिमितमात्रा वाला' (६।१९।२) यह भी निगम होता है (देखो पूर्व ६।१६में) (७५-) अक्रः = आक्रमण से ( जिसपर आक्रमण करते हैं-प्राकार = कोट ) 'कोट की न्याई धारने वाला संग्राम में बड़ी (सेनाओं) का (३।१।१२) यह भी निगम होता है (७६-) उराणः=बहुत करता हुआ। 'दूत होकर तू जाता है अत्यन्त चमकता हुआ और(थोड़ी भी हवि को)बहुत करता हुआ (४।७।८) यह भी निगम होता है। (७७-) सितयाः, जल होते हैं। संघात होने से (बर्फ बने हुए संहत होते हैं)'तू नदियों का सेचने वाला है और(संहतहुए जलों का सेचने( = गिराने)वालाहै'(६।४४।२१) यह भी निगम होता है।(७८-) स्तिपाः=जलों का रक्षक अथवा आए का रक्षक(उपस्थित +पा,से) 'सो तू (हे अग्ने) हमारे जल का रक्षक(दृष्टि का रक्षक)और श र का रक्षक हो(१०।६९।४)(७९-) जवारु=(सूर्यमण्डल) वेग वाला हुआ चढ़ता है(जव+रुह, से) वा निकट आता हुआ (सम्मुख आता हुआ) चढ़ता है (जर+रुह् से) वा (ओस को निगलता' हुआ चढ़ता है (गर+रुह, से) 'उगाने वाली (पृथिवी) के सम्मुख सूर्य मण्डल रखा गया है (४।५।७) यह भी निगम होता है। (८०-) जरूथं=बोलने वाला, गॄ ( क्र्या० पा० से ) 'स्तोत्र को पहुंचाता हुआ ऐश्वर्य के लिये बहुत बुद्धि वाले (देवगण) को

पूज (७।९।६) यह भी निगम होता है। (८१–)कुलिश, वज्र का नाम है। किनारों का काटने वाला होता है। 'वज्र से टुकड़े२ किये डालों की न्याई वृत्र पृथिवी को आलिंगन करके लेटता है' (१।३२।५) स्कंधस् (यहां)वृक्ष का(कंधा) है। (वृक्ष पर)लगा हुआ होता है। यह दूसरा स्कन्ध भी इसी से है, शरीर पर लगा हुआ होता है। 'वृत्र लेटता है पृथिवी को आलिंगन करके' (८२–) तुञ्ज, दान अर्थ वाले तुञ्ज (भ्वा० पा०) से ॥ १७ ॥

'तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। नविन्धे अस्य सुष्टुतिम्'। दानेदाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः। वर्हणा परिवर्हणा। 'बृहच्छ्रवा असुरो वर्हणा कृतः' इत्यपि निगमो भवति ॥१८॥

दानदान में वज्र धारी इन्द्र के जो उत्तम स्तोत्र हैं, उनसे इसकी उत्तम स्तुति नहीं पाता हूं (उस की दात की स्तुति इमसे हो नहीं सकती–१।७।७) दान २ में जो उत्तम स्तोत्र हैं इन्द्र वज्र धारी के, उनसे इसकी स्तुति की समाप्ति नहीं पाता हूं। (८३–) वर्हणा = बढ़े हुए से वा मारने से 'बड़ी ध्वनिवाला बलवान् (वृत्र) बढ़े हुए वा मारनेवाले(वज्र)से (बरसानेवाला)बनायागया* (१।५५।३) यह भी निगम होता है ॥१८॥

'यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह। अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनू-

---

* बड़े यशवाला बल वाला (अपने घोड़ों से)पुरः कृतः=पूजा हुआ (इन्द्र) सायण)

शुभ्रं मघवा यः कवासखः'। घ्रंस इत्यहर्नाम ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः। गोरूध उद्धततरं भवत्युपोन्नद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते। स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान्। अपोहत्यपोहति शक्रस्ततनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलङ्करिष्णुमयज्वानं तनूशुभ्रं तनूशोभयितारं मघवा यः कवासखो यस्य कपूयाः सखायः। 'न्याविध्यदिलीबिशस्य दृह्ळा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः'। निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि व्यभिनच्छृङ्गिणं शुष्णमिन्द्रः ॥१९॥

(८४) ततनुष्टिः=ततनिषुः=(धर्म मे परे रहकर, धनमात्रका) फैलानेवाला। 'जो इस (इन्द्र) के लिये दिन के समय अथवा जो रात के समय सोम बहाता है, वह दीप्तिमान् होता है। शक्तिमान् धनदाता (इन्द्र) उसका नाशकरता है, नाशकरता है, जो (धर्म में न लगाकर धनको) फैलाए जाता है, और शरीरको ही सजाता है (न कि हृदय को) और जो पापियों का साथी है (५।३४।३ घ्रंस, दिन का नाम है, इसमें रस (ओस के विन्दु) ग्रसे जाते हैं। ऊधस्=गौका ऊधस् (हवाना) ऊंचा हुआ होता है (उद्+हन् सेऊधस्) अथवा (उदरके) समीपवन्धा होता है (उप+हन (अ०प०से)। रस (ओस) के देने की समानता से रात्रि भी ऊधस् कहलाती है (जैसें हवाना दूध देता है वैसे रात्रि ओस देती है, इस धर्म से हवाने का नाम रात्रिके लिये बोलागया है)'सो जो इसकेलिये दिन में

भी वा रात्रि में भी सोम बहाता है, वह दीप्तिमान् होता है' नाश करता है नाश करता है शक्तिमान् (इन्द्र)। तितनिर्षु=धर्म के फैलाव से गिरे हुए अपनी सजावट में लगे हुए यज्ञ से रहित को-तनूशुभ्रं=शरीर के सजानेवाले को। और 'कवासखः' जिस के पापी साथी हैं (उसको नाश करता है) (८५-) इळीविशस्य=इळाबिलशयस्य 'पृथिवी की बिल में लेटे हुए (वृत्र) के दृढ़ स्थानों को (इन्द्र ने) रौंध दिया और चोटियों वाले बलवान् (वृत्र) को टुकड़े २ किया (१।३३।१२)॥१९॥

'अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः। गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै'। अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः। कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा। गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्येष्यन्नर्णांस्यपां चरणाय। भूमिर्भ्राम्यतेः। 'भूमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्'इत्यपि निगमो भवति। विष्पितो विप्राप्तः। 'पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्'इत्यपि निगमो भवति॥२०॥

(८६-कियेधाः=कियद्धा वा क्रममाणधाः) 'हे इन्द्र तेज़ी करता हुआ तू इस वृत्र के लिये वज्र प्रहार कर, तू जो (सब पर) ईशन करने वाला और कितने (बड़े बल) का धारने वाला (वा आक्रमण करने वाले मरुतों का धारने वाला है) जलों को चाहता हुआ तू (पृथिवी की ओर) जलों के चलने के लिये, टेढे वज्र से पशु के जोड़ों की न्याईं (वृत्र को) काट (१।६१।१२) जल्दी तेज़ी करता हुआ तू इस वृत्र के लिये वज्रप्रहार कर,

ईशान करने वाला, कियेधाः=कितने (बल)का धारने वाला, अथवा चलते हुओं को धारने वाला। 'पशु के पर्वों की न्याईं काट, मेघ के जलों की इच्छा करता हुआ, जलों के चलने के लिये। (८७) भृमिः, भ्रम (दि० पा०) से। 'तू (हे अग्ने) घुमाने वाला (परलोक में लेजाने वाला और इस लोक में लाने वाला) है, तू मनुष्यों को ऋषि बनाने वाला है' (१।३१।१६) यह भी निगम होता है। (८८–) विष्पितः=विविध रूप से प्राप्त हुआ। 'विविध रूप से प्राप्त हुए (इस संसार मार्ग) के वह (मित्र वरुण अर्यमा) हमें पार लेजाएं (७।६०।७) यह भी निगम होता है ॥२०॥

"तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुवारं पुरुत्मना। त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभानो अस्मयुः" ॥ तन्नस्तूर्णापि महत्सम्भृतमात्मना त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यत्वित्यस्मयुरस्मान्कामयमानः। रास्पिनो रास्पी रपतेर्वा रसतेर्वा। 'रास्पिनस्यायोः' इत्यपि निगमो भवति। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। 'आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु' इत्यपि निगमो भवति। ऋजुरित्यप्यस्य भवति। 'ऋजुनीती नो वरुणः' इत्यपि निगमो भवति। प्रतद्वसू प्राप्तवसू। 'हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर' इत्यपि निगमो भवति ॥२१॥

(८९–तुरीपं=तूर्णापि=जल्दी व्यापने वाला=जल) 'हमें प्यार करने वाला त्वष्टा (वैद्युत अग्नि) हमारे धन (पशुओं) की पुष्टि के लिये, हमारे मध्य में उस जल को खोले, जो जल्दी व्यापने वाला अद्भुत (महा गुणकारी) बड़े (स्थान) को ढांपने वाला और स्वरूप से बड़ा हो (१।१४२।१०) उस जल्दी व्यापने वाले

बड़े स्वरूपसे पुष्ट करो, त्वष्टा हमारे धनकी पुष्टिके लिये खोलो। अस्मयुः = हमें प्यार करने वाला। (९०—) रास्पिनः, रास्पी, रपवा रस (भ्वा० प०) से (रपनशीलो वा रसनशीलो वा = शब्द करने वाला) '(हे अश्वियो) शब्द करने वाले को (वृष्टि) जल की प्राप्ति के लिये '(यद्वा स्तुति करने वाले को पुत्र की प्राप्ति के लिये')(आयुः जल वा मनुष्य का नाम है) (१।१२२।४) यह भी निगम होता है। (९१—) ऋञ्जतिः, सजाने अर्थवाला है '( हे ग्रावो ) उषाओं के खुलने पर तुम्हें सजाता हूं' ( १० । ७६ । १ ) यह भी निगम होता है। ( ९२— (९२—ऋजुनीती ऋजु भी इसी ऋञ्जतिका है 'सरल सीधी चाल से हमें वरुण (चलावे १।९०।१) यह भी निगम होता है। (९३—) प्रतद्वसू = पाए धन वाले ' हे इन्द्र (ऋजीष और धाना रूपी) धन पाए हुए अपने दोनों घोड़ों को (जोड़ कर यज्ञ की ओर) जा' (८।१३।२७) यह भी निगम होता है ॥२१॥

'हिनोत नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्। ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः'॥ प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्याय, प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सननाय। ऋतस्य योगेयज्ञस्य योगे याज्ञे शकट इति वा। शकटं शकृदितं भवति शनकैस्तकतीति वा शब्देन तकतीति वा। 'श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः'। सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः॥ 'चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्' ददादिन्द्र बहु वननीयम्॥ 'एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्'व्युदस्यत्येधमानानसुन्वतः सुन्वतोऽभ्यादधात्युभयस्य राजा दिव्यस्य च पार्थिवस्य च।

चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेश्चर्करीतवृत्तम् ॥ सुमत्स्व-यमित्यर्थः । 'उप प्रागात्सुमन्मे धायि मन्म'। उपप्रैतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेनेत्याश्वमेधिको मन्त्रः। दिविष्टिषु दिव एषणेषु'—स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु'स्थूरः समाश्रितमात्रो महान्भवति । अणु-रनु स्थवीयांसमुपसर्गो लुप्तनामकरणो यथा सम्प्रति । कुरुङ्गो राजा बभूव कुरुगमनाद्वा कुलगमनाद्वा।कुरुः कृन्ततेः क्रूरमित्यप्यस्य भवति । कुलं कुष्णातेर्विकु-षितं भवति । दूतो व्याख्यातः । जिन्वतिः प्रीतिकर्मा । 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः'इत्यपि निगमो भवति ॥२२॥

(९४—हिनोत = प्रहिणुत)'भेजो हमारे यज्ञको (हे ऋत्विजो) देवताओं की पूजाके लिये, भेजो ब्रह्म (स्तुति) को धनों की प्राप्ति के लिये, यज्ञ के संयोगमें ऊधम् (गौका हवाना जैसे दूधसे भरा होता है, वैसे सोमरससे भरे अधिषवणचर्म) को खोलो हे(सोम से मिले हुए) जलो हमारे लिये सुखवाले होवो(१०।३०।११) भेजो हमारे यज्ञ को देवपूजा के लिये, भेजो ब्रह्म को धनकी प्राप्ति के लिये । 'ऋतस्य योगे' = यज्ञ के सम्बन्ध में,अथवा यज्ञ सम्बन्धी छकड़में । शकट = (आगे जुड़ा हुआ बैल जो गोबर करता है उस) गोबर से लिबड़ा होता है । अथवा (भार से दबा हुआ ) धीरे २ चलता है, अथवा शब्द करता हुआ चलता है । 'सुखवाले हमारे लिये होवो हे जलो' । (९५—चोष्कूयमाणः ॥

ददत्) 'हे इन्द्र प्रभूत धन देता हुआ तू (हमारे लिये व्यवहारी न धन १।३३।२) देताहुआ हे इन्द्र प्रभूत, भेजनेयोग्य (धन)(९६–चोष्कूयते = व्युदस्यति)'बढ़े हुवों (ऊंचे आए हुवों) का शत्रु, दोनों (दिव्य और मानुष धनों) का राजा इन्द्र (अयज्वा) मनुष्यों को परे फेंकता है, और (यज्ञशील) मनुष्यों को स्थापन करता है' (६।४७।१६) फेंकता है बढ़े हुवों को जो सोम नहीं बहाते, और सोम बहानेवालों को स्थापन करता है। दोनों दिव्य और पार्थिव (धन) का राजा। चोष्कूयमाणः और चोष्कूयते यह दोनों 'कु' के यङ्लुगन्त के प्रयोग हैं। (९७–) सुमत् = स्वयं, यह अर्थ है। 'स्वयं मेरे पास आवे, जो (फल) मेरे मन ने ध्यान किया है (१।१६२।७)प्राप्त हो मुझे वह स्वयं जो मेरे मन ने ध्यान किया है यज्ञ से,यह अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र है।(९८)दिविष्टिषु = स्वर्ग के ढूंढने वालों में (जिन क्रिया से स्वर्ग को जाना चाहते हैं,वह क्रियाएं दिविष्टि हैं) सैंकड़े घोड़ों से युक्त बहुत बड़ा धन हमने कुरुङ्ग (राजा) की स्वर्ग के ढूंढनेवाली (यागक्रियाओं में पाया है (८।४।१९) स्थूरः = इकट्ठे आश्रयलिये अवयवों वाला (बहुतसे अवयवोंवाला, श्रि+मात्रा से) महान् होता है (स्थूल के प्रसंगसे अणु का निर्वचन करते हैं) अणु मोटे के पीछे होता है, (अनु) उपसर्ग है (आगेआए) प्रत्यय का लोप होकर, जैसे सम्प्रति ( साम्प्रतं के अर्थ में प्रत्यय का लोप होकर बोला जाता है ) कुरुङ्ग राजा हुआ है। कुरुओं पर चढ़ाई करने से, वा शत्रु कुल के प्रति जाने से। कुरु, कृत (तु० उ०) से है (शत्रुओं को काटता है)। क्रूर भी इसी का है। कुल कुष् (क्र्या०प०) से है। खिचाहुआ ( फैलाहुआ ) होता है। (९९– इत व्याख्या किया गया है (५।१९ में) (१००–) जिन्वति, प्रीति अर्थवाला है।

'भूमिको मेघ तृप्त करते हैं, और द्यौ को अग्नियें तृप्तकरती हैं, (१।१६४।५१) यह भी निगम होता है ॥ २२ ॥ चतुर्थः पादः

अमत्रोऽमात्रोमहान्भवत्यभ्यमितो वा । 'महाँ अमत्रो वृजने विरप्शी' इत्यपि निगमो भवति।'स्तवे वज्र्यृचीषमः'। स्तूयते वज्र्यृचा समः। अनर्शरातिमनश्लीलदानमश्लीलं पापकमश्रिमद्विषमम्। 'अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि'इत्यपि निगमोभवति। अनर्वाऽप्रत्यृतोऽन्यस्मिन् । 'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः'।अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्वृषभं मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वं मोदनजिह्वमिति वा। बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैरर्चनीयै स्तोमैः । असामि सामिप्रतिषिद्धं सामि स्यतेः । 'असाम्योजो बिभृथा सुदानवः' असुसमाप्तं बलं बिभृत कल्याणदानाः ॥२३॥

(१०१—) अमत्रः = परिमाण से बाहर, महान् होता है, अथवा सम्मुख जाने वाला (अम, भ्वा० प० से) '(इन्द्र) महान् (बड़े सामर्थ्य वाला) परिमाण से बाहर, संग्राम में रुलाने वाला (वा आह्वान करने वाला) है।(३।३६।४)यह भी निगम होता है। (१०२—ऋचीषमः = ऋचासमः) 'स्तुति किया जाता है ( इन्द्र ) वज्र वाला जो ऋचा के तुल्य है(ऋचा से जो उस की महिमा गाई जाती है, वह उस की बढ़ कर स्तुति नहीं होती—१०।२२।२ ) स्तुत किया जाता है, वज्र वाला ऋचा के जो बराबर है (१०३—)

अनर्शराति = न शोभा हीन दान वाले को । अश्लील = शोभा हीन होता है, न श्रीवाला, न सम । 'न शोभा हीन दान वाले (जिसका दान शोभा युक्त है) धन दाता (इन्द्र) की स्तुति करो' (८।८८।४) यह भी निगम होता है, (१०४—) अनर्वा = न दूसरे पर आश्रय किये हुए = स्वप्रधान 'न दूसरे पर सहारा लिये, शक्तिमान्, हर्षकारी ध्वनिवाले, स्तुति के योग्य बृहस्पति को स्तोत्रों से बढ़ाओ'(१।१९०।१) अनर्वं = न दूसरे पर सहारा लिये। शक्तिमान् हर्षकारी ध्वनि वाले,(मन्द्र=मद से वा मुद से है)बृहस्पति को बढ़ाओ,स्तुति के योग्य को,अर्कैः = आदरणीय स्तोत्रों से । (१०५—) असामि = समाप्त का निषेध । सामि । षो (अन्त कर्मणि, दि० प०) से है (समाप्त हुआ = अन्तवाला) ' हे अच्छे दानवालो (मरुतो) न समाप्त होने वाले (अनन्त) बलको धारण करो' (१।३९।१०) न समाप्त होने वाले बलको धारण करो हे अच्छे दान वालो ॥२३॥

'मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा। भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्'॥ मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या स्तुत्या भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिष्यत इति । गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते ।'आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम्' । नानाविभक्ती त्वेते भवतः। आगलना धमनीनामित्यत्रार्थः ॥२४॥

(१०६—गल्दया = गालनेन) 'हे इन्द्र यज्ञों में सोम बहाने से

और स्तुतियों से युक्त हो सदा याचना करते हुए मैंने घूमने वाले चीते की तरह तुझे क्रुद्ध नहीं किया है, (क्योंकि) कौन है जो मालिक से याचना नहीं करता है (८।१।२०) मैंने तुझे क्रुद्ध नहीं किया है सोम के बहाने से सदा याचना करते हुए। गिरा = गीत से, स्तुति सेघूमने वाले (चित्र—)मृग की न्याई(न,इव केअर्थ में है) यज्ञों में। कौन मालिक से नहीं मांगेगा। गल्दा नाड़ियें होती हैं, रस इन में रखा जाता है। 'तुझ में सोम प्रवेश करें' (साम ३।१।१।४;८।२।२।१) 'नाडियोंके रस' (?)। दोनों भिन्न २ विभक्ति वाले हैं (पूर्व कहा—गल्दया, तृतीयैकवचन है, यह 'गल्दा' प्रथमाबहुवचन है) 'रस नाड़ियों के' यह यहां अर्थ है ॥२४॥

'न पापासो मनामहे नारायासो न जळ्हवः'। न पापा मन्यामहे नाधना न ज्वलनेन हीनाः। अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत्।बकुरो भास्करो भयङ्करोभासमानो द्रवतीति वा

(१०७—जळ्हवः = अज्वलनाः = अग्नि हीन) हम (अपने आप को) पापी नहीं मानते हैं, क्योंकि न धन हीन हैं, न अग्नि (अग्नि होत्र) से हीन हैं(८।५०।११) हम अपने आपको पापी नहीं मानते हैं, न हम धनहीन हैं, न अग्नि से हीन हैं, हम में ब्रह्मचर्य, अध्ययन,तप और दान कर्म है,यह ऋषि (मन्त्र द्रष्टा) ने कहा है। (१०८—) बकुरः = प्रकाश करने वाला, भय देने वाला, वा प्रकाशता हुआ चलता है ॥२५॥

'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेणाधमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय'।

यवमिव वृकेणाश्विना निवपन्तौ। वृको लाङ्गलं भवति विकर्तनात्। लाङ्गलं लंगते र्लम्बतेर्वा लाङ्गूलवद्वा। लाङ्गूलं लगतेर्लङ्गतेर्लम्बतेर्वा। अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयावभिधमन्तौ दस्युं। बकुरेण ज्योतिषा वोदकेन वार्य्य ईश्वरपुत्रः। बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्त इति वा। 'इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँअहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि'। इन्द्रो यः सर्वान्बेकनाटानहर्दृशः सूर्य्यदृशो य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वाऽभिभवति कर्मणा पणींश्च वणिजः ॥२६॥

हे अद्भुत कर्मों वाले अश्वियो ! तुम दोनों ने मनुष्य के लिये हल से जौ बोते हुए (पृथिवी से) अन्न दुहते हुए, दस्यु को वज्र से (वा जल मे) ताड़ते हुए आर्य के लिये विस्तीर्ण ज्योति को किया है (१।११७।२१) हल से जैसे जौ को, (वैसे पृथिवी में जल को) डालते हुए, वृक, हल होता है, छेदने से (पृथिवी को छेदता है) लांगल, लङ्ग (भ्वा० प०) से है (चलता है) अथवा पूंछ वाला होता है। लांगूल, लग (भ्वा० प०) से (लगा हुआ होता है) वा लंग (भ्वा० प०) से (चलता है) वा लम्ब (भ्वा आ०) से है (लटकता है) 'दोहते हुए मनुष्य के लिये' हे दर्शनीयो ! ताड़ते हुए दस्यु को, बकुरेण=ज्योति से वा जलसे। आर्यः=ईश्वर का पुत्र (अर्यस्यापत्यं)। (१०९—बेकनाटान्) बेकनाटाः=ब्याजखोर होते हैं। दुगुना करने वाले वा दुगुने पर देने वाले वा दुगुना चाहने वाले।

'इन्द्र दुगुना करने वाले (व्याजाड्यों) दिन के देखने वाले वाणियों को कर्म से दबा लेता है, (ऋ) इन्द्र सारे दुगुना करने वाले। अहर्दृशः = सूर्य के देखने वाले, जो इन्हीं दिनों को देखते हैं, न कि परले दिनों को उनकों (अर्थात् नास्तिकों को)। कर्म से दबा लेता है। पणीन् = वाणियों को ॥२६॥

"जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्थ हवनश्रुतः"।जीवतो नोऽभिधावतादित्याः। पुरा हननात्क नु स्थ ह्वानश्रुत इति। मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। मत्स्या मधौ उदके स्यन्दन्ते माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा।जालं जलचरं भवति जलेभवं वा जलेशयं वा॥ अंहुरोंऽहस्वानं हूरणमित्यप्यस्य भवति। 'कृण्वन्नंहूरणादुरु' इत्यपि निगमो भवति। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्'। सप्तैव मर्यादाःकवयश्चक्रुस्तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान्भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनःसेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। बत इति निपातः खेदानुकम्पयोः ॥२७॥

(१.१.०—अभिधेतन = अभिधावत) 'हे आदित्यो! मारा जाने से पहले हम जीते हुओं की तरफ दौड़ो, हे पुकार के सुनने वालो कहां हो (८।२६।५) हम जीते हुओं की ओर दौड़ो हे आदि-

सो। मारा जाने से पहले, कहां हो हे पुकार के सुनने वालो'। जाल में पड़े हुए मत्स्यों का यह आर्ष (ऋषि वचन) बतलाते हैं। मत्स्याः = जल में चलते हैं। अथवा एक दूसरे को भक्षण के लिये प्रसन्न होते हैं। जाल = जल में चलने वाला होता है, अथवा जल में होने वाला, वा जल में लेटने वाला। (१.१.१–) अंहुरः= पापवाला; अंहूरण भी इसी का होता है 'पापवाले (अन्ध कूप) से बड़ी (रक्षा) करता हुआ' (१।१०५।१७) यह भी निगम होता है।'सात मर्यादाएं ऋषियों ने बनाई हैं,जो उन में से एक को भी प्राप्तहोता है, वह पापी होता है' (१०।५।६) सात मर्यादाएं ऋषियों ने बनाई हैं, उनमें से एक को भी प्राप्त होता हुआ पापी होता है। (वह सात यह हैं–) चोरी, व्यभिचार, ब्रह्म हत्या, गर्भ हत्या, सुरापान,दुष्कर्म का बार२ सेवन,पातक के विषय में झूठ बोलना (किसी पर झूठा पातक लगाना)। (१.१.२–) बत यह निपात है खेद और अनुकम्पा अर्थ में ॥२७॥

"बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयंचाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्"।बतो बलादतीतो भवति।दुर्बलो बतासि यम! नैव ते मनो हृदयं च विजानीमः। अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम्। लिबुजा व्रततिर्भवति लीयते विभजन्तीति। व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च॥ वाताप्यमुदकं भवति वातः एत-दाप्याययति। 'पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम्' इत्यपि निगमो भवति। 'वने न वायो न्यधायि चाकन्'।

वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा। वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमासश्चार्थः। रथर्यतीति सिद्धस्तत्प्रेप्सुः, रथं कामयत इति वा। 'एष देवो रथर्यति' इत्यपि निगमो भवति ॥२८॥

अहो तू दुर्बल(-हृदय) है हे यम, तेरे मन और हृदय (संकल्प और निश्चय) को नहीं जानते हैं। निःसन्देह अन्य स्त्री तुझे आलिंगन करे गी, जैसे कि पास होने वाली बेल वृक्ष को (१०। १०।१३) बतः = बल से गिरा हुआ होता है = दुर्बल। अहो हे यम, तू दुर्बल है। हम तेरे मन और हृदय को नहीं जानते हैं। अन्यस्त्री निःसन्देह तुझे कण्ठ लगाएगी, जैसे पास होनेवाली बेल वृक्ष को। लिबुजा = बेल होती है। अलग होती हुई भी (वृक्षमें) लीन होती है। व्रतति = स्वीकार करने से, और बांधने से और फैलाव से। (११३-)वांताप्य = जल होता है, वायु इस को बढ़ाता है। 'पुना हुआ (तू हे सोम) सब को आनन्द देने वाला जल (बना = वृष्टि कर, ९।९३।९) यह भी निगम होता है (११९-चाकन्=चायन्, कामयमानो वा) 'वृक्ष पर जैसे पक्षी का बच्चा रखा हुआ (बाहर उड़कर गये हुए पितरों को) देखता वा कामना करता हुआ'(१०। २९।१) वृक्ष पर जैसे, वायः = पक्षी का पुत्र। चायन् = देखता हुआ, वा कामना करता हुआ। यहां 'वा' और 'यः' यह (पदकार) शाकल्य ने ( पद विभाग ) किया है। किन्तु ( ऐसा होता तो ) आख्यात (अर्थात् पद) उदात्त होता (यत् शब्द के प्रयोग से परे आख्यात उदात्त होजाता है। यद्वृत्तान्नित्यम् ८।१।६६। सूत्र

से) (किन्तु है नहीं उदात्त, निघात है, इसलिये 'वा । यः' दो पद भूल से किये हैं ) और अर्थ भी पूरा नहीं होता ( वा' का अर्थ कुछ नहीं बनता, और वृक्ष पर क्या रखा हुआ, यह आकांक्षा बनी रहती है ) ( ११५—रथर्याति = रथं इर्यति ) रथर्यति, रथाभिलाषी, वा रथ को चाहता है 'यह देव (सोम) रथ को चाहता है' (९।३।५) यह भी निगम होता है ॥२८॥

'धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्'। असङ्क्रमणीम्। आधवः आधवनात्। 'मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्'इत्यपि निगमो भवति। अनवब्रवोऽनवक्षिप्तवचनः। 'विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः'इत्यपि निगमो भवति ॥२९॥

(११६— असक्राम्=असंक्रमणीम्) '(हे अश्वियो !) तृप्त करनेवाला, (हमसे) न चला जाने वाला (अनखुट्ट) अन्न हमें दो' (८।६।३।८(११७—)आधवः=कंपानेसे(आ+धूञ्से)('हे पूषन्! हम तुझे)हमारी बुद्धियों का साधनेवाला,और बुद्धिमानोंका कंपानेवाला (ज्ञानी तुझ से डरते हैं,अथवा तेरे गुणों पर मोहित हो सिर हिलातेहुए स्तुति करते हैं—१०।२६।४)'यह भी निगम होता है। (११८—) अनवब्रवः=जिस के वचन का कोई अनादर न करे '(हे मन्यो !) तू इन्द्र की तरह विजय करने वाला है, और तेरे वचनका कोई अनादर नहीं करता है' (१०।८४।५) यह भी निगम होता है ॥२९॥

"अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि"। अदायिनि काणे विकटे। काणोऽविक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः।

कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः। कणाति शब्दाणूभावे भाष्यतेऽनुकणतीति। मात्राणूभावात्कणो दर्शनाणूभावात्काणः। विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः। कुटतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकुटितो भवति।गिरिं गच्छ सदानोनुवे शब्दकारिके। शिरिम्बिठस्य सत्वभिः। शिरिम्बिठो मेघः शीर्यते बिठे। बिठमन्तारिक्षं बिठं बीरिटेन व्याख्यातम्। तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात्तेष्ट्वा चातयामः। अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतोऽलक्ष्मीर्निर्णाशयाञ्चकार। तस्य सत्वैः कर्मभिरितिस्यात्तेष्ट्वा चातयामः। चातयतिर्नाशने॥ पराशरः पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे।'पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः' इत्यपि निगमो भवति। इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते पराशातयिता यातूनाम्। 'इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः'इत्यपि निगमो भवति। क्रिविर्दती विकर्त्तनदन्ती।'यत्रा वो विद्युद्ददाति क्रिविर्दती' इत्यपि निगमो भवति। करूळती कृत्तदती। अपि वा देवं कं चित्कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत् ॥३०॥

(१.१.९–सदान्वे=सदानोनुवे, १२०–शिरिंविठः=शीर्यते बिठे) 'हे दान की विरोधिनी, काणी, विकृत अंगों वाली (वा विकृत गति वाली) सदा पुकार करानेवाली (अलक्ष्मी)पहाड़ की ओर जा (जहां मनुष्य नहीं), मेघ के जलों से हम तुझे नाश

करते हैं (अथवा शिरिंबिठ के कर्मों से तुझे नाश करते हैं (१०।१५५।१) हे न देनेवाली। काणी, विकृत अंगोंवाली। काणः=न प्रबल देखनेवाला यह औपमन्यव मानता है। अथवा कण (भ्वा० प०) से है सूक्ष्महोने अर्थ वाले से। कणति, शब्द के सूक्ष्म होने में बोला जाता है। जैसे—अनुकणतिमात्रा की सूक्ष्मता से(अर्थात् परिमाण में छोटा सा होने से, सिमाक आदि का) कण कहा जाता है, और (उसी सादृश्य को लेकर) देखने की सूक्ष्मता से काण कहा जाता है। विकटः=विकृत गतिवाला, यह औपमन्यव कहता है। अथवा कुट (तु०प०) से होता है, टेढा होता है। 'पर्वत को जा, सदा शब्द (पुकार) करानेवाली'। शिरिंबिठ=मेघ होता है, अन्तरिक्षमें बिखरता है। बिठ, अन्तरिक्ष है, बिठ, बीरिट से व्याख्या किया गया (बीरिटमन्तरिक्षं भियो भासो वा ततिः ५।२८) उस (मेघ) के। सत्त्वभिः=जलों से, यह अर्थ हो सकता है, उनसे नाशकरते हैं [अकाल को] अथवा, शिरिम्बिठ, भरद्वाज का पुत्र हुआ है। वह कालेकानोंवाली [अलक्ष्मी] से युक्त हुआ [इस सूक्त से] अलक्ष्मी का नाश करता भया, उस के'सत्वभिः' कर्मोंसे नाश करते हैं,यह अर्थ हो सकता है।'चातयति'नाश करने में है। [१२१—]पराशरः=बहुत ढीले हुए अर्थात् बूढे हुए वसिष्ठ के उत्पन्नहुआ था। सैंकड़े राक्षसों वाला(राक्षसों से घिरा) पराशर और वसिष्ठ (हे इन्द्र तेरी मैत्री को नहीं भूलते हैं ७।१८।२१) यह भी निगम होता है 'इन्द्र भी पराशर कहलाता है। दूरमारनेवाला राक्षसों का 'इन्द्र राक्षसों को दूर मार फैंकनेवाला हुआ ७।१०४।२१) यह भी निगम होता है (१२२) क्रिविर्दती=काटने वाले दांतोंवाली '(हे मरुतो) जहां तुम्हारी काटनेवाले दांतों वाली बर्छी काटती है (मेघ को छेद कर जल

उतारती है—१।१६६।६) यह भी निगम होता है (१.२३) करूळती = कटे दांतोंवाली (कटेहुए दांतवाले किसी देवता को देखकर ऐसे कहा हो सकता है * ) ॥३०॥

"वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।वामंपूषा वामं भगो वामं देवःकरूळती"।वामं वननीयं भवति। आदुरिरादरणात् ।तत्कःकरूळती?भगःपुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकं । पूषेत्यपरं । सोऽदन्तकः ।अदन्तकः पूषेति च ब्राह्मणम् । 'दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः' । दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदुवाचः कुरु। 'अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते' । अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिषुः । इदंयुरिदं कामयमानः अथापि तद्वदर्थे भाष्यते वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यत्रार्थः।'अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः' इत्यपि निगमोभवति

हे (पूजामें) आदरवाले (यजमान !) अर्यमा देव तुझे उत्तम २ धन देवे, उत्तम धन पूषा, उत्तमधन भग, उत्तम धन कटे दांतों वाली देवता देवे(४।३०।२४)वाम = सेवने योग्य होताहै( = उत्तम धन) । आदुरि आदर से । यह कटे दांतों वाला कौन है ? भग पूर्व कहा है, उसीका यह फिर कथन है,यह एक (मत है)(क्योंकि निकट होने से उसी के साथ अन्वयय युक्त है ) । (भग नहीं

---

* बन्धनी के अन्तर्गतपाठ कई पुस्तकों मे नहीं है, दुर्गाचार्य ने भी व्याख्या नहीं किया है । इसका सम्बन्ध भी 'इतिचब्राह्मणम' के आगे अच्छा लगता है ।

किन्तु) पूषा है, यह दूसरा मत है, क्योंकि वह दांत से बिना है, 'पूषा दांत वाला नहीं है' यह ब्राह्मण है (तो यद्यपि 'करूळती' का निकट सम्बन्ध भग से है, पूषा से दूर का सम्बन्ध लगाना पड़ता है, तथापि जब भगके साथ अर्थ नहीं घटता और पूषा के साथ घटता है, तो दूर होने पर भी उसीसे सम्बन्ध रखता है) * (१२५–इनः=दानमनसः) हे इन्द्र मनुष्यों को दान में मन वाला और मृदुवाणी वाला बना' (१।१७४।२) हे इन्द्र हमारे मनुष्यों को दान में मनवाला और मृदुवाणी वाला बना (१२५–शारुः=संशिशारिषुः ॥ 'अवीरा की न्याईं यह घातुक मुझे मानता है' (किन्तु मैं इन्द्र की पत्नी वीरिणी हूं १०।८६।९) 'अबला की न्याईं मुझे यह बाल मानता है मरना चाहता हुआ। (१२६–) इदंयुः=इस (अमुकवस्तु) को चाहता हुआ (इच्छा अर्थ में यु)। उसवाले के अर्थ (मत्वर्थ) में भी (यु)बोला जाता है। इन्द्र 'वसूयुः' धन वाला यह यहां अर्थ है। 'घोड़ों वाला, गौओं वाला, रथवाला, धनवाला †' (इन्द्र–१।५१।१४) यह भी निगम होता है ॥३१॥

"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया नः"। किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः

* वस्तुतः 'करूळती' स्त्री लिंग होने से भग वा पूषा का विशेषण नहीं स्वतन्त्र है। † यहां धनकी इच्छा वाला अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्र पूर्णकाम है। परन्तु 'छन्दसिपरेच्छायामपि' वार्तिक के अनुसार 'यजमान के लिये धन चाहता हुआ' अर्थ है

किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्। आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दःकुसीदी माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः। पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डौ। आण्डावाणी इव व्रीडयति तस्तम्भे। नैचाशाखं नीचाशाखो नीचैःशाखः। शाखाः शक्नोतेः। आणिररणात्। 'तन्नो मघवन् रन्धय' इति रध्यतिर्वशगमने। बुन्द इषुर्भवति बुन्दो वा भिन्दो वा भयदो वा भासमानो द्रवतीति वा ॥ ३२ ॥

(१२७—कीकटेषु) 'हे इन्द्र कीकटों में जो गौएं हैं; वह तेरा क्या बनाती हैं, न सोम में मिलाने का दूध (आशिर) दुहाती हैं, न घर्म (महावीर पात्र)को (अपने दूध से) तपाती हैं। असन्त ब्याजड़ियों के वंश में उत्पन्न हुए के धन को हमारे लिये ला (हम उससे तेरे लिये यज्ञ करेंगे) नीची शाखा (वंश) वाले को हे मघवन्! हमारे वश कर (३।५३।१४) 'क्या तेरा संवारती हैं कीकटों में गौएं। कीकट=नाम देश है जहां अनार्यों का निवास है *। 'कीकटाः' = क्यों बनाए गए (क्योंकि वह देव पितृ मनुष्यों का कोई उपकार नहीं करते हैं) अथवा क्या है (यागादि) क्रियाओं से ऐसी इच्छावाले। 'न सोम में मिलाने वाले दूध को

* कीकट 'अनार्य जाति थी, जो विहार में कभी रहती थी, जिस के नाम पर विहार का नाम कीकट है।

दुहाती हैं, न घर्म को तपाती हैं, । ला हमारे लिये 'प्रमगन्द' के धनों को । मगन्द = ब्याजड़िया । (दुगुने आदि) मान को प्राप्त हुआ धन मेरे पास आएगा, इस अभिप्राय से देता है ( वह मंगद) उस की सन्तान प्रमगन्द=अत्यन्त ब्याजड़ियों के कुल में उत्पन्न हुआ (कण्वस्यापत्यं प्रस्कण्वः' की न्याई, प्रमगन्द में प्र अपत्य अर्थ में है ) अथवा प्रमादशील, जो, यही लोक है, कोई परलोक नहीं, ऐसे अभिप्राय वाला है । अथवा नपुंसक (प्रमगन्द है, नपुंसक का धन व्यर्थ होता है) । पण्डक=हीजड़ेपन को प्राप्त होता है । अथवा पीड़नेवाला होता है । पीड़ित करता है=निष्फल बनाता है, अण्डकोषों को । कीलों की न्याई(निरा) थामता है । नैचाशाखं=नीची शाखा वाला । शाखा,शक् (भ्वा०प०) से है । आणि गतिसे, ' हे मघवन् वह हमारे वश में कर'। रध् (दि०प०) वश लाने में है (१२८–)बुन्द बाण होता है भेदने वाला है भय देने वाला है, वा चमकता हुआ चलता है ॥३२॥

'तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुःसाधुर्बुन्दो हिरण्ययः। उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा,॥तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा।ते सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः। साधयिता ते बुन्दो हिरण्मयः । उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयौसाङ्ग्राम्यौ वा।ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा।मर्मण्यर्दनवेधिनौ गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा ॥३३॥

दूर फैंकने वाला अच्छा बना हुआ अच्छे सुख वाला है तेरा धनुष (हे इन्द्र) और (कार्य) साधने वाला सुनहरी बाण है,

दोनों तेरी भुजाएं संग्राम के योग्य अच्छी सजी हुई हैं, जो दूरगिराने वाली, और दूर वेधने वाली हैं (८।९६।१.१) तुविक्षं=वहुत फैंकने वाला, वा लंबा फैंकने वाला। 'तेरा अच्छा वना हुआ' सूमयं=अच्छे सुखवाला धनुष। 'साधने वाला तेरा वाण सुनहरी है, दोनों तेरी भुजाएं' रण्यौ=रमणीय हैं वा रणके=संग्राम के योग्य हैं। ऋदूपे=पीड़कर गिराने वाली, वा पहुंचकर गिराने वाली, वा शब्द से गिराने वाली। (ऋदूवृधौ) मर्म में पीड़ कर वेधने वाली वा पहुंचकर वेधने वाली वा शब्द से वेधने वाली वा दूरसे वेधने वाली ॥३३॥

"निराविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्"॥ निरविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनमुदकदानं मेघम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्। वृन्दं बुन्देन व्याख्यातं वृन्दारकश्च ॥३४॥

(बुंद का वाण अर्थ में यह और स्फुटतर उदाहरण है) इन्द्र ने अच्छे खींचे हुए वाण को (लेकर मेघों में से) पके हुए (जल-से भरे हुए) मेघ को वींधा और उसे फाड़ दिया (८।६६।७) (१.२९–) वृन्द, बुन्दने व्याख्या किया गया और वृन्दारक भी (वृन्द और वृन्दारक की वही व्युत्पत्तियां हैं,जो बुन्द की हैं)॥३४॥

"अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्" ॥ अयं यो होता कर्ता स यमस्य कमप्यूहेऽन्नमभिहवति यत्समश्नुवन्ति देवाः अहरहर्जायते मासेमासेऽर्धमासेऽर्धमासेवा।अथ देवा निदधिरे

हव्यवाहम्। उल्वमूर्णोतेर्वृणोतेर्वा । महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीदित्यपि निगमो भवति । ऋबीसमपगतभासमपहृतभसमन्तर्हितभासं गतभासं वा ॥३५॥

(१३०—किः=कर्ता)जो यह(अग्नि)होता है(देवताओं का बुलाने वाला है)कर्ता है वह यम(वायु)का,अन्न को उठाले जाता है(देवताओं के पास) जिस को देवता प्राप्त होते हैं। दिन दिन और महीने२ (अग्निहोत्रियों के घरों में) प्रकट होता है,देवताओं ने इसे हव्यका लेजाने वाला नियत किया है(१०।५२।३)(१३१—)उल्वं=ऊर्णुञ् (आच्छादन, अ०उ८) से है, वा वृञ् (स्वा० उ० ) से है(जेरका नाम है। गर्भ को ढांपती है, वा उससे गर्भ आवृत होता है)'वह जेर बहुत बड़ाथा और बहुत पुराना था (जिस से लपेटा हुआ तू हे अग्ने जलों में प्रविष्टहुआ—१०।५१।१) (१३२—) ऋबीसं= (पृथिवी) दूर हुए प्रकाशवाली, हरेगए प्रकाशवाली, छिप गए प्रकाश वाली वा गए प्रकाश वाली ॥३५॥

"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् । ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति"॥ हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहरवारयेथामन्नवतीं चास्मा ऊर्जमधत्तमग्नये योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः सर्वगणं सर्वनामानम् । गणा गणनाद् गुणश्च । यद् वृष्ट ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपं तेनैनौ स्तौति स्तौति ॥ ३६ ॥

जल से तुमने (हे अश्वियो!) दिन (अग्नि की न्याईं तपते हुए गर्मी के दिन को) रोका (दिनकी तीक्ष्णता को रोका) और इस (अग्नि) के लिये अन्न (पुरोडाश) सहित घृत दिया (वर्षाद्वारा याग के लिये अन्न और घृत उत्पन्न किया) (ऊपर से दूर हुए तेजवाली) पृथिवी में नीचे गए हुए (ओषधि वनस्पति आदि) सारे गणों से युक्त अग्निको कल्याण से ऊपर निकाला (१। ११६। ८) हिमेन = जल से, ग्रीष्म के अन्त में अग्नि को। ग्रंस = दिन (दिनरूपी अग्नि को) रोकते हुए, और इस अग्नि को अन्न युक्त घृत देते भए। जो यह 'ऋबीसे = पृथिवी के अन्दर अग्नि है, उसको ओषधि वनस्पतिओं में और जलों में ऊपर निकालते हुए। सर्वगणं = सारे नामोंवाले को (अग्नि ही गर्मी बिजली आदि नामों वाला होकर ओषधि आदियों में है) गण, गिनने से है, गुण भी इसी से है। (मन्त्रका संक्षिप्त अर्थ बतलाते हैं—) बरसने पर जो ओषधियें और प्राणी पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं, वह अश्वियों का रूप (महिमा) है, इस (महिमा से इन दोनों (अश्वियों) की स्तुति करता है, स्तुति करता है ॥३६॥

छटा अध्याय, नैगम काण्ड, पूर्वषट्क समाप्त हुआ ॥

# उत्तरषट्क-दैवत काण्ड

## अध्याय ७

संगति—पूर्वषट्क में नैघण्टुक काण्ड और नैगम काण्ड के शब्दों की व्याख्या हो चुकी है। अब उत्तर षट्क में दैवत काण्ड का व्याख्यान करेंगे। इस काण्ड में मन्त्रों के जो देवता हैं, उनका पूरा २ विचार होगा।

**अथातो दैवतम् ॥ तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताःप्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ॥१॥**

अब इससे आगे दैवत (—प्रकरण व्याख्या करेंगे)। (सो —निघण्टु में) जो नाम प्रधान स्तुतिवाले (अग्नि आदि) देवताओं के हैं, उसको दैवत (—प्रकरण) कहते हैं। वह (पूर्व१।२०में कहा) यह देवता का पूरा २ परीक्षण। (स्वरूप बोधन,निर्वचन,उदाहरण प्रदर्शन आदि) होगा ॥ जिस (बल आदि की) कामना वाले हुए ऋषि (मन्त्र द्रष्टा) ने, जिस देवता में (उस बल आदि) अर्थ का होना चाहते हुए * ने स्तुति प्रयोग की है, उस देवता वाला

---

* अर्थात् अमुक देवता की कृपा से मैं इस अर्थ का स्वामी हो उंगा, इस बुद्धि से जिस देवता की स्तुति की है, वह उस ऋचा का देवता है।

वह मन्त्र होता है (इस प्रकार मन्त्र का देवता जानना )। वह ऋचाएं तीन प्रकार की हैं । परोक्षकृता, प्रत्यक्षकृता और आध्यात्मिकी † ( इनके अलग २ लक्षण और उदाहरण कहते हैं ) उनमें से परोक्षकृता जो हैं, वह नाम की सारी विभक्तियों से युक्त होतीं हैं, और आख्यात के प्रथम पुरुषों से युक्त होती है ॥१॥

---

† जिन में देवता स्वयं अपना वर्णन करता है अस्मद् का प्रयोग देकर, वा उत्तम पुरुष का प्रयोग देकर, वह सारी आध्यात्मिकी ऋचाएं हैं, जैसे १०।४८-३९ सूक्त 'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः' =मैं (इन्द्र) धन का-मुख्यपति हूं' इत्यादि । जिनमें देवता का प्रत्यक्षवत् वर्णन है, युष्मद् का प्रयोग देकर वा मध्यम पुरुष का प्रयोग देकर, वह प्रत्यक्षकृता ऋचाएं हैं, जैसे 'त्वमिन्द्रासि वृत्रहा' =हे इन्द्र तू शत्रुओं का मारने वाला है (१०।१५३।२) । जिनमें देवता का परोक्षवत् वर्णन है, अर्थात् जिनमें देवता के लिये न युष्मद् का प्रयोग है, न अस्मद् का प्रयोग है, किन्तु इन्द्र आदि विशेष नामों का वा युष्मद् अस्मद् भिन्न किसी सर्व नाम का प्रयोग है, वह परोक्षकृता हैं, जैसे 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः=इन्द्र द्यौ का और इन्द्र पृथिवी का राज्य करता है (१०।८९।१३) । ऊपर जो तीनों के उदाहरण दिये हैं, वह प्रथमा विभक्ति के हैं, किन्तु प्रथमा का नियम नहीं, सभी विभक्तियों के उदाहरण होसकते हैं नियम केवल अस्मद् युष्मद् और तद्भिन्न शब्दों का है । जैसे 'मां धुरिन्द्रं नाम देवताः=मुझे दिया है इन्द्र नाम देवताओं ने (१०।४९।२) 'वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वां' हे वायो उक्थों से तेरी स्तुति करते हैं (१।२।२) 'और इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्=इन्द्र को ही सामगानेवालों ने बृहत् (सामसे स्तुति किया है (१।८।१) यह क्रमशः वा द्वितीया में तीनों के उदाहरण हैं । जब देवता के लिये युष्मद् अस्मद् व मध्यम उत्तम का प्रयोग न हो, तो चाहे स्तोता के लिये युष्मद् अस्मद् का भी प्रयोग हो तौ भी ऋचा परोक्ष कृता ही हैं, जैसे 'इन्द्राय समगायत' इन्द्र के लिये (हे ऋत्विजो) सामगाओ (८।८७।१) यहां ऋत्विज्

"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः" "इन्द्रमिद्गाथिनो बृहत्। 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः' इन्द्राय साम गायत। नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन। इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्। इन्द्रे कामा अयंसत' इति॥ अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। त्वमिन्द्र बलादधि। वि न इन्द्र मृधो जहीति॥ अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति। परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। मा चिदन्याद्वि शंसत। कण्वा अभि प्र गायत। उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमिति॥ अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो लवसूक्तं वागाम्भृणीयमिति॥२॥

(सो सातों ही विभक्तियों में क्रमशः उदाहरण दिखलाते हैं) 'इन्द्र द्यौका इन्द्र पृथिवी का राज्य करता है (१०।८९।१०) (यह प्रथमा में उदाहरण है) 'इन्द्र को ही सामगाने वालों ने बृहत (साम) से (अनूषत=स्तुति किया है १।७।१) (यह द्वितीया में उदारण है) 'इन्द्र के साथ जुटे हुए यह तृत्सु (आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः=छोड़े हुए जलों की न्याईं नीचे दौड़े ७।१८। १५) (यह तृतीया में उदारण है) 'इन्द्र के लिये सामगाओ'

---

प्रत्यक्षवत् हैं, तथापि ऋचा परोक्षकृता है, और 'इन्द्रस्य नुवीर्याणि प्रवोचम्=इन्द्र के वीर कर्मों को कहता हूं (१।३२।१) यहां कहने वाला अपने लिये उत्तम पुरुष का प्रयोग करता है, तथापि देवता परोक्षवत् है, इसलिये ऋचा परोक्षकृता है, न कि आध्यात्मिकी।

(८।८७।१) (यह चतुर्थी में है) 'इन्द्र के विना (सोम) किसी धाम (प्रातः सवन आदि स्थान) को नहीं पवित्र करता है। (९।६९।६) (यह पञ्चमी में उदाहरण है)। 'इन्द्र के वीर कर्मों को कहता हूं' (१।३२।१) (यह षष्ठी में उदाहरण है) 'इन्द्र में (हमारी) कामनाएं बन्धी हैं (वह काम्य अर्थों का अधिपति है)। (परोक्षकृता ऋचाओं के लक्षण और उदाहरण कह दिये) अब प्रत्यक्षकृता (कहते हैं) मध्य पुरुष से युक्त और 'त्वं' इस सर्व नाम से युक्त ऋचाएं (प्रत्यक्षकृता होती हैं) 'हे इन्द्र तू बल से (अधिजातः=प्रकट हुआ है १०।१५३।२) (यहां 'त्वं' का योग है) हे इन्द्र हमारे शत्रुओं को नाश कर (१०।१५२।४ 'विजहि' मध्यम पुरुष का योग है) किञ्च, कहीं स्तोता प्रत्यक्षकृत होते हैं, और स्तोतव्य परोक्षकृत होते हैं। जैसे 'मत किसी और की स्तुति करो (इन्द्र मित्स्तोता= इन्द्र की ही स्तुति करो ८।१।१) (यहां स्तोता प्रत्यक्ष हैं मध्यम पुरुष के प्रयोग से, पर स्तोतव्य इन्द्र परोक्ष है)। (शर्धो मारुतं= मरुतों के दल बल को) हे कण्वो गाओ (१।३७।१) (यहां मरुत् परोक्षतया और स्तोता कण्व प्रत्यक्षतया निर्दिष्ट हैं) 'चलो निकट पहुंचो हे कुशिको! सावधान होजाओ (वा सावधान करो ३। ५३।११) (यहां भी स्तोता प्रत्यक्ष हैं, स्तोतव्य परोक्ष है *)। अब आध्यात्मिकी (ऋचाएं कहते हैं) जो उत्तम पुरुष से वा 'अहं' इस सर्व नाम से युक्त ऋचाएं हैं (वह आध्यात्मिकी हैं) जैसे यह हैं। इन्द्र वैकुण्ठ (विकुण्ठ का पुत्र) (अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः इत्यादि से अपना वर्णन करता है देखो १०।४७–४८) और लव

* स्तोतव्य के परोक्ष होने से ऐसी ऋचाएं परोक्षकृता ही जाननी चाहियें जैसा कि 'इन्द्राय साम गायत' परोक्ष कृताओं में आ चुकी है॥

सूक्त (जिस में लव इन्द्र ने 'इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति' इत्यादि से अपना वर्णन किया है देखो १०।११९) और वागाम्भृणीयसूक्त (जिस में अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् ने 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि' इत्यादि से अपना वर्णन किया है देखो (१०।१२५) ॥ २ ॥

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः। अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' इति यथैतस्मिन्त्सूक्ते। अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासमिति। तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ "अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि"। अथा स वीरैर्दशभिर्वि यूया इति॥ अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा। न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि। तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे॥ अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्। सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्। न वि जानामि यदि वेदमस्मीति॥ अथापि निन्दाप्रशंसे। केवलाघो भवति केवलादी। भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्मेति॥ एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च। एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति॥ ३॥

परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत ही मन्त्र अधिक हैं, आध्यात्मिक

थोड़े से हैं। (अब मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय बतलाते हैं) किञ्च—कहीं निरी स्तुति होती है, आशिर्वाद (प्रार्थना) नहीं होती, जैसे 'इन्द्र के वीर कर्मों को कहता हूं' इस सूक्त (१।३२) में है (इस सूक्त के १५ मन्त्र हैं, सब में इन्द्र की स्तुति ही है, कोई कामना नहीं की गई) । और कहीं निरी कामना होती है स्तुति नहीं' जैसे—'नेत्रों से अच्छा देखने वाला, मुख से अच्छी कान्ति वाला, कानों से अच्छा सुनने वाला होऊं' (इन में निरी कामनाएं कही हैं, देवता की स्तुति कोई नहीं)। यह बात यजुर्वेद में बहुधा है, और यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में * (बहुधा) है। किञ्च—शपथ और अभिशाप (स्वयं शपथ करना और दूसरे पर शाप डालना) भी होते हैं 'आज ही मैं मरूं, यदि मैं यातु धान (जादू करने वाला = राक्षस) हूं' (यह शपथ है) 'और वह दस वीरों (सारे पुत्रों) से वियुक्त हो † (यह अभिशाप है)॥ किञ्च—कहीं किसी भाव (तत्त्व वा अवस्था) के कहने की इच्छा है। जैसे 'उस समय (सृष्टि से पहले) न मृत्यु था न अमृत था' (१०।१२९।१) 'आरम्भ में अन्धेरा था अन्धेरे से ढका हुआ' १०।१२९।३) (यह प्रलय का वर्णन है)। किञ्च—कहीं किसी अवस्था के कारण विलाप भी है 'वह अच्छा देव हो जो आज विना रोक गिर-

---

*'यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में' कहने से स्पष्ट है, कि यज्ञ सम्बन्ध के विना भी मन्त्र हैं.अत एव प्रभाकर आदि का यह मत कि वेद यज्ञ के लिये ही प्रवृत्त हुए हैं, संगत नहीं है। † अद्या मुरीय यदि यातु धानो अस्मि यदि वाऽऽयु स्ततप पूरुषस्य।अधा सवीरैर्दशभि र्वियूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह (७।१०४।१५) आज ही मरूं यदि मैं यातु धान हूं,यदि मैं ने किसी पुरुष की आयु को तपाया है(यह अपने लिये शपथ है)और वह दस पुत्रों से वियुक्त हो,जो मुझे झूठ यातु धान

पड़े'(१०।९५।१४)(यह पुरूरवा का उर्वशी के वियोग में विलापहै)*। 'मैं नहीं जानता हूं, जैसा यह मैं हूं' (१।१६४।३७) (दीर्घतमा की अपने परमार्थ स्वरूप को न जानने से परिदेवना है)। तथा निन्दा और प्रशंसा भी हैं 'केवल खाने वाला (अकेला खाने वाला, न दान देने वाला, न मित्रों में बांटकर खाने वाला) केवल पापी होता है (१०।११७।६) (इस में दान भोग से रहित पुरुष की निन्दा है)। 'दाता का यह कमलों वाले सरोवर की न्याई घर है' (१०।१०७।१०) (इस में दाता की स्तुति है)। इसी प्रकार अक्षसूक्त (१०।३४) में जुए की निन्दा और खेती की प्रशंसा है †। इस तरह अनेक प्रकार के अभिप्रायों से ऋषियों के मन्त्रदर्शन हैं ‡ ॥३॥

---

कहता है (यह दूसरे को अभिशाप है * पुरूरवस् = मेघ।उर्वशी = विद्युत और आयु जलका नाम है ॥

† जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित् (१०।३४।१०) जुआरिये की पत्नी (अर्थ से) हीन हुई तपती है, और जहां कहीं भटकतेहुएपुत्र की माता तपतीहै(इत्यादि जुए की निन्दा है) 'और अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।(१०।३४।१३) पासों से मत खेल; खेती ही कर, जो धन (इस तरह तू कमाए उसे) बहुत मानता हुआ (उसी) धन में रमण कर, उसमें गौएं हैं हे जुआरिये, उसमें पत्नी है (गौका दूध है और दाम्पत्य प्रेम का सुख है) यह मुझे प्रेरक ईश्वर कहता है (यह खेती की प्रशंसा है) ‡ 'मन्त्र दर्शन हैं' मन्त्र जो पहले ही विद्यमान हैं, ऋषि उन मन्त्रों के जिसकिसी निमित्त से अर्थात् उन के निदानभूत निन्दा हर्ष शोक प्रशंसा आदि से द्रष्टा होते हैं, यह अभिप्राय है, सो आर्षानुक्रमणी में निदान और आर्ष दोनो देखने चाहियें, क्योंकि आर्ष और निदान को जान कर आसानी से अनेक विषयक मन्त्रार्थ को जान सकता है (दुर्गाचार्य)।

संगति—पूर्व मन्त्रों के देवताओं का लक्षण कहा है, कि ऋषि ने जिस अर्थ की प्राप्ति के लिये जिस देवता को उस अर्थ का अधिपति जान उसकी स्तुति की है, वह, उस मन्त्र का देवता है, यह लक्षण उन मन्त्रों में तो बन जाता है, जिनमें देवता का स्पष्ट नाम ग्रहण किया है, वा उसका कोई स्पष्ट लिङ्ग है, पर जिनमें न देवता का नाम है, न स्पष्ट लिङ्ग है, उनमें देवता को कैसे जानें यह विचार आरम्भ करते हैं—

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः,नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्प्रायोदेवता वा।अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यम्। याज्ञदैवतो मन्त्र इति। अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तान्यथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि। स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानां प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति। माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च।इतरेतरजन्मानोभवन्तीतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानआत्मजन्मानआत्मैवैषांरथोभवत्यात्माश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥४॥

अब जो न बतलाए देवता वाले मन्त्र हैं, उन में देवता का पूरा निर्णय यह है—कि जिस देवता वाला वह यज्ञ है,वा यज्ञांग है उस देवता वाले वह (मन्त्र) होते हैं *। और यज्ञ से अन्यत्र (अर्थात् जिन मन्त्रों का विनियोग किसी यज्ञ में भी नहीं कहा वह मन्त्र) प्रजापति देवता वाले होते हैं †, यह याज्ञिक मानते हैं। नराशंस देवता वाले हैं, यह नैरुक्त मानते हैं ‡ (नराशंस=यज्ञ वा अग्नि। देखो ८।७। यज्ञ=सूर्य। अर्थात् वह मन्त्र सूर्य देवता के वा अग्निदेवता के होते हैं)॥ अथवा वह (ऋचा) इच्छानुसार देवता वाली हो सकती है §। अथवा बहुत से देवताओं वाली

---

* जैसे 'आग्नेयोऽग्निष्टोमः' अग्नि देवता वाला है अग्निष्टोम। यह श्रुति है। सो अग्निष्टोम में जो मन्त्र ऐसा आवे, जिसमें किसी देवता विशेष का न तो स्पष्ट नाम हो, न ही स्पष्ट लिङ्ग हो, उस मन्त्र का देवता अग्नि जानो, क्योंकि यह समुच्चय रूप में अग्नि के लिये है। उस यज्ञमें भी, यदि यज्ञ के भिन्न २ अंगों में से किसी अंग विशेष में उस मन्त्र का विनियोग है, तो उस अंग का जो देवता है, वही उस मन्त्र का देवता जानो।जैसे अग्निष्टोम के तीन सवन होतेहैं। प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन।प्रातःसवनका देवता अग्नि,माध्यन्दिन का इन्द्र और तृतीय के आदित्य होते हैं। सो यदि अग्निष्टोम में किसी वैसे मन्त्र का विनियोग प्रातः सवन में है, तो उसका देवता अग्नि होगा, माध्यन्दिन में है, तो इन्द्र होगा, तृतीय में है, तो आदित्य होंगे। †क्योंकि प्रजापति (अग्नि आदि की न्याईं) निखेर कर नहीं कहा जासकता है (अग्नि आदि प्रजापति के ही अंग हैं, अतः अग्नि वायु के परस्पर भेद की न्याईं, अग्नि प्रजापति में परस्पर भेद नहीं) सो जिस मन्त्र का देवता निखेर कर नहीं कहा, उसका देवता प्रजापति ही होना चाहिये ‡ अग्नि सब देवताओं का आश्रय है, इसलिये श्रेष्ठ है, और सूर्य सबका जीवन है, इसलिये श्रेष्ठ है, यह नैरुक्तों का आशय है § क्योंकि उसमें निरे गुण पद हैं,

हो सकती है'*(सांझे गुणों वाली होने से जिस किसी देवता की स्तुति में वह कही जा सकती है)। लोक में यह बहुधा व्यवहार है कि इस वस्तु के देवता देव हैं, इसके देवता अतिथि हैं, इसके देवता पितर(अर्थात् देवता शब्द बड़े खुले अर्थवाला है, सो जिस के विषय में लग सके वही उसका देवता हो सकता है, चाहे अन्यत्र कहीं उस को देवतात्वेन न भी स्तुति किया हो) याज्ञदैवत मन्त्र होता है। † और अदेवता भी देवता की न्याईं स्तुति किये जाते हैं,

---

गुणी कोई नहीं कहा, सो वाक्य के सामर्थ्य से तो कोई देवता नियत नहीं होता, किन्तु मन्त्र बोलते हुए की इच्छा के सामर्थ्य से ही देवता मानना होगा, वक्ता जिसकी महिमा में उस मन्त्र का प्रयोग कररहा है, वह उसके लिये उस मन्त्र का देवता है (अथवा यह अर्थ भी सम्भव है, कि जिस कामना से उस मन्त्र को बोल रहा है, उस कामना का जो देवता अधिपति है, उसी को उस में ध्यान करे-दुर्गाचार्य) * इससे अगला विचार कई अंशों में स्पष्ट नहीं है। जैसा अर्थ सम्भव प्रतीत हुआ है, वह लिख दिया है। जो अभिप्राय दुर्गाचार्य ने लिया है; वह यहां टिप्पनी में देते हैं प्रायः से यहां अभिप्राय अधिकार अर्थात् जिस देवता का प्रायः वहां कथन है अधिकार है। सो जिस देवता के अधिकार में वैसा मन्त्र पढ़ा है, वही उसका भी देवता है। अथवा 'प्रायो देवता' से लेकर 'पितृ देवत्यं' तक यह अभिप्राय है, कि वैसे मन्त्र के बहुत से देवता हैं। लोक में प्रायः शब्द बहुल के अर्थ में प्रयुक्त है। सो जैसे अलग २ देवताओं के लिये अलग कीहुई हवि वा बलि के विषय में यह कहा जाता है, कि यह देवताओं के लिये है, यह पितरों के लिये है, यह मनुष्यों के लिये है, अब जो शेष अन्न हो, वह सबका सांझा होता है, इसी प्रकार यहां भी अलग २ देवताओं की स्तुति कह कर जो शेष स्तुतियां हैं, वह सबकी सांझी हैं (दुर्गाचार्य) † मन्त्र यज्ञ का वा देवता का होता है अर्थात् उस का देवता यज्ञ अर्थात् विष्णु होता है, अथवा देवता अर्थात् अग्नि उसका देवता होता है देवता से अग्नि अभिप्रेत है, क्योंकि कहा है 'अग्निर्वै सर्वा देवताः।

जैसे घोड़े से लेकर ओषधियें पर्यन्त। और आठ जोड़े भी होते हैं (जैसा कि निघण्टु ५।३।२९—३८ में है। २९—उलूखल मुसलौ ३०—हविर्धाने ३१—द्यावा पृथिवी। ३२—विपाट् छुतुद्र्यौ ३३—आर्त्नी। ३४—शुनासीरौ।—३५—देवी जोष्ट्री ३६—देवी ऊर्जा हुती)। (शिष्य को) यह नहीं मान लेना चाहिये, कि (यह अश्वादि) देवताओं के आगन्तुकसे (बाहर से आए हुए) पदार्थ हैं, जैसा कि यह प्रत्यक्ष देखने में आता है (कि मनुष्यों के अश्व आदि आगन्तुक होते हैं, न कि उनका अपना स्वरूप, यहां ऐसा नहीं, किन्तु) देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा (देवता) अनेक प्रकार से स्तुत किया है (भिन्न देवता रूपों से भी और अश्वादि साधनों से भी)। एक आत्मा के दूसरे देवता प्रत्यंग होते हैं * किञ्च (अश्वादि) द्रव्यों की प्रकृति की महिमाओं से ऋषि स्तुति करते हैं, यह कहते हैं † और प्रकृति के सारे नाम होने से भी ‡ देवता एक दूसरे से जन्म वाले होते हैं, और एक दूसरे की प्रकृति होते हैं § कर्मों से इनके जन्म होते हैं, ॥ आत्मा से इनके जन्म होते हैं, आत्मा ही इनका रथ होता है, आत्मा ही अश्व, आत्मा ही शस्त्र, आत्मा ही बाण, आत्मा

---

* एक ही सद् ब्रह्म को इस रीति से वर्णन किया है, जैसे अनेक हैं, वस्तुतः एक समष्टि रूप हिरण्यगर्भ ही सब देवताओं का आत्मा है, सूर्यादि उसी के अंग और इतर आदि उसी के प्रत्यंग हैं † अश्वादि की जो प्रकृति है, महान् आत्मा, उसी की महिमा से अश्वादि की स्तुति करते हैं, क्योंकि प्रकृति ही विकृत रूप में स्थित होती है (दुर्गाचार्य) ‡ अश्वादि सारे नाम प्रकृति के हैं § जैसे दक्ष से अदिति हुई, और अदिति से दक्ष ॥ मनुष्यों के कर्मफल

ही सब कुछ होता है देवता का * ॥ ४ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वाद्यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गतेति। अप्येकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्वं च दृश्यते यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना चेतरस्य लोकस्य, तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ॥५॥

नैरुक्त (कहते हैं) कि तीन ही देवता हैं †। अग्नि पृथिवीस्थानी, वायु वा इन्द्र अन्तरिक्षस्थानी ‡ और सूर्य द्युस्थानी है। उन

---

की सिद्धि के लिये अग्नि वायु सूर्यादि देवता प्रकट होते हैं * देवताओं के रथ अश्वादि अलग नहीं, किन्तु उनका अपना स्वरूप रथ अश्वादि रूपक से वर्णन किया जाता है॥

† मन्त्रों में देवता का पता कैसे लगाना चाहिये, यह निर्णय करके, अब देवताओं की संख्या को कहते हैं।

‡ 'वायुर्वेन्द्रो वा' यहां यह अभिप्राय नहीं, कि अन्तरिक्ष का देवता चाहे वायु समझो, चाहे इन्द्र समझो। किन्तु यह अभिप्राय है, कि अन्तरिक्षस्थानी देवता मध्यम कहलाता है। उसके दो कर्मात्मा हैं (जिन के द्वारा मध्यम का कर्म प्रकाशित होता है) विद्युत् और वायु। उनमें से विद्युत् सदा प्रत्यक्ष नहीं रहता है, इसलिये वायु नाम से मध्यम का उपदेश करके मुख्य इन्द्र नाम से अलग उपदेश किया

(तीनों) के बड़ा ऐश्वर्य वाला होने से एक २ के भी बहुत से नाम होते हैं*। अथवा कर्म के अलग होने से (अलग नाम होते हैं) जैसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता ✝ यह एक होते हुए के होते हैं। अथवा अलग २ ही हो सकते हैं, क्योंकि (उन की) स्तुतियें अलग २ हैं, तथा नाम (अलग २ हैं)। जो यह कहा है कि 'कर्म के अलग होने से' (अलग नाम हैं, इस पर कहते हैं, कि) बहुत भी बांट कर (अलग २) काम कर सकते हैं। ऐसा होने पर (अलग २ होने पर) स्थान की एकता वा सम्भोग की एकता भी होती है। जैसे एक पृथिवी पर मनुष्य, पशु और (पृथिवी स्थानी) देवता (अग्नि आदि) हैं, यह स्थान की एकता

---

है 'इन्द्रो वा'। इस से दोनों बातें सिद्ध होजाती हैं, अग्नि वा सूर्य की न्याईं सदा काम में लगे होना मध्यम देवता का वायु नाम से दिखलाया है और मुख्य इन्द्र नाम से मुख्य सम्बन्ध भी नहीं हटाया है, इस लिये दो नामों से उपदेश किया है एक ही मध्यम देवता का, (दुर्गाचार्य)*तीनसे भिन्न और भी तो जातवेदा आदि देवता कहेहैं। फिर तीन ही कैसे ? इसका उत्तर यह दिया है, इन्हीं तीनों के यह भिन्न२ नाम हैं, पृथिवी स्थानी एक ही देवता अग्नि है,किन्तु उसकी महिमा बहुत बड़ी है, सो एक महिमा को लेकर उसका नाम जातवेदा है, दूसरी को लेकर उसी का नाम वैश्वानर है, इसी प्रकार इन्द्र की ही अलग २ महिमा को लेकर वरुण रुद्र आदि उसके नाम हैं, और सूर्य की ही अलग २ महिमा को लेकर अश्विनी उषा आदि उसके नाम हैं। अथवा जैसे अग्निष्टोम में सोलह ऋत्विज् होते हैं, जिनके अलग २ काम हैं,पर कुण्डपायिनामयनमें छःही ऋत्विज् होते हैं। वह छः ही ऋत्विज् होता पोता नेष्टा आदि के कामों को बारी२ से करते हैं, जब जो जिस काम को करता है, उस समय वह उसी नाम से बोला जाता है। यह चाल लोकमें भी है, एक ही पुरुष रोटी पकाताहुआ पाचक और खेत काटताहुआ लावक कहलाता है।

है। सम्भोग की एकता भी देखी जाती है, जैसे पृथिवी का मेघ, तथा वायु और सूर्य के साथ सम्भोग है (पृथिवी की ओषधियों को मेघ, वायु और सूर्य, वृष्टि, शीत और गर्मी देकर पकाते हैं) और अग्नि के साथ दूसरे लोक (द्यौ) का (सम्भोग है, जैसा कि पूर्व ८।२३ में कह आए हैं 'दिवं जिन्वन्त्यग्नयः')* ।ऐसा होने पर यह बात नर राष्ट्र की न्याईं है †॥८॥

---

* अब इससे अगला पक्ष याज्ञिकों का है,वह यह है,कि अग्नि जातवेदा वैश्वानर आदि सब अलग२देवता हैं,क्योंकि इनकी स्तुतियें अपनी २ अलग २ हैं,और अलग २ नामों से ही इनके लिये अलग २ हवियां हैं, और काम यद्यपि एक भी वारी २ से अनेक कर सकता है और भिन्न २ नाम पासकता है, पर अनेक भी तो अनेक काम बांट कर कर सकते हैं, इसलिये यह हमारे पक्ष में रोक नहीं। देवता स्वरूप से तो अलग २ ही हैं, किन्तु रहने का स्थान बहुतसों का एक ही है, पृथिवी स्थानी सब देवता पृथिवी में, मध्यस्थानी अन्तरिक्ष में, और द्युस्थानी सब द्यौ में रहते हैं, यह स्थान से एकता हम भी अग्नि के साथ जातवेदा आदि की, इन्द्र के साथ वायु आदि की और सूर्य के साथ उषा आदि की मानते हैं। और यतः सारे ही देवता परस्पर उपकार में सम्मिलित होते हैं, इसलिये सम्भोग की एकता सभी की मानते हैं।

† सम्भोग की एकता नरराष्ट्र की न्याईं देवराष्ट्र में भी है, देवता भी मनुष्यों की तरह सब एक दूसरे के साथी हैं। जैसे 'राष्ट्र कहने में सब का अभेद और 'नराः' कहने में भेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार पृथिवी स्थानी का अग्नि यह अभेद है, जातवेदस्, वैश्वानर यह भेद है,इसी प्रकारदूसरे दोनों स्थानों में भी जानो। तथा आत्मा यह अभेद है, लोक और लोकों में रहने वाले यह भेद है। इसी प्रकार सर्वत्र सामान्य धर्म और विशेष धर्म से अभेद और भेद जानो (दुर्गाचार्य)।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते॥ 'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू' । 'यत्सङ्गृभ्णा मघवन्काशिरित्ते'। अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः ॥'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि'।'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहेते'।अथापि पौरुषविधिकैःकर्मभिः॥'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'। 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्' ॥६॥

अब देवताओं के आकार का विचार (करते हैं *) पुरुषों की न्याई हैं (शरीरधारी और चेतन हैं) यह एकमत है। क्योंकि चेतना वालों की न्याई (उनकी) स्तुतियें हैं † । तथा (उनके) वचन (संभषाण) भी ( चेतना वालों की न्याई हैं ‡ ) । किञ्च पुरुषों के सदृश अंगों से स्तुत किये जाते हैं । जैसे 'हे इन्द्र तुझ महान् की बड़ी (वा दर्शनीय) दोनों भुजाएं हैं' (६।४७.८) (इमेचिदिन्द्र रोदसी अपारे=हे इन्द्र इन दोनों अपार द्यावा पृथिवी को भी) जिस लिये तू पकड़े हुए है, हे धनवाले यह तेरी एक मुट्ठी ही है' (३।३०।५) § । पुरुषों के सदृश द्रव्यों के

---

* देवता पुरुषों के से आकारवाले हैं, वा पृथिवी आदि की न्याई आकार वाले अचेतन हैं.अथवा दोनों प्रकारके हैं।

† जड़ पदार्थ न समझ सकते हैं,न कोई उन की स्तुति करता है, चेतन ही समझते हैं, उन्हीं की स्तुति की जाती है।

‡ देवताओं के परस्पर संभाषण भी मन्त्रों में हैं, सो पुरुषविध न होने से नहीं बन सकते ।

§ भुजा और मुट्ठी का सम्बन्ध देखने से इन्द्र का पुरुष होना सिद्ध है, इसी प्रकार सारे देवता जानो ॥

संयोग से भी (देवता पुरुषविध ही सिद्ध होते हैं)।जैसे'हे इन्द्र अपने दोनों हरियों (घोड़ों) के साथ आ (२।१८।४) 'कल्याण वाली पत्नी तथा और भी सुरमणीय तेरे घर में है(३।५३।६)(पुरुषविध न होने में स्त्री घर आदि नहीं बन सक्ते, इस लिये पुरुषविध ही हैं)। पुरुषों के कर्मों से भी (पुरुषविध सिद्ध होते हैं) 'तेरी ओर प्रस्थित हुए को (पुरोडाश और सोमरस को) हे इन्द्र खा और पी(१०।११६।७)'हे सब ओर से सुनने वाले कानों वाले (इन्द्र) हमारे बुलावे को सुन (५।१०।९) (यह खाना पीना सुनना नहीं बन सकता,जब तक देवता मनुष्यों के सदृश अंगोंवाले न हों, सो इन प्रमाणों से मन्त्रों के देवताओं का पुरुषविध होना सिद्ध है, यह एक पक्ष है) ॥६॥

अपुरुषविधाःस्युरित्यपरम्।अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्।यथाग्निर्वायुरादित्यःपृथिवी चन्द्रमा इति। यथो एतच्चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि । यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैःसंस्तूयन्तेइति।अचेतनेष्वप्येतद्भवति। अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिरितिग्रावस्तुतिः। यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरिति।एतदपिताद्दशमेव।'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्'इतिनदीस्तुतिः। यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरिति।एतदपि ताद्दशमेव ।'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत'इति ग्रावस्तुतिरेव । अपि वोभयविधाःस्युः।अपि वा पुरुषविधानामेवसतां

**कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्या-नसमयः ॥७॥**

अपुरुषविध हैं, यह दूसरा मत है (जैसा कि पूर्व २।१९ में कहा है, कि जल और ज्योति के मिलने से वर्षा का कर्म होता है, उस विषय में जो युद्ध के वर्णन हैं, वह रूपक मात्र हैं) किश्च-देवताओं का जो (रूप) दीखता है, वह अपुरुषविध है, जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा (यह प्रत्यक्षतः अपुरुषविध हैं, इनको पुरुषविध मानने में दृष्टहानि होती है, इस लिये इनको पुरुषविध माना जा ही नहीं सकता, जब यह पुरुषविध नहीं, तो इन्हीं की न्याईं इन्द्रादि परोक्ष देवता भी अपुरुषविध ही हैं)। जो यह कहा है, कि चेतना वालों की न्याईं स्तुतियें होती हैं (इस लिये पुरुषविध हैं, इस का उत्तर यह है) कि अचेतन (जड़ वा बेसमझ) भी इस प्रकार स्तुति किये जाते हैं, जैसे अक्ष से लेकर ओषधियों पर्यन्त। और जो यह कहा है, कि पुरुषों के से अंगो से स्तुति किये जाते हैं। यह भी अचेतनों में होता है '(यह सोमग्राव) अपने हरे (सोमरस से भीगे) मुखों से (देवताओं को यज्ञ में आने के लिये) पुकारते हैं (१०।९४।२) (पत्थरों के मुख नहीं होते, सो जैसे यहां औपचारिक वर्णन है, वैसे इन्द्रादि में है)। और जो यह कहा है 'पुरुष के सदृश द्रव्यों के सम्ब-न्धों से' यह भी वैसाही है (औपचारिक ही है) 'सिन्धु ने (जगत् के लिये) सुख का हेतु घोड़े से युक्त रथ जोड़ा है (१०।७५।९) (इस स्तुति में यथा ऽभिहित अर्थ बन सकना असम्भव है, क्योंकि बहती हुई नदी की रथ में स्थिति नहीं होती है। जैसे असम्भव होने से यहां रूपककल्पना है, वैसे अन्यत्र भी रूपक

से स्तुतियें जाननी)। और जो यह कहा है, कि 'पुरुष के सदृश कर्मों से' यह भी वैसा ही है। जैसे 'होता (अग्नि) से भी पहले ही खानेयोग्य हविको खाते हो' (१०।९४।२) यह ग्रावस्तुति ही है (पत्थरों में मुख्य खाना नहीं बनसकता, इसलिये यह भी रूपक ही है)। अथवा दोनों प्रकार के हो सकते हैं * अथवा पुरुषविध ही हुओं के यह (प्रत्यक्ष दृश्य अग्नि आदि) कर्मात्मा (कर्मक्षेत्र) हैं, जैसे यज्ञ यजमान का (कर्मात्मा) है। यह ऐतिहासिकों का सिद्धान्त है †॥७॥ इति द्वितीयःपादः॥

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः। अथैतान्यग्निभक्तीन्ययं लोकः प्रातः सवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम ये च देवगणाःसमाम्नाताः प्रथमे स्थानेऽग्नायी पृथिवीळेति स्त्रियः। अथास्य कर्म वहनं च हविषामावाहनं च देवतानां यच्च किं चिद् दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैवतत्। अथास्य संस्तविका देवाःइन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतव आग्नावैष्णवञ्च हविर्न त्वृक्संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथाप्याग्नापौष्णं हविर्न तु संस्तवः। तत्रैतां विभक्तस्तुतिमृचमुदाहरन्ति।

तीन ही देवता हैं यह पूर्व कहा है, उन (तीनों) के भाग (किस

---

* पुरुष विध भी, और अपुरुषविध भी, क्योंकि दोनों प्रकार के हेतु हैं।

† यह चार मतभेद दिखलाए, (१) पुरुषविध (२) अपुरुषविध (३) उभयविध (४) पुरुषविधों के साथ उनके कर्मक्षेत्र।

देवता के विशेष में कौन २ लोक छन्द आदि हैं) और साहचर्य (किस २ देवता का वह सहचर है) की व्याख्या करेंगे। अब यह (वक्ष्यमाण पदार्थ) अग्नि भागी हैं-(लोकों में से)यह लोक (पृथिवीलोक) (सवनों में से) प्रातःसवन (ऋतुओं में से) वसन्त (छन्दों में से) गायत्री (स्तोमों में से)त्रिवृत् स्तोम, (सामों में से) रथन्तर साम। और जो देवगण पहले स्थान (पृथिवी) में कहे गए हैं * और अग्नायी, पृथिवी, इला यह स्त्रियें (यह सब अग्नि-भागी हैं)। अब इनका कर्म (कहते हैं) हवियों का लेजाना, देवताओं का बुलाना, और जो कुछ दृष्टि की अनुकूलताविषयक कर्म है (प्रकाश देना आदि) वह अग्नि का ही कर्म है। अब इस के संस्तविक देवता (साथ स्तुतिवाले देवता, जिन के साथ अग्नि की स्तुति की जाती है)कहते हैं इन्द्र, सोम,वरुण,पर्जन्य,ऋतुएं + आग्नावैष्णव (अग्नि और विष्णु जिस के देवता हैं,वह) हवि है, किन्तु ऋग्वेद में‡ (इनकी) संस्तव वाली ऋचा कोई नहीं है। और आग्नापौष्ण (जिस के देवता अग्नि और पूषा दोनों हैं) हवि है, संस्तव नहीं। उसमें यह अलग स्तुतिवाली ऋचा उदाहरण देते हैं ॥८॥

---

*पांचवें अध्याय के१-३खण्डों के देवता,निरुक्त में जिनकाव्याख्यान ७:१४से९अ० की समाप्ति तक है। तिस्रो देवीः भी उन्हीं में हैं यहां अग्नायी,पृथिवी,इला,शब्दोंसे उसीकीव्याख्या करदीहै। +अग्निकेसाथ उक्त देवताओं का संस्तव क्रमशःइन ऋचाओं में देखो'अग्ने इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणेसुतावतोयज्ञ मिहोपयातम्(३।२५।४)अग्नीषोमाविमंसुमे शृणुता वृषणा हवम्: (१।९३।१) त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽवयासि सीष्ठा: (४.१४) अग्नीपर्जन्यावयतं धियंमे (६।५२।१६) अग्ने देवां इहावह सादयायोनिषुत्रिषु। परि भूष पिबऋतुना,१।१५।१)

‡दशतयीषु=दसोंमण्डलों वाली संहिताओं में, बहुवचन

पूषा त्वेतश्चावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। सत्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा इत्येष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिताऽऽदित्यः। स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्य इति सांशयिकस्तृतीयःपादः। पूषा पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकमग्निरुपरिष्टात्तस्य प्रकीर्तनेत्यपरम्। अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्॥९॥

(सब कुछ) जानने वाला, न नष्ट हुए पशुओं वाला, भुवन का रक्षक पूषा (हे मृत) तुझे यहां से(पृथिवी लोक से ) चलाए, वह तुझे इन पितरों के लिये सौंपे, और अग्नि अच्छे ज्ञान वान् (वा धनवान्) देवताओं के लिये सौंपे (१०।१७।३) पूषा तुझे यहां से चलाए,जानने वाला, न नष्ट हुए पशुओं वाला, भुवन का रक्षक। यह सब भूतों का रक्षक है सूर्य। 'वह तुझे इन पितरों को सौंपे' यह तीसरा पाद संशयवाला है, एक तो यह मत है, कि पूषा पूर्व आचुका है, उसी का यह फिर कथन है, (अर्थात 'वह तुझे'।यहां'वह' से पूषा निर्दिष्ट है)। दूसरा मत यह है,कि अग्नि आगे कहना है, उसी का कथन है (अर्थात वह=प्रसिद्ध, अग्नि तुझे पितरों और देवताओं को सौंपे) 'अग्नि अच्छे ज्ञान (वा धन-

---

शाखाओं के अभिप्राय से हैं। ऋग्वेद की सारी शाखाओं में नहीं हैं।

§ यद्यपि एकही मन्त्र में दोनों आए हैं, पर वर्णन अलग २ है दोनों की सांझी कोई बात नहीं बतलाई।

वान्) देवताओं के लिये'। सुविदत्र=धन होता है, एक उपसर्ग वाले विन्दति से (अर्थात् सु+विद्, सु०प० से) वा दो उपसर्ग वाले ददाति से है (सु+वि+दा जु०उ०से) ॥९॥

**अथैतानीन्द्रभक्तीन्यन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्पञ्चदशस्तोमो बृहत्साम ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्। अथास्य संस्तविका देवा अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर्ब्रह्मणस्पतिःपर्वतः कुत्सो विष्णुर्वायुः। अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमः,अग्निना च पूषा,वातेन च पर्जन्यः॥१०॥**

अब यह इन्द्र के भाग हैं। अन्तरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म, त्रिष्टुप्, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, और मध्यम स्थान में जो देवगण और (देव-) स्त्रियें पढ़ी गई हैं (निघ ५। ४-५ और निरु० १०-१२ में)। अब इसका कर्म (कहते हैं) रस (ओस वा वृष्टि) देना, वृत्रका मारना, जो कोई बल का कर्म है, इन्द्र का ही कर्म है। अब इस के संस्तविक देवता यह हैं—अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु *। (और इन में भी परस्पर) मित्र वरुण के साथ स्तुत

* इन के संस्तव के क्रमशः उदाहरण—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः परिवाजेषु भूषथः' (३।१२।९) इन्द्रासोमा समधशंसम (देखो पूर्व ६।१२) इन्द्रावरुणा युव मध्वराय नो (देखो पूर्व ५।२) इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये, हुवेम वाजसातये (६।५७।१) इदं वामास्ये

किया जाता है, सोम पूषा और इन्द्र के साथ, पूषा अग्नि के साथ और पर्जन्य वात के साथ * ॥१०॥

अथैतान्यादित्यभक्तीन्यसौलोकस्तृतीयसवनंवर्षा जगतीसप्तदशस्तोमोत्रैरूपंसामयेचदेवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थानेयाश्चस्त्रियः।अथास्य कर्म-रसादानं रश्मिभिश्च रसाधारणं यच्च किं चित्प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तत्।चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः॥एतेष्वेवस्थानव्यूहेष्वृतुछन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत। शरदनुष्टुबेकविंशस्तोमो वैराजं सामेति पृथि-

हविः प्रिय मिन्द्रा बृहस्पती (४।४९।१) अच्छेन्द्रा ब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् (८।२४।१२) 'इन्द्रा पर्वता बृहता रथे न वामी रिप आवहतं सुवीराः (३।५३।१) इन्द्रा कुत्सा वहमाना रथेना वा मत्या अपि कर्णे वहन्तु (५।३१।९) इन्द्रा विष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरा नवतिं च श्नथिष्टम् (७।१९।५) इन्द्र वायू इमे सुता उप-प्रयोभि रागतम् (१।२।४)।

* मध्यम स्थानी इन्द्र मुख्य, है, उसका संस्तव पहले कहा है। इसके पीछे मध्यम स्थानी दूसरे देवताओं का भी संस्तव दिखलाया है। इन में से एक मध्यम स्थानी अवश्य होना चाहिये, दूसरा चाहे किसी स्थान का हो जैसे पूषा द्युस्थानी है। क्रमशः उदाहरण–आनो मित्रा वरुणा घृतैर्गव्यूति मुक्षतम्(३।६२।१६) यहां मित्र वरुण दोनों माध्यम हैं। 'सोमापूषणा जनना रयीणाम्' (२।४०।१) यहां सोम माध्यम है, पूषा औत्तम (द्युस्थानी) है। 'सोमारुद्रा युवं मे तान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजा नियत्तम् (६।७४।३) यहां दोनों माध्यम हैं। पूषा अग्नी का उदाहरण नहीं मिला 'धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वाता पर्जन्या महिषस्य तन्यतोः (१०।६६।१०)

व्यायतनानि । हेमन्तः पङ्क्तिस्त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि । शिशिरोऽतिछन्दास्त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि ॥११॥

अब सूर्यके भाग (कहते हैं)—यह लोक (द्यौ लोक) तृतीय सवन, वर्षा (ऋतु) जगती (छन्द) सप्तदशस्तोम, वैरूप साम, और जो देवगण और जो देवस्त्रियें उत्तम स्थान में (कही हैं) (निघ ५।६ में और निरु० १२ में) । अब इस का कर्म (कहते हैं) रस को खींचना, किरणों से उस रस को (ऊपर) थामना, जो कुछ वेग से चलाना है, * वह सूर्य काही कर्म है । चन्द्रमा, वायु और संवत्सर के साथ संस्तव होता है † ।

यह जो (तीनों) स्थानों के विस्तार (कहे) हैं, इन्हीं में (पूर्व कहे) ऋतु, छन्द, स्तोम साम, के भाग शेष ‡ की कल्पना करे। शरद् (ऋतु) अनुष्टुप् (छन्द) एकविंश स्तोम, और वैराज यह पृथिवी स्थानी हैं । हेमन्त (ऋतु) पङ्क्ति (छन्द), त्रिणव स्तोम, शाक्वर साम, यह अन्तरिक्षस्थानी हैं, शिशिर (ऋतु) अतिछन्दस् (छन्द) त्रयस्त्रिंश स्तोम और रैवत साम यह द्यौ लोक के भाग हैं ॥११॥

---

* प्रवह्लितं, प्र + वह से है ( दुर्गाचार्य ने इस का अर्थ नहीं किया ) † क्रमशः उदाहरण—पूर्वापरं चरतो माययैतौ ( सूर्याचन्द्रमसौ ) शिशू क्रीळन्तौ परियातो अध्वरम् (१०।८५।१८) तत्र जागृतौ अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ (यजु० ३४।४५) यहां देवौ=वायु दिव्यौ देखो आगे १०।३७) पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षळर आहुरर्पितम् (१।१६४।१२)

‡ देवतोओं के भाग दिखलाने में लोक और सवनों की बांट

तो ठीक हो जाती है,क्योंकि तीन ही देवता हैं, और तीन ही लोक हैं तीन ही सवन हैं। पर ऋतु, छन्द, स्तोम, साम अधिक हैं, उनमें से एक २ का सम्बन्ध तो पूर्व दिखलादिया है,जैसे ऋतुओं में से वसन्त का अग्निसे, ग्रीष्मका इन्द्र से और वर्षा का सूर्य से। यह तीन ऋतु तीन देवताओं के क्रमशः भक्ति वा भाग हैं, शेष तीन ऋतु इन भागों के भागशेष हैं। जैसे शरद् वसन्त का, हेमन्त ग्रीष्म का, शिशिर वर्षोंका। सो इन का सम्बन्ध भी क्रमशः अग्नि इन्द्र और सूर्य से है। इसी प्रकार छन्द, स्तोम और साम का भी जानो।

### तीन देवताओं के भाग, भागशेष, और कर्म

इनमें * इस चिन्हवाले सब भागशेष हैं—

| | अग्निके | इन्द्रके | सूर्यके |
|---|---|---|---|
| लोक | पृथिवी | अन्तरिक्ष | द्यौ |
| सवन | प्रातः | माध्यन्दिन | तृतीय |
| ऋतु… | वसन्त | ग्रीष्म | वर्षा |
| | शरद् * | हेमन्त * | शिशिर * |
| छन्द… | गायत्री | त्रिष्टुप् | जगती |
| | अनुष्टुप्* | पङ्क्ति* | अतिछन्दस् * |
| स्तोम | त्रिवृत् | पञ्चदश | सप्तदश |
| | एकविंश* | त्रिणव* | त्रयस्त्रिंश * |
| साम | रथन्तर | बृहत् | वैरूप |
| | वैराज * | शाक्वर * | रैवत * |
| देवगण | निघ ५।१-३ | ५।४-५ | ५।६ |
| देवस्त्रियें | ,, | ,, | ,, |
| कर्म… | हविलेजाना | रसदेना | रस खींचना |
| | देवताओं का बुलाना | वृत्रका वध | रस थामना |
| | दृष्टि की सहायता | बलका काम | वेगसे चलाना |

मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्स्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः साम सम्मितमृचा स्यतेर्वर्चा समं मेन इति नैदानाः।गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणस्त्रिगमना वा विपरीता।गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्॥ उष्णिगुत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण उष्णीषिणी वेत्यौपमिकमुष्णीषं स्नायतेः । ककुप्-

---

तीनदेवताओं के संस्तविक देवता

अग्नि के { रुद्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु
आग्नावैष्णव, और आग्नापौष्ण हवि है संस्तव नहीं

इन्द्र के { अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु । मित्र का वरुण से; सोम का पूषा और रुद्र से, पूषा का अग्नि से, पर्जन्यका वायु से

सूर्यके संस्तविक–चन्द्रमा , वायु, संवत्सर ।

इन विशेष सम्बन्धों में प्रमाण इसप्रकार देखो–लोक सम्बन्ध में, ऐत०ब्रा०५।५।७ सवनसम्बन्ध में ऐ०३।२।२ ऋतुसम्बन्ध में ऐ० १।४।६ यजु २१।२३–२८ छन्द स्तोम साम सम्बन्ध में, ऐ०४।५।१; ५।१।४;४।५।३;५।८।२;२।१।१;५।२।७। छन्द सात हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती । इन के अक्षर क्रमशः २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ होते हैं । सात इनके अतिछन्द, और सात विछन्द भी है । अधिक अक्षर वाले अतिछन्द, न्यून अक्षर वाले विछन्द, ऊपर जो सम्बन्ध दिखलाया है, उस में पांच छन्द आए हैं, शेष दो छन्दों का सम्बन्ध नहीं बतलाया । अतिछन्दों का सम्बन्ध सूर्य से कहा है, पर विछन्दों का सम्बन्ध कुछ नहीं दिखलाया । यहां एक विंशस्तोम का सम्बन्ध अग्नि के साथ कहा है, पर, ऐत० ब्रा०३।४।४ और ८।४।३ में विश्वेदेवों के साथ कहा है, विश्वेदेव द्युस्थानी है, तब एकविंशस्तोम कैसे अग्निशेष हो सकता है, यह चिन्तनीय है ।

ककुभिनी भवति ककुप्चकुब्जश्च कुब्जतेर्वोब्जतेर्वा। अनुष्टुबनुष्टोभनाद् गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्॥बृहती परिबर्हणात्। पंक्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप्स्तोभत्युत्तरपदा,का तु त्रिता स्यात्तीर्णतमं छन्दस्त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा। यत्त्रिरस्तोभतत्त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते॥१२॥

मन्त्र मनन से (मन्त्रों से. अध्यात्म अधिदैव अधियज्ञ विषय समझे जाते हैं—मन्, दि०आ० (वा) स्वा० आ)। छन्दस्, ढांपने से (मृत्यु से डरते हुए देवताओं ने छन्दों से अपने आप को ढांपा, छन्द्, चु० उ०) यजुस्, यज् (भ्वा० उ०) से (उस से यजन किया जाता है) साम ऋचा के साथ बराबर मापा हुआ होता है (ऋचाएं ही गानविशेष में साम कहलाती हैं) अथवा अस्यति से (यहां, 'अलुप्त मानकर,व्युत्पत्ति—ऋचा में फेंका हुआ होता है। वा लुप्त न मानकर, स्यति षो अन्तकर्मणि, दि० प० से है। अन्त्य कर्म होता है—संहिता, पद, और साम)। (प्रजापतिने इसको) ऋचा के बराबर माना, यह नैदान(कहतेहैं)गायत्री स्तुति अर्थवाले गै (भ्वा० प०)से है(इस से देवताओं की स्तुति की जाती है) अथवा तीन पाद वाली है उलट होकर (त्रि+गाय से गायत्री)। स्तुति करते हुए (ब्रह्मा) के मुख से निकली है (गै, भ्वा० प० से) यह ब्राह्मण है। उष्णिक् (गयत्री से अधिक चार अक्षरों से) लपेटी हुई होती है (उत्+स्ना, अ० प० से) अथवा प्यार करने अर्थवाले स्निह् (दि०प०) से है(देवताओं का प्यारा

छन्द है)। अथवा पगड़ी वाली की न्याईं है, यह उपमा कृत (नाम) है। (गायत्री से अधिक चार अक्षर इसके सिर पर पगड़ी की न्याईं है) उष्णीष, शुद्धि अर्थवाले स्नै (भ्वा० प०) से है (शुद्ध= श्वेत होती है)। ककुप्= और कुब्ज, कुब्ज (कौटिल्ये, भ्वा० प०) से वा उब्ज (न्युब्जभावे, तु० प०) से है। अनुष्टुप् थामने से। तीन पाद वाली हुई गायत्री को ही चौथे पाद से यह छन्द थामता है, यह ब्राह्मण है (तीन पाद वाला थमा नहीं रह सकता, सो अनुष्टुप् ने चौथे पाद से गायत्री को थामा है। आठ२ अक्षर के गायत्री के तीन पाद होते हैं)। बृहती बढने से, (बृह वृद्धौ, भ्वा० तु० प० से)। पंक्ति पांच पादों वाली (४० अक्षर की, आठ अक्षर के पांच पाद। पंचाति से पंक्ति हुआ है) त्रिष्टुप् में उत्तर स्तुभ (भ्वा० प०) है किन्तु (पूर्वले त्रि का) त्रित्व क्या होना चाहिये (उत्तर) बहुत आगे निकला हुआ छन्द है (गायत्री आदि से) (आगे निकला हुआ और थामने वाला) अथवा त्रिवृत वज्र है, उस की स्तुति करने वाला (त्रिष्टुप् इन्द्र देवता का छन्द है)। जिस लिये (इस से) तीन बार स्तुति करता हुआ, यह त्रिष्टुप् का त्रिष्टुप्त्व है, यह जाना जाता है ॥१२॥

जगती गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम् । विराड्विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा विराधनादूनाक्षरा विप्रापणादधिकाक्षरा। पिपीलिकामध्येत्यौपमिकं पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ॥

जगती सब से आगे गया हुआ छन्द है (इस से आगे कोई

छन्द नहीं, अति छन्द ही हैं) अथवा जल में चलने वाले (तरंग) की सी गति वाला है (इस का प्रस्तार गुरुलघु के लंबे भेदों से लहराता हुआ चलता है)। क्षीणहुए * (ब्रह्मा) ने इसे रचा था, यह ब्राह्मण है (जलगल्+ती से है)। विराट् चमकने से (वि+राज् से) वा घटने से (वि+राध् से) वा बढ़ने से (वि+माप् से)। विराज से पूरे अक्षरों वाली, विराध् से घट अक्षरों वाली और विमाप् से अधिकअक्षरोंवाली (अभिमेत है)। पिपीलिकामध्या यह उपमा कृत(नाम)है(चीटी की कमर की न्याईं मध्य में थोड़े अक्षरों वाले पादों वाली)। पिपीलिका गति अर्थ वाले पेल(भ्वा०प०)से है

इतीमादेवताअनुक्रान्ताः सूक्तभाजोहविर्भाजऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः काश्चिन्निपातभाजः।अथोताभिधानैः संयुज्यहविश्चोदयतीन्द्रायवृत्रघ्ने,इन्द्रायवृत्रतुरे,इइन्द्रायाँहोमुच इति।तान्यप्येके समामनन्ति,भूयांसि तु समाम्नानाद्,यत्तुसंविज्ञानभूतंस्यात्प्राधान्यस्तुतितत्समामने अथोत कर्मभिऋषिर्देवताःस्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति भूयांसि तु समाम्नाद् व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि स्नातायानुलेपनं पिपासतेपानीयमिति ॥१३॥

इस प्रकार यह देवता सामान्यतया (प्रथम, मध्यम, उत्तम

---

* यह अन्तिम छन्द है, मानो ब्रह्मा की छन्द निधि यहां समाप्त होती है।

स्थानी) अनुक्रम से कहे हैं--सूक्त भागी, हविर्भागी, और कई ऋचा भागी, और कई निपातभागी (नैघण्टुक) हैं *। अब, (देवता को) विशेषणों से संयुक्त कर के भी हवि का विधान है, जैसे, वृत्र के मारने वाले इन्द्र के लिये, दुःख से छुड़ाने वाले इन्द्र के लिये। इन (नामों–वृत्रघ्न, अंहोमुच् इत्यादि) को भी कई नैरुक्त (यहां दैवत प्रकरण में पढ़ते हैं), पर बहुत हैं पढ़ने से भी (अर्थात् वह भी सारे नहीं पढ़सके, क्योंकि विशेषण बहुत से हैं) इस लिये जो रूढ़ (अग्नि आदि) नाम है प्रधान स्तुति वाला, उस को मैंने पढ़ा है, (विशेषणों को नहीं) और कर्मों से भी ऋषि देवताओं की स्तुति करता है, वृत्रहा (वृत्र का मारने वाला) पुरन्दरः (किलों का तोड़ने वाला) इन को भी कई पढ़ते हैं, किन्तु पढ़ने से अधिक हैं यह, उस (असली) नाम का व्यञ्जक (विशेषण मात्र) होता है (कि वह ऐसा है) जैसे भूखे को भात दे, न्हाये हुए को अनुलेपन, प्यासे को पानी (भूखा, प्यासा आदि नाम नहीं, अवस्था के व्यञ्जक मात्र हैं, इस लिये ऐसे पद भी हमने यहां नहीं पढ़े हैं) ॥१३॥

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो

* कई देवता सूक्तभागी (सूक्त में स्तुत किये हुए) हैं, पर हवि उन के लिये नहीं कही, कई हविर्भागी हैं, सूक्त उनकी स्तुति में नहीं कहा गया, कई उभयभागी हैं, कई देवता एक २ ऋचा के भागी हैं, जैसे ऋ १०।११ इस सूक्त की ग्यारह ऋचाओं के भिन्न २ देवता हैं। और कई अन्यदेवता वाले मन्त्र में नैघण्टुक पद आए हैं॥

भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयाति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्तादू दग्धाद्वा नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः। तस्यैषा भवति ॥१४॥

अब आगे क्रमसे (सारे देवता कहें गे) अग्नि पृथिवी स्थानी है, उस की पहले व्याख्या करेंगे। अग्नि, किस से? मुखिया होता है* (अग्रे नीयते इति अग्रणीः सन् अग्नि)। अथवा यज्ञों में सब से आगे (यह) प्रज्वलित किया जाता है, (अग्र+नीः = अग्नि) अथवा जिस पर झुकता है, उसको अपना अंग बना लेता है † (अंग+नी = अग्नि)। स्थूलाष्ठीव का पुत्र (मानता है) कि अक्नोपनः अर्थात् गीला नहीं करता है, अर्थात् रूखा (खुश्क) करता है (यह इसका स्वभाव है) (अक्नोपनः = अग्नि)। शाकपूणि मानता है, कि (यह अग्निशब्द) तीन आख्यातों से उत्पन्न होता है। अर्थात् गति से, प्रकट करने से, वा दग्ध करने से, और ले जाने से (गति वाला है, रूपों को प्रकट करता है, वा काष्ठादि को दग्ध करता है और हवियों को लेजाता है)। वह (अग्निशब्द) इण्गतौ (दि० प०) से 'अ' अक्षर लेता है, अञ्ज् (रु०उ०) से अथवा दह (भ्वा० प०) से ग, (लेता है) परे नी है (सोअ+ग+नीः = अग्नि)। उसकी (अग्नि की) यह ऋचा) है ॥१४॥

---

* सब कामों में अपने आपको आगे प्राप्त कराता है (दुर्गाचार्य)

† जिस काष्ठ वा तृण पर झुकता है, उस को अपना शरीर बना लेता है (अथवा जिस लौकिक वैदिक कर्म में झुकता है, उस को अपना अंग बनाता है और आप प्रधान होता है–दुर्गाचार्य)।

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥ अग्निमीळेऽग्निं याचामीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। तस्यैषा परा भवति ॥१५॥

मैं अग्नि देव से याचना करता हूं, जो यज्ञ का पुरोहित और होता (देवताओं का बुलाने वाला) ऋत्विज् है, और सब से बढ़कर रत्नों का दाता है (१।१।१) 'अग्निमीळे = अग्नि की याचना करता हूं। ईड (अ० आ०) याचना अर्थ वाला वा पूजा अर्थ वाला होता है। पुरोहित व्याख्या किया गया है (पुर एनं दधति २।१२) और यज्ञ भी (३।१९)। देव, दान से है (वह ऐश्वर्य देता है) वा दीपन से है (तेजोमय होने से वह दूसरों को प्रकाशित करता है) अथवा द्योतन से (स्वयं चमकता है) अथवा द्युस्थानी होता है *। जो देव है, वही देवता है (स्वार्थ में ता है) होतारं = बुलाने वाले को, हु (जु० उ०) का है, यह और्णवाभ मानता है (होता = होम करने वाला) रत्नधातमं = रमणीय धनों का सब से बढ़कर दाता। उसकी यह दूसरी ऋचा है॥१५॥

---

* द्यौ सब देवताओं का सांझा स्थान है पृथिवी और अन्तरिक्ष अपने २ कर्माधिकार के स्थान हैं (दुर्गाचार्य)।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीळितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहात्विति । स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्यते । ततो नु मध्यमः ॥१६॥

अग्नि जो पुराणे ऋषियों से पूजाई है, और नयों से भी पूजाई है,वह देवताओं को यहां (इस कर्म में ) लावे (१।१।२) अग्नि जो पुराने ऋषिओं से पूजाई है, और हमजो नए हैं, उनसे भी (पूजाई है,) वह देवताओं को यहां लावे । (अग्नि शब्द की मुख्य प्रवृत्ति दिखलाकर गौणी प्रवृत्ति विद्युत और सूर्य के अर्थ में दिखलाने के लिये विचार आरम्भ करते हैं )वह (शिष्य) न समझे, कि यही (पृथिवी स्थानी ही) अग्नि है । किन्तु यह ऊपर के ज्योति (विद्युत और सूर्य ) भी आग्नि कहे जाते हैं । तब मध्यम है (अगली ऋचा में मध्यम आग्नि=विद्युत,अग्नि से अभिप्रेत है)॥१६

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् । घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ अभिनमन्त समनस इव योषाः । समनं समननाद्वा सम्माननाद्वा।कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम् ।घृतस्यधारा उदकस्य धाराः। समिधो नसन्त नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा । ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ।

हर्यतिः प्रेप्साकर्मा विहर्यतीति । समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदित्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते । समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेतीति च ब्राह्मणमथापि ब्राह्मणं भवत्यग्निः सर्वा देवता इति । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥१७॥

जल की धारें * समान मनवाली कल्याणयुक्त (रूपयौवन सम्पन्न) हंसती हुई स्त्रियों की न्याई अग्नि (विद्युत्) को प्राप्त करती हैं, वही समिधा बन कर (उसको) प्राप्त होती हैं, †जातवेदा (विद्युदग्नि) उन(समिधों) को प्यार करता हुआ कामना करता है (४।५८।८) झुकती हैं, समान मन वाली स्त्रियों की न्याई। समन=बराबर बल से (सम्+अन्, अ०आ०) अथवा बराबर मान से (सम्+मन्, दि०आ० से ) कल्याणवाली, हंसती हुई (स्त्रियों की न्याई)अग्नि को। यह उपमा से वर्णन है। घृतस्य धाराः =जलकी धारें। वह समिधा बनकर प्राप्त होती हैं (वा झुकती हैं) नम् (भ्वा०प०) प्राप्ति अर्थवाला वा झुकने अर्थ वाला है। उनको प्यार करता हुआ चाहता है जातवेदा। हर्यति, चाहने अर्थवाला है। 'समुद्र से मधुवाला तरंग उठा' (४।५८।१) यहां सूर्य कहा गया है, ऐसा मानते हैं ‡ किञ्च 'समुद्रसे जलों से यह उदय हो

* जैसे यज्ञ में घी की धारें पार्थिव अग्नि को न्हलाती हैं, इसी प्रकार विद्युत अग्नि को जल रूपी घृत की धारें न्हलाती हैं, इसी गौणी वृत्ति से 'घृत' शब्द जल के नामों में पढ़ा है, † विद्युत् जलों से प्रकट होती, है, सो जल ही विद्युत् की समिधास्थानी हैं, नैयायिक भी विद्युत् को अबिन्धन (जलरूपी इन्धनवाली) ज्योति कहते हैं ‡ अग्नि से सूर्य इस ऋचा में कहागया है (प्रश्न) इस ऋचा में तो अग्नि शब्द है ही नहीं (उत्तर) इस सूक्त में कई शाखा वालों के अग्निका लिङ्ग है 'इमंस्तनं' यहां 'अपां प्रपीन मग्ने' है(दुर्गाचार्य)

ता है' यह ब्राह्मण भी है। किञ्च यह भी ब्राह्मण (कहता) है, कि 'अग्नि सारे देवता हैं' अगली ऋचा इस(बात) के पूरा खोलने के लिये है ॥१७॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मनं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजो गरुत्मान्गरणवान्गुर्वात्मा महात्मेति वा । यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥१८॥

अग्नि को इन्द्र मित्र वरुण कहते हैं। और वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् है, एक सत् ( सर्वत्र सत्ता वाले ) को विद्वान अनेक प्रकार से कहते हैं, अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं (१। १६४।४६) इसी अग्नि महान् आत्मा एक आत्मा को अनेक प्रकार से बुद्धिमान् कहते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य-गरुत्मान्। दिव्य = द्यौ में प्रकट होने वाला, गरुत्मान् = स्तुति वाला, वा बड़ा आत्मा, महान्आत्मा। पर जो अग्नि सूक्तभागी है (आग्नेय सूक्तों में) और जिस के लिये हवि दी जाती है (अग्नि के नाम पर), वह यह (पृथिवी स्थानी) ही अग्नि है। यह ऊपर के ज्योति (विद्युत और सूर्य) इस नाम से अप्रधानता (औपचारिक अर्थ) को ही सेवन करते हैं ॥१८॥

जातवेदाःकस्माज्जातानि वेद जातानि वैनंविदु-र्जातेजाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति ब्राह्मणं तस्मात्सर्वानृतून्पशवोऽग्निमभिसर्पन्तीति च । तस्यैषा भवति॥

'जातवेदाः' किस से ? (सब) उत्पन्न हुओं को जानता है, अथवा उत्पन्न हुए (सब जीवधारी) इस को जानते हैं (विद् ज्ञाने, अ० प० से) अथवा जातवित्तः=धन जिस से उत्पन्न हुआ है (जात+वित्त से जातवेदस्) । अथवा जातविद्यः=(स्वभावतः) प्रकट हुए ज्ञान वाला । जिस लिये प्रकट होते ही पशुओं को पाया, यह जातवेदाः का जातवेदस्त्व है (विद्लृलाभे से) यह ब्राह्मण है । इसलिये सारी ऋतुओं में पशु अग्नि की ओर जाते हैं । यह भी (ब्राह्मण है) । उस (जातवेदस्) का (उदाहरण) यह ऋचा है ॥१९॥

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् । इदं नो बर्हिरासदे ॥ प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानमपि वोपमार्थे स्यादश्वमिव जातवेदसमिति । इदं नो बर्हिरासीदत्विति।तदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किं चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते । स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतषी जातवेदसी उच्येते । ततो नु

मध्यमः । अभिप्रवन्त समनेव योषा इति तत्पुरस्ताद् व्याख्यातम् । अथासावादित्य उदुत्यं जातवेदसमिति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्जातवेदा निपातमेवैते उत्तरे ज्योतषी एतेन नामधेयेन भजेते* ॥२०॥

(हे स्तोताओ) तुम (अपने कर्मों से सारे जगत् को) व्यापने वाले, बल वाले, जातवेदा को हमारी (यज्ञ में बिछाई हुई) इस कुशा पर बैठने के लिये प्रेरो (१०।१८८।१) प्रेरो जातवेदा को (अश्वं) कर्मों से व्यापने वाले को, अथवा (अश्वं) उपमा अर्थ में है, घोड़े की न्याईं जातवेदा को। वह हमारी इस कुशापर बैठे। यह एक ही जातवेदा का गायत्र तृच (गायत्री छन्द में, तीन ऋचाओं का सूक्त) ऋग्वेद में है (और कोई नहीं, पर यज्ञ में बहुत से जातवेदस मन्त्रों की आवश्यकता है) किन्तु जो कोई (गायत्री छन्द में) आग्नेय सूक्त है, वह जातवेदसों के स्थान प्रयोग किया जाता है (इस से सिद्ध है, कि जातवेदस् अग्नि है) (अग्नि की न्याईं जातवेदस् शब्द की प्रवृत्ति भी विद्युत और सूर्य के अर्थ में दिखलाते हैं) वह न समझे, कि यही(पार्थिव)अग्नि जातवेदस् है, किन्तु यह ऊपर के दोनों ज्योति भी जातवेदस् कहे जाते हैं। तब मध्यम दिखलाते हैं) 'अभिप्रवन्त समनेव योषा' यह पूर्व (७। १७ में) व्याख्या किया गया है (इस में अग्नि और जातवेदस् दोनों शब्द मध्यम ज्योति के अभिप्राय से आए हैं। वहां अग्नि

---

*इस खण्ड के आरम्भ में 'जातवेदसे सुनवाम' इत्यादि पाठ कई पुस्तकों में है, वह यहां का नहीं, परिशिष्ट का है, वहीं इसकी व्याख्या की है ॥

शब्द के लिये उदाहृत किया है, यहां जातवेदस् के लिये)। और वह सूर्य (जातवेदस् कहा है) 'उस जातवेदा को' (१।५०।१) यह आगे (१२।१५ में) व्याख्या करेंगे। पर जो सूक्त का भागी है, और जिस के लिये हवि दी जाती है, वह यही जातवेदा है; यह ऊपर के दोनों ज्योति इस नाम से गौणता को ही सेवन करते हैं (गौणतया ही बोले जाते हैं) ॥२०॥

वैश्वानरः कस्माद्विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात्प्रत्यृतःसर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः। तस्यैषा भवति ॥२१॥

वैश्वानर किससे? सब मनुष्यों को लेजाता है (इसलोक से परलोक में, वा कर्मों में लगाता है) अथवा सभी मनुष्य इस को लेजाते हैं (कर्मोंमें)। अथवा विश्वानर है, पहुंचाहुआ सब भूतों को (विश्वान्+ऋ से) विश्वानर=प्राण, उसका (सन्तान) वैश्वानर, उसकी यह (ऋचा) है ॥२१॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण। इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति वैश्वानरः संयतते सूर्येण राजा यः सर्वेषां भूतानामभिश्रयणीयस्तस्यवयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति। तत्को वैश्वानरो मध्यम इत्याचार्या वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति ॥२२॥

हम वैश्वानर की शुभमति में हों, वह सब भूतों का स्वामी

है, आश्रयणीय है, यहां से (पृथिवीलोक से) प्रकट होकर वह सारे विश्व को देखता है, वैश्वानर सूर्य के साथ संगत होता है (१।९८।१) यहां से प्रकट होकर इस सारे विश्व को देखता है, वैश्वानर सूर्य के साथ संगत होता है (नीचे से इसकी किरणें ऊपर उठती है, और ऊपर से सूर्य की नीचे आती हैं, इस प्रकार इन दोनों का समागम होता है)। राजा सब भूतों का है, आश्रय णीय है, उस वैश्वानर की इस कल्याणी मति में हो *। सो कौन है वैश्वानर, † मध्यम है, यह कई ‡ आचार्य (मानते हैं) क्योंकि वर्षा के कर्म से इसकी स्तुति करता है ॥२२॥

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ प्रब्रवीमि तन्महित्वं माहाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुरपां, यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्या वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन्रसा उपदासयति कर्माणि। तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्नवाधूनोदपः काष्ठा अभिनच्छम्बरं मेघम्। अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः ॥ एषां लोकानां

---

* पहले स्तुति और पीछे प्रार्थना होनी चाहिये, इस अभिप्राय से पाठ क्रम को बदल कर अन्वय किया है 'तस्य' इस तत्शब्द के योगसे 'यः' का अध्याहार किया है † निघण्टुमें वैश्वानर पृथिवी स्थानी स्पष्ट है, किन्तु अन्यत्र वैश्वानर के सम्बन्ध में कई बातें ऐसी बतलाई हैं, जिनसे कई आचार्यों ने इसे मध्यम और कइयों ने उत्तम भी माना है, अतएव विचार पूर्वक सिद्धान्त करने के लिये यह विचार आरम्भ किया है। ‡ कई एक नैरुक्त आचार्य।

रोहेण सवनानां रोह आम्नातो रोहात् प्रत्यवरोहश्चि-कीर्षितस्तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरी-येण सूक्तेन प्रतिपद्यते सोऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेता-ग्नेयो हि भवति, तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्च ततोऽग्निमिहस्थानमत्रैव स्तोत्रियं शंसति ॥ अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भव-त्येतस्य द्वादशविधं कर्म । अथापि ब्राह्मणं भवत्यसौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर इति। अथापि निवित्सौर्य-वैश्वानरी भवति । आ यो द्यां भात्यापृथिवीमिति । एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति।अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति । दिवि पृष्ठो अरोचतेति । एष हि दिवि पृष्ठो अरोचतेति। अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ॥

उस वर्षा करने वाले की महिमा बतलाता हूं, जिस को लोग वृत्र का मारने वाला ( जानते हुए वर्षा के लिये ) सेवन करते हैं । उस वैश्वानर अग्नि ने मेघ को ताड़न किया, जलों को हिलाया, और मेघ को फाड़कर नीचे गिराया (१।५९।६) बतलाता हूं वह. महित्वं=बड़ा ऐश्वर्य । वृषभस्य=जलों के बर-साने वाले का। जिसको, पूरवः = (कामनाओं से) भरने योग्य = मनुष्य।वृत्रहणं = मेघ का मारने वाला मानते हुए।सचन्ते = सेवनकर ते हैं वर्षा की कामना वाले।दस्युः = मेघ,क्षय अर्थ वाले दस(दि० प०) से है । क्षीण होते हैं इस में जल, अथवा कर्मों को क्षीण

करता है। उस (दस्यु = मेघ) को वैश्वानर अग्नि ने ताड़ना किया, हिलाया। काष्ठाः = जलों को फाड़ गिराया, शम्बरं = मेघ को (सो वृत्र का मारना और जलों का बरसाना मध्यम का कर्म है, इस लिये वैश्वानर अग्नि यहां मध्यम(=विद्युत् वा इन्द्र है) पूर्व याज्ञिक * कहते हैं, कि वह सूर्य वैश्वानर है (इस में हेतु यह है कि) इन लोकों के चढ़ने के क्रम से सवनों का चढ़ना पढ़ा गया है (अर्थात् यजमान प्रातः, मध्यन्दिन और तृतीय सवन से क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ को पाता है = मानों चढ़ता है) चढ़ने से(उलटा)उतरना अभिप्रेत है(अर्थात् तीनों सवनों से अपने ध्यान द्वारा द्यौ पर चढ़े यजमान का द्यौ से नीचे उतरना अभिप्रेत है)। उस अनुकरण (उतार के अनुकरण) को होता (अन्तिम जो) आग्निमारुत शास्त्र(है, उस) में वैश्वानरीय सूक्त मे आरम्भ करता है (ऊपर चढने में जैसे स्तोत्रिय जो आग्नेय शस्त्र है, उस से आरम्भ किया था, वैसे उतरने में) वह (होता) स्तोत्रिय का आदर नहीं करता, क्योंकि वह (स्तोत्रिय) आग्नेय है (सो उतरने में वैश्वानरीय से आरम्भ करने से वैश्वानर द्युस्थानी सिद्ध होता है, अत एव सूर्य हो सकता है) (इस प्रकार वैश्वानर से आम्भ करके) फिर आता है मध्यस्थानी देवता रुद्र मरुतों को (अर्थात् वैश्वानर के अनन्तर इनके सूक्त पढ़ता हुआ नीचे अन्तरिक्ष में उतरता है) तब पृथिवी स्थानी अग्नि की ओर आता है, यहां ही (आग्नेय) स्तोत्रिय को गाता है (इस से स्पष्ट है, कि द्युस्थानी देवताओं मे उतरता हुआ

---

* पूर्वयाज्ञिक=पुराने याज्ञिक। याज्ञिक का पूर्व विशेषण देने से सिद्ध है, कि पुराने याज्ञिकों से नये याज्ञिकों का किन्हीं अंशों

पृथिवी स्थानी की ओर आया है, और इस उतरने में सब से प्रथम आया वैश्वानर द्युस्थानी सूर्य हो सकता है,न अग्नि न मध्यम)। किञ्च-(पुरोडाश जो) वैश्वानरीय (होता है वह) बारह कपाल का होता है (बारह कपालों पर पकाया जाता है)और इसी का (सूर्य का ही) बारहप्रकार का कर्म है (बारहमहीनों का विभाग करना) (न अग्नि का न मध्यम का) ।(और यज्ञों में गुण विधियें देवता के गुण के अनुसारी होती हैं, सो बारह कपालों के सम्बन्ध से भी वैश्वानर सूर्य सिद्ध होता है) । किञ्च ब्राह्मण भी है 'वह जो सूर्य है, वह वैश्वानर अग्नि है । किञ्च निविद् † सौर्य वैश्वानरी है (क्योंकि उस में यह वाक्य है) 'जो द्यौ को प्रकाशित करता है और पृथिवी को, (सूर्य ही द्यावा पृथिवी को प्रकाशित करता है, न मध्यम न अग्नि,जैसा कि कहा है ब्राह्मणमें)'यह द्यौ और पृथिवी को प्रकाशित करता है । किञ्च छान्दोमिक सूक्त सौर्यवैश्वानर होता है (वह यह है)'दिवि पृष्ठो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन्' = द्यौ में स्थित महान् अग्नि वैश्वानर चमकता है (यजु ३३।९२) 'यह (सूर्य) ही द्यौ में स्थित हुआ चमकता है । किञ्च-हविष्पान्तीय सूक्त ( हविष्पान्तं से आरम्भ होने वाला १०।८८ सूक्त ) सौर्य वैश्वानर होता है ‡

---

में भेद होगया था † निवित, वह ऋचा जो किसी अन्य सूक्त सम्बन्धी शस्त्र में डाल कर उन ऋचाओं में पाद२ मिला कर गाई जाती है । सौर्य वैश्वानर है, अर्थात् वह ऐसी है, कि उस से वैश्वानर सूर्य सिद्ध होता है, न पार्थिव न मध्यम । जैसा कि उसमें है 'आयोद्यां भात्या पृथिवीं' ‡ क्योंकि इस सूक्त की बारहवीं ऋचा में कहा है-'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमन्हाम कृण्वन्' स भुवन के लिये देवताओं ने वैश्वानर अग्निको दिनों का झंडा (ज्ञापक)बनाया है। दिनों का ज्ञापक सूर्य है.पार्थिव और मध्यम नहीं।

अयमेवाग्निर्वैश्वानरइतिशाकपूणिर्विश्वानरावेतेउत्तरे ज्योतषीवैंश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते।कथं त्वयमेताभ्यां जायत इति । यत्रवैद्युतःशरणमभिहन्तियावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद्भवत्युदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः ॥ अथादित्यात् । उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शन्यधारयतितत्प्रदीप्यते सोऽयमेव सम्पद्यते । अथाप्याह वैश्वानरो यतते सूर्येणेति । न च पुनरात्मनात्मा संयततेऽन्येनैवान्यः संयतत इत इममादधात्यमुतोऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्तीतोऽस्यार्चिषस्तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत ॥ अथ यान्येतान्यौत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा सावित्राणि वा सौर्याणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा वैश्वदेव्यानि वा तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्नादित्यकमर्णा चैनमस्तोष्यन्नित्युदेषीत्यस्तमेषीति विपर्येषीति । आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्त्यग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति वहसीति पचसीति दहसीति ॥ यथो एतद्दर्पकर्मणा ह्येनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपपद्यते ॥ समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।

**भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥२३॥**

यही अग्नि वैश्वानर है यह शाकपूणि मानता है * विश्वानर हैं यह ऊपर के ज्योति (विद्युत् और सूर्य) वैश्वानर है यह (पार्थिव अग्नि) जिस लिये उन दोनों से उत्पन्न होता है †। कैसे यह उन से उत्पन्न होता है। जहां वैद्युत (अग्नि) आश्रय (जिस पर पड़ता है उस काष्ठ आदि) को ताड़ता है, तब जब तक वह अगृहीत (पकड़ कर वश में न किया हुआ) होता है, तब तक मध्यम विद्युत्) के धर्म वाला ही होता है, जल में चमकने वाला और ठोस में लीन हो जाने वाला। जूंही कि वह पकड़ा जाता है तब यह (पार्थिव अग्नि) बनजाता है, अर्थात् जलमें ठंडा होजाने वाला और ठोस में चमकने वाला॥ अब सूर्य से (कैसे उत्पन्न होता है, यह बतलाते हैं)। सूर्य जब उत्तर दिशा में पहले लौटता है (उत्तरायण होता है), तब कांसे को वा मणि (सूर्यमणि=आतशीशीशे) को शोध कर (उसके सामने) जहां प्रतिधूप में सूखा गोबर साथ न छुवाता

* वैश्वानर अग्नि है, मध्यम और उत्तम नहीं, इसमें छः हेतु कहेंगे † नरे सञ्ज्ञायाम् (अ०६।३।१२९ से विश्वानर शब्द संज्ञा वाचक सिद्ध होता है। अब निघण्टु ५।५ में विश्वानर मध्यस्थानी देवताओं में, और निघण्टु ५।६ में उत्तम स्थानी देवताओं में पढ़ा है। इस से मध्यम और उत्तम ज्योति का नाम विश्वानर सिद्ध होता है। ऋग्वेद १।१८६।१ और ७।७६।१ में विश्वानरः शब्द सविता का वाचक और १।५०।२ में इन्द्र का वाचक होकर आया है और ८।५७।३ में भी इन्द्र सम्बन्धी मन्त्र में प्रयुक्त हुआ है। सो विश्वानर मध्यम और उत्तम ज्योति हैं। और विश्वानर से अपत्य अर्थ में वैश्वानर सिद्ध हुआ है, इस लिये वैश्वानर इन दोनों से भिन्न इन का अपत्य पार्थिव अग्नि ही बन सकता है।

हुआ(परे) रखदेता है, वह जल पड़ता है। वह (मणि द्वारा प्रविष्ट हुआ सौर्य ताप) यही (पार्थिव अग्नि ही) बनजाता है (२) किञ्च (ऋषि)कहता है 'वैश्वानर सूर्य से संगत होता है'( )(इस से वैश्वानर का सूर्य से भेद स्पष्ट है)। नहीं कोई आप अपने साथ संगत होता, दूसरे से ही दूसरा संगत होता है। यहां जब इसको (अग्नि को) स्थापन करता है, वहां से उस की (द्यौसे सूर्य की) किरणें प्रकट होती हैं,यहां से इस (अग्नि)की किरणें(निकलती हैं)इन दोनोंका संगम देखकर ऐसा कहा होसकता है( वैश्वानर सूर्यसे संगत होता है)(३) और (यदि सूर्य वैश्वानर होता, तो)जो यह उत्तम स्थानी देवताओं के सूक्त हैं, जैसा कि—भग के, वा सविता के,वा सूर्य के, वा पूषा के; वा विष्णुके, वा विश्वेदेवों के, उन में वैश्वानर के प्रवचन होते ( हे भग वैश्वानर, हे सवितः वैश्वानर, इत्यादि) (४) और सूर्य के कर्म से इस ( वैश्वानर) की स्तुति करते, कि '(हे वैश्वानर) तू उदय होता है' (हे वैश्वानर) 'तू अस्त होता है' ( हे वैश्वानर ) तू विपरीत हो जाता है (उदय से मध्यान्ह में, और मध्यान्ह से अपराह्ण में वा शिशिर से वसन्त और वसन्त से गर्मी में) (५) किन्तु आग्नेय सूक्तों में ही वैश्वानर के प्रवचन हैं, (६) और अग्नि के कर्मों से ही इस की स्तुति करता है, कि ( हे वैश्वानर) 'तू (हवि) लेजाता है' 'तू पकाता है'तू जलाता है। * और जो यह कहा है, कि 'वर्षा के कर्म से' इस की स्तुति करता है। वह इस में ( पार्थिव अग्नि में ) भी बन जाता है

---

* इस प्रकार वैश्वानर को पार्थिव अग्नि सिद्ध करके, आचार्य पक्ष में मध्यम, और पूर्वयाज्ञिक पक्ष में उत्तम सिद्ध करने के जो हेतु पूर्व दिये हैं, उनका उत्तर देते हैं।

(जैसा कि मन्त्रवर्ण है) 'एकरूप यह जल ऊपर जाता है और नीचे आता है (गर्मी और बरसात के) दिनों से। मेघ (वर्षा से) भूमिको तृप्त करते हैं, और अग्नियें (आहुतियों से) द्यौ को तृप्त करती हैं (अर्थात अग्नियों से भेजी आहुतियों का जल वर्षा बन कर आता है*)–१।१६४।५१) यह ऋचा पढ़नेसे ही व्याख्या की गई है (अर्थात सीधे अर्थ वाली है) ॥२३॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥कृष्णं निरयणं रात्रिरादित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यरश्मयस्ते यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्त्तन्ते सहस्थानादुदकस्यादित्यादथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः॥ अथापि ब्राह्मणं भवत्यग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद्दिवि खलु भूत्वा वर्षति, मरुतःसृष्टां वृष्टिं नयन्ति॥ यदा खलु वा असवादित्यो ऽर्वाङ्रश्मिभिः पर्यावर्त्ततेऽथ वर्षतीति॥ यथो एतद्,रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकिर्षित इत्याम्नायवचनादेतद्भवति॥ यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीत्यनिर्वचनं कपालानि भवन्त्यस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चक-

* इस प्रकार जब अग्नि भी वर्षा का हेतु है, तो वर्षा के कर्म से स्तुति मध्यम का ऐकान्तिक हेतु नहीं बन सकता।

पालश्च ॥ यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति पृथिवी वैश्वानरः संवत्सरो वैश्वानरो ब्राह्मणो वैश्वानर इति । यथो एताग्निवित्सौर्यवैश्वानरी भवतीत्यस्यैव सा भवति । यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेदित्येष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ॥ यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्य्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद्भवति।जमदग्निभिराहुत इति जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति । यथो एतद्धविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीत्यस्यैव तद्भवति ॥२४॥

कृष्णगति (दक्षिणायन के दिनों) में, अच्छा उड़नेवाली किरणें जलको पहनकर द्यौ की ओर उड़ती हैं, वह जल के स्थान से सूर्य से फिर लौटती हैं, तदनन्तर पृथिवी जल से गीली होती है * (१।१६४।४७)। कृष्णगति=सूर्य की रात(दक्षिणायन) हरयः=(रस)खींचने वाली सूर्य की रश्मियें। वह जब उस (द्यौ) से नीचे लौटती हैं, जल के सदस्थान (जहां जल इकट्ठे रहते हैं) से=सूर्य से। तब, घृतेन=जल से, पृथिवी गीली होती है । घृत जलका नाम है, सेचन अर्थवाले घृ (जु०प०) से। किञ्च ब्राह्मण

* कारीरी इष्टि (वर्षा की कामना के यज्ञ) में यह आग्नेय अष्टा कपाल की पुरोनुवाक्या है, इस से यहां अग्निकी ही सूर्य रूप में स्तुति है। इस से अग्नि का इष्टि हेतु होना सिद्ध है। और सौर्य मान कर भी सूर्य की वृष्टि कर्म से स्तुति सिद्ध है,इससे वृष्टि कर्म मध्यम

भी है (अग्नि और सूर्य को वर्षकर्म से स्तुति करने वाला )'अग्नि यहां से वृष्टि को भापके रूपमें) प्रेरता है, और द्यौ में लोकों का ढांपने वाला (अर्थात् सूर्य) होकर वरसता है, मरुत वनी हुई वृष्टि को लाते हैं'॥ (और भी ब्राह्मण है) जब वह सूर्य रश्मियों द्वारा नीचे लौटता है (जल संयुक्त रश्मियें=भाप, भारी होकर नीचे उतरती है) तब वरसता है। † और जो यह कहा है कि चढ़ने से उलट उतरना अभिप्रेत है (यह सूर्य के 'वैश्वानर होने में कारण नहीं, क्योंकि) शास्त्र के वचन से यह इस प्रकार होता है ‡। और जो यह है कि 'वैश्वानर का (पुरोडाश) वारह कपाल पर पका हुआ होता है' (यह भी वैश्वानर के सूर्य होने में कारण नहीं) कपाल निखेरने वाले नहीं, क्योंकि है सौर्य (पुरोडाश) एक कपाल का भी। और पांच कपाल का भी (यदि गुणको लेकर होता, तो सौर्य वारह कपाल का होता,पर है एक कपाल वा पांच कपालका, इस लिये कपाल हेतु नहीं )। और जो यह कहा है, कि 'ब्राह्मण है (सौर्य वैश्वानर में) (यह भी हेतु नहीं) क्योंकि ब्राह्मण-बहुत उपचार से कहते हैं (किसी प्रसिद्ध गुण को लेकर सब को सब प्रकार से कहदेते हैं) जैसे'पृथिवी वैश्वानर है'। 'वरस वैश्वानर है'। 'ब्राह्मण वैश्वानर है' ॥ और जो यह है कि निविद सौर्य वैश्वानरी होती है,'इसी (पार्थिव अग्नि) की वह भी है जैसा उसमें है' जो मानुषी प्रजाओं के लिये अतिशय चमकता है'। यह (पार्थिव अग्नि ही)मानुषी प्रजाओं के लिये चमकता है(सूर्य मानुषी

का आवश्यक लिङ्ग नहीं, यह अभिप्रेत है † वैश्वानर सूर्य है, इस पूर्व याज्ञिक पक्ष में जो हेतु दिये हैं, उनका क्रमशः उत्तर देते हैं‡कर्म शास्त्र प्रमाणक होता है, इस लिये शास्त्र जैसी आज्ञा देता है, वैसा

और देवी दोनों के लिये चमकता है§ और जो यह है कि छान्दोमिक सूक्त¶ सौर्य वैश्वानर होता है,इसी का (पार्थिव अग्निका ही) वह (सूक्त) है (जैसा कि उसमें है)'जमदग्नियों से होमा हुआ'(जमदग्नियों ने इसी में होम किया है, न कि सूर्य में)जमदग्नयः=प्रभूत अग्नियों वाले वा जलती अग्नियों वाले। उनमे होमा हुआ है। और जो यह है, कि हविष्पान्तीय सूक्त सौर्य वैश्वानर होता है। इसी का वह होता है, जैसा कि ॥२४॥

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ। तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त॥ हविर्यत्पानीयमजरं सूर्यविदि दिविस्पृश्यभिहुतं जुष्टमग्नौ तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय चैतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त अथाप्याह ॥२५॥

पीने योग्य हवि (सोम रूप हवि)जो जरा रहित * (है और देवताओं से) प्यार की हुई है, वह सूर्य के जानने वाले और द्यौ को छूने वाले (बहुत ऊंचे उठे हुए) अग्नि में होमी गई है। उस (हवि) की पुष्टि, वृद्धि और धारने के लिये इस अग्नि को अन्न

---

करना होता है § पूर्व इसी निवित् में से 'आयोद्यां भाति' पाठ दिया है। उस का यह अभिप्राय है, कि यही अग्नि सूर्य रूप से द्यौ को प्रकाशित करता है ॥ छन्दोम=छन्दों से मापे हुए=त्रिवृत् आदिस्तोम उनसे सिद्ध होने वाले यज्ञ छन्दोम यज्ञ, ताण्ड्य महा ब्राह्मण में विधान किये गवामयनादि यज्ञ।

* जरारहित=न पुरानी=पीने में अभिनव, अथवा जरार-

द्वारा फैलाते हैं (१०। ८८।१) हवि जो पीने योग्य, जरा रहित है। सूर्य के जानने वाले, द्यौ को छूनेवाले अग्नि में होमी गई है। भरण, वृद्धि और धारने के लिये, इन सारे कर्मों के लिये, इस अग्नि को अन्न द्वारा फैलाते हैं † और भी कहता है ‡ ॥२५॥

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्। आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ अपामुपस्थ उपस्थाने महत्यन्तरिक्षलोक आसीना महान्त इति वागृहत माध्यमिका देवगणा विश इव राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियमृग्मन्तमिति वार्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वाहरद्यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्याद्विवस्वान्विवासनवान्। प्रेरितवतः परागताद्वापिवास्याग्नेर्वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह । मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा । अथैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति ॥

जलों के स्थान (अन्तरिक्ष) में महान्त (देवगणों) ने (अग्नि को विद्युत रूप से) ग्रहण किया, उस पूजार्ह के समीप खड़े हुए,जैसे प्रजा राजा के। वायुदूत इस वैश्वानर अग्नि को बड़ी दूर से सूर्य से लाया (६।८।४) जलों के, उपस्थ=पहुंचकर ठहरने वाले स्थान=

---

हित=सदा उल्लास (उमंगों) की उत्पादक † सो हविष्पान्तीय सूक्त के आरम्भ में ही स्पष्ट अग्नि का वर्णन है, इसलिये सूक्त आग्नेय है। ‡ पूर्व कहे हेतुओं के उत्तर देकर अगले खण्ड में ऋचा के प्रमाण से वैश्वानर का अग्नि होना सिद्ध करते हैं।

महान् अन्तरिक्ष में स्थित, (महिषाः=भैंसों) वा महान्त =मध्यम स्थानी देवगणों ने ग्रहण किया। प्रजा की न्याईं राजा के पास खड़े हुए, ऋग्मिय=ऋचावाले के वा पूजनीय के। लाया जिस को दूत देवताओं का। विवस्वतः=सूर्य से। विवस्वान्=निकालने वाला ( अन्धकार का )। परावत =दूर भरे हुए से वा दूर गये हुए से ( इस प्रकार यह मन्त्र ) वायु को इस वैश्वानर अग्निका लाने वाला कहता है *। मातरिश्वा=वायु=अन्तरिक्ष में चलता है,वा अन्तरिक्ष में जल्दी सांस लेता है। अब इन दो (ऋचाओं) से सारे स्थानों (तीनों लोकों)में व्याप्त करके स्तुति करता है † ॥२६॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्य्यो जायते प्रातरुद्यन्त्स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्। अपो यत्कर्मचरति प्रजानन्त्सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २७ ॥

* वायु वैश्वानर अग्नि को सूर्य से इस लोक में लाया' इससे उत्तम मध्यम से भिन्न वैश्वानर पृथिवी स्थानी स्पष्ट सिद्ध होता है॥

† तथापि यह संदेह शेष है, कि हविष्पान्तीय सूक्त में वैश्वानर को जो दिनों का बनाने वाला कहा है, वह तो सूर्य में ही घट सका है, इस का उत्तर अब यह देते हैं, कि आगे चलकर दो ऋचाओं में इस अग्नि को ही विद्युत और सूर्य से अभिन्न मान कर तत्तद्रूपेण स्तुति की है। सो दिखलाते हैं।

आग्न रात को भूमि का मूर्धा (प्रधान अंग) होता है (इसी के द्वारा प्रकाश मिलने से), इस के अनन्तर (वह) सूर्य होकर प्रातःकाल उदय होता हुआ प्रकट होता है, (तत्त्ववेत्ता पुरुष) यज्ञिय देवताओं की यह चमत्कार वाली (प्रज्ञा मानते हैं, कि) जो अपने कर्तव्य को जानता हुआ (अग्नि सारे स्थानों में) जल्दी घूम जाता है (१०।८८।६।) मूर्धा = शरीर इस पर रखा जाता है (मूर्धा की आज्ञानुसार सारा शरीर काम करता है, और इसके कटने पर सारा शरीर मृत होजाता है)। मूर्धा जो सारे भूतों का होता है रात्रि को अग्नि, उसके अनन्तर सूर्य प्रकट होता है प्रातः काल उदय होता हुआ वही (अग्नि)। यह प्रज्ञा मानते हैं, यज्ञिय अर्थात् यज्ञ सम्पादक देवताओं की, कि, अपः = कर्म। चरति प्रजानन् = जानता हुआ सारे स्थानों में घूम जाता है जल्दी करता हुआ। उस को अगली (ऋचा) अधिक खोल कर कहने के लिये है ॥२७॥

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसीप्राम्। तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥ स्तोमेन ये हि दिवि देवासो अग्निमजनयञ्छक्तिभिः कर्मभिर्द्यावापृथिव्योरापूरणं तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्य इति हि ब्राह्मणं तदग्नीकृत्य स्तौति। अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति ॥ २८ ॥

अपने कर्मों से द्यौ और पृथिवी को भरने वाले जिस अग्नि को देवताओं ने स्तोम से द्यौ में प्रकट किया, उसी को उन्हों ने तीन प्रकार की होने के लिये बनाया, वह भांति २ की ओषधियों को पकाता है (१०।८८।१०) स्तोम से जिस (सूर्य रूप) अग्नि को देवताओं ने द्यौ में प्रकट किया, शक्तिभिः=कर्मों से। द्यौ के, पृथिवी के पूरने वाले को। उस को बनाया तीन प्रकार का होने के लिये, अर्थात् पृथिवी में अन्तरिक्ष में और द्यौ में (अग्नि विद्युत् और सूर्य रूप से होने के लिये ) यह शाकपूणि मानता है। 'जो इस (अग्नि) का द्यौ में तीसरा रूप है, वह वह सूर्य है, यह ब्राह्मण है। सो (इनमन्त्रों में वैश्वानर को) अग्नि बनाकर स्तुति की है, अब इस (वक्ष्यमाण) ऋचा से सूर्य करके इसकी स्तुति करता है ॥२८॥

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा सूर्यमादितेयम् । यदा चरिष्णूमिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥ यदैनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रं। यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा सहचारिणावुषाश्चादित्यश्च । मिथुनौ कस्मान्मिनोतिः श्रयतिकर्मा थु इति नामकरणस्थकारो वा नयतिः परो वनिर्वा समाश्रितावन्योन्यं नयतो वनुतो वा। मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव मेथन्तावन्योन्यं वनुत इति वा अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति॥

जूंही याज्ञिय देवताओं ने अदिति के पुत्र सूर्य को द्यौ में

स्थापन किया (उदय किया), जब घूमने वाला जोड़ा (उषा और सूर्य) प्रकट हुआ, सोंही सब भूतों ने (उनको) देखा (१०।८८। ११) जब इस को स्थापन किया यज्ञिय सारे देवताओंने द्यौ में सूर्य, आदितेयं=अदिति के पुत्र को । जब चारिष्णू मिथुनौ= सदा साथ विचरने वाले उषा और सूर्य प्रकट हुए । मिथुनौ किस से ? मि (स्वा० उ०) आश्रय अर्थ वाला है, 'थु' यह प्रत्यय, अथवा थ प्रत्यय है, नी (भ्वा० उ०) परे, अथवा वन (त० उ०) परे है*। मिले हुए परस्पर (उषा और सूर्य, काल को) बिताते हैं वा सेवन करते हैं । मनुष्य मिथुन भी इसी से है (परस्पर साथी होकर काल बिताते हैं, वा एक दूसरे का सेवन करते हैं) अथवा परस्पर मिलते हुए सेवन करते हैं † । अब इस ऋचा से इस की अग्नि करके स्तुति करता है ॥२९॥

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद । आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत् । यत्र विवदेते दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः । कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेत्याशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजस्तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यतीति । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥३०॥

---

*मि + थु + नी = मिथुन । अथवा मि + थ + वन, (व को संप्रसारण होकर) = मिथुन । † मेथ संगमे (भ्वा, उ०) मेथ + वन = मिथुन ।

जहां निचला और परला (होता) *विवाद करते हैं कि हम दोनों यज्ञ के नेताओं में से कौन विशेष जानता है, वहां जो सखा (ऋत्विज्)इकट्ठे आनन्द(विचार के आनन्द)को पा सकते हैं, और यज्ञ को पाते हैं, उन मेंसे कौन निखेर कर कह सकेगा † (१०, ८८,१७) जहां विवाद करते हैं दिव्य दोनों होता=यह अग्नि और वह मध्यम (वायु), कि कौन हम दोनों में से अधिक जानता है, पासकते हैं उस इकट्ठे आनन्द को समानख्याति वाले ऋत्विज्, उन यज्ञ के व्यापने वालों में से कौन इस को कहेगा। उस की अगली ऋचा अधिक खोलकर कहने के लिये है ॥३०॥

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः। तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्॥यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा। अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोग इहेव निधेहीति यथा। सुपर्ण्यः सुपतना एता रात्रयो

---

* इस में निचला होता अग्नि और उपरला होता वायु अभिप्रेत है, यह दोनों यज्ञ के दिव्य होता हैं † ऋचा का अभिप्राय यह है, कि जगत् के उपकार रूपी यज्ञ में अग्नि और वायु इस प्रकार लगे हुए हैं, कि मानों स्पर्धा से कह रहे हैं, देखें, कौन हम में से इस विषय में अधिक ज्ञानी है। ऐसी अवस्था में ऋत्विज् जब यज्ञ में मिलकर इन के गुणों का विचार करते हैं और यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, तो वह इन दोनों की यज्ञ सम्पादन में दक्षता देखते हुए विस्मयान्वित होते हैं, इन के काम की पूरी माप कर के इन में से किसी को छोटा बड़ा नहीं बता सकते हैं। यहां भी अवर से अग्नि का वर्णन होने से हविष्पान्तीय सूक्त आग्नेय सिद्ध होता है।

वसते मातरिश्वञ्ज्योतिर्वर्णस्य तावदुपदधाति यज्ञमागच्छन्ब्राह्मणो होतास्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्। होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति। देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेणेति। इममेवाग्निं सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारं मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्। यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरो निपातमेवैते उत्तरे ज्योतषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥३१॥

हे वायो! अच्छी उड़ने वाली (यह रात्रियें) जितनामात्र उषा के मुख (वा प्रकाश रूप दर्शन) को अब ढांपती हैं, उतना मात्र (अग्नि के ज्ञान को) वह ब्राह्मण जो होता (अग्नि) से छोटा (अल्पज्ञ) है, यज्ञ में आकर बैठता हुआ धारता है * (१०।८८। १९) जितना मात्र उषा का, प्रतीक=प्राप्त हुआ, वा अलग दर्शन (यहां न का अर्थ अब है, क्योंकि) है उपमान का अब अर्थ में प्रयोग। जैसे 'यहां ही रखदे=अभी यहां रखदे। सुपर्ण्यः=अच्छा उड़ने वाली (आगे २ उड़ती जाने वाली) यह रात्रियें। ढांपती हैं हे वायो रंगके प्रकाश को। उतना मात्र धारता है यज्ञ में आता हुआ ब्राह्मण होता, इस अग्नि रूप होता से जो छोटा है, बैठता हुआ (होतृपदन में)। (इसप्रकार वैश्वानर जो हविष्पान्तीय सूक्त में वर्णित है, वह अग्नि सिद्ध होता है) पर होता का जप अग्नि

* अर्थात् जैसा उषा का मुख रात्रि में ढपा होता है. इस प्रकार मनुष्य होता के लिये अग्नि की महिमा ढपी हुई है, अग्नि आपही

भिन्न वैश्वानर सम्बन्धी है (वहां वैश्वानर अग्नि नहीं? अग्नि से भिन्न मध्यम वा उत्तम बनसकता है, जैसे) 'हे प्रेरक देव तेरे पिता वैश्वानर समेत इस तुझ अग्नि को होतृकर्म के लिये वरते हैं' इसमें इसी अग्नि को सविता कहा है, क्योंकि सब का प्रेरक है (यज्ञ कर्म करने के लिये)। मध्यम (वायु) वा उत्तम (सूर्य) को इस का पिता कहा है (जिस को वैश्वानर कहा है, इस लिये यहां वैश्वानर अनाग्नि है)। किन्तु जो सूक्त भागी है, और जिस के लिये हविदीजाती है, वह वैश्वानर यही अग्नि है, यह ऊपर के दोनों ज्योति (विद्युत और सूर्य) इस नाम से गौणभाव को ही सेवन करते हैं * ॥३१॥

# अष्टमोऽध्यायः

द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदाः तस्यैषा भवति ॥१॥

(१) द्रविणोदस्, किस से ? द्रविण धन कहा जाता है, जिस लिये इस की ओर दौड़ते हैं, अथवा द्रविण बल होता है, जिस लिये इस से (शत्रु के) अभिमुख दौड़ते हैं, उसका (धन वा बलका) दाता द्रविणोदा, उस की यह ऋचा है ॥१॥

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु

---

* अपनी महिमा जानता है * सो शाकपूणि के मत से छः अव्यभिचारी हेतु देकर वैश्वानर अग्नि है, यह निर्धारित किया है, किन्तु विद्युद्रूप और सूर्यरूप से भी उस का गौणतया वर्णन है।

देवमीळते ॥ द्रविणोदा यस्तं द्रविणस इति द्रविण-सादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा द्रविणसस्त-स्मात्पिबत्विति वा । यज्ञेषु देवमीळते।याचन्ति स्तु-वन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा॥तत्को द्रविणोदाः । इन्द्र इति क्रौष्टुकिः स बलधनयोर्दातृतमस्तस्य च सर्वा बलकृतिरोजसो जातमुत मन्य एनमिति चाह । अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाहैष पुनरेतस्माज्जायते।'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान'इत्यपि निगमो भवति।अथा-प्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवति । अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति।अथाप्याह द्राविणोदाःपिबतु द्राविणोदसइति ।

धन चाहनेवाले,हाथों में ग्राव (सोम कूटने के बट्टे) लिये (ऋत्विज्) यज्ञ में यज्ञों में * धन दाता देव की याचना करते हैं ( वा पूजा करते हैं (१।९६।७)धन का दाता है जो, † उस को। द्रविणसः=धन (पाने के लिये) बैठने वाले, वा धन(हवि) के देने वाले (ऋत्विज्)। अथवा 'द्रविणसः' पञ्चमी है, ‡ धन (=सोम) से पिये । यज्ञों में

* यज्ञमें=अग्निष्टोमादि मुख्ययज्ञमें । यज्ञों में=अलग २ हवि देने में । वा सवनों में । † द्रविणोदाः' प्रथमैकवचन 'देवं' के साथ अन्वित नहीं हो सकता इस लिये 'यः' का अध्याहार करके अन्वय किया है, जो द्रविणोदा है, उस देव को । ‡ 'द्रविणसः' द्रविणस् धन बल का नाम है, पर यहां यह अर्थ सम्बन्ध नहीं खाता, इस लिये 'द्रविण+सद् वा सन्' से सिद्ध करके द्रविणस् ऋत्विजों का

देवको । ईळते=याचना करते हैं,वा स्तुति करते हैं, वा बढ़ाते हैं, वा पूजते हैं । यह कौन है 'द्रविणादाः' इन्द्र है यह क्रौष्टुकि(मानता है) (१) क्योंकि वह बल और धन का बहुतबड़ा दाता है । बल का सारा काम उसका है । जैसा कि कहता है 'बल से प्रकट हुआ मैं इस (इन्द्र) को मानताहूं' (१०।७३।१०)(२) किञ्च अग्नि को द्राविणोदस कहता है [§] । और यह (अग्नि) इस (इन्द्र) से उत्पन्न होता है, 'जिस ने दो पत्थरों के (वा दो मेघों के) अन्दर अग्नि को उत्पन्न किया है (वह इन्द्र है)(२।१२।३)यह भी निगम होता है । (३) किञ्च ऋतुयाजों में द्रविणोदा के प्रवचन हैं,उन ऋतुयाजों का जो पात्र है, उसकी इन्द्रपान (इन्द्रका पेय) यह संज्ञा है [‖] । (४) किञ्च इस (द्राविणोदा) की सोमपान से स्तुति करता है [**] । (५)किञ्च कहता है 'द्रविणोदा पिये और द्रावि-

---

वाचक बनाकर 'ईळते' का कर्ता ठहराया है । पर यदि प्रसिद्ध अर्थ लेने में आग्रह हो तो 'द्रविणसः' पञ्चमी का एक वचन मान 'पिबतु' के अध्याहार से निवाहें-द्राविणोदा धन=सोमरूप हवि से (अपना भाग) पिये, जिस देवको ऋत्विज् पूजते हैं, इस अर्थ में 'यः' के अध्याहार की आवश्यकता नहीं, द्रविणोदाः सीधा पिबतु का कर्ता बन जाएगा । § देखो यहीं आगे 'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' द्राविणोदस का अर्थ द्रविणोदा की अपत्य होता है,नाम अग्नि का है, इस लिये द्रविणोदा वह होना चाहिये, जो अग्नि का जनक हो, और वह इन्द्र है,जैसाकि मन्त्रद्रष्टा कहता है,इसलिये द्रविणोदाःइन्द्र है । ‖ जिन मन्त्रों से ऋतुओं के लिये यजन करते हैं , वह मन्त्र ऋतु याज कहलाते हैं । सो ऋग्वेद २।३७।१-४ मन्त्र ऋतुयाज हैं, इनमें द्रविणोदा का प्रवचन है । अब ऋतुयाजों का जो सोमपात्र है,उसका नाम इन्द्रपान है, यह तभी सार्थक होता है,'जब उन मन्त्रों में आया 'द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' यह द्रविणोदा इन्द्र हो । ** द्रविणोदाः

णोदस (द्राविणोदा का पुत्र अग्नि पिये) * (२।३७।४) ॥

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदामित्यपि निगमो भवति। यथो एतत्स बलधनयोर्दातृतम इति सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते। यथो एतदोजसो जातमुत मन्य एनमिति चाहेत्ययमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते तस्मादेनमाह सहसस्पुत्रं सहसः सूनुं सहसो यहुम्। यथो एतदग्निं द्राविणोदसमाहेत्यृत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति। 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः' इत्यपि निगमो भवति। यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद्भवति यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम्। यथो एतत्सोमपानेनैनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपपद्यते। सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिरित्यपि

---

की सोमपान से स्तुति भी इन्द्र अर्थ की बोधिका है, क्योंकि 'अंशु अंशु तेरा है सोम देव इन्द्र के लिये बढ़े' (य० ५।७) में सोम की मुख्य आहुति इन्द्र के लिये ही है। * यह चौथा पात्र जो अग्नि का है, इस में द्राविणोदस अग्नि का नाम होने से, द्रविणोदा उससे भिन्न स्पष्ट है।

निगमो भवति। यथो एतद् द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदस इत्यस्यैव तद्भवति ॥२॥

(तो क्या फिर द्रविणोदा इन्द्र है ? नहीं, किन्तु) यही अग्नि द्रविणोदा है, यह शाकपूणि मानता है, क्योंकि आग्नेय सूक्तों में ही द्रविणोदा के प्रवचन हैं (न कि ऐन्द्र सूक्तों में)। 'इस अग्नि को देवता (ऋत्विज्) धन देने वाली (जानते हुए) स्थापन करते हैं (१।९६।१) (द्रविणोदा को अग्नि स्थापन करके क्रौष्टुकि के पक्ष का खण्डन करते हैं) (१) जो यह कहा है 'वह बल और धन का देने वाला है' सो सभी देवताओं में ऐश्वर्य है (इस लिये यह किसी एक देवता का वैशिषक हेतु नहीं हो सकता)। जो यह कहा है, कि 'बलसे प्रकट हुआ मैं इसे जानता हूं' (१०। ७३।१०) यह कहता है (बल का पुत्र इन्द्र को, इस लिये बल-पति इन्द्र है यह भी इन्द्र का वैशिषक हेतु नहीं, क्योंकि) यह भी अग्नि बल से मथन किया हुआ उत्पन्न होता है, इसलिये इस को कहता है 'बल का पुत्र' (२।७।६) बल का बेटा*(८।६४।३) बल की सन्तान (१।७९।४)। (२) और जो यह है कि 'अग्नि को द्राविणोदस कहता है। वहां (द्राविणोदसके अन्तर्गत जो) द्रविणोदस् (है, उस) से ऋत्विज् कहे जाते हैं, क्योंकि वह हवि (रूपी धन) के देने वाले होते हैं, और वह इस (अग्नि) को उत्पन्न करते हैं। (सो द्राविणोदस् ऋत्विज्, उनकी अपत्य अग्नि द्राविणोदस कही है) (इस में प्रमाण) 'ऋषियों (ऋत्विजों)

---

* 'सहसः सूनुं' और 'सहसः यहुं' पाठ कहीं नहीं, किन्तु पाठ 'सहसः सूनो' और 'सहसःयहो' है। यहां द्वितीयान्त सूनुं और यहुं अर्थवश से पढ़ा है 'एनं' द्वितीयान्त के साथ सम्बन्ध करके

का पुत्र (यज्ञों का) अधिराज यह (अग्नि) (यजु ५।४) यह भी निगम होता है। (३) जो यह कहा है, कि 'उन के पात्र की इन्द्र-पान संज्ञा है' यह औपचारिकमात्र है, जैसे 'वायव्यानि'= वायु के, यह सारे सोमपात्रों का एक नाम है (यद्यपि वह नाना देवताओं के लिये होते हैं †) (४) और जो यह कहा है, कि 'सोमपान से इसकी स्तुति करता है' यह इस (अग्नि) में भी बन सकता है (इस में प्रमाण) (हे अग्ने) गण बान्ध कर रहते हुए (मरुतों) के साथ प्रसन्न होता हुआ सोम को पी (५। ६०।८) यह भी निगम होता है (५) जो यह कहा है, कि 'द्रविणोदा पिये और द्राविणोदस' इसी (अग्नि) का वह (कथन) है ‡ (अर्थ—ऋत्विजों का पुत्र द्राविणोदा पिये) ॥२॥

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते। आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ मेद्यन्तु ते वह्नयो वोढारो यैर्यास्यरिष्यन्दृढीभवायूय धृष्णो अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्धिष्ण्यात्। धिष्ण्यो धिषणाभवः। धिषणा वाग्धिषेर्दधात्यर्थे धीसादिनी वा धिसानिनीति वा। वनस्पत इत्येनमाहैष हि वनानां पाता वा पालयिता वा। वनं वनोतेः। पिबर्तुभिः कालैः॥३॥

(जैसे यहीं ऋतुयाजों में) वह तेरे वाहन (तृप्त होकर) मोटे

---

†अर्थात् संज्ञा, अनेकों में से जो प्रधान हो, प्रायः उस के नाम पर पड़ जाती है, इसलिये नाम निरा उसी के सम्बन्ध का प्रमाण नहीं होता
‡ ऋतुयाजों में अग्नि भी सोमभागी है।

ताज़े हों, जिन से तू प्राप्त होता है, हिंसा न करता हुआ हे वनस्पते तू दृढ़ हो, हे दबाने वाले द्रविणोदा आकर तय्यार होकर नेष्टा के (धिष्ण्य) से ऋतुओं के साथ सोम पी * (२।३७।३)। मोटे ताज़े हों तेरे 'वन्हयः' लेजाने वाले (घोड़े=चिंगाड़ियां), जिनसे तू पहुंचता है, न हिंसा करता हुआ, दृढ़ हो। हे (शत्रुओं के) दबाने वाले आकर तय्यार होकर तू नेष्टा (नामी ऋत्विज्) के धिष्ण्य (अग्निस्थान) से। धिष्ण्य=धिषण्य,=वाणी में होने वाला (उस के पीछे बैठकर होता शस्त्र (वाणी) पढ़ता है)। धिषण किस से? धारण अर्थवाले धिष (जु० प०) से (वाणी अर्थको धारण करती है)अथवा बुद्धि में बैठने वाली वा बुद्धि का सेवन करने वाली (वाणी बुद्धि के अधीन है)। 'वनस्पते' इस (द्रविणोदाः) को कहा है, क्योंकि वह वनों का रक्षक है (वृक्षों के अन्दर स्थित हुआ उन की रक्षा करता है) वन, वन (त० उ०) से है। पी ऋतुओं के=कालों के साथ ॥ ३ ॥

**अथात आप्रियः। आप्रियः कस्मादाप्नोतेः प्रीणातेर्वाप्रीभिराप्रीणातीति च ब्राह्मणम्॥तासामिध्मः प्रथमागामी भवतीध्मः समिन्धनात्।तस्यैषा भवति॥४॥**

अब आप्री देवता कहते हैं †। आप्री किस से? आप् (स्वा०

---

* इस ऋचा में जिस को वनस्पति कहा है, उसी को द्रविणोदः कह कर ऋतुओं के साथ सोमपाता कहा है, वनस्पति निःसन्देह अग्नि है, जैसा कि आगे ८।२० में वनस्पति का कर्म हवि लेजाना ऋचा द्वारा दिखलाएं गे, इसलिये द्रविणोदा अग्नि ही है।

† आप्री देवता यह १२ हैं १-इध्म वा समिध, २-तनूनपात्, ३-नराशंस, ४-ईळ=ईड,५-बर्हिः, ६-द्वारः,७-उषासानक्ते ८-दैव्या

प०) से, वा प्री (कृया० प०) से। आप्री (ऋचाओं) से (आप्री देवताओं को) तृप्त करता है † इध्म चमकने से है, उसकी यह ऋचा है ‡॥४॥

---

होतारा, ९–तिस्रोदेव्यः=सरस्वतीइळाभारती, १०–त्वष्टा, ११–वनस्पतिः १२–स्वाहा कृतयः=स्वाहा। यह देवता इसी क्रम से इकट्ठे एकही सूक्त में आते हैं। जिस सूक्त में यह देवता आते हैं, उस को आप्री सूक्त कहते हैं, आप्री सूक्त की एक २ ऋचा को आप्री ऋचा कहते हैं। आप्री सूक्त ११, १२ वा १३ ऋचाओं का ही होता है। ऋग्वेद में १० आप्री सूक्त हैं १।१३; १।१४२; १।१८८; २।३;३।४; ५।५;७।२;९।५;१०।७० और १०।११० यजु० अध्या २९ के १–११तक अश्वमेध सम्बन्धी आप्री मन्त्र हैं।

† यह व्युत्पत्ति आप्री ऋचाओं की है। देवता पक्ष में 'आप्रीयन्ते=जो तृप्त किये जाते हैं, यह व्युत्पत्ति होगी।

‡ निघण्टु में देवता जिस क्रम से पढे हैं, अग्नि, जातवेदाः, वैश्वानर, इत्यादि। क्या वह क्रम विवक्षित है, अथवा एक साथ कहे जा नहीं सकते, इस से आगे पीछे कहने ही पड़ते हैं, वैसे ही यहां कहे हैं (उत्तर) क्रम विवक्षित है, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के क्रम से पढे हैं, यह स्थान क्रम विवक्षित है अत एव कहा है'अग्निः पृथिवी स्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' (७।१४) फिर एक स्थानियों में भी आगे पीछे का क्रम विवक्षित है अत एव 'तासामिध्मः प्रथमागामी' (८।४)तेषामश्वः प्रथमागामी ९।१३ इत्यादि कहा है। सो पहले पृथिवी स्थानियों में क्रम इस प्रकार है। अग्नि प्रसिद्धतम होने से सबसे पहले, उससे पीछे उससे न्यून प्रसिद्ध जातवेदाः, उस से पीछे उस से न्यून प्रसिद्ध वैश्वानर, उस से पीछे उस से न्यून प्रसिद्ध द्रविणोदाः। यह शब्द साक्षात् अग्नि के बोधक हैं,इस से पीछे इध्मादि, जो पहले समिधा आदि के बोधक होकर अग्नि के बोधक व्यवधान से होते हैं। इन के पीछे अश्वादि जिन का अग्नि के साथ स्थानमात्र सम्बन्ध है। उन में से भी प्राणधारी होने से अश्व शकुनि मण्डूक का पहले, प्राणशून्य अक्षादि का उनसे पीछे कथन है॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः । आ च वह मित्रमहश्चिकित्वां त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान्यजसि जातवेद आ च वह मित्रमहश्चिकित्वाँश्चेतनावाँस्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः प्रवृद्धचेताः । यज्ञेध्म इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः ॥ तनूनपादाज्यमितिकात्थक्यःनपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयं निर्णततमा भवति गौरत्र तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगास्तस्याः पयो जायते पयस आज्यं जायते । अग्निरिति शाकपूणिरापोऽत्र तन्व उच्यन्ते तता अन्तरिक्षे ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्त ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते।तस्यैषा भवति ॥५॥

हे जातवेदः । मनुष्य मनुष्य ( हर एक यजमान ) के घर में प्रदीप्त हुआ, आज, तू जो देवता है दूसरे देवताओं को पूज, हे मित्रों (अपने स्तोताओं ) के आदर करने वाले ! जानता हुआ तू ( देवताओं को ) ला, तू दूत है ऋषि है बड़े ज्ञान वाला (१.०।१.१०।१.) प्रदीप्त हुआ आज मनुष्य मनुष्य के घर में देवता हुआ देवताओं को पूज हे जातवेदः ! और ला, हे मित्रों के पूजने वाले, चिकित्वान् = चेतना वाला । तू दूत ऋषि है । प्रचेताः= बढ़े हुए ज्ञान वाला । 'यज्ञ की समिधा' है ( यहां जो प्रदीप्त हुआ कहा है) यह कत्थक का पुत्र मानता है ( क्योंकि इस मन्त्र को बोलने से पहले प्रैष समिधा के लिये दिया गया

है) अग्नि है यह शाकपूणि मानता है * । (२—आप्री)तनूनपात्, आज्य ( पिघला हुआ घी ) होता है, यह कात्थक्य मानता है। न पात्, न व्यवधान से रहित सन्तान का नाम होता है † । क्योंकि वह बहुत नीचे झुका होता है ( तीसरी पीढ़ी में जा पड़ने से )। तनू यहां गौ कही है. क्योंकि इस में भोग ( दूध दही आदि ) फैले हुए हैं। तनू (त० उ०से ) । उस ( गौ ) से दूध होता है, दूध से घी होता है ( तनूनपात्=गौ का पोता=घी । गौ से दूध, दूध से घी ) ( तनूनपात् ) अग्नि है, यह शाकपूणि मानता है इस पक्ष में तनू जल हैं, अन्तरिक्ष में फैले होते हैं। उन ( जलों ) से ओषधि वनस्पतियें होती हैं, ओषधि वनस्पतियों से यह ( अग्नि )उत्पन्न होता है ( इस प्रकार अग्नि जलों का पोता होने से तनूनपात् कहा है ) उस ( तनूनपात् ) की यह ऋचा है।५।

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्स्वदया सुजिह्व । मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा चकृणुह्यध्वरं नः ॥ तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्यज्ञस्य यानान्मधुना समञ्जन्स्वदय कल्याणजिह्व मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्धयन् देवान्नो यज्ञं गमय॥

* क्योंकि अग्नि यज्ञ का मुख्य उपकारक है, समिधा उसी को प्रदीप्त करने के लिये है। आगे भी शाकपूणि के पक्ष से आप्री देवता अग्नि ही है। वस्तुत: यज्ञांग समिधा आदि यहां आप्री देवता हैं, पर मुख्य देवता अग्नि ही है, यह उस के साधन हैं, इसलिये समष्टिपक्ष में अग्नि ही अभिप्रेत है॥

† अनन्तर=व्यवधान रहित अर्थात् पुत्र। अनन्तर उस से भिन्न पोता आदि॥

नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति । अग्निरिति शाकपूणिर्नरैःप्रशस्यो भवति। तस्यैषा भवति ॥८॥

हे तनूनपात् ( आज्य वा अग्नि ) यज्ञ के पहुंचाने वाले मार्गों ( हवियों ) को मधुर रस से चुपड़ कर ( वा पकाकर नए रस से प्रकट कर ) हे अच्छी जिह्वावाले स्वादु बना । अपनी प्रज्ञाओं और कर्मों से हमारे स्तोत्रों को और यज्ञ को समृद्ध बनाता हुआ, हमारे यज्ञ को देवताओं में कर ( १०।११०।२ ) हे तनूनपात् मार्गों को । ऋतस्य यानान् = यज्ञ के पहुंचाने वालों को । मधुररस से चुपड़ कर ( वा पाककृत रस से प्रकट कर ) स्वादु बना हे भली जिह्वा वाले । मनन के योग्यों (हमारे स्तोत्रों) को और यज्ञ को अपनी प्रज्ञाओं और कर्मों से समृद्ध बना। देवताओं को हमारा यज्ञ पहुंचा । ( ३-आप्री ) नराशंस यज्ञ है यह कात्थक्य मानता है, मनुष्य इस में बैठे हुए स्तुति करते हैं ( नर+आस्+शंस्+अ ) । ( नराशंस ) अग्नि है, यह शाकपूणि मानता है । ( अग्नि ) मनुष्यों से स्तुति के योग्य है ( नर+शंस् से ) । उसकी यह ( ऋचा ) है ॥८॥

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः । ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैर्ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि सोमं चेत-

शाणि चेति वा तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा ॥ ईळ ईट्टेः स्तुतिकर्मण इन्धतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥७

जो देवता अच्छी प्रज्ञा वा अच्छे कर्मों वाले, शुचि (शुद्ध पवित्र और चमकते हुए) कर्मों के धारने वाले दोनों प्रकार की हव्य वस्तुओं को स्वादु बनाते हैं, इन में से यज्ञों के द्वारा पूजनीय नराशंस की महिमा की हम स्तुति करते हैं (७।२।२) इन में से नराशंस की महिमा की हम स्तुति करते हैं, जो पूजा के योग्य हैं यज्ञों से। जो अच्छे कर्मों वाले, शुचि, ज्ञान के धारने वाले हैं, वह देवता दोनों प्रकार के हव्यों को स्वादु बनाएं, अर्थात् सोम और दूसरी हवियों (पुरोडाश आदि) को, अथवा सारे यज्ञों की सांझी (आज्य भाग) और अपनी २ अङ्ग (प्रधान हवि) को *। (४–आप्री) ईळ, † स्तुति अर्थवाले ईड् (अ०आ०) से वा इन्ध् (दीप्तौ, रु० आ०) से है। उसकी यह ऋचा है ॥ ७ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवनामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ आहूयमान ईळितव्यो वन्दितव्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणस्त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्व इति महतो नामधेयं यातश्च हूतश्च भवति। स

* अक्षरार्थ–तन्त्र सिद्ध, आवापिक=आवाप सिद्ध, उस यज्ञ में विशेषतया डालने से सिद्ध ।

† ईळ का अर्थ अन्न है, जो पुरोडाशादि रूप में यज्ञ का अंग है (देखो, ऐत० २।१।४)

एनान्यक्षीषितो यजीयान् । इषितः प्रेषितः इति वा-धीष्ट इति वा यजीयान्यष्टृतरः ॥ बर्हिः परिबर्हणात् । तस्यैषा भवति ॥८॥

हे अग्ने तू हवि सहित स्तुति के योग्य है*और वन्दनीय है, सो तू बुलाया हुआ वसुओं के साथ समान प्रीति वाला हुआ ( यज्ञ में ) आ। हे बड़े तू देवताओं का बुलाने वाला है, सो तू ( हमसे ) प्रेरा हुआ ( वा प्रार्थना किया हुआ ) इन ( देवताओं को ) पूज, तू जो ( मनुष्य होता से ) अधिक पूजने वाला है ( १.०।१.१।०१३ ) बुलाया हुआ तू हविसहित स्तुति के योग्य और वन्दनीय है, आ हे अग्ने वसुओं के साथ प्रीति वाला हुआ, तू देवताओं का हे बड़े! बुलाने वाला है। यह बड़े का नाम है, पहुंचा हुआ और बुलाया हुआ होता है ( या+हू, से )। वह तू पूज। 'इषितोयजीयान्' इषितः=प्रेरा हुआ वा प्रार्थना किया हुआ, यजीयान्=बढ़ कर पूजने वाला। बर्हिः, (कुशा) काटने से वा बढ़ने से। उस की यह ऋचा है ॥८॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्। व्युप्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्यावसनाया-स्याः प्रवृज्यतेऽग्रेह्नां बर्हिः पूर्वाह्णे तद्विप्रथते वितरं वि-कीर्णतरमिति विस्तीर्णतरमिति वा वरीयो वरतरमुरुतरं वा देवेभ्यश्चादितये च स्योनम्। स्योनमिति सुखनाम

---

* ईड् हवि सहित स्तुति में प्रयुक्त होता है।

स्यतेरवस्यन्त्यतत्सेवितव्यं भवतीति वा ॥ द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा । तासामेषा भवति ॥९॥

जो यह पूर्वाभिमुख कुशा है,यह इस पृथिवी( वेदि) के ढांपने के लिये दिन के आरम्भ में विधि से लाई जाती है,बहुत खुली फैलाकर इसे बिछाता है, जिस से कि देवताओं ( के बैठने) के लिये और अदिति के लिये सुखकारी हो *(१०।११०।४) पूर्वाभिमुख कुशा बतलाए मार्ग से इस पृथिवी के ढांपने के लिये लाई (वा छेदी) जाती है दिनों के आरम्भ में=पूर्वाह्ण में। उस को फैलाता है, ( वितरं ) खुला बिखेर कर, वा खुला फैलाकर । वरीयः = बहुत अच्छी वा बहुत खुली। देवताओं के लिये वा अदिति के लिये सुख कारी । स्योनं, सुख का नाम है । अवस्यति ( अव+षोऽन्त कर्मणि, दि० प० ) से । इस को अन्त में करते हैं (सुख मद्दाचिका अन्तिम उद्देश्य होता है ) अथवा सेवनीय होता है ( सेव् से है ) । (८-आप्री ) द्वारः ( = यज्ञ के द्वार ) जु ( भ्वा० प० ) द्रु ( भ्वा० प० ) से ( इन के द्वारा यज्ञ गृह में जाते हैं ) अथवा वारयति से ( इन के द्वारा अनभिमत को रोकते हैं ) । उनकी यह ( ऋचा ) है ॥९॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः । देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रय-

---

* अग्नि पक्ष में पूर्वीय अग्नि = आहवनीय, पृथिवी के ढांपने के लिये ( पृथिवी को साग्नि बनाने के लिये ) मन्त्र से प्रदीप्त की जाती है इत्यादि ( दुर्गाचार्य ) ।

न्तां पतिभ्य इव जाया ऊरू मैथुने धर्मे शुशोभिषमाणाः । वरतममङ्गमूरू । देव्यो द्वारो बृहत्यो महत्यो विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति । यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः ॥ उषासानक्तोषाश्च नक्ता चोषा व्याख्याता । नक्तेति रात्रिनामानक्ति भूतान्यवश्यायेनापि वा नक्ताव्यक्तवर्णा । तयोरेषा भवति १०

( द्वार ) पहुंच वाली विस्तार से खुली रहें, जैसे पतियों के लिये सजी हुई स्त्रियें, हे सब को तृप्त करने वाली द्वार देवियो! बड़ी चौड़ी हुई तुम देवताओं के लिये आसानी से चढ़ने योग्य बनो (१०।११०।५) पहुंच वाली विस्तार से खुली रहें, पतियों के लिये जैसे स्त्रियें ऊरुओं को मैथुन धर्म में (खुला करती हैं), बहुत सजी हुई । ऊरु=बहुत अच्छा अंग । हे द्वार देवियो ! बृहत्यः= बड़ी चौड़ी हुई । विश्वमिन्वाः= जिन से हर कोई (यज्ञ में) आता है । ( द्वार ) यज्ञ शाला के द्वार हैं, यह कात्थक्य मानता है, अग्नि है, यह शाक पूणि मानता है, ( अर्थात् अग्नि की किरण )= (अर्थ इस पक्ष में भी यही लग जायगा ) ( ६—आमी ) उषासा नक्ता । =उषा और रात्रि । उषा व्याख्या की गई है (२।१९)। नक्ता, रात्रि का नाम है । गीला करती है लोगों को ओस से । अथवा न+क्ता=न व्यक्त=न प्रकटरंगवाली ( दिन जैसे प्रकट रूप होता है वैसे रात्रि नहीं ) उन की यह ( ऋचा ) है ॥१०॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधिश्रियं

शुक्रपिशं दधाने ॥ सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वापय न्त्याविति वा सीदतामिति वा न्यासीदतामिति वा यज्ञिये उपक्रान्ते दिव्ये योषणे बृहत्यौ महत्यौ सुरुक्मे सुरोचने अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम् । शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । पेश इति रूपनाम पिंशतेर्विपशितं भवति । दैव्या होतारा दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः । तयोरेषा भवति ॥११॥

मुस्कराती हुई (वा मुसकराती हुई) यज्ञ के योग्य, (एक दूसरे के) निकट स्थित, बड़ी, अच्छी चमकने वाली, चमकते हुए रंग की शोभा को धारती हुई दिव्य स्त्रियें उषा और रात्रि (इस यज्ञ-) स्थान में बैठें (१.०।११०।६) हंसती हुई वा मुस्काती हुई। बैठें। यज्ञ के योग्य, एक दूसरे के निकट स्थित, दिव्य स्त्रियें, बड़ी। 'सुरुक्मे'=अच्छी चमकने वाली। धारण करती हुई, चमकते रंग वाली शोभा को। शुक्र, चमकने अर्थ वाले शुच् (भ्वा० प०) से है। पेशस् रूप का नाम है, पिश (तु० उ०) से। रंगा हुआ होता है। (७-आप्री) दैव्या होतारा= यह अग्नि और वह मध्यम=वायु। उन दोनों की यह ऋचा है॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय। प्रचो-

दयमानौ यज्ञेषु कर्त्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ॥तिस्रो देवीस्तिस्रो देव्यः। तासामेषा भवति

दैव्य दोनों होता मुखिया अच्छी वाणी वाले (हर एक) मनुष्य के यजन के लिये यज्ञ को उत्पन्न करते हुए, प्रेरते हुए यज्ञों में, करने वाले (यज्ञके) पूर्ववाली ज्योति (=आहवनीय अग्नि) को विधि से (पूजनीय) दिखलाते हुए (१०।११०।७) दैव्य होता, मुखिया, सुन्दर वाणी वाले, उत्पन्न करते हुए यज्ञ को, मनुष्य २ के यजन के लिये। प्रेरते हुए यज्ञों में, करने वाले (यज्ञ के) (आग्नि वायु के विना यज्ञ नहीं होसकता है) पूर्व दिशा में यजन करना चाहिये, यह बतलाते हुए। (८—आग्नी) तिस्रोदेवीः=तीन देवियें, उनकी यह ऋचा है ॥१२॥

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ऐतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्। भरत आदित्यस्तस्य भाः। इळा च मनुष्यवदिह चेतयमाना तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्मणा आसीदन्तु। त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः।तस्यैषा भवति

सूर्य की प्रभा जल्दी हमारे यज्ञ में आवे, तथा मनुष्य की न्याईं (अपने कर्तव्य को) जानती हुई इळादेवी यहां (आवे) तथा सरस्वती (आवे)। यह अच्छे कर्मों वाली तीनों देवियें इस सुखकारी कुशा पर बैठें (१०।११०।८) आवे हमारे यज्ञ में

भारती जल्दी । भरत सूर्य है उसकी प्रभा ( भारती ) और इळा मनुष्य की न्याई जानती हुई यहां ( आवे ) और सरस्वती । तीनों देवियें इस सुखकारी कुशा पर अच्छे कर्मों वाली बैठें । (९-आमी ) त्वष्टा= शीघ्र प्राप्त होता है ( त्वर्+अश्+ता से ) यह नैरुक्त मानते हैं । अथवा दीप्ति अर्थवाले त्विष् ( भ्वा०उ० ) से, वा बनाने अर्थ वाले त्क्ष ( भ्वा०प० ) से है, उसकी यह होती है ।१३

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा । तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोद्भूतानि च सर्वाणि तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान् । माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातोऽग्निरिति शाकपूणिः तस्यैषापरा भवति ॥१४॥

( विश्व के ) उत्पन्न करने वाली इन द्यौ और पृथिवी को और सारे भुवनों को रूपों से जिसने बनाया है (भिन्न२आकृतियों वाला बनाया है ) उस त्वष्टा देव को हे होतः ! ( हमसे ) प्रेरा हुआ तू आज यजन कर, तू जो पूरा यष्टा और विद्वान् है ( १०। ११०।९ ) जिसने ( विश्व के ) उत्पन्न करने वाली इन द्यौ और पृथिवी को रूपों से तय्यार किया है, और सारे भूतों को (रूपों से तय्यार किया है ) उस को, आज हे होतः! प्रेरा हुआ ( वा प्रार्थना किया हुआ ) उत्तम यष्टा तू त्वष्टा देव को, इस कर्म में पूज, तू जो जाननेवाला है॥ (यह त्वष्टा कौन है) त्वष्टा माध्यमिक ( मध्यम स्थानी वायु वा विद्युत् ) है, यह कई ( आचार्य कहते

हैं ) मध्यम स्थान में पढ़ा गया है *। अग्नि है, ' यह शाकपूर्णि मानता है, उस की यह और ( ऋचा ) है ( जो अग्नि के स्पष्ट चिन्ह वाली है ) ॥ १४ ॥

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते ॥ आविरावेदनात्त्यो वर्धते चारुरासु। चारुचरतेर्जिह्मं जिहीतेरूर्ध्व उच्छ्रितो भवति स्वयशा आत्मयशा उपस्थ उपस्थाने। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्। प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते। द्यावापृथिव्या-

---

* निघण्टु में त्वष्टा मध्यम स्थानी देवताओं में पढ़ा गया है, इस लिये माध्यमिक होना चाहिये। आप्री होने से यहां आप्री देवताओं में पढ़ा है, न कि पृथिवीस्थानी होने से, यह अभिप्राय है। किञ्च इस मन्त्र में त्वष्टा यजनीय कहा है, होता को उस के यजन करने की प्रेरणा की है, यह प्रेरने वाला मनुष्य होता है, जो मन्त्र पढ़ता है. इस लिये प्रेर्य होता मनुष्य होता से भिन्न दैव्य होता अग्नि होसकता है। सो जब यजन करने वाला अग्नि हुआ, तो उस से यजनीय त्वष्टा अग्नि नहीं हो सकता उससे भिन्न ही होसकता है, सो मध्यम स्थान में पढ़ने से माध्यमिक ही युक्त है।

' त्वष्टा उस ताप (अग्नि) का नाम है, जो पदार्थों के रासायनिक मेल में प्रकट होता है, अत एव भिन्न २ रूपों ( आकारों ) को बनाना इसका काम है, और यह तीनों लोकों में बन रहे हैं, इस लिये मध्यम स्थान में भी पढ़ा है, और उत्तम स्थान में भी पढ़ा है और इसी लिये ही पृथिवी स्थानियों में भी पढ़ा है, गर्भाशय स्थित रजवीर्य को भिन्न २ रूप देकर मनुष्यरूप बनाना आदि पार्थिव त्वष्टा का काम है। यज्ञ के अंगों का जो रूप है, वह इसी का दिया हुआ है, इसी लिये बहिय आप्री देवताओं में इस का यजन होता है॥

विति वाहोरात्रे इति वारणी इति वा प्रत्यक्के सिंहं सहनं प्रत्यासेवेते ॥१५॥

इति द्वितीयः पादः।

प्रकट होकर (अग्नि के रूप में प्रकाशमान होकर) वह सुहावना (त्वष्टा=अग्नि) इन (क्रियाओं) में बढ़ता है, तिरछों (काष्ठों) की गोद में ऊंचा उठता है अपने अधीन यश वाला*। उत्पन्न हुए त्वष्टा से दोनों कांपते हैं, दोनों लौट २ कर † उस सिंह की अलग २ सेवा करते हैं (१।९५।५ (आविः=जितलाने से=प्रकाशने से, उस में होने वाला=प्रकाशमान हुआ बढ़ता है सुहावना इन में। चारु, चर (भ्वा०प) से है, जिह्म, हा (जु०आ) से है। अर्ध्व ऊंचा होता है स्वयशाः=अपने अधीन यशवाला। उपस्थे=गोद में। दोनों उत्पन्न हुए त्वष्टा से कांपते हैं। दोनों लौट २ कर सिंह की अलग २ सेवा करते हैं, दोनों=द्यौ और पृथिवी वा दिन रात, वा दो अरणियें, लौटे हुए, सिंहं=सहारने वाले को, अलग २ सेवा करते हैं ॥ १५ ॥

वनस्पतिर्व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥१६॥

(११-आमी) वनस्पति व्याख्या किया गया है (८।३ में) उसकी यह (ऋचा) है ॥१६॥

---

* टेढ़ों के मध्य में सब की अधोगति हुआ करती है, पर यह उन में भी ऊपर उठता है। † अर्थात् वार २=प्रति दिन।

उपावसृज त्मन्यासमञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा ह-वींषि । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन्देवा-नामन्नमृतावृतौ हवींषि कालेकाले । वनस्पतिः श-मिता देवो अग्निरित्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च । तत्को वनस्पतिः । यूप इति कात्थ-क्यः।अग्निरिति शाकपूणिः तस्यैषापरा भवति ॥१७॥

( हे वनस्पते)स्वयं देवताओं के अन्न और हवियों को प्रकट करता हुआ अपने२ समय पर उनको दे । वनस्पति,शमिता और अग्निदेव मधु से और घृत से हव्य को स्वादु बनावें ( १०।११०। १० ) दे स्वयं अपने को, प्रकट करता हुआ देवताओं के अन्न को । ऋतु ऋतु में = समय समय पर, हवियों को । वनस्पति, शमिता, और अग्निदेव यह तीनों स्वादु बनाएं हव्यको मधु से और घृत से । सो कौन है वनस्पति ? यूप है यह कात्थक्य मानता है, अग्नि है यह शाकपूणि मानता है, उसकी यह और है ॥१७॥

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन । यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातु-रस्या उपस्थे ॥ अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान्कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च । यदूर्ध्वः स्था-स्यसि द्रविणानि च नो दास्यसि । यद्वा ते कृतःक्षयो

मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने । अग्निरिति शाकपूणिः । तस्यैषाऽपरा भवति॥१८॥

हे वनस्पते देवताओं को प्यार करने वाले यज्ञ में तुझे दैव्य मधु * (=घृत) से चुपड़ते हैं, सो तू चाहे ऊंचा खड़ा हो, यद्वा इस माता (पृथिवी) की गोदमें (तेरा) वास हो (लेटा हो) (सर्वथा) यहां हम में धनदे (३।८।१) चुपड़ते हैं तुझे यज्ञ में देवताओं को प्यार करने वाले। हे वनस्पते! दैव्य मधु से=घृत से, जो तू ऊंचा खड़ा होगा और हमें धन देगा। यद्वा इस माता की गोदमें तेरा वास किया गया। अग्नि है, यह शाकपूणि मानता है, उसकी यह और है ॥१८॥

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्।प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः ॥ देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण ऋतपर्णापि वोपमार्थे स्याद्धिरण्यवर्णपर्णेति। प्रदिवस्ते अर्थं पुराणस्ते सोऽर्थो यंते प्रब्रूमो यज्ञस्य वह पथिभी रजिष्ठैर्ऋजुतमैः रजस्वलतमैः।प्रपिष्ठतमैरिति वा। तस्यैषापरा भवति ॥१९॥

सुनहरी (तेजोमय) पत्तोंवाले हे वनस्पते! प्रदक्षिण जाता हुआ † तू यज्ञ के सरल सीधे मार्गों से देवताओं के लिये रस्सी

---

* एतद्वै दैव्यं मधु यदाज्यम् (ऐत० २।१।२)॥

† प्रदक्षिण क्रम से देवताओं के पास हविलेजाने की मर्यादा है (दुर्गाचार्य)

( खींचने वाली शक्ति ) से बांध कर हवियें लेजा, यह तेरा सनातन अधिकार है ॥ देवताओं के लिये हे वनस्पते हवियें, हे सुनहरी पत्तों वाले, वा यज्ञ रूपी पत्तों वाले. अथवा उपमा अर्थ में हो सकता है, सोने के रंग के सदृश रंग वाले पत्तों वाले। प्रदिवस्ते अर्थ = पुराना है वह तेरा काम, जो तुझे कहते हैं। यज्ञ के, लेजा मार्गों से, ऋजिष्ठैः = बड़े सरलों से वा बड़े जलवालों से वा उत्तम रूप वालों से। उस की यह और (ऋचा) होती है।१९

वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः ॥ वनस्पते रशनया नियूय सुरूपतमया वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन्वह देवान् यज्ञ दातुर्हवींषि प्रब्रूहि च दातारममृतेषु देवेषु ॥ स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तासामेषा भवति ॥२०॥

हे वनस्पते! हमारे कर्मों को जानता हुआ तू दाता की हवियों को अत्यन्त सुरूप वाली रस्सी से बांध कर देवओं में लेजा, और दाता को देवताओं में (जाकर) वतला ॥ हे वनस्पते अति सुरूपा रस्सी से बांध कर, प्रज्ञानों को जानता हुआ, प्राप्त करा देवताओं में, (१.२—आप्री) स्वाहा कृतयः। स्वाहा=शुभ कहना (सु+आह) अथवा जो अपनी=वाणी=वेदवाणी कहती है। (स्वा+आह) अथवा अपने को कहता है, अथवा शुभ आहुति

हो, इस अभिप्राय से हवि होमता है (सु+आ+हु)। उन की ( स्वाहाकृतियों ) की यह ( ऋचा ) है ॥२०॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः। अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाम्यस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाच्यास्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा इति यजन्ति ॥ इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ताः। अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजा। आग्नेया इत्येके ॥ २१ ॥

अग्नि झटपट प्रकट होकर यज्ञ को रचता है, और देवताओं का अग्रगामी होता है। पूर्व दिशा में ( आहवनीय में ) आए इस होता की वाणी (मुख) में स्वाहा की हुई हवि को देवता खावें ( १०।११०।११ ) जल्दी प्रकट होते ही रचता है यज्ञ को अग्नि, और देवताओं का होता है पुरोगामी। इस होता की प्रकृष्ट दिशा ( पूर्व दिशा ) में पहुंचे हुए की, वाणी में=मुख में, स्वाहा किये हवि को खावें देवता। यह आप्री देवता क्रमसे कहे हैं, ( अब प्रयाजों और अनुयाजों का ) विचार करते हैं, किस देवता वाले हैं प्रयाज और अनुयाज *। अग्नि देवता वाले हैं यह कई कहते हैं ॥ २१ ॥

प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्। घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्ने-

* प्रयाजनामी और अनुयाजनामी हविर्भाग।

श्च दीर्घमायुरस्तु देवाः । तव प्रजाया अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः । तवाग्ने यज्ञोऽ३यमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः । आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । छन्दोदेवता इत्यपरं छन्दांसि वै प्रयाजा छन्दांस्यनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । ऋतुदेवता इत्यपरमृतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयजा इति च ब्राह्मणम् । पशुदेवता इत्यपरं पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । प्राणदेवता इत्यपरं प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । आत्मदेवता इत्यपरमात्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् । आग्नेया इति तु स्थितिः । भक्तिमात्रमितरत् । किमर्थं पुनरिदमुच्यते । यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्निति ह विज्ञायते ॥ तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि । तेषां वासिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदमिति नाराशंसवन्ति मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकमित्युभयवन्त्यतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति ॥ २२ ॥

( अग्नि कहता है ) हे देवताओ प्रयाज और अनुयाज निरे

मुझे दो, और हवि का सार वाला भाग ( स्विष्टकृत् भाग ) मुझे दो, जलों का सार घृत और ओषधियों का सार(पुरुष भाग दो ) और अग्नि की दीर्घ आयु हो। ( विश्वेदेव उत्तर देते हैं ) प्रयाज और अनुयाज निरे तेरे होंगे,और हवि के भी जो सारवाले भाग हैं, हे अग्ने यह सारा यज्ञ ही तेरा हो, तेरे लिये झुकें चारों दिशाएं ( १०।५१।८-९ )। 'आग्नेय हैं प्रयाज और आग्नेय हैं अनुयाज' यह ब्राह्मण है। छन्दो देवता वाले हैं ( प्रयाज और अनुयाज ) यह दूसरा मत है। 'छन्द हैं प्रयाज और छन्द हैं अनुयाज' यह ब्राह्मण है। ऋतुदेवता वाले हैं यह और मत है। ऋतु हैं प्रयाज और पशु हैं अनुयाज'यह ब्राह्मण है। प्राण देवता वाले हैं, यह और मत हैं। प्राण हैं प्रयाज और अपान हैं अनुयाज' यह ब्राह्मण है। अपना आप देवता वाले हैं यह और मत हैं 'अपना आप हैं प्रयाज और सन्तान हैं अनुयाज' यह ब्राह्मण है। किन्तु आग्नेय हैं यह निर्धारण है। दूसरा मत औपचारिकमात्र है)आग्नेय होने में मन्त्र प्रमाण है—दूसरे मतोंमें निरे ब्राह्मण वचन हैं, सो ब्रह्माण वचन प्रायः औपचारिक होते हैं देखो ७।२४ ) (प्रश्न)किस लिये यह कहा है(प्रयाज अनुयाज के देवता का विचार) ( उत्तर ) 'जिस किसी देवता के लिये हवि ग्रहण की हो, उस को मन से ध्यान करे, जब वषट् करने लगे' यह जाना जाता है ( ब्राह्मण है ) ( सो अग्नियों के सम्बन्ध में प्रयाज अनुयाज के देवता निर्णय किये बिना किसका ध्यान करे, इसलिये इन के देवता का निर्ण। किया है)। सो यह ग्यारह हैं आप्री सूक्त। उनमें से वसिष्ठ का ( ७।२।३ ) अत्रिका, ( ५।१।५ ) वध्र्यश्व का ( १०।७०।२ ) और गृत्समद का ( २।३।३ ) यह, नराशंस

देवता वाले हैं। मेधातिथि का ( १।४।२ ) दीर्घतमा का (१।२१।३ ) और मैषिक (मैष ग्रन्थ में कहा ) यह दोनों वाले ( नराशंस और तनूनपात् वाले) हैं। इन से भिन्न अर्थात् अगस्त्य वा अंगिरा का १।२४।१८ विश्वामित्र का ३।१।१४, कश्यप का ९।११५ जमदग्नि का १०।९।११ तनूनपात वाले हैं * ॥ २२ ॥

# नवमोऽध्यायः ।

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः । तेषामश्वः प्रथमागामी भवति । अश्वोव्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥१॥

*अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः। शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मन्डूक इच्छति इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ अश्वो वोढा सुखं वोढा रथं वोढा । सुखमिति कल्याणनाम कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति सुहितं गम्यतीति वा । हसैता वा पाता वा पालयिता

* आप्री सूक्त तीन प्रकार के हैं,एक वह जिन में नराशंस देवता हैं, पर तनूनपात् नहीं: दूसरे वह हैं, जिन में तनूनपात् है, पर नराशंस नहीं, तीसरे वह हैं, जिन में दोनों हैं ।

* यह खण्ड यहां असम्बद्ध है, टीकाकार से अव्याख्यात है। न पाठ ठीक है । तथापि अंक इसके अनुसार आजकल उद्धृत हो रहे हैं, इस लिये पाठ रहने दिया है ॥

वा । शेपमृच्छतीति वारि वारयति ॥ मानो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति ॥२॥

मानो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् । यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥ यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेःसरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि मानस्त्वं मित्रश्च वरुणश्चार्यमा चायुश्च वायुरयन इन्द्रश्चोरुक्षयण ऋभूणां राजेति वा मरुतश्च परिख्यन् । शक्रुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शक्नोति नदितुमिति वा शक्नोति तकितुमिति वा सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा शक्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥ ३ ॥

अब जो पृथिवी स्थानी द्रव्य स्तुति पाते हैं, उन को आगे क्रम से कहेंगे । उन में से अश्व प्रथमागामी होता है । अश्व व्याख्या किया गया है ( २।२७ में ) उस की यह (ऋचा)॥१॥ देवताओं से उत्पन्न हुए गतिशील अश्व के, जिस लिये यज्ञ में हम सामर्थ्य कहेंगे, इस से मित्र, वरुण, अर्यमा, आयु (वायु) बड़े निवास वाला इन्द्र और मरुत् मत हम पर आक्षेप करें (किन्तु अनुमति दें ( १।१६२।२ ) जिस लिये देवताओं से उत्पन्न हुए (जैसा कि कहा है सूराद्श्वं वसवो निरतष्ट १। १६३।२ ) । सप्तेः=गतिशील के । कहेंगे । विदथे=यज्ञ में ( वीरोचित—) सामर्थ्य, मत हमें इस से मित्र वरुण अर्यमा और

आशु=गति शील, वायु। और इन्द्र, (ऋभुक्षा) बड़े निवास वाला (खुले अन्तरिक्ष में रहने वाला उरु+क्षय से) अथवा ऋभुओं का राजा (ऋभु+क्षा) और मरुत, आक्षेप करें। (२—) शकुनि=समर्थ होता है अपने आप को ऊंचा ले जाने के (शक्+उत्+नीः) वा समर्थ होता है बोलने के (शक्+नद्) वा समर्थ होता है उड़ने के (शक्+तक्, भ्वा० प०) अथवा सब ओर से कल्याणकारी हो (यह जिस के विषय में चाहते हैं) (शं+कु) अथवा निरे शक् (स्वा० प०) से है। उस की यह ऋचा है ॥ ३ ॥

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत ॥ न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणो यथास्य शब्दस्तथा नामेरयति वाचमीरयितेव नावम्। सुमंगलश्च शकुने भव कल्याणमंगलः। मंगलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा। गलंमगवत्। मज्जयति पापकमिति नैरुक्ता मां गच्छत्विति वा। मा च त्वा का चिदभिभूतिः सर्वतो विदत्। गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ ४ ॥

बार २ शब्द करता हुआ (अपने) जन्म को कहता हुआ तू वाणी को प्रेरता है, जैसे नाविक नौका को। हे शकुने शुभ

मंगल वाला हो, मत तुझे कोई उपद्रव किसी भी ओर से जाने ( २।४२।१ ) बार शब्द करता है जन्म को कहता हुआ=जैसा इस का शब्द है, वैसा नाम है। प्रेरता है तू वाणी को (वार २), जैसे (नौका का) प्रेरने वाला नौका को। हे शकुने हो हमारे लिये सुमंगल=अच्छे मंगल वाला। मंगल, गृ ( क्र्या० प० ) के अर्थ (=स्तुति अर्थ ) में वर्तमान गृ ( तु० प० ) से है ( स्तुति के योग्य होता है ) अथवा अनर्थों को निगलता है ( गृ निगरणे तु०प०)। अथवा अङ्गल है=अंगों वाला (दृष्टी शब्द आदि अंगों वाला-अङ्गल, इस के आदि में म आकर मंगल हुआ है) अथवा पाप ( अनिष्ट ) को नाश करता है (मज्ज् से मंगल) यह नैरुक्त मानते हैं। अथवा मुझे प्राप्त हो ( ऐसा चाहा जाता है। मां+गम् से )। मत तुझे कोई दबाव (उपद्रव) किसी ओर से जाने॥ किसी काम के लिये तय्यार होकर खड़े हुए गृत्समद की ओर कपिञ्जल ( पक्षी ) ने शब्द किया, उस विषय के कहने वाली यह ( ऋचा ) है ॥४॥

भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद। भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जलः॥इति सा निगदव्याख्याता॥गृत्समदो गृत्समदनो गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः॥ मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा। तेषामेषा भवति॥५॥

हे कपिञ्जल, दक्षिण से भद्र कहो, उत्तर से भद्र कहो, भद्र हमारे लिये सामने से कहो और भद्र पीछे से कहो ॥ यह पढ़ने से ही व्याख्या की गई है। गृत्समद=बुद्धिमान् और हर्ष से भरा हुआ। गृत्स बुद्धिमान् का नाम है, स्तुति अर्थ वाले गृ (क्र्या० प०) से ॥ (३—) मण्डूकाः=मज्जूकाः=डुबकी लगाने से (जल में डुबकी लगा जाते हैं, मज्ज्, अ० प० से) अथवा प्रमोद अर्थ वाले मद् (भ्वा० प०—देखो पूर्व ३।१९ में अर्चनार्थक धातु) से। (सदा प्रसन्न होते हैं) अथवा तृप्ति अर्थ वाले मन्द् (भ्वा० आ०) से है (सदा तृप्त होते हैं)। मण्ड (चु० उ०) से है, यह वैयाकरण मानते हैं (अनेक चित्रों से भूषित होते हैं) अथवा जलों में इनका निवास है (मण्ड+ ओकस् से) मण्ड मद् से वा मुद (भ्वा० आ०) से। उन की यह ऋचा है ॥५॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ॥वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि वोपमार्थे स्याद् ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति।वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुर्मण्डूकाः। वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान्दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्भवति ॥६॥

व्रतचारी ब्राह्मणों की न्याई बरस भर (शरत से लेकर वर्षा के आने तक) लेटे हुए मण्डूक मेघ से प्यार की हुई वाणी

को बोले ( ७।१०३।१ ) बरस भर लेटे हुए ब्राह्मण व्रतचारी अर्थात् न बोलते हुए ( वाणी का संयम किये हुए ) अथवा उपमा के अर्थ में हो सकता है, ब्राह्मणों की न्याईं व्रतचारी ( जैसे ब्राह्मण वर्षा ऋतु में उपाकर्म में वेदवाणी को उचारते हैं, वैसे ) मेघ से प्यार की हुई वाणी को उचारते भए मण्डूक॥ वर्षा की कामना वाले वसिष्ठ ने मेघ की स्तुति की, मण्डूकों ने उसका अनुमोदन किया, तब उसने अनुमोदन करते हुए मण्डूकों को देख कर ( उन्हीं की ) स्तुति की। उस के कहने वाली यह ( ऋचा ) है ॥६॥

उप प्र वद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ इति सा निगद व्याख्याता॥ अक्षा अश्नुवत एनानिति वाभ्यश्नुवत एभिरिति वा तेषामेषा भवति॥ ७॥

पास आकर बोल हे मण्डूकि, वर्षा को बतला हे तैरने वाली। तालाब के मध्य में चारों पैर फैलाकर तैर। यह पाठ से ही व्याख्यात है। ( ४-) अक्षाः=व्यापते हैं इन को ( जुआरिये ) अथवा इन से ( एक दूसरे के धन को ) प्राप्त होते हैं। उन की यह ( ऋचा ) है ॥ ७ ॥

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृताना। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे

वर्त्तमानाः । इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः । मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान्मुञ्जो विमुच्यत इषीकया । इषीकेषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव । विभीदको विभेदनाज्जागृविर्जागरणान्मह्यमचच्छदत् । प्रशंसत्येनान्प्रथमया निन्दत्युत्तराभिर्ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्षं वेदयन्ते ॥ ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा । तेषामेषा भवति

बड़े के ( फल ) प्रचुर वायु वाले स्थान में उत्पन्न हुए, कालरी भूमि में होने वाले कांपते हुए अक्ष मुझे मस्त करते हैं। जगाने वाला * अक्ष, मूजवान् में उत्पन्न हुए सोम के भक्ष की न्याई मुझे उत्साहित करता है ( १०।३४।१ ) कांपते हुए वह मुझे को, बड़े विभीदक के जो फल हैं, मस्त करते हैं । प्रवातेजाः=उत्तम वन में उत्पन्न हुए। कालरी भूमि में वर्तमान । इरिणं=जल शून्य, अथवा ऋ ( ऋचा०प० ) से । अलग हुआ होता है । अथवा इस से ओषधियें अलग हुई होती हैं ( रम् से )। मूजवान् में उत्पन्न हुए सोम का जैसे भक्ष । मौजवत=मूजवान् में उत्पन्न हुआ । मूजवान्. पर्वत है=मुञ्जवाला । मुञ्ज = तील से छुड़ाई जाती है । इषीका, गति अर्थ वाले इष् ( भ्वा०उ० ) से ( मुञ्ज से निकाली हुई होती है )। यह दूसरी इषीका ( बाण )

---

* अक्ष जुआरियें को जगाते हैं, रात के समय खेलने में । वा जीतने वाला हर्ष में जागता है, और हारने वाला शोक में उनिद्र रहता है ।

भी इसी से है। विभीदक=फोड़ने से (वि+भिद्, रु०उ०) जागृवि=जागने से। मुझे उत्साहित करता है। प्रशंसा करता है इन को (अक्षोंको) पहली ऋचा से, और निन्दता है अगली ऋचाओं से। अक्षों से शिथिल हुए ऋषि का यह आर्ष जानते हैं। (८) ग्रावाणः=हन् (अ०प०) का (सोम को ताड़ते हैं) वा गॄ (क्र्या०प०) का, (स्तुति किये जाते हैं) वा ग्रह (क्र्या०उ०) का, (ग्रहण किये जाते हैं) उन की यह (ऋचा) है ॥ ८ ॥

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥ प्रवदन्त्वेते प्रवदाम वयं ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यो यदद्रयः पर्वता आदरणीयाः सह सोममाशवः क्षिप्रकारिणः। श्लोकः शृणोतेर्घोषो घुष्यतेः। सोमिनो यूयं स्थेति वा सोमिनो गृहेष्विति वा। येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रस्तस्यैषा भवति ॥ ९ ॥

यह (ग्राव) बोलें (शब्द करें) हम स्तुति करें, (हे ऋत्विजो!) बोलते हुए (शब्द करते हुए) ग्रावों के लिये वाणी बोलो (मन्त्र पढ़ो) जब तुम हे आदरणीय ग्रावो जल्दी करते हुए मिल कर सुनने योग्य शब्द इन्द्र के लिये धारते हो, तब तुम सोमवाले बनते हो (१०।९४।१) बोलें यह, बोलते हैं हम, ग्रावों के लिये वाणी बोलो, बोलते हुओं के लिये, जब अद्रयः=आदरणीय, ग्राव इकट्ठे सोम को, आशवः=जल्दी तय्यार करते हुए, श्लोक,

(भृ भ्वा०प) से धोष, घुष (चु० उ०) से है। (तव तुम) सोम वाले होते हो, अथवा सोम वाले (यजमान) के घरों में (इन्द्र के लिये) शब्द करते हो। (९) जिस से मनुष्य स्तुत किये जाते हैं, वह नाराशंस मन्त्र होता है, उसकी यह ऋचा है ॥९॥

अमन्दान्स्तोमान्प्रभरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य। यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः॥ अमन्दान्स्तोमानबालिशाननल्पान्वा। बालो बलवर्ती भर्तव्यो भवत्यम्बाऽस्मा अलं भवतीति वाम्बास्मै बलं भवतीति वा बलं प्रतिषेधव्यवहितः। प्रभरे मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा। सिन्धावधि निवसतो भावयव्यस्य राज्ञो यो मे सहस्रं निरमिमीत सवानतूर्तो राजातूर्ण इति वात्वरमाण इति वा प्रशंसामिच्छमानः ॥१०॥

सिन्धु पर रहते हुए भावयव्य के मैं गम्भीर (वा बड़े) स्तोत्र रचता हूं, जिस यश चाहते हुए न जल्दी करने वाले राजा ने मेरे बहुत से सोमयज्ञ पूरे किये (१।१२६।१) अमन्दान्=न बच्चों के योग्य (गम्भीर) वा छोटे। बालः=बल से वर्तता है (बल+अण्) अथवा माता इस के लिये पर्याप्त होती है (अम्बा+अल) अथवा माता इस के लिये बल होती है (अम्बा+बल) अथवा बल (शब्द) है निषेध के व्यवधान वाला (अबलः=बल हीन। निषेधार्थक अबल के मध्य में अ आकर ब+अ+ल=बालः हुआ है)। रचता हूं। मनीषया=मन में गतिवाली स्तुति से वा प्रज्ञा से। सिन्धु पर निवास

करते हुए भावयव्य राजा की, जिसने मेरे बहुत से सोमयज्ञ पूरे किये । अतूर्तः=न चञ्चल=गम्भीर वा न जल्दी करते हुए अर्थात् धीरे २ सभीयज्ञ पूरे करा दिये प्रशंसा चाहते हुए ने ॥ १० ॥

यज्ञ संयोगाद्राजा स्तुतिं लभते राजसंयोगाद्युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा।तस्यैषा भवति॥

यज्ञ के सम्बन्ध से राजा स्तुति पा सकता है, राजा के सम्बन्ध से युद्ध के साधन । इन में से रथ पहले आने वाला है, रथ गति अर्थ वाले रंह ( भ्वा०प० ) का । अथवा उलटे हुए स्थिराते ( नामधातु ) का है ( स्थिर=थर=रथ ) ( उस में योद्धा बड़ी अच्छी तरह स्थिर होता है ) अथवा रमण करता हुआ इस में स्थित होता है ( रम्+स्था ) अथवा ( शब्द अर्थ वाले ) रप् ( भ्वा०प ) वा रस् ( भ्वा०प० ) का है । उसकी यह है ॥११॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ वनस्पते दृढाङ्गो हि भवास्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः कल्याणवीरो गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वेति संस्तम्भस्वास्थाता ते जयतु जेतव्यानि॥ दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणं द्रुमो भिन्न इति वा दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः । तस्यैषा भवति ॥१२॥

हे वनस्पते ( वनस्पति विकार=रथ ) दृढ अंगोंवाला, बढाने वाला, अच्छे वीरों वाला हो,हम तेरे सखा हों, चमड़े से तू मढ़ा हुआ है, दृढ हो, तेरा सवार जीतने योग्यों को जीते ( ६।४०।२६ ) हे वनस्पते दृढ अंगोंवाला हो, तू जिस के हम सखा हैं, बढाने वाला, अच्छे वीरों वाला, चमड़े से मढ़ा हुआ है, थाम ( अपने आप को )। तेरा सवार जीते जीतने योग्य ( वस्तुओं ) को (८— ) दुन्दुभि, यह शब्द का अनुकरण है ( ताड़ना किया हुआ जो शब्द बोलता है दुंदुभि, वही उस का नाम रख दिया गया है )। अथवा वृक्ष फोड़ा हुआ ( द्रुम+भि द् से ) अथवा शब्द अर्थ वाले दुन्दुभ्यति का। उस की यह है ॥ १२ ॥

उप श्वासय पृथिवी मुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्। स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अपसेध शत्रून् ॥ उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत्स दुन्दुभे सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून्। इषुधिरिषूणां निधानम्। तस्यैषा भवति।

हे दुन्दुभे ! पृथिवी को और द्यौ को गुंजादे, सर्वत्र स्थावर जंगम तेरा ( सिक्का ) मानजाएं, इन्द्र के और देवताओं के साथ समान प्रीति वाला हुआ तू शत्रुओं को दूर से दूर हटा दे ( ६।४७।२९ ) गुंजादे पृथिवी को और द्यौ को, तेरी ध्वनि अनेक प्रकार से मानें स्थावर और जंगम। हे दुन्दुभे समान प्रीति वाला तू इन्द्र और देवताओं के साथ, दूर से दूर हटा

शत्रुओं को । ( ९ ) इषुधिः,=तीरों का निधान ( भत्था=तर-कश ) उस की यह है ॥ १३ ॥

**बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य । इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥ बहूनां पिता बहुरस्य पुत्र इतीषूनभिप्रेत्य प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः शब्दानुकरणं वा । सङ्काः सचतेः सम्पूर्वाद्वा किरतेः । पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत इति व्याख्यातम् ॥ हस्तघ्नो हस्ते हन्यते । तस्यैषा भवति ॥१४॥**

(यह) बहुतों ( बाणों ) का पिता, और बहुत इस के पुत्र हैं (=बाण) । युद्ध में पहुंच कर चिश्चा ( शब्द ) करता है (बाणों को निकालते समय ) । इषुधि ( योद्धा की ) पीठ पर बांधा हुआ प्रेरता हुआ ( फैंकता हुआ ) सारे संकटों और सेनाओं को जीतता है ( ६।७५।५ ) बहुतों का पिता, बहुत इस का पुत्र है, बाणों के अभिप्राय से कहा है ( चिश्चाकृणोति ) मानों हंसता है ( बाणों की धात की नोकों से ) जब कि खुलता है; अथवा शब्द का अनुकरण है (चिश्चा शब्द करता है) । सङ्काः, सच ( भ्वा० आ० ) से वा संपूर्वक कॄ ( तु० प० ) से है । पीठ पर बांधा हुआ जीतता है प्रेरा हुआ । यह व्याख्यात है । ( १०— ) हस्तघ्नः*=हाथ पर ताड़ना किया जाता है ( ज्या से— ) उसकी यह है ॥ १४ ॥

---

* ज्या की रगड़ से बचने के लिये कलाई पर बांधा हुआ गोधा चर्म हस्तघ्न है ।

अहिरिव भोगैः पर्यैति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः।हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः ॥ अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुं ज्यायावधात्परित्रायमाणो हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन्पुमान्पुरुमना भवति पुंसतेर्वा ॥ अभीशवो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥१५॥

सांप की न्याईं अपने शरीर से भुजा ( कलाई ) को लपेटता है * ज्याकी वाधा को रोकता हुआ, सारे ज्ञानों को जानता हुआ वह पुरुष ( सामर्थ्य वान् ), पुरुष ( धनुर्धारी ) की सब ओर से रक्षा करे ( ६।७५।१४ ) सांप की न्याईं शरीर से लपेटता है भुजा को, ज्या की बाधा से बचाता हुआ हस्तघ्न सारे प्रज्ञानों ( कर्तव्य ज्ञानों ) को जानता हुआ । पुमान् = बड़े मन वाला होता है ( पुरु+मनस् ) अथवा पुंस् ( चु० उ०) से है। ( ९.१- ) अभीशवः = व्याख्या किया गया है (३।९में) उन की यह है ॥ ९.५ ॥

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः । अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ रथे तिष्ठन्नयसि वाजिनः पुरस्तात्सतो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः कल्याणसारथिरभीशूनां महिमानं पूजयामि मनः पश्चात्सन्तो-

* सांप भी पकड़ने वाले की भुजा को लपेटता है ।

ऽनुयच्छन्ति रश्मयः ॥ धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा धन्वन्त्यस्मादिषवः । तस्यैषा भवति ॥१६॥

उत्तम सारथि रथ पर बैठ कर आगे वर्तमान घोड़ों को जहां २ चाहता है, लेजाता है । उन बागों की महिमा गाओ, जो बागें ( सारथि के ) मन के पीछे ( मनु के अनुकूल ) घोड़ों को नियम में रखती हैं ( ६।७५।६ ) रथ पर बैठा हुआ लेजाता है, घोड़ों को जो आगे हैं, जहां २ चाहता है, सुसारथिः=अच्छा सारथि । बागों की महिमा का आदर करता हूं*,जो बागें मन के अनुकूल हुई(घोड़ोंको)नियम में रखती हैं । (१२--) धनुस्, गति अर्थ वाले वा वध अर्थ वाले धन्व (भ्वा०प) से है । इस से बाण निकलते हैं ( अथवा मारता है शत्रुओं को ) उसकी यह है ॥१६॥

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम । धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ इति सा निगदव्याख्याता । समदः समदो वात्तेः, सम्मदो वा मदतेः ॥ ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा । तस्या एषा भवति ॥१७॥

---

* पनायत, मध्यम पुरुष का बहु वचन है, अर्थ होना चाहिये स्तुति करो=गाओ । पर निरुक्त में इस के अर्थ के स्थान 'पूजयामि' पाठ दिया है, इस पर दुर्गाचार्य ने लिखा है, यहां सम्बोध्य कोई नहीं, इस लिये 'पनायत' का अर्थ 'पूजयामि' पुरुष और वचन के व्यत्यय से किया है । किन्तु सायण ने जो पाठ उद्धृत किया है, उस में पाठ 'पूजयत' है ।

धनुष से हम गौएं, धनुष से हम आजि ( मैच) जीतें, धनुष से तीव्र संग्रामों को जीतें, धनुष शत्रु को दूर हुई कामना वाला करे, धनुष से हम सारी दिशाओं को जीतें (६।७५।२) यह पाठ से ही व्याख्यात है। समदः=अच्छी तरह खाने वाले, अद् (अ० प० ) से (युद्ध में योद्धा मानो परस्परखाते हैं ) अथवा अच्छे हर्ष वाले (हृष्ट हुए योद्धा इनमें युद्ध करते हैं)। सं+मद से ( १३- ) ज्या ( धनुष का गोशा ) जि ( भ्वा० प ) से वा जी ( क्या० प० ) से ( उसके बल से जीतते हैं ) अथवा बाणों को चलाती है ( जु० से ), उस की यह है ॥१७॥

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती"॥ वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रिय-मिव सखायमिषुं परिष्वजमाना योषेव शिङ्क्ते शब्दं करोति वितताधि धनुषि ज्येयं समने सङ्ग्रामे पार-यन्ती पारं नयन्ती॥ इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा। तस्यैषा भवति ॥१८॥

ज्या अपने प्रिय सखा ( बाण को ) आलिंगन करती हुई, ( रहस्य ) कहने वाली की न्याईं कान के पास आती है, संग्राम में धनुष पर तनी हुई ( संग्राम के ) पार पहुंचाती हुई यह स्त्री की न्याईं मधुर शब्द करती है (६।७५।३) (वक्ष्यन्ति', इव) कहने वाली की न्याईं आती है कान के पास, प्रिय सखा की न्याईं बाण को आलिंगन करती हुई। स्त्री की न्याईं 'शिङ्क्ते=शब्द करती है

धनुष पर तनी हुई ज्या यह। समने=संग्राम में' पारयन्ती=पार पहुंचाती हुई (१४-) इषु, गति अर्थ वाले वा वध अर्थ वाले ईष (भ्वा०उ०) से है (मार डालने के लिये जाता है, वा मारता है) उस की यह है ॥१८॥

"सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ॥ यत्रा नरःसं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्" ॥ सुपर्णं वस्त इति वाजानभिप्रेत्य मृगमयो ऽस्या दन्तो मृगयतेर्वा गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूतेति व्याख्यातम् । यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु शरणं सङ्ग्रामेषु ॥ अश्वाजनीं कशेत्याहुः । कशा प्रकाशयति भयमश्वाय । कृष्यतेर्वाणूभावाद् । वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्खशया क्रोशतेर्वा । अश्वकशाया एषा भवति ॥१९॥

वाज़ (=घोड़े) को ढांपलेता है, इस का दांत मृग का (वा ढूंढने वाला) है, गोके (नाड़ और चर्बी) से लपेटा हुआ उड़ कर जापड़ता है। जहां वीर पुरुष इकट्ठे मिल २ कर और अलग २ धावे करते हैं, वहां बाण हमारे लिये कल्याण देवें (६।७५। ११) वाज़ को ढांपता है, यह घोड़ों को लक्ष्य करके कहा है (संग्राम में घोड़े वाज़ों की न्याईं झपटते हैं। बाण घोड़ों को ढांपता है=बाणों की वर्षा से घोड़े ढपजाते हैं) इसका दान्त मृगका होता है (मृग के सींग का इस के आगे फाला होता है)

अथवा ( मृग ) मृग ( चु०उ० ) से है (अर्थात् शत्रुओं को ढूंढता है ) 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' व्याख्या किया गया है ( पूर्व ३।९ में ) जहां वीर पुरुष इकट्ठे धावा करते हैं और अलग २ धावा करते हैं। वहां हमें वाण शर्म=शरणं=रक्षा। दें संग्रामों में। (१९-)अश्वाजनी चाबुक को कहते हैं। कशा *=घोड़े के लिये भय प्रकाशित करती है ( काश, भ्वा० आ ) अथवा सूक्ष्म होने वाले अर्थ वाले कृश् ( दि० प० ) से। वाणी भी कशा (कहलाती है ) और वाणी अर्थों को प्रकाशित करती है। अथवा ( मुख के ) आकाश में होने वाली। अथवा क्रुश् (शब्दे, भ्वा० प० ) से है। घोड़े की जो कशा है, उसकी यह (ऋचा) है ॥१९॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते। अश्वाजानि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ आघ्नन्ति सानून्येषां सरणानि सक्थीनि। सक्थि सचतेरासक्तोऽस्मिन्कायः। जघनानि चोपघ्नन्ति। जघनं जङ्घन्यतेः। अश्वाजनि प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान्त्समत्सु समरणेषु सङ्ग्रामेषु चोदय ॥ उलूखलमुरुकरं वोर्करं वोर्ध्वखं वा। उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवदुरुकरं चैतदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षेणेति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति ॥२०॥

---

* प्रकृत अश्वाजनी को छोड़कर पर्याय प्रसक्त कशा का निर्वचन इस लिये किया है कि अश्वाजनी प्रत्यक्षवृत्ति है। अश्वाजनी घोड़े के चलाने वाली।

हे अश्वाजाने! (जिस तुझ से) समझ वाले (सारथि) इन के (घोड़ों के) ऊरुओं को ताड़ते हैं* और जघनों को ताड़ते हैं, वह तू घोड़ों को संग्रामों में प्रेर ६।७५।१३ ताड़ते हैं इन के, सानूनि=चलने वाले=ऊरुओं को। सक्थि सच् (भ्वा०आ०) से, थमा होता है, जघन=बहुत ताड़ा जाता है (चाबुक से)। हे अश्वाजनि! प्रचेतमः=बढ़े हुए ज्ञानवाले। घोड़ों को। समत्सु=संग्रामों में प्रेर (१९–) उलूखलं=बहुत (अन्न) संवारने वाला (उरु+कर=उलूखलं) अथवा अन्न बनाने वाला (ऊर्क्+कर) अथवा ऊपर छेद वाला, (ऊर्ध्व+खं)। ब्राह्मण भी है 'बहुत मेरे लिये बना, यह (प्रजापति ने) कहा, इस लिये वह उलूखल हुआ। उरु कर को उलूखल कहते हैं परोक्ष करके (क्योंकि देवता परोक्ष के प्यारे होते हैं)। उस की यह है ॥२०॥

यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखलक युज्यसे ॥ इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥२१॥

वृषभः प्रजां वर्षतीति वातिबृहति रेत इति वा तद्वृषकर्मा वर्षणाद्वृषभः। तस्यैषा भवति ॥२२॥

यद्यपि तू हे ऊखल घर २ में काम आता है, किन्तु यहां (यज्ञ में) विजय पाते हुए राजाओं की दुन्दुभि की न्याईं

* दुर्गाचार्य ने आजङ्घन्ति और उपजिघ्रति शब्द प्रत्ययान्त का संबोधन मान कर यह अर्थ लिया है, हे इन के उरुओं को ताड़ने वाली और जंघों को ताडने वाली अश्वाजनि समझ वाले घोड़ों को संग्रामों में प्रेर। पर पाठ उपजिघ्रति, नहीं, उपजिघ्नते है।

वडा तेजस्वी शब्द कर ( १।२८।५ ) यह पाठ से ही व्याख्या किया गया है ।२२।(१.७) वृषभः = (सांड) प्रजा (की उत्पत्ति के कारण वीर्य ) को सेचन करता है, ( वृषु सेचने भ्वा० प० ) अथवा बहुत बढ़ाता है ( अपने अन्दर ) वीर्य को, ( वृह, तु० प० )। सो वर्षा के कर्मवाला बरसने से वृषभ है, उस की यह है

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः। तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥ न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम्। अमेहयन्वृषभं मध्य आजेराजयनस्याजवनस्येति वा तेन तं सूभर्वं राजानम्। भर्वतिरत्तिकर्मा । तद्वा सूभर्वं सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय । प्रधन इति संग्रामनाम प्रकीर्णान्यस्मिन्धनानि भवन्ति ॥

द्रुघणो द्रुममयो घणः। तत्रेतिहासमाचक्षते– मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषग्भवति ॥२३॥

'इस (वृषभ) के पास आकर उन्होंने शोर मचाया, संग्राम के मध्य में इस वृषभ को मेहन (मूत्र) कराया (सांड लड़ने लगा मेहन करता है) उस से उस सूभर्व (राजा वा अच्छा खाने वाले) से मुद्गल ने संग्राम में सौ और सहस्र(१.१००)गौएं जीतीं(१०।१०२।५)'शोर मचाया पास आकर इस के' यह व्याख्यात है। मेहन कराया

वृषभ को संग्राम के मध्य में, आजि=जीतने से वा वेग से (इस में योद्धा वेग दिखलाते हैं)। उस (वृषभ) से उस सुपर्व राजा। भर्वति खाने अर्थ वाला है। भो अथवा अच्छा खाने वाले से। सहस्र गौएं मुद्गल ने संग्राम में जीतीं। प्रधन संग्राम का नाम है बिखरे हुए इस में धन होते हैं। (१८) द्रुघण (=मुद्गर) दृढ़मय ठोस (शस्त्र, द्रु+घन)। इस में इतिहास कहते हैं, भृम्यश्व का पुत्र मुद्गल ऋषि सांड को और मुद्गर को जोड़ कर संग्राम में व्यवहार करके संग्राम को जीत गया। उस अर्थ के कहने वाली यह (ऋचा) है। २३।

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥ इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानं येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु। पृतनाज्यमिति संग्रामनाम पृतनानामजनाद्वाजयनाद्वा। मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गगिलो वा मदनं गिलतीति वा मदंगिलो वा मुदंगिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रो भृम्यश्वो भृमयोऽस्याश्वा अश्वभरणाद्वा। पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा तस्यैषा भवति॥२४॥

यह देख वृषभ के साथी मुद्गर को, संग्राम के मध्य में (जय करके) सुख से लेटे हुए को, जिस से मुद्गल ने संग्राम में एक सौ

समेत सहस्र ११०० गोएं जीतीं (१०।१०२।९) इस उन को देख वृषभ के साथी को। संग्राम के मध्य में लेटे हुए मुद्गर को। जिस से जीतीं सौ युक्त सहस्र गोएं मुद्गल ने संग्रामों में। पृतनाज्य =संग्राम का नाम है। सेना पर चढ़ने से (पृतना+अज, भ्वा० प० मे) वा सेनाओं के जीतने से (पृतना+जि, भ्वा० प० मे) मुद्गल मूंग वाला। ल मत्वर्थक है, अथ मूंग खाने वाला(मुद्ग+गिल) अथवा काम के निगलने वाला ( जितेन्द्रिय ) अथवा मद के निगलने वाला (निरभिमान) अथवा हर्ष के निगलने वाला ( हर्ष शोक से अतीत)। भार्म्यश्व=भृम्यश्व का पुत्र, भृम्यश्व =इस के घोडे घूमते रहने वाले हैं वा घोड़ों के भरण पोषण से ॥(१९) पितु, अन्न का नाम है, पा ( रक्षणे, अ० प० ) से है, वा पा (पाने, भ्वा० प० ) से है, वा प्यायू (वृद्धौ, भ्वा० आ० ) से है। उस की यह है। २४।

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् । यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य। तविषीति बलनाम तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः। यस्य त्रित ओजसा बलेन। त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति ॥ नद्यो व्याख्याताः। तासामेषा भवति ॥ २५ ॥

बड़े बल के धारने वाले अन्न की स्तुति करता हूं, जिस के बल से इन्द्र वृत्र को पर्व हीन करके नाश करता है (१।१८७।१) उस अन्न की स्तुति करता हूं बड़े बल

के धारने वाले की । तविषी, बल का नाम है, वृद्धि अर्थ वाले तु (भ्वा० प० ) से । जिस के इन्द्र बल से । त्रितः=तीन स्थानों वाला इन्द्र । वृत्र को पर्व हीन करके नाश करता है । (२०-) नद्यः=व्याख्या की गई हैं ( २।२४ में ) उन की यह है । २७ ।

"इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या । असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया" ॥ इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि स्तोममासेवध्वमसिक्न्या च सह मरुद्वृधे वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया चेति समस्तार्थः । अथैकपदनिरुक्तम् । गंगा गमनाद्यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा । सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्तेस्तद्वती । शुतुद्री शुद्राविणि क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा । इरावतीं परुष्णीत्याहुः पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी । असिक्न्यशुक्लासिता सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् । मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति । वितस्ताऽविदग्धा विवृद्धा महाकूला । आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ऋजूकप्रभवा वर्जुगामिनी वा । विपाड्विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्

विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा। सुषोमा सिन्धुर्यदेनामभिप्रस्रुवन्ति नद्यः, सिन्धुः स्यन्दनात् ॥ आप आप्नोतेः तासामेषा भवति ॥ २६ ॥

हे गंगे, हे यमुने, हे सरस्वति, हे शतुद्रि, हे इरावति, मेरे इस स्तोत्र का सेवन करो। असिक्नी सहित हे मरुद्वृधे, वितस्ता और सुषोमा के सहित हे विपाश (मेरे आह्वान को) सुन (१०।७५।५) इस मेरे स्तोम को हे गंगे यमुने सरस्वति परुष्णि (परुष्ण्या=परुष्णि+आ) सेवन करो। असक्नी सहित हे मरुद्वृधे, तथा वितस्ता और सुषोमा के साथ हे आर्जीकीये सुन' यह संक्षिप्त अर्थ है॥ अब एक २ पद का निर्वचन करते हैं। गंगा, गति से (गम्, भ्वा०प० से) यमुना=मिलाती हुई (अपने आप को दूसरी नदी में) जाती है। अथवा (मिलकर भी) अलग जैसे हो वैसे जाती है (यु, अ० प० से)। सरस्वती, सरस्, जल का नाम है' सृ (भ्वा०प०) से। उस (जल) वाली। शुतुद्री=शुद्राविणी= जल्दी दौडनेवाली (शु+द्रु से) अथवा जल्दी वींधी हुई की न्याई दौडती है (शु+तुद्+द्रु से)। इरावती को परुष्णी कहते हैं। (परुष्णी पर्वोंवाली, टेढी चलने वाली (जो टेढ हैं, वह मानो उस के पर्व हैं)। असक्नी=न श्वेत=कृष्णा। सित, (श्वेत) रंग का नाम है, उस का प्रतिषेध असित। मरुद्वृधाः 'सभी' नदियें=मरुत इन को बढ़ाते हैं (वर्षा लाकर)। (इसलिये हर एक नदी का विशेषण है। हे मरुद्वृधे गंगे, हे मरुद्वृधे यमुने इत्यादि) वितस्ता = नदग्ध हुई। वही = बड़े किनारों वाली (वि+स्तृ) आर्जीकीया को विपाट् कहते हैं,

ऋजीक ( पर्वत ) से निकलती है, अथवा सीधा चलने वाली है। विपाट् पाटने से ( भूमि को पाटती हुई चलती है ), अथवा फांस से अलग करने से, वा अधिक प्राप्ति मे। ( पुत्र मरण के शोक से ) मरना चाहते हुए वसिष्ठ की फांसें इस में खुली थीं, इस से विपाट् कहलाती है, पहले यह उरुञ्जिरा। ( कहलाती थी )। सुषोमा सिन्धु है, जिस से इस की ओर नदियें जाती हैं सिन्धु = बहने से। (२१–`आ:पू ( स्ना०प० ) से है। उन की यह है।२६

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ आपो हि स्थ सुखभुवस्ता नोऽन्नाय धत्त महते च नो रणाय रमणीयाय च दर्शनाय। ओषधय ओषद्धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा। तासामेषा भवति॥२७॥

क्योंकि तुम जल हो सुख के उत्पादक, सो तुम हमें अन्न के लिये और बड़े रमणीय दर्शन के लिये धारो ( १०।९।१ ) ( २२–) ओषधयः=दाह करते हुए ( रोग ) को पी जाती हैं वा ( शरीर के ) संतप्त होने पर इनको पीते हैं ( ओषत्+धा )। अथवा दोष को पी जाती हैं (दोष+धा ) उन की यह है ॥२७॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा मन्ये नु तद् बभ्रूणामहं बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानामिति वा शतं धामानि सप्त चेति। धामानि त्रया-

णि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति । जन्मान्यत्राभिप्रेतानि सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेना दधतीति वा ॥ रात्रिर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २८ ॥

जो ओषधियें देवताओं से तीन युग पहले उत्पन्न हुई हैं, उन भूमले रंग वालियों की एक सौ सात जातियें मैं जानता हूं ( १०।९७।१ )। जो ओषधियें पहली उत्पन्न हुई, देवताओं से तीन युग पहले। जानता हूं मैं उन, बभ्रूणां=भूमले रंगवालियों के। अथवा ( रोग के ) हरने वालियों के ( हृ, भ्वा० उ० से ) अथवा पालने वालियों के ( भृ, जु० उ० से )। एक सौ सात धाम। धाम तीन होते हैं स्थान, नाम और जन्म। यहां जन्म ( जाति ) से अभिप्राय है। अथवा एक सौ सात पुरुष के मर्म होते हैं, उन में इन को स्थापन करते हैं ( इस पक्ष में) धाम= स्थान है ( २३- ) रात्रि व्याख्या की गई है ( २।१८ ) उस की यह है ॥ २८ ॥

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः । दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः स्थानैर्मध्यमस्य दिवः सदांसि बृहती महती वितिष्ठस आवर्त्तते त्वेषं तमोरजः ॥ अरण्यान्यरण्यस्य पत्न्यरण्यमपार्णं ग्रामादरमणं भवतीति वा । तस्या एषा भवति ॥२९॥

हे रात्रि तू पिता ( अन्तरिक्ष ) के स्थानों समेत पृथिवी लोक को पूर देती है, बहुत बड़ी होकर द्यौ से सारे स्थानों में फैलती है, ( इस लोक में बड़ा अन्धेरा आता है)॥ पूर देती है, तू हे रात्रि पृथिवी लोक को, मध्यम के स्थानों समेत। द्यौ से स्थानों को। बृहती = बड़ी, फैलती है। आता है, बड़ा अन्धेरा इस लोक में। ( २४– ) अरण्यानी = वन की पत्नी। अरण्य = अलग होता है ग्राम से ( अ+ऋण से ) अथवा रमण से विना होता है (वहां पुरुष का चित्त नहीं रमता)। उसकी यह है ॥२९॥

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ३॥ अरण्यानीत्येनामामन्त्रयते यासावरण्यानि वनानि पराचीव नश्यसि कथं ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीर्विन्दतीवेति। इवः परिभयार्थे वा॥ श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्या एषा भवति॥ ३०॥

हे अरण्यानि! वह जो तू वनों में आगे ही आगे नष्ट सी होती जाती है, कैसे तू ग्राम नहीं पूछती है, तुझे भय नहीं प्राप्त होता है ( १०।१४६।१ ) ( पहला ) अरण्यानि! सम्बोधन किया है, ( दूसरा अरण्यानि = अरण्य का बहु वचन है ) जो वह। अरण्यानि = वनों में, आगे ही आगे ( चलती हुई ) नष्ट सी होती है। कैसे तू ग्राम नहीं पूछती है, तुझे भय सा नहीं लगता, अथवा इव, परिभय में है ( डर के साथ कहा हुआ। ( २५– ) श्रद्धा = सत्य के धारने से ( श्रत्+धा से ) उस की यह है॥ ३०॥

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते श्रद्धया हविः साधु हूयते श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्धनि प्रधानांगे वचनेनावेदयामः ॥ पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३१ ॥

श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त की जाती है, श्रद्धा से हवि होमी जाती है, श्रद्धा सेवनीय (धर्म) के माथे पर है (मुख्य अंग है) यह हम वचन से प्रकट करते हैं (घोषणा देते हैं १०।१५१।१) श्रद्धा से अग्नि भले प्रकार प्रदीप्त किया जाता है, श्रद्धा से हवि भले प्रकार होमी जाती है (बिना श्रद्धा के अग्नि प्रज्वालन और होम का फल नहीं होता) । श्रद्धा को, भगः = भाग्य (धर्म) के माथे पर = प्रधान अंग पर, वचन से बतलाते हैं । पृथिवी व्याख्या की गई है (१।१४ में) उस की यह है ॥ ३१ ॥

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥ सुखा नः पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। ऋक्षरः कण्टक ऋच्छतेः । कण्टकः कंतपो वा कृतन्तेर्वा कण्टतेर्वा स्याद्गतिकर्मण उद्गततमो भवति । यच्छ नः शर्म शरणं सर्वतः पृथु ॥ अप्वा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

हे पृथिवी ! तू कांटों से रहित, वास के योग्य, सुख रूप

हो, हमें फैला हुआ घर दे ( १।२२।१५ ) सुख रूप हमारे लिये हो हे पृथिवि ! न कांटों वाली, वास के योग्य। ऋक्षर, कांटा होता है, ऋ ( भ्वा० प० ) से। कण्टक = कंतप = किस को तपाउं (इस अभिप्राय से ऊपर निकला हुआ) अथवा, कृत (तु० प० ) से। ( पैरों को छेदता है ) अथवा गाति अर्थ वाले कण्ट (भ्वा० प० ) से निकला हुआ होता है। 'यच्छनः शर्म' दे हमें शरण। सब ओर से विस्तृत। अप्वा ( = व्याधि वा भय ) व्याख्या किया गया है ( ६।१२। में) उस की यह है॥ ३२॥

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गान्यप्वे परेह्यभिप्रेहि निर्दहैषां हृदयानि शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम्॥अग्नाय्यग्नेःपत्नी। तस्या एषा भवति॥३३॥

हे अप्वे जा, इन (शत्रुओं ) के चित्तों को विमोहित करती हुई इन के अंगो को पकड़। इन की ओर जा और इन के हृदयों को शोकों से जला डाल, शत्रु गाढ़ अन्धेरे से युक्त हों *( १०।१०३।१२ ) ( २८—) अग्नायी = अग्नि की पत्नी। उस की यह है॥ ३३॥

इहन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं

---

* इस का निरुक्त, मन्त्र का अर्थ मात्र है। उस की अलग व्याख्या नहीं की इसी प्रकार आगे भी जहां अर्थ मात्र है, वहां अलग व्याख्या नहीं की॥

सोमपीतये ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥ ३४ ॥

इस ( कर्म ) में इन्द्र की पत्नी, वरुण की पत्नी अग्नि की पत्नी को बुलाता हूं सोम पीने के लिये और अपने कल्याण के लिये ( १।२२।१२ ) यह पाठ से ही व्याख्यात है ॥ ३४ ॥

अथतोऽष्टौ द्वन्द्वानि ॥ उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम् । मुसलं मुहुः सरम् । तयोरेषा भवति ॥

अब आगे आठ द्वन्द्व (जोडे कहेंगे) । (२९) उलूखल मुसले। इन में से उलूखल व्याख्या किया गया है, (९।२०)मुसल बार २ चलता है (धान आदि पर । मुहम्+सर) उन की यह है ॥३५॥

आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः। हरी इवान्धांसि बप्सता ॥ आयष्टव्ये अन्नानां सम्भक्तमे ते ह्युच्चैर्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने । हविर्धाने हविषां निधाने । तयोरेषा भवति ॥ ३६ ॥

जो चारों ओर से यजनीय अन्नों के बहुत देने वाले हैं, वह ( ऊखल मूसल ) हरियों की न्याईं अन्न को खाते हुए ऊंचा ( ऊंचीध्वनि से ) बार २ काम करते हैं ( १।२८।७ ; (३०—) हविर्धाने = हवि (सोम)रखने के दो पात्र । उनकी यह है ॥३६॥

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः । इहाद्य सोमपीतये ॥ आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानमद्रोग्धव्ये इति वा यज्ञिया देवा यज्ञसम्पादिन इहाद्य सोमपानाय ॥ द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते । तयोरेषा भवति ॥३७॥

हे द्रोह रहित ( हविर्धाने ) तुम दोनों के समीप यज्ञिय देवता यहां आज सोम पीने के लिये बैठें (२।४१।२१) बैठें तुम दोनों के, उपस्थ=समीपस्थान में। ( न द्रोह करने वाले ) अथवा न द्रोह के योग्य। यज्ञिय = यज्ञसम्पादन करने वाले देवता यहां आज सोम पान के लिये ( ३१.—) द्यावा पृथिवी व्याख्या किये गए हैं। उन की यह है ॥३७॥

द्यावाः न पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम् ॥ द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम् ॥ विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति ॥ ३८ ॥

हे द्यावा पृथिवी द्यौ को छूने वाले ( देवताओं को पहुंचने वाले ) हमारे इस साधन यज्ञ को देवताओं में दो ( २।४१।२० ) ( ३२—) 'विपाट् छुतुद्र्यौ' व्याख्या किये गए हैं * (९।२४ में) उनकी यह हैं ॥३८॥

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥ पर्वतानामुपस्थादुपस्थाना दुशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने हासति स्पर्धायां हर्षमाणे वा। गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा

---

* पूर्व २।२४ में कहा था 'तद् यद् छिवदुपरिष्टात्तद् व्याख्यास्यामः' वह यहां व्याख्या करते हैं।

प्रजवेते ॥ आर्त्नी अर्त्न्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा । तयोरेषा भवति ॥३९॥

पर्वतों की गोद से निकल कर ( परस्पर वा समुद्र को ) प्यार करती हुई, ( घुड़शाला से ) खोली गई दो घोड़ियों की न्याईं स्पर्धा करती हुई ( एक दूसरी से आगे बढ़ना चाहती हुई ) दो गौओं की न्याईं शोभा वाली, दो माताओं की न्याईं ( बछड़ों को ) दूध चटाती हुई विपाट् और शुतुद्रि अपने जल से पूरा वेग दिखलाती हैं ( ३।३३।१ ) पर्वतों की गोद से। उशत्यौ=कामना करती हुई। दो घोड़ियों की न्याईं खुली हुई। वा इकट्ठी जुड़ी हुई। हासमाने=हास ( भ्वा०प० ) स्पर्धा में है। अथवा प्रसन्न हुई। दो गौओं की न्याईं। शुभ्रे=शोभन। माताओं की न्याईं चटाती हुई विपाट् शुतुद्रि जल से पूरे वेग से चलती हैं। ( ३३ ) आर्त्नी (=धनुष के सिरे ) पहुंचाने वाले ( बाणों के) ( ऋत गतौ )। वा अरण्यौ = अरणाईं ) वेगानों के योग्य वा हनन करने वाले। उनकी यह है ॥ ३९ ॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृता-मुपस्थे।अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान् ॥ ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थ उपस्थानेऽपविध्यतां शत्रून्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान् ॥ शुनासीरौ शुना वायुः शु एत्यन्तरिक्षे सीरः आदित्यः सरणात्। तयोरेषा भवति ॥४०॥

शत्रुओं को नष्ट करती हुई यह दोनों (धनुष्कोटी) समान मन वाली दो स्त्रियों की न्याई आचरण करती हुई (इकट्ठी वाणों को प्रेरती हुई) माता जैसे पुत्र को वैसे अपनी गोदमें धारती हैं (बाण को), यह दोनों एक मत होकर शत्रुओं को वींध डालें (६।७५।४) (३४-) शुनासीरौ = शुन, वायुः, वह जल्दी चलता है अन्तरिक्ष में, (शु+इ) सीर = सूर्य है, चलने से, उन की यह है ॥४० ॥

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥ देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ द्यावापृथिव्याविति वाहोरात्रे इति वा सस्यं च समा चेति कात्थक्यः। तयोरेष सम्प्रैषो भवति ॥ ४१ ॥

हे शुना सीरौ मेरी इस वाणी को सेवन करो, जो द्यौ में तुम ने जल बनाया है, उस से इस (पृथिवी) को सींचो (४।५७।५) यह पाठ से व्याख्यात है। (३५-) देवी जोष्ट्री = दो देवियें (सब की) तृप्त करने वाली। या द्यौ वा पृथिवी हैं, या दिनरात हैं। खेती और वरस हैं यह कात्थक्य मानता है। उन का यह सम्प्रैष * है ॥४१॥

देवी जोष्ट्री वसुधिती ययोरन्याघा द्वेषांसि यूयवदान्या वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने व-

* अध्वर्यु वा उस के किसी साथी का मन्त्र के अन्त में यज कह कर होता को देवता विशेष के यजन की प्रेरणा सम्प्रैष होता है।

सुधेयस्य वीतां यज ॥ देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ वसुधिती वसुधान्यौ ययोरन्याघानि द्वेषांस्यवया-वयत्यावहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेतां कामय-तां वा । यजेति सम्प्रेषः ॥ देवी ऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाह्वान्यौ द्यावापृथिव्याविति वाहोरात्रे इति वा सस्यं च समाचेति कात्थक्यः । तयोरेष सम्प्रेषो भवति ॥

दो देवियें तृप्त करने वाली, वसुधिती=धन के रखने वाली जिनमें से एक पापोंको द्वेषोंको दूर हटाती है । और लाती है दूसरी अच्छे धनों को यजमान के लिये । धन के बांटने के लिये और धन के रखने के लिये ॥ वीतां = पियो वा कामना करो । यज, (मैत्रावरुण कहता है हे होतः) 'यज' यह सम्प्रैष है । (३६-) देवी ऊर्जाहुती = दो देवियें अन्नरस के बुलाने वाली । द्यावा पृथिवी हैं, या दिन-रात हैं । खेती और वरस हैं कात्थक्य मानता है । उन का यह सम्प्रैष है । ९२ ।

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत्सग्धिं सपी-तिमन्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयजमाने अधातां वसुवने वसु-धेयस्य वीतां यज ॥ देवीऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाह्वा-न्यावन्नं च रसं चावहत्यावहत्यन्या सहजग्धिं च स-हपीतिं चान्या नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन

नवं तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवननाय च वसुधानाय च वीतां पिबेतां कामयेतां वा । यजेति सम्प्रैषः ॥ ४३ ॥

दो देवियें अन्नरस के बुलाने वाली । ( उन में से ) एक अन्नरस (दूधादि) को लावें, दूसरी ( बन्धुओं इष्टमित्रों के साथ ) इकट्ठा खाना और इकट्ठा पीना लावे । हम नए (अन्नरस) से पुराने की और पुराने से नए ( अन्नरस ) की रक्षा करते हुए हों, उस अन्नरस को, अन्नरस के बुलाने वाली, बल वाली दोनों देवियें, धन के बांटने के लिए और धन के रखने के लिए पियें वा कामना करें । यज, यह सम्प्रैष है , यज यह सम्प्रैष है ।९.३।

# दशमोऽध्यायः

---

अथातो मध्यस्थाना देवताः—तासां वायुः प्रथमागामी भवति । वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः । एतेरिति स्थौलाष्ठीविरनर्थको वकारः । तस्यैषा भवति ॥

( पृथिवी स्थानी देवता कह दिये ) अब मध्य स्थानी देवता ( कहते हैं ) । उन में से वायु पहले आने वाला है ( वर्षा का मुख्य हेतु होने से ) (१.–) वायु, वा ( अ०प० ) से है, वा गति अर्थ वाले वी (अ०प०) से है, ई ( अ०प० ) से है यह स्थौलाष्ठी त्रिमानता है ( इस पक्ष में ) व पूर्व अनर्थक ( आगममात्र ) है ( एति = सदा चलता है, आयुः = वायुः ) उस की यह है ।१।

"वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्" ॥ वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरंकृता अलंकृतास्तेषां पिब शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति ॥२॥

हे वायु हे दर्शनीय आ, यह*सोम तय्यार किए गए हैं, उनको पी, हमारे बुलावे को सुन (१।२।१) मध्यम से भिन्न किस दूसरे को ऐसे (सोमपी) कहता। उस की यह और है। २।

"आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः। अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत्" ॥ आससृवांसोऽभिबलायमानमिन्द्रं कल्याणचक्रे रथे योगाय रथ्या अश्वा रथस्य वोढार ऋज्यन्त ऋजुगामिनोऽन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च। श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः। वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदिति। इन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं वायुकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम् ॥ वरुणो वृणोतीति सतः। तस्यैषा भवति ॥३॥

लगातार चलते हुए, सीधा चलते हुए, रथ में जुड़े हुए, घोड़े, अच्छे पहियों वाले रथ पर स्थित बलशाली इन्द्र को नए और

---

* सोमपान का प्रसिद्ध सम्बन्ध मध्यम से है, सोम की तय्यारी मुख्यतया इन्द्र के लिये होती है।

पुराने अन्न ( हवि * ) की ओर ले आवें, जिस से वायु का अमृत (सोमरस ) घट न जाए (८।३७।३) लगातार चलते हुए, बलशाली इन्द्र को अच्छे पहियों वाले रथ पर जुड़ने के लिए। रथ्याः = रथ के ले जाने वाले, घोड़े। ऋज्यन्तः = सीधा चलने वाले। अन्न की ओर लावें नए और पुराने की ओर(नू चित = नए पुराने का नाम है) श्रवम् , अन्न का नाम है,सुना जाता है,ऐसा होते हुए से। जैसे इस वायु का भक्ष क्षीण न हो। कई कहते हैं। यह ऋचा इन्द्र-प्रधान है, वायु का कर्म इस में नैघण्टुक है, दूसरा पक्ष यह है, कि दोनों को प्रधान करके है (८२—) वरुण = घेरता है ( आकाशको) ऐसा होते हुए से। इस की यह है।३।

'नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम' ॥ नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं मेघम्। कवनमुदकं भवति तदस्मिन्धीयते। उदकमपि कवन्धमुच्यते बन्धिरनिभृतत्वे कमनिभृतं च प्रसृजति। द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन। तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्। तस्यैषाऽपरा भवति ॥४॥

वरुण ने मेघ को नीचे द्वार वाला बना कर द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष के प्रति ( इनके हित के लिए ) छोड़ा, इस ( कर्म ) से

* सोम निचोड़ कर जो उसी समय होमा जाता है वह नया है और जो माध्यन्दिन सवन में वा द्वितीय सवन में होमा जाता है, वह पुराना है

सारे भुवन का स्वामी ( वरुण ) खेती को सेचने वाले की न्याईं भूमि को तर कर देता है (५।८५।३). वरुण नीचे द्वार वाले कवन्ध =मेघ को । कवन जल होता है, वह इस में रखा जाता है (कवन+धा ) जल भी कवन्ध कहलाता है। बन्ध धातु न गुप्त अर्थ में है, सुख कारी और न गुप्त होता है ( मेघ को देख कर सुख होता और भाप यद्यपि गुप्त होती है मेघ दीखता है ) छोडता है द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष के प्रति महिमा से । उस से सारे भुवन का राजा खेती को सेचने वाले की न्याईं भूमि को तर करता है । उस की यह और है * । ४ ।

'तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः । नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे'॥ तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैर्नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । ऋषिर्नाभको बभूव । यः स्यन्दमानानामासामपामुपोदये सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः स मध्यम इति निरुच्यतेऽथैष एव भवति । नभन्तामन्यके समे । मा भूवन्नन्यके सर्वे ये नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः॥रुद्रो रौतीति

* पूर्व ऋचा में वरुण का वर्षा कर्म कहा है, पर यह कर्म सूर्य का भी हो सकता है इस से वरुण का मध्यम होना निश्चित नहीं होता इस लिए और ऋचा प्रमाण देते हैं जिस में वरुण के लिए प्रत्यक्ष मध्यम शब्द कहा है ।

सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । 'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति काठकम् । 'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति हारिद्रविकम् । तस्यैषा भवति ॥५॥

उसी वरुण को मैं समान वाणी से, पितरों के स्तोत्रों से और नाभाक की प्रशंसाओं से स्तुति करता हूं *, जो जलों के (अन्तरिक्ष में) प्रकट होने पर सात बहिनों वाला † होता है, वह मध्यम है (उस की कृपा से) शत्रु सब न हों(नाश हों)(८।४१।२) उस की मैं स्तुति करता हूं समान, गिरा = गीति से, स्तुति से। और पितरों के मननीय = स्तोत्रों से। नाभाक की प्रशंसाओं से। ऋषि नाभाक हुआ है। जो (वरुण) सिन्धूनां बहते हुए इन जलों के उदय में। सात बहिनों वाला इस (वरुण) को कहता है वाणियों से (वाणियें बहिनें हैं)। वह मध्यम कहा जाता है, यही है। 'नभन्तामन्यके सर्वे' नष्ट हों और सारे, जो हमसे द्वेष करते हैं, पाप बुद्धि वाले, पाप संकल्पों वाले, (३–) रुद्र, (मेघ) शब्द करता है, ऐसा होते हुए से, अथवा अतिशय शब्द करता हुआ दौड़ता है। अथवा रोदयति से है (रुलाता है) 'जिस से वह रोया, यह रुद्र का रुद्रत्व है', यह कठ शाखा में है। और 'जिस से रोया, यह रुद्र का रुद्रत्व है' यह हारिद्रव (मैत्रायणीयों की शाखा विशेष) में है उस की यह है ।५।

"इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। अषाळहाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय

* सु,उपसर्ग के संबन्ध से अभिष्टौमि,क्रियापद अध्याहृत किया है † सात बहिनें=अन्तरिक्ष में होने वाली सात वाणियें (दुर्गाचार्य)

भरता शृणोतु नः" ॥ इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रषवे देवायास्वधावतेऽषाढायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु नस्तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण आयुधमायोधनात् । तस्यैषापरा भवति ॥६॥

(हे स्तोताओ) यह स्तुतियें दृढ धनुष वाले, जल्दी बाणों वाले, अन्न वाले, न दबने वाले, दबाने वाले, विधान करने वाले, तीक्ष्ण शस्त्रों वाले रुद्रदेव के लिये धारण करो, वह (रुद्र हमारी स्तुतियों को) सुने (७।४६।१) तिग्म, उत्साह अर्थ वाले तिज (भ्वा०आ०) से है। आयुध = आयोधन से (इस से युद्ध करते हैं) उस की यह और है ।६।

"या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः । सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः"॥ या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि दिवोऽधि । दिद्युद् द्यतेर्वा द्युतेर्वा द्योततेर्वा । क्ष्मया चरति । क्ष्मा पृथिवी । तस्यां चरति तया चरति विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा । परिवृणक्तु नः सा । सहस्रं ते स्वाप्तवचन भैषज्यानि मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः । तोकं तुद्यतेस्तनयं तनोतेः । अग्निरपि रुद्र उच्यते । तस्यैषा भवति ॥७॥

(हे रुद्र) जो तेरा शस्त्र (अशनि) द्यौ से छोड़ा हुआ पृथिवी पर चलता है, वह हमें छोड़ देवे, हे अच्छे पहुंचे हुए वचन वाले

( जिस के वचन का सब मान करते हैं ) तेरे सहस्र ओषध हैं ( वह हमें दे ) । हमारे पुत्रों में और पोतों में मत हानि पहुंचा ( ७। ४६।३ ) दिद्युत् द्यो ( अवखण्डने, दि० प० ) से है, वा द्यु (भ्र० प० ) से वा द्युत् ( भ्वा० आ० ) से है । 'क्ष्मया चरति' क्ष्मा= पृथिवी, उस में चलती है, वा उसके साथ विचरती है. अथवा हिंसा करती हुई विचरती है । छोड़दे हमें वह, सहस्र हैं तेरे है अच्छी पहुंची हुई आज्ञा वाले औषध,मत तू हमारे पुत्रों और पोतों में हानि पहुंचा । तोक ( पुत्र ) तुद ( तु०उ० ) से ( जन्म समय माता को पीड़ा देता है ) तनय ( पोता )तन् ( त० उ० ) से ( फैलाता है ) । अग्नि भी रुद्र कहलाती है, उसकी यह है ॥७॥

"जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय । स्तोमं रुद्राय दृशीकम्" ॥ जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणस्तां बोध तया बोधयितरिति वा । तद्विविड्ढितत्कुरु मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय । स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् ॥ इन्द्र इरां दृणातीति वेरां ददातीति वेरां दधातीति वेरां दारयत इति वेरां धारयत इति वेन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वेन्धे भूतानीति वा । 'तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति' विज्ञायते । इदं करणादित्याग्रयणः । इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः । इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वादरयिता च यज्वनाम् । तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

हे स्तुति से जागने वाले अग्ने मनुष्य मनुष्य के यज्ञ सम्पादन के लिये उस ( यजनस्थान ) में प्रवेश कर, तुझ भयंकर देवता के लिये ( यजमान ) दर्शनीय ( उत्तम ) स्तोम ( उच्चारता है— १।२७।१० ) जरा स्तुति है स्तुति अर्थ वाले जॄ ( भ्वा०प ) से, उस को ( स्तुति को ) जान, अथवा स्तुति से जितलाने वाले, 'तद्विविड्ढि=उस को कर। मनुष्य २ के यजन के लिये। दर्शनीय स्तोम को रुद्र के लिये।.४—) इन्द्र = अन्न को फाड़ता है(बीज को वर्षा से गीला करके फोड़कर उस के अंकुर निकालता है ) ( इरा०इ ) अथवा अन्न देता है ( वर्षा कर के ) ( इरा+दा ) अथवा अन्न को धारने वाला है ( इरा+धा ) वा अन्न को फाड़ता है ( इरा+दारि ) अथवा इरा को धारण करता है (इरा +धारि ) अथवा सोम ( पान ) के लिये झुकता है ( इन्दु+द्रु ) अथवा सोम में आनन्द मनाता है ( इन्दु+रम् ) अथवा प्राणियों को कान्ति वाला बनाता है ( अन्न देकर ) (इन्धः = इन्द्रः )'सो जो ( इन्द्रिय ) इस को प्राणों से प्रदीप्त करते भए, यह इन्द्र का इन्द्रत्व है' यह जाना जाता है, ( ब्राह्मण में)। इसके (=सब कुछ ) करने से इन्द्र ( इदं+करः ) यह आग्रयण मानता है,अथवा इस के देखने से ( इदं+दर्शः ) यह औपमन्यव। अथवा ऐश्वर्य अर्थ वाले इन्द्र ( भ्वा०प० ) से है। अथवा ऐश्वर्य वाला हुआ शत्रुओं को नष्ट करता है वा भगाता है,वा जिन्होंने यज्ञ किया है, उन का आदर करता है। उस की यह है ॥८॥

"अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्धधानाँ अरम्णाः। महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा

अव दानवं हन्"॥ अद्दणा उत्सम्। उत्स उत्सरणाद्धोत्सदनाद्धोत्स्यन्दनाद्धोनत्तेर्वा। व्यसृजोऽस्य खानि त्वमर्णवानर्णस्वत एतान्माध्यमिकान्त्संस्त्यायान्वावध्यमानानरम्णाः। रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा। महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद् व्यवृणोर्व्यसृजोऽस्य धारा अवहन्नेनं दानवं दानकर्माणम्। तस्यैषापरा भवति॥ ९॥

हे इन्द्र तूने मेघ को फाड़ा, और छेद बनाए, और (जल भार से) पीड़ित होते हुए मेघों से जल बहाया, इन्द्र जब तूने बड़े मेघ को खोला, तो धाराएं बहा दीं, और मेघ को मार गिराया (५।३२।१) फाड़दिया तूने मेघ को। 'उत्सः' ऊपर चलने से वा ऊपर रहने से वा ऊपर बहने से। अथवा गीला करने से (उन्दी क्लेदने)। बनाए इस के छेद, जल वाला (जल का मालिक) तू जल वाले इन माध्यमिक मेघ संघातों को (जल के भारसे) पीड़ि होते हुओं को। अरम्णाः = रम्णाति, संयम अर्थ वाला वा बहाने अर्थ वाला है। हे इन्द्र बड़े, पर्वत=मेघ को जब तूने खोला, तो इस की धाराएं बहाईं, मार गिराया, इस दानव = दाता को। उसकी यह और है॥९॥

"यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत। यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः"॥ यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत्पर्य्यगृह्

णात्पर्य्यरक्षदत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथि-
व्यावप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स
जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसं-
युक्ता ॥ पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता ज-
न्यः, परो जेता वा, परो जनयिता वा, प्रार्जयिता वा
रसानाम् । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

"जो प्रकट होते ही मुखिया हुआ बड़े मन वाला है, देवता हुआ अपने कर्म से दूसरे देवताओं को दबालेता है (उलांघ जाता है) जिस के बल से द्यो और पृथिवी कांपते हैं, अपने बल की महिमा से युक्त है, हे जनो ! वह इन्द्र है (२।१२।१) जो प्रकट होते हो मुखिया दिलेर देवताओं को, क्रतुना = कर्म से। पर्यभूषत् = दबा लेता है, स्वीकार करता है, रक्षा करता है, वा उलांघ जाता है। जिसके बल से द्यावा पृथिवी भी डरते हैं, 'नृम्णस्य मन्हा' बल के महत्त्व से युक्त, हे जनो वह इन्द्र है। ऋषि, जिसने उस विषय को देखा है, उसकी प्रीति होती है, जब उसके साथ इति हास युक्त हो ॥ (९–) पर्जन्यः = आदि अन्त उलटे हुए तृप् (दि० प०) का है। तृप्त करने वाला और लोगों का हित कारी (तर्प् आद्यन्त उलट कर पर्त+जन्य=पर्ज्जन्य) अथवा श्रेष्ठ जीतने वाला वाला (पर+जयनः) अथवा श्रेष्ठ उत्पादक (पर+जन-यिता) अथवा रसों का कमाने वाला (प्रार्जयनः) उसकी यह है ॥ १० ॥

"वि वृक्षान्हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भु-

वनं महावधात् । उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः,, ॥ विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षांसि सर्वाणि चास्माद्भूतानि बिभ्यति महावधान्महान्ह्यस्य वधः, अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः पापकृतः॥ बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा तस्यैषा भवति ॥

"वृक्षों को नष्ट करता है और राक्षसों को नष्ट करता है, इस बड़े मारने वाले (पर्जन्य) से सारा जगत डरता है। इस वर्षा वाले से निरपराधी भी भागता है, जब पर्जन्य गर्जता हुआ पापियों को मारता है" (५।८३।२) महावध=महान् इस का वध है। वृष्ण्यावतः=वर्षा के कर्मवाले से। (६–) बृहस्पतिः=बड़े का रक्षक, उस की यह है ॥११॥

"अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्। निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य"॥ अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यमिव दीन उदके निवसन्तम्। निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात्। चमसः कस्माच्चमन्त्यस्मिन्निति। बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य॥ ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति ॥ १२ ॥

बृहस्पति ने मेघ से ढके हुए जल को देखा, जैसे क्षीण जल में रहते हुए मत्स्य को (कोई देखे) और बड़ी गर्ज के

साथ हलचल में डाल कर उस को मेघ से निकाल लिया, जैसे वृक्ष से चमसा निकला जाता है ( १०।६८।८ ) व्याप्ति वाले=मेघ से ढके हुए जल को देखा, जैसे छोटे पानी में रहते हुए मत्स्य को । निकाला उसको चमस की न्याईं वृक्ष से। चमस, किस से=पीते हैं ( सोम ) इस में । वृहस्पति । विरवेण=शब्द से । हलचल में डाल कर (७) ब्रह्मणस्पति =ब्रह्म ( अन्न और मन्त्र ) का रक्षक,उस की यह है ॥१२॥

"अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् । तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्" ॥ अशनवन्तमास्यन्दनवन्तमवातितं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्तमेव सर्वे पिवन्ति रश्मयः सूर्यदृशो बह्वनं सह सिञ्चन्त्युत्समुद्रिणमुदकवन्तम् ॥ १३ ॥

व्याप्ति वाले और सेचने वाले, मीठी धारावाले, नीचे उतरे हुए जिस ( मेघ ) को ब्रह्मणस्पति ने बल से टुकड़े किया । इसी को सब सूर्य तुल्य दीखने वाली किरणें पी लेती हैं । (गर्मी में ) । ( बरसात में ) इकट्ठी मिल कर जल वाले उस मेघ को बहुत सेचन करती हैं ( २।२४।४)( अश्म ) व्याप्ति वाले ( आस्यं सेचने वाले । उद्रिणं= उदक वाले को ॥ १३ ॥

क्षेत्रस्य पतिः क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

(८) क्षेत्रस्य पतिः, क्षेत्र निवास अर्थ वाले क्षि (तु०प०) से है। उस का रक्षक है। उसकी यह है ॥ १४ ॥

"क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे" ॥ क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामो गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति। स नो मृळातीदृशे बलेन वा धनेन वा। मृळति-र्दानकर्मा। तस्यैषापरा भवति ॥ १५ ॥

"बड़े हिती की न्याई क्षेत्र के पति के साथ हम विजय पाते हैं। वह हमारे लिये पुष्टि करने वाला गौ घोड़ा (आदि धन) लावे, वह हमें ऐसे धन में सुखी करे (४।५७।१) क्षेत्रपति के साथ हम, बड़े हिती के साथ की न्याई जीतते हैं, वह गौ, घोड़ा और पुष्टि करने वाला लावे, 'वह हमें ऐसे में सुख करे' बल से वा धन से। मृळति दान अर्थ वाला वा पूजा अर्थ वाला है। उसकी यह और है ॥ १५ ॥

"क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु"॥ क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासु धुक्ष्वेति मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतमृतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु। मृळयति-रुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा ॥ तद्यत्समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकम्। मधु-

मन्तं मधुश्चुतमिति यथा॥ यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्यपरम्। हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगिति यथा॥ यथा कथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम्।"मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव"।इति यथा॥वास्तोष्पतिर्वास्तुवसतेर्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति॥

"हे क्षेत्र के पति! धेनु जैसे दूध को, वैसे मधुरता से युक्त जल संघात को हमारे अन्दर वहा, जिस से मधु चू रहा हो, घृत की न्याईं अच्छा पुना हुआ हो, ऋत (यज्ञ वा जल) के रक्षक (देवता) हमारी रक्षा करें (वा हमारा आदर करें) (४।५७।२) मृळयति, रक्षा अर्थ वाला है, वा पूजा अर्थ वाला है॥ (अब मन्त्रों में पुनरुक्ति का विचार करते हैं) अब जो एक ही ऋचा में (एक पद के) समान अर्थ वाला पदान्तर होता है, वह पुनरुक्त होता है, जैसे (उक्त मन्त्र में) मधुमन्तं और मधुश्चुतं है (क्योंकि जिस से मधु चूता है वह अवश्य मधु वाला होता ही है) यह एक मत है॥ जो समान पाद में समान अर्थ वाला है, वही पुनरुक्त होता है जैसा कि यह है 'सुनहरी रूप वाला सोने के सदृश दीखने वाला' (२।३५।१०) * । यह दूसरा मत है। यथा कथञ्चित् (अत्यल्प भी) जो विशेष है, वही अपुनरुक्ति है. यह और मत है 'मेंडक जैसे जल से

* अर्थात् एक ही पाद में समानार्थक शब्द हों तब पुनरुक्ति होती है, पूर्व 'मधुमन्तं' मन्त्र के पूर्वार्ध में और मधुश्चुतं उत्तरार्ध में है, वहां पुनरुक्ति नहीं, वहां क्योंकि नई और विशेषता बतलाने के

( बोलते हैं ) मेंडक जल से जैसे, * ( १०।१८६।५ ) (९-) वास्तोष्पतिः, वास्तु निवास अर्थ वाले वस ( भ्वा०प ) का है, उसका रक्षक । उसकी यह है ॥१६॥

"अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः" ॥ अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन्सखा नः सुसुखो भव । शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः शिवमित्यप्यस्य भवति । यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति । "रूपंरूपं मघवा बोभवीति"इत्यपि निगमो भवति॥वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति॥१७॥

हे वास्तोष्पते ( घर के मालिक ) सारे रूपों में आवेश करता हुआ † तू रोगों का नाशक हो, और उत्तम सुखकारी

लिये कही बात की फिर स्मृति कराई है*यहां एकत्र 'मेंडक'उपमान है, अन्यत्र जल उपमान है, इतनी मात्र विशेषता से जैसे यहां पुनरुक्ति नहीं, वैसे सर्वत्र कोई न कोई विशेषता पाई जाती है, जैसे कोई मधुमान् तो होता है, पर उस से मधु चूता नहीं रहता, इस लिये मधुमन्तं के साथ मधुश्चुतं अलग विशेषण दिया, इसी प्रकार कोई सुनहरी रंग का होकर भी सोने का सा दीखता नहीं, अर्थात् वैसा प्यारा नहीं लगता इस लिये हिरण्यरूपः के साथ हिरण्य संदृक् अलग दिया है ॥

† रूपों में आवेश करता हुआ, हर एक रोग की औषध में आवेश करके रोगों को दूर कर, और हर उपयुक्त वस्तु में आवेश कर के हमें पूरा २ सुखप्रद हो ।

हमारा सखा बन ( ७।८९।१ ) 'शेव' यह सुख का नाम है, शिष् ( दि० प० ) से । व प्रत्यय है जो ( धातु के ) अन्त में स्थित ( ष् ) के स्थान में आता है ( शिष्+व = शिव ) विकल्प करके गुण होता है ( गुण होकर शेव, और न गुण होकर ) शिव भी इसी का है। *जिस २ रूप को चाहता है, वही २ रूप देवता हो जाता है। 'धनवान् ( इन्द्र ) रूप रूप ( हर एक रूप ) फिर २ होता है ( ३।५३।८ ) यह भी निगम होता है। ( १०-- ) वाचस्पतिः = वाणी का रक्षक, उस की यह है ॥ १७ ॥

'पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते नि रामय मय्येव तन्वं मम' ॥ इति सा निगदव्याख्याता॥ अपां नपात्तनूनप्त्रा व्याख्यातः। तस्यैषा भवति॥१८

हे वाचस्पते फिर मन देव के साथ आ, हे धन के स्वामी मुझे निरन्तर रमण करा, मुझ में ही मेरा शरीर हो ( अर्थात् विकाराधीन न हो ) ( अथर्व १।१।२ ) यह पाठ से ही व्याख्यात है। ( ११-- ) अपां नपात्, तनूनपात् से व्याख्या किया गया † । उस की यह है ॥ १८ ॥

"यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु । अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय"॥ योऽनिध्मो दीदयद् दीप्यसेऽभ्यन्तर

* 'सारे रूपों में आवेश करता हुआ' जो कहा है, ऐसा देवता का सामर्थ्य होता है, यह दिखलाते हैं।

† अपांनपात् = जलों का पोता ( जलों से आदित्य, आदित्य से मध्यम, इस प्रकार मध्यम जलों का पोता है—दुर्गाचार्य )।

मप्सु यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु सोऽपां नपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय याभिरिन्द्रो वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे ॥ यमो यच्छतीति सतः । तस्यैषा भवति॥१९॥

"जो बिना इन्धन के जलों में चमकता है, जिस की बुद्धिमान् यज्ञों में स्तुति करते हैं । सो तू हे अपांनपात् मधुर रस वाले जल हमें दे, जिन से इन्द्र वीर कर्म के लिये बढ़ता है (१०।३०।४) जो तू इन्धन के बिना, दीदीयत् = चमकता है, जलों के अन्दर । जिसकी बुद्धिमान् स्तुति करते हैं यज्ञों में । वह तू हे अपांनपात् मधुर रस वाले जल हमें दे सोम निकालने के लिये * । जिन से इन्द्र बढ़ता है । वीर्याय = वीर कर्म के लिये । (१२-- ) यम नियम में रखता है ( सब को ) ऐसा होते हुए से । उस की यह है ॥ १९ ॥

" परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य" ॥ परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा, बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्येति । दुवस्यती राध्नोतिकर्मा॥ अग्निरपि यम उच्यते । तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति ।२०

जो सब श्रेष्ठों को और सारी भूमियों को घेरे हुए है, सब के लिये मार्ग दिखला रहा है; जिस के पास सब लोग इकट्ठे होते

* बसती वरी जल सोम में मिलाए जाते हैं ।

हैं, उस वैवस्वत ( सूर्यपुत्र ) यमराजा को हवि से सेवाकर ।१०।१४।१ ) । परेयिवांसं=घेर कर स्थित को । प्रवतः, उद्वतः, निवतः की न्याई (उपसर्ग से वत् प्रत्यय) है । अथवा अव(भ्वा०प) गति अर्थ वाला है (उन का प्रपूर्वक प्रवतः है )। सब के लिये मार्ग दिखलाते हुए सूर्यपुत्र यमराजा को, जिस के पास सब लोग इकट्ठे होते हैं, हवि से सेवन कर । दुवस्यति सेवा अर्थ वाला है । अग्नि भी यम कहलाता है, उस को यह ऋचाएं बतलाती हैं ॥२०॥

"सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका"॥ "यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्" ॥ "तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्" । इति द्विपदाः । सेनेव सृष्टा भयं वा बलं वा दधात्यस्तुरिव दिद्युत्त्वेषप्रतीका भयप्रतीका बलप्रतीका यशःप्रतीका महाप्रतीका दीप्तप्रतीका वा॥ 'यमो ह जातः,इन्द्रेण सह सङ्गतः । 'यमाविहेहमातरा' इत्यपि निगमो भवति॥यम इव जातो यमो जनिष्यमाणो जारः कनीनां जरयिता कन्यानां पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम् । तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति ।"तृतीयो अग्निष्टे पतिः"इत्यपि निगमो भवति ॥ तं वश्चराथा चरन्त्या पश्वाहुत्या वसत्या च निवसन्त्यौषधाहुत्यास्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयामेद्धं समृद्धं भोगैः ॥ मित्रः प्रमी-

तेश्नायतेः सम्भिन्वानो द्रवतीति वा भेदयतेर्वा। तस्यैषा भवति ॥२१॥

(सेनानी से) प्रेरी हुई सेना की न्याई (यह अग्नि)भय देता है (शत्रुओं को) (वा बल देता है अपनों को) फेंकने वाले के चमकते मुख वाले वज्र की न्याई ( भय देता है ) ।७। यम ( आहुतियों का नियन्ता अग्नि ) है जो कुछ उत्पन्न हुआ है, यम ( अग्नि ) है जो उत्पन्न होगा ( अग्नि के अधीन सब की उत्पत्ति है )। कन्याओं का जीर्ण करने वाला ( क्योंकि विवाह के समय अग्नि में लाजा होमादि करने से कन्याओं का कन्यात्व निवृत्त होता है) और पालक है विवाहिताओं का ( अग्न्यधीन सारे गृह्य श्रौत कर्म होने से ) ।८। उस प्रदीप्त हुए को हम जंगम और स्थावर (आहुति) से व्याप्त होते हैं, जैसे गौएं घर को।९।(१।६६।७-९) यह दो २ पाद की ( तीन ) ऋचाएं हैं ॥ प्रेरी हुई सेना की न्याई भय वा बल देता है। फेंकने वाले के वज्र की न्याई, त्वेष प्रतीका=भयानक मुख वाली, बल वाले मुख वाली, यशस्वी मुख वाली, वा बड़े मुख वाली वा चमकते मुखवाली ।* जोड़ा उत्पन्न हुआ, क्योंकि इन्द्र के साथ संगत हुआ उत्पन्न हुआ। जैसा कि यह निगम भी है '(हे इन्द्राग्नी ) तुम दोनों जोड़े( भाई) हो, यहां यहां ( अर्थात् सर्वत्र ) तुम्हारी माता ( अदिति ) है ( ६।५९।२ ) ( सो जोड़ा होने से अग्नि को यम कहा है ) जोड़ा सा उत्पन्न हुआ, जोड़ा उत्पन्न होगा । 'जारः कनीनां'=जीर्ण करने वाला है कन्याओं का 'पतिर्जनीनां'=पालने वाला है

* यमोह जातः का अर्थ ।

स्त्रियों का, क्योंकि यज्ञ के सम्बध से स्त्रियें अग्नि प्रधान होती हैं। निगम भी है 'तीसरा तेरा अग्नि पति है' (१०।८५।४०) † उम को, चरथा=चलती हुई से=पशुआहुति से। वसत्या=निवास करती हुई से=ओषधियों की आहुति से। घर को जैसे गौएं प्राप्त होती हैं, वैसे प्राप्त हों। इद्धं=प्रदीप्त को, भोगों से। (१३-) मित्र, मरने से बचाता है (मी, दि०आ०+त्र,भ्वा०आ) अथवा चारों ओर से मिनता हुआ बहता है (जल के द्वारा अन्तरिक्ष में) (मि+द्रु) अथवा मेदयति से (सब को जल से स्निग्ध करता है) उस की यह है ॥२१॥

"मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् । मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत" ॥ मित्रो जनानायातयति ब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्मित्र एव धारयति पृथिवीं च दिवं च । मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति ॥ कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति विकृष्टदेहा वा । मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातम् । जुहोतिर्दानकर्मा ॥ कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा । तस्यैषा भवति ॥२२॥

मित्र (मेघ द्वारा) शब्द करता हुआ लोगों को काम में लगाता है, मित्र द्यो और पृथिवी को धारण करता है, मित्र मनुष्यों को विना आंख झपकने के (अर्थात् लगातार अनुग्रह दृष्टि से) देखता

† 'तंचरश्चराथा' का नैरुक्त अर्थ।

है, मित्र के लिये घृतयुक्त हव्य होमो ( ३।५९।१ )। 'कृष्टयः' मनुष्यों का नाम है, कर्म वाले होते हैं। अथवा फैले शरीरों वाले होते हैं ( पशु अपने अंगों को अपनी इच्छा से फैला नहीं सकते, मनुष्य यथेष्ट फैला सकते हैं.) 'मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत' यह व्याख्या किया गया। जुहोति,दान अर्थ वाला है। (१४-)कः= प्यारा वा कमण करने वाला, वा सुख स्वरूप। उस की यह है॥

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥ हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा। यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति। समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव। स धारयति पृथिवीं च दिवं च। कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्। विधतिर्दानकर्मा ॥ सरस्वान्व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ २३ ॥

हिरण्यगर्भ पहले प्रकट हुआ, जो प्रकट होते ही सब भूतों का एक पति ( रक्षक ) है। वह धारण करता है अन्तरिक्ष द्यौ और इस ( भूमि ) को, उस सुखस्वरूप देव के लिये हम हवि दें ( १०।१२१।१ ) हिरण्यगर्भः=सुनहरी गर्भ=विज्ञानमय गर्भ, अथवा सुनहरी गर्भ है इस का। गर्भ, स्तुति अर्थ वाले गृभ् से है ( गर्भ, स्तुति के योग्य होता है ) अथवा अनर्थों को निगलता है

( नाश ) करता है । जब स्त्री ( =स्त्री-का रक्त ) गुणों ( वीर्य ) को ग्रहण करती है, और इस ( स्त्री ) के गुण (रक्त) ग्रहण किये जाते हैं ( वीर्य से ), तब गर्भ होता है । प्रकट होते ही भुवन मात्र का एक पति था । वह धारण करता है पृथिवी और द्यौ को । उस सुख स्वरूप देव के लिये हवि दें, यह व्याख्या किया गया है । विधति,दान अर्थ वाला है । (१५-) सरस्वान् व्याख्या किया गया है ।(सरस्वती शब्द से ) उस की यह है ॥

"ये ते सरस्वन्नूर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः । तेभिर्नोऽविता भव"॥ इति सा निगदव्याख्याता॥२४॥

हे सरस्वन् ! जो तेरे तरंग ( मेघ ) मधुवाले ( मधुर जल वाले ) और जल के झरने वाले हैं, उन से हमारा रक्षक हो (७।९६।५) यह पाठ से ही व्याख्या की गई है।२४।

विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता । तस्यैषा भवति ॥२५॥

(१६-)विश्व कर्मा=सब का बनाने वाला । उस की यह है ॥२५॥

"विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् । तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः" ॥ विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानां । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वाद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्य-

स्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ॥ अथाध्यात्मं विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणामेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे । तत्रेतिहासमाचक्षते–विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति । य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २६ ॥

सब का कर्ता, बड़े मन वाला, महान्, उत्पन्न करने वाला, विधाता, ( जीवन दाता, वा विधान करने वाला ) श्रेष्ठ, सबका द्रष्टा (आदित्य वा परमात्मा) है । उन के इष्ट (कार्य) जलते वा अन्न से फलते फूलते हैं, जहां सात ऋषियों (किरणों वा इन्द्रियों) से परे एक ( आदित्य वा आत्मा ) बतलाते हैं ( १०।८२।२ ) (आधिदैवत और अध्यात्म भेद से इस मन्त्र के दो अर्थ हैं पहला आधिदैवत) सब का कर्ता, बड़े मन वाला, व्यापने वाला, उत्पन्न करने वाला, (जीवन का) देने वाला, उत्तम, सब भूतों का द्रष्टा । उन के इष्ट=प्यारे, वा प्राप्त वा अभिमत वा झुके हुए (कार्य) जलों के साथ फलते फूलते हैं । जहां इन सात ऋषि=प्रकाशक (किरणों)

से परे आदित्य है, वह उस में एक होते हैं। यह अधिदैवत है।। अब अध्यात्म कहते हैं। सब का कर्ता बड़े मन वाला, उत्कृष्ट और दिखलाने वाला इन्द्रियों का। इन के इष्ट=प्यारे, प्राप्त, अभिमत वा झुके हुए अन्न के साथ तृप्त होते हैं, जहां यह सात ऋषि इन्द्रिय हैं इन से परे आत्मा, वह इन में एक होते हैं, इस प्रकार आत्मगति को कहता है। इस में इतिहास कहते हैं। भौवन विश्वकर्मा ने सर्वमेध (यज्ञ) में सब भूतों को होम दिया, उस ने अन्ततः अपने आप को भी होम दिया। इस (विषय)के कहने वाली यह ऋचा है "जो इन सारे भुवनों को होमता हुआ" (१०।८१।१) उस की अगली ऋचा अधिकतर खोलने के लिए है।२६।

"विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु" ॥ विश्वकर्म्मन्हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु प्रज्ञाता ॥ तार्क्ष्यस्त्वष्टा व्याख्यातः। तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

* भौवन=भुवन पुत्र (दुर्गाचार्य) यहां जैसा कि सूक्त मन्त्रों से स्पष्ट है अपने शिल्प कौशल द्वारा भुवन से प्रकट होता हुआ विश्व कर्मा परमात्मा है। जैसा कि शतपथ में इस को स्पष्ट किया है "ब्रह्मा स्वयम्भू ने तप तपा, उस ने देखा, तप की अनन्तता नहीं है, हन्त मैं अपने आप को भूतों में होम दूं और भूतों को अपने आप में" इत्यादि। यह सर्वमेध परमात्मा की सब में स्थिति और परमात्मा में सब की स्थिति बोधन करता है॥

हे विश्वकर्मन् ! हविसे बढ़ाता हुआ तू स्वयं पृथिवी और द्यौ को यजन कर। चारों ओर जो और जन हैं ( तेरी उपासना से पराङ्मुख) वह हैरान हों। धनवान्, प्रज्ञावान् ( विश्वकर्मा ) यहां हमारा हो ( हम पर अनुग्रह दृष्टि हो–१०।८१।६) हे विश्व कर्मन्। हविसे बढ़ाता हुआ तू स्वयं यजन कर पृथिवी और द्यौ को। हैरान हों दूसरे चारों ओर जन=शत्रु,यहां हमारा हो धन-वान्। सूरि=प्रज्ञाता। (२७-) तार्क्ष्यः, त्वष्टा से व्याख्या किया गया है (८।१४) सर्वतोगतः=अन्तरिक्ष में निवास करता है (तृ+क्षिसे) अथवा जल्दी, अर्थ [=जल] की रक्षा करता है [तूर्ण +रक्ष] अथवा [उत्तरपद में] अश् [स्वा० आ०] से [-तूर्णमश्नुते, तूर्ण+अश् से]। उस की यह है।२७।

"त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम"॥ तं भृशमन्नवन्तं।जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा। सहस्वन्तं तारयितारं रथानामरिष्टनेमिं पृतनाजितमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति। कमन्यं मध्यमाद्देवमवक्ष्यत्। तस्यैषापरा भवति॥२८॥

उस अन्न वाले देवताओं से प्रेरे हुए (सोमलाने के लिए, वा देवताओं से प्यार किए हुए ] बलवाले [ वा दबाने वाले ] रथों [गतिशील मेघ को] पहुंचानेवाले,न रुकने वाले वज्र वाले, संग्रामों के जीतने वाले शीघ्र चलने वाले तार्क्ष्य को हम यहां कल्याण के लिये बुलावें [१०।१७८।१४; साम, छ० आ० ९।१।१] उस बहुत अन्न वाले। जूति=गति वा प्रीति। सो देवजूत=देवताओं प्रेरे

हुए वा देवताओं से प्यार किए हुए। बलवान् रथों के तारने वाले अपरिहत रथ वाले, सेनाओं के जीतने वाले, जल्दी चलने वाले तार्क्ष्य को यहां हम कल्याण के लिए बुलावें। मध्यम से भिन्न किस को ऐसे [बलवाला, वज्रवाला, सेनाओं को जीतने वाला] कहता [इस से तार्क्ष्य मध्यम है] उस की यह और है [जिस में वर्षा करना भी उस का मध्यम लिंग पाया जाता है] ।२८।

"सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्त युवतिं न शर्याम्" ॥ सद्योपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पंच मनुष्यजातानि सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिर्न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम् ॥ मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः। तस्यैषा भवति ॥ २९ ॥

जल्दी ही जो ( तार्क्ष्य ) पांच प्रकार के मनुष्यों के प्रति जल फैलाता है, जैसे सूर्य ज्योति से ( फैलता है ) सहस्रों और सैकड़ों(दान) देने वाला है इसका वेग, (उसे कोई भी) रोक नहीं सकते हैं, जैसे ( अपने आप को लक्ष्य के साथ ) मिलाते हुए शरमय (बाण के वेग) को (रोक नहीं सकते हैं) (१०।१७८।३) जल्दी ही जो शवसा=बल से। फैलाता है जलों को सूर्य जैसे ज्योति से। पांच मनुष्यप्रकारों(चारवर्ण पांचवां वर्ण संकर)के प्रति। सहस्रों सैकड़ों के देने वाली वह इस की गति है। नहीं इसको

रोकते हैं, ( अपने आप को ) मिलाता हुआ जैसे शरमय बाण (१८–) मन्युः, दीप्ति अर्थ वाले वा क्रोध अर्थ वाले वा वध अर्थ वाले मन्य से । चमकते हैं इस से बाण । उस की यह है ॥२९॥

"त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः । तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरोअग्निरूपाः" ॥ त्वया मन्यो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वस्तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपा अग्निकर्माणः सन्नद्धा कवचिन इति वा ॥ दधिक्रा व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥३०॥

हे मन्यो ! हे मरुतों वाले [ मरुत् जिस के साथी हैं ] तेरे साथ एक रथ पर चढ़ कर [ शत्रुओं को ] तोड़ते हुए, हर्ष मनाते हुए, किसी से न दबे हुए, तीक्ष्ण बाणों वाले शस्त्रों को तीक्ष्ण करते हुए, अग्निरूप हमारे योद्धा [ शत्रुओं पर ] चढ़ें [ १०। ८४।२ अथर्व ४।३१ ] अग्निरूपाः=अग्नितुल्य प्रचण्ड कर्मों वाले, अथवा तय्यार, कवच पहने हुए [कवचों से चमकते हुए] ।[शत्रुओं को जीतने के कर्म और मरुतों के साथ कहने से मन्यु मध्यम है ] । [१९– ] दधिक्राः, व्याख्या किया गया है [ २। २७ ] उस की यह है ॥ ३० ॥

"आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा

समिमा वचांसि" ॥ आतनोति दधिक्राः शवसा वलेनापः सूर्य्य इव ज्योतिषा पंच मनुष्यजातानि सहस्रसाः शतसा वाजी वेजनवानर्वैरणवान्त्सम्पृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति । मधु धमतेर्विपरीतस्य ॥ सविता सर्वस्य प्रसविता । तस्यैषा वाति ॥ ३१ ॥

"दधिक्रा बल से पांच मनुष्यों के प्रति सूर्य की न्याई ज्योति से जल फैलता है, सहस्रों सैकड़ों के देने वाला, कंपाने वाला, धकेलने वाला ( वा, गति वाला ) वह इन वचनों को जल से संयुक्त करे [ स्तुति के अनन्तर वरसे ] * [ ४।३९।१० ] वाजी=कंपाने वाला, अर्वा=धकेलने वाला । मधु उलटा हुए धमति [ध्मा,भ्वा०प०] से है [ धमु होकर मधु हुआ है ] [२०–] सविता=सब का प्रेरक, उस की यह है ॥३१॥

"सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् । अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्"॥ सविता यन्त्रैः पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहदश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षे मेघं बद्धमतूर्ते बद्धमतूर्ण इति वा त्वरमाण इति वा, सविता समुदितारमिति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । आदित्योऽपि सवितोच्यते । तथा च

* यल कर्म और वर्षा कर्म दोनो हैं, इस से मध्यम है ॥

हैरण्यस्तूपस्तुतोऽर्चन्हिरण्यस्तूपऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥३२॥

"सविता यन्त्रों [ वृष्टिदानादि उपायों से ] पृथिवी को रमण कराता है, सविता ने बिना सहारे के द्यौ को दृढ़ किया है, सविता घोड़े की न्याईं झाड़ने वाले [ किसी से ] पीड़ा न दिये हुए [ वा, अचल ) अन्तरिक्ष में बन्धे हुए समुद्र [मेघ] को दोहता है [१०।१४९।१] सविता यन्त्रों से पृथिवी को रमण कराता है बिना सहारे आकाश में सविता ने द्यौ को दृढ किया है। घोड़े की न्याईं झाड़ने वाले ( जैसे घोड़ा शरीर से धूल झाड़ता है इस प्रकार मेघ जल झाड़ता है ] अन्तरिक्ष में बन्धे हुए मेघ को दोहता है। अतूर्ते=पीड़ा न दिये हुए में, वा अचल में। सविता। समुद्र=भलि भांति गीला करने वाले [मेघ] को। मध्यम से भिन्न और किस को ऐसे [मेघ का दोहने वाला] कह सकता,[इस लिए यहां सविता मध्यम है] सूर्य भी सविता कहलाता है। जैसा कि हैरण्यस्तूप [ सूक्त ] में स्तुति किया गया है। अर्चन नामी हिरण्यस्तूप ऋषि ने इस सूक्त का प्रवचन किया है। उस के कहने वाली यह ऋचा है।३२।

"हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्। एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्" ॥ हिरण्यस्तूपो हिरण्मयः स्तूपो हिरण्मयः स्तूपोऽस्येति वा। स्तूपः स्त्यायतेः संघातः। सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेऽन्नेऽस्मिन्नेवं

त्वार्चन्नवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागर्म्य-हम् ॥ त्वष्टा व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥२३॥

हे सवितः! आंगिरस (आंगिरस् का पुत्र) हिरण्यस्तूप जैसे तुझे इस अन्न ( हवि ) में बुलाता है, वैसे मैं अर्चन् रक्षा के लिए स्तुति करता हुआ जागता हूं ( सावधान होकर स्थित हूं ) जैसे (यजमान) सोम के अंशु के लिए ( जागता है १०।१९१।९) हिरण्यस्तूप=सुनहरी लाट(वा,ढेर) अथवा सुनहरी लाट है इसकी। स्तूप, स्त्ये ( भ्वा०प०) से है। अर्थात् संघात ( ढेरवालाट ) है हे सवितः! जैसे तुझे आंगिरस बुलाता है इस, वाजे = अन्न में। ऐसे तुझे अर्चन् रक्षा के लिए वन्दना करता हुआ। सोम के अंशु की न्याई (तेरे लिए) जागता हूं मैं (२१–) त्वष्टा व्याख्या किया गया है (८।१४ में) उस की यह है।२३।

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्"॥ देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन बहुधा चेमा जनयतीमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ वातो वातीति सतः। तस्यैषा भवति ॥ २४ ॥

"उत्पन्न करने वाला, सारे रूपों वाला त्वष्टा देव प्रजाओं को बहु प्रकार से उत्पन्न करता है और पोषण करता है

यह सब जल इस के हैं, देवताओं में से इस के लिए यह एक प्रज्ञावत्ता, वा प्रबलता (बड़ा ऐश्वर्य है) (३।५५।१९) देव त्वष्टा उत्पादक, सब रूपों वाला, पुष्ट करता है प्रजाओं को जल देने से और बहु प्रकार से इन (प्रजाओं) को उत्पन्न करता है, यह सब भुवन = जल, इस के हैं, बड़ा है इस के लिये देवताओं में से मुख्य, असुरत्व = प्रज्ञावत्ता वा प्राणवत्ता (बलवत्ता) (असुका अर्थ प्राण तो प्रसिद्ध है) अथवा असु, प्रज्ञा का नाम है अनर्थों को परे फेंकती है, वा फेंके हुए (डाले हुए) होते हैं इस में अर्थ। अथवा असुरत्वं, आदि लुप्त है (आदिका व लुप्त है) असुरत्वं =वसुरत्वं = धन दाता होना। यह जल रूप धन दाता है (२२-) वातः=बहता है, ऐसा होते हुए से। उस की यह है।३४।

"वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूंषि तारिषत्" ॥ वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नो हृदयाय प्रवर्धयतु च न आयुः॥ अग्निर्व्याख्यातः। तस्यैषापरा भवति ॥ ३५ ॥

वायु हमारे लिये औषध रूप हुआ बहता आवे कल्याण कारी (रोगनाशक) हुआ और हमारे हृदय के लिये सुख कारी हुआ (बहता आवे) हमारी आयुओं को बढावे (१०। १८६।१)(२३-) अग्नि व्याख्या किया गया है (७।१४में) उस की यह है।३५।

"प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि" ॥ तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय

प्रहूयसे, सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । तस्यैषापरा भवति ॥ ३६ ॥

उस सुहावने (अंगों की विकलता से रहित) यज्ञ के प्रति तू सोम पीने के लिये (हमसे) बुलाया जाता है हे अग्ने मरुतों समेत आ(१।१९।१) मध्यम से भिन्न और किस को ऐसे (सोम पीने के लिए और मरुतों के साथ आ) कहता, इस लिए यह अग्नि मध्यम विद्युत है उस की यह और है ।३६।

"अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि" ॥ अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयं सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति ॥ ३७ ॥

हे अग्ने पहले पीने के लिए तेरे लिये सोममय मधु ( सोम स्वरूप शहद)तय्यार करता हूं, मरुतों के साथ आ(१।१९।९)।२४।

वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः । तस्यैषा भवति ।३८

वेन, कान्ति अर्थ वाले वेन (भा० उ०)से है ( मध्यम सब लोक का प्यारा है क्योंकि वर्षा द्वारा सब का उपकारी होता है) उस की यह है ।३७।

"अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इममपां सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति"॥ अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भा आपः इति वा ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य

जरायुस्थानीयं भवति । जरायु जरया गर्भस्य जरया यूयत इति वा । इममपां च सङ्गमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा । शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति॥ असुनीतिरसून्नयति । तस्यैषा भवति ॥ ३९ ॥

यह वेन (प्यारा) जल के बनाने वाले (अन्तरिक्ष) में स्थित हुआ इन जलों को (पृथिवी की ओर) प्रेरता है, जो सूर्य (की रश्मियों के) गर्भभूत हैं और ज्योति (विद्युत्) जिन का जरायु (जेर) है, जलों को और सूर्य (सूर्यरश्मियों) के मेल के स्थान (अन्तरिक्ष) में वर्तमान इस को बुद्धिमान् अपनी बुद्धियों से स्तुति करते हैं, जैसे (माता पिता बच्चे की) स्तुति करते हैं।१०।१२३।१. यजु ७।१६) यह वेन प्रेरता है, पृश्निगर्भाः = अच्छे पाण्वर्ण वाले (सूर्य वा रश्मियों) के गर्भ भूत जल । ज्योति जरायु = ज्योति इस की जेर स्थानी होता है । जरायु । गर्भ की जरा के साथ होती है (गर्भ बाहर आने के पीछे जो गिरती है उस का नाम जरा है) अथवा जरा के साथ मिलती है । इस को जलों के और सूर्य के संगम स्थान में शिशु की न्याई बुद्धिमान् मतियों से । रिहन्ति लिहन्ति = स्तुति करते हैं वा बढ़ाते हैं, वा पूजते हैं । शिशुः = प्रशंसनीय होता है अथवा दान अर्थ वाले शिशीति से है (पुरुष से स्त्री को दिया जाता है धारने के लिए) चिर से पाया हुआ जल (रश्मियों का) गर्भ होता है । [२५—] असुनीति = प्राणों को ले जाता है [लोक से परलोक में] उस की यह है ।३९।

"असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु-प्रतिरा न आयुः ॥ रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व" ॥ असुनीते मनोऽस्मासु धारय चिरं जीवनाय प्रवर्धय च न आयू रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय । रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते-'मा रधाम द्विषते सोम राजन्' इत्यपि निगमो भवति । घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व ॥ ऋतो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥४०॥

हे असुनीते ! हम में मन को धारण कर, चिर जीने के लिए हमारी आयु को बढ़ा, और हमें सफलता दे सूर्य के भले भांति देखने के लिये । जल से तू अपने शरीर को बढ़ा [१०।५९।५] रध्यति वश पड़ने में भी दीखता है । जैसे यह निगम है, हे सोमराजन् ! हम शत्रु के वश [कभी] न पड़ें (१०।१२८।५) घृत से तू । तन्वं=अपने आप को बढ़ा । [ २६— ] ऋत व्याख्या किया गया है [ २।२५ में ] उस की यह है ।४०।

"ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति । ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः" ॥ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्त्यृतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति । बधिरो बद्धश्रोत्रः। कर्णौ बोधयन्दीप्यमानश्चायोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योति-

षो वोदकस्य वा ॥ इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा । तस्यैषा भवति॥

ऋत [मध्यम देव] के पहले से संचित जल हैं, ऋत की प्रज्ञा पापों का नाश करती है (ऋत की अनुग्रह बुद्धि से वह पाप मिट जाते हैं जो अकाल के कारण उत्पन्न होते हैं ) ऋत को जागती हुई और चमकती हुई ध्वनि मनुष्य के बहरे कानों को खोल देती है (४।२३।८) बधिरः=बन्द कानों वाला। कानों की जगाती हुई और चमकती हुई [ध्वनि] । आयोः = गति शील मनुष्य के वा ज्योति के वा जल के। [१७- ] इन्दु इन्ध [रु० आ ] से [ चमकता है ] अथवा उन्द [ रु०उ० ] से है [ गीला करता है ओस से ] उस की यह है।४१।

"प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति । स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् । अव स्रवेदघशंसोऽवतर मव क्षुद्रमिव स्रवेत्" ॥ प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे हवनार्ह इव य इषवानन्नवान्कामवान्वा मननानि च नो रेजयति रक्षोहा च बलेन रेजयति । स्वयं सोऽस्मदभिनिन्दितारं वधैरजेत दुर्मतिम् । अवस्रवेदघशंसस्ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत् । अभ्यासे भूयाँसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति । तत्परुच्छेपस्यशीलं, परुच्छेप ऋषिः पर्ववच्छेपः, परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा ॥ इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधे-

यान्यनुक्रान्तानि । सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि । तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि-वेनोऽसुनीतिर्ऋत इन्दुः॥ प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति॥४२

वृद्धि शील, इन्दु के लिये मैं वह [स्तोत्र] कह सकूं, जो हवि के योग्य [देवता]की न्याई* अन्नवान् [वा कामना वाला=अन्न दाता वा कामनाओं को पूरने वाला] हुआ हमारे स्तोत्र को कंपाता है [हम उस की स्तुति में प्रवृत्त होते हैं] राक्षसों को मारता हुआ बल से कंपाता है। वह स्वयं हम से दुर्मति निन्दक को शस्त्रों द्वारा परे फैंके। पापाभलापी [हमारा अनिष्ट चाहने वाला) नीचे गिरे, [किसी] क्षुद्र [वस्तु] की न्याई अधिक से अधिक नीचे गिरता जाए [१।१।२९।६] कह सकूं मैं वह [स्तोत्र] वृद्धि शील इन्द्र के लिये जो हवन के योग्य । देवता की न्याई । इषवान्=अन्न वाला वा इच्छाओं वाला। हमारे स्तोत्रों को हिलाता है और राक्षसों को मारता हुआ अपने बल से उन को कंपाता है । स्वयं वह हम से निन्दक दुर्मति को शस्त्रों द्वारा परे फैंके । पाप चाहने वाला नीचे गिरे और क्षुद्र वस्तु की न्याई उन से भी नीचे नीचे गिरे। † अभ्यास में अधिक अर्थ मानते हैं। जैसे ' अहो दर्शनीय ! अहो

* इन्दु के लिये हवि का विधान किसी यज्ञ में नहीं, तथापि हविर्भागी देवताओं की न्याई वृष्टिद्वारा हमें अन्न देता है और हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है। इस लिए हम कृतज्ञ हुए उसकी स्तुति में प्रवृत्त होते हैं । मानों वह अपने उपकारी को स्तुति के लिये प्रेरता है।

† मन्त्र में मन्म, मन्म, रेजति, रेजति अवब्रवेत, अवब्रवेत, इस प्रकार पदों का अभ्यास(पुनरुक्ति)देखकर उस पर विचार करते हैं।

दर्शनीय' यह ( अभ्यास ) है ‡। यह परुच्छेप का स्वभाव है [ अभ्यस्त शब्दों से स्तुति करता है ] परुच्छेप ऋषि है। पर्व वाले प्रजनन वाला, अथवा पर्व २ में जिस के प्रजनन शक्ति है। यह २७ देवता नाम [ वायु से इन्दुतक ] अनुक्रम से कहे हैं, जो सूक्त भागी भी हैं, और हविर्भागी भी हैं [ उनकी स्तुति में सूक्त पढ़े गए हैं, और इन को हवि दी जाती है ] पर उन में से यह हविर्भागी नहीं—वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु [इन के लिये हविका विधान किसी यज्ञ में नहीं ] [ २८— ] प्रजापति प्रजाओं का पालक, उसकी यह है ॥४२॥

"प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्"॥ प्रजापते न हि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परि बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणामित्याशीः ॥ अहिर्व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥४३॥

हे प्रजापते ! तेरे बिना कोई और इन सब उत्पत्ति वालों को घेरे हुए नहीं है, ( तू ही सब के रचने और पालने में समर्थ है ) जिस कामना वाले हुए हम तुझे बुलाते हैं, यह हो ( पूर्ण हो ) हम धनों के पति हों ( १०।१२१।१० ) ( मन्त्र का

‡ किसी सुवा को देखकर जैसे किसी स्त्री के मुख से दो बार निकले । जैसे यह उसके चित्तपर उसके गहरे प्रभाव का द्योतक होता है । इसी प्रकार अभ्यास सर्वत्र किसी अभिप्राय का द्योतक होता है ॥

पूर्वार्ध ) स्तुतिपरक है, ( उत्तरार्ध ) आशीः=प्रार्थना है। ( २९– ) अहिः, व्याख्या किया गया है ( २।१७ ) उस की यह है ॥ ४३ ॥

"अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सु सीदत्" अप्सुजमुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजस्सूदकेषु सीदन्। बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन्धृता आप इतिवा। इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव बद्धा अस्मिन्धृताः प्राणा इति। योऽहिःस बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। तस्यैषा भवति ॥ ४४ ॥

"जलों में उत्पन्न हुए अहि की स्तुति करता हूं, जलों की जड़ में ( अन्तरिक्ष में ) जलों के अन्दर बैठता है ( ७।३४। १६ ) रजः सु = जलों में। बुध्नं = अन्तरिक्ष है, ( जलों की जड़ है ) अथवा जल इन में बंधे हुए धारे हुए होते हैं। यह जो दूसरा बुध्न ( शरीर ) है, वह भी इसी से है। प्राण इस में बंधे हुए = धारे हुए होते हैं। ( ३०– ) अहिर्बुध्न्यः = ( अहिश्चासौबुध्न्यः ) जो अहि वही बुध्न्य है, अन्तरिक्ष में निवास से। उस की यह है ॥ ४४ ॥

"मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः" ॥ मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धान्मास्य यज्ञोऽस्य च स्रिधद्यज्ञकामस्य ॥ सुपर्णो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ ४५ ॥

'अन्तरिक्ष में होने वाला अहि मत हमें किसी हानि पहुंचाने

वाले के लिये दे, यज्ञ की कामना वाले इस ( यजमान ) का यज्ञ मत क्षीण हो ( सदा प्रवृत्त रहे । ७।३४।७ ) (३१.-) सुपर्ण, व्याख्या किया गया है ( ३।१२१ में ) उस की यह है ॥४५॥

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे । तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हिमातरम्" ॥ एकः सुपर्णः स समुद्रमाविशति स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः । इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता । तं माता रेढि वागेषा माध्यमिका स उ मातरं रेढि ॥ पुरूरवा बहुधा रोरूयते । तस्यैषा भवति ॥ ४६ ॥

अकेला सुपर्ण ( मध्यम देव = वायु ) वह समुद्र (अन्तरिक्ष) में आवेश करता है, वह इस सारे भुवन को ( अनुग्रह दृष्टि से ) देखता है। उस को पके हुए ( ज्ञानवान् ) मन से मैं अपने निकट देखता हूं, उस को माता ( माध्यमिका वाक् ) चाटती है और वह इस माता को चाटता है * ( १०।११४।४ ) जिस ने अर्थ (विशेष) देखा है, उस ऋषि की प्रसन्नता होती है, जब वह ( अर्थ ) आख्यान से युक्त ( कहा जाए, अर्थात् उसका मूल आख्यान कहा जाए ) । उस को माता चाटती है यह वाक् माध्यमिका । और वह माता को चाटता है । ( ३२- ) पुरूरवस् = बहु प्रकार से शब्द करता है, उस की यह है॥४६॥

---

* माध्यमिक वाणी वायु का आश्रय लेती है । वह उसका आश्रय लेता है ।

"समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेम वर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः। महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः" ॥ समासतास्मिञ्जायमाने ग्ना गमनादापोदेवपत्न्यो वाऽपि चैनमवर्द्धयन्नद्यः स्वगूर्ताः स्वयंगामिन्यो महते च यत त्वा पुरूरवो रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्धयन्दस्युहत्याय च देवाः ॥४७॥

"इस ( पुरूरवा ) के उत्पन्न होने पर स्त्रियें ( जल, उस को घेर कर ) स्थित हुए, स्वयं चलने वाले शोर करने वाले जलों ने इस को बढ़ाया। हे पुरूरवः ! जब देवताओं ने तुझे बड़े संग्राम के लिये, दस्यु (अकाल) के नाश के लिये बढ़ाया ( १०।९५।७ ) स्थित हुए इस के उत्पन्न होने पर। ग्नाः = जल, गमन से ( गति शील होते हैं ) अथवा ( ग्ना ) देवपत्नियें *। किञ्च इस को बढ़ाते हुए जल। स्वगूर्ताः=स्वयं चलने वाले। हे पुरू रवः ! जो तुझे बड़े, रणाय=रमणीय संग्राम के लिये बढ़ाते हुए दस्यु के मारने के लिये देवता ॥ ४७ ॥

## एकादशोऽध्यायः

श्येनो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ १ ॥

( १.–) श्येन व्याख्या किया गया है ( ४।२४ में ) उस की यह है ॥१॥

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवां अयुतं

* देवपत्नी पक्ष में। नद्यः का अर्थ स्तुतिपरायणहुई, और स्वगूर्ताः का स्वयं चलने वाली=अपरतन्त्र।

च साकम् । अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमुरः"॥ आदाय श्येनोऽहरत्सोमं सहस्रं सवानयुतं च सह सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य तत्रायुतं सोमभक्षास्तत्सम्बन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा। तत्र पुरन्धिरजहादमित्रानदानानिति वा । मदे सोमस्य मूरा अमूर इति । ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन स्तुतस्तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते ॥ ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति । बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन । तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः ॥ २ ॥

"श्येन सोम को लाकर एक साथ सहस्र और अयुत (दशसहस्र) यज्ञों को लाया, वहां वह बहुत बुद्धि वाला अमूढ़ (इन्द्र) सोम के मद (हर्ष) में मूढ शत्रुओं को नाश करता भया (४।२६।७) लेकर श्येन लाया सोम को, सहस्र और अयुत यज्ञों को इकट्ठा। सहस्र, यह सहस्रसाव्य सत्र के अभिप्राय से है। वहां (वह सहस्र सवन दस दस चमसों के सम्बन्ध से दस गुणे हुए) अयुत (दससहस्र) सोम भक्ष होते हैं। अथवा उनके सम्बन्ध से अयुत दक्षिणा होती हैं। वहां नाश किया (अरातीः=) शत्रुओं को, अथवा न देने वालों को। सोमके हर्षमें मूढों को अमूढने। इसप्रकार ऐन्द्रसूक्त में सोम पान से स्तुत किया है (श्येन) इस से इन्द्र मानते हैं। (२—सोम) ओषधि है सोम, सु स्वा० उ०, से। जिसलिये इसको निचोड़ते हैं। इस (सोम) का नैघण्टुक प्रयोग बहुतसा है, प्रधा-

नता से आश्चर्य सा है (बहुत थोड़ा है) उस के (प्रधान प्रयोगको) पावमानी (ऋचाओं) में निदर्शन के लिये उदाहरण देंगे ॥ २ ॥

" स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः" ॥ इति सा निगद व्याख्याता । अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ॥ ३ ॥

हे सोम इन्द्र के पीने के लिये निचोड़ा हुआ तू बड़ी स्वादु और बड़ी तृप्ति देने वाली धारा से झर ( ९।१।१ ) यह पाठ से ही व्याख्या की गई है । और यह (अगली) और है चन्द्रमा की वा इस ( सोमलता ) की ( प्रधान स्तुति है ) ॥ ३ ॥

"सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिम् । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन" सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वेत्यधियज्ञम् । अथाधिदैवतं सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिंषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चनादेवइति । अथैषापरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा ॥ ४ ॥

जब सोम ओषधि को पीसते हैं ( रासायनिक ), तो पीने वाला उस को सोम मानता है । किन्तु जिस को ब्राह्मण ( ऋत्विज् ) सोम जानते हैं, उस को कोई ( यज्ञ न करने

वाला ) नहीं खाता है ( अर्थात् यज्ञ के बिना यूं ही सोमपान यद्यपि आयु आदि बढ़ाता है, तथापि यज्ञिय सोम की अपेक्षा वह असोम ही है, यह अर्थ सोमपक्ष में है चन्द्रपक्ष में ) ( यज्ञ में ) जब ओषधि पीसते हैं, तो पीने वाला यजमान उसे सोम मानता है, किन्तु ब्राह्मण ( देवता तत्त्व के जानने वाले ) जिस को सोम जानते हैं, उस को कोई नहीं खाता है ( जो देवता नहीं ) ( १०।८५।३ ) सोम मानता है पीता हुआ, जब कि पीसते हैं ओषधि को। इस से वृथा निचोड़े ( यज्ञ के बिना निचोड़े ) सोम को असोम कहता है ( अर्थात् सोम का अत्यु-त्फल उस को नहीं मिलता है ) ब्राह्मण जिन को सोम जानते हैं, उस को कोई अयज्वा नहीं खाता है। यह यज्ञ विषय में अर्थ है। अब देवता विषय में ( कहते हैं ) सोम मानता है पीता हुआ, जब कि पीसते हैं ओषधि को। इस से यज्ञ में निचोड़े सोम को असोम कहता है ( चन्द्र की अपेक्षा से )। ब्राह्मण जिस को सोम जानते हैं चन्द्रमा को। उस को कोई अदेव नहीं खाता है ( उस सोम को देवता पीते हैं ) अब यह और है चन्द्रमा की वा इस ( सोम ) की ॥ ४ ॥

"यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः" ॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायते पुनरिति नारा-शंसानभिप्रेत्य पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा। वायुः सोम-स्य रक्षिता वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्याद्रसहरणा-

द्रा। समानां संवत्सराणां मास आकृतिः। सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा। चन्द्रमाश्चायन्द्रमति चन्द्रो माता चान्द्रं मानमस्येति वा। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणश्चन्दनमित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति चिरं द्रमति चमेर्वा पूर्वम्। चारु रुचेर्विपरीतस्य। तस्यैषा भवति ॥ ५ ॥

हे देव जब तुझे पीते हैं, उस के अनन्तर फिर तू बढ़ता है। वायु सोम का रक्षक है, सोम वरसों का बनाने वाला है (१०।८५।५) जब तुझे हे देव पीते हैं, इस के अनन्तर तू फिर बढ़ता है (सोम पक्ष में तो यह वचन) नाराशंसों के अभिप्राय से है (तीनों सवनों में सोम को पी कर फिर उस को मन्त्रों से बढ़ाते हैं) (चन्द्रपक्ष में) कृष्ण शुक्ल पक्षों के अभिप्राय से है (कृष्ण पक्ष में चन्द्र की एक २ कला को देवता पीते हैं, शुक्ल पक्षों में बढ़ाते हैं)। वायु सोम का रक्षक है। वायु को इस (सोम वा चन्द्र) का रक्षक कहता है, साहचर्य से (वायु भूमि पर विद्यमान रहने से ओषधियों का भी सहचारी है, और चन्द्र के साथ रहने से चन्द्र का सहचारी है) अथवा रस खींचने से (वायु ओषधियों का रस खींचता है और चन्द्र का)। समानां=वरसों का। मासः=सोम=ओषधि वा चन्द्रमा, बनाने वाला है। अपने भिन्न २ रूपों से (चन्द्रमा पन्द्रह दिन बढ़ता रहता है, पन्द्रह दिन घटता रहता है, इस प्रकार वह अपने भिन्न २ रूपों से एक मास बना, मास मिलकर वरसें बनाते हैं। सोमकला के पत्ते शुक्लपक्ष में चन्द्र कला के

साथ एक २ बढते हुए पौर्णमासी में पन्द्रह होते हैं, कृष्णपक्ष में घटते हुए अमावस्या को कोई नहीं रहता है, इस प्रकार सोम भी महीने और बरसों का बनाने वाला है ) ( ५- ) चन्द्रमाः, देखता हुआ चलता है ( चाय्+द्रम्, इन दो धातुओं से) अथवा चन्द्र बनाने वाला ( महीनों का ) ( चन्द्र+मा से ) अथवा चन्द्र सम्बन्धी माप जिस का है ( चन्द्र+मा ) । चन्द्र, कान्ति अर्थवाले चन्द् ( भ्वा० प० ) से है । चन्दन भी इसी का है । अथवा सुन्दर चलता है ( चारु+द्रम् ) अथवा चिर तक चलता है ( लंबी आयु वाला होता है ) ( चिर+द्रम् ) अथवा चम ( भ्वा० प० ) पूर्वपद है ( देवैश्चम्यमानो द्रमतिः=देवताओं से खाया जाता हुआ चलता है ) चम्+द्रम् ) चारु, उलटे हुए रुच ( भ्वा० आ० ) से है ( रुचा, होकर चारु ) उस (चन्द्र) की यह है ॥ ५ ॥

"नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुपसामेत्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" ॥ 'नवोनवो भवति जायमान' इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य 'अह्नां केतुरुपसामेत्यग्रम्' इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य । आदित्यदैवतो द्वितीयःपाद इत्येके । 'भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्' इत्यर्धमासेज्यामभिप्रेत्य । प्रवर्धयते चन्द्रमादीर्घमायुः ॥ मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः । तस्यैषा भवति ॥ ६ ॥

यह चन्द्रमा ( प्रति दिन एक २ कला की वृद्धि से ) उत्पन्न होता हुआ नया २ होता है (+ शुक्लपक्ष में )। दिनों का झंडा उषाओं के आगे चलता है ( कृष्णपक्ष में )। देवताओं को भाग देता है आता हुआ। चन्द्रमा लंबी आयु को बढ़ाता है ( १०।८५।१९ ) 'नया २ होता है उत्पन्न होता हुआ' यह शुक्लपक्ष के आरम्भ को अभिप्राय करके कहा है ( शुक्लपक्ष में नया २ होता आता है ) 'दिनों का झंडा उषाओं के आगे चलता है' *। यह कृष्णपक्ष की समाप्ति के अभिप्राय से है ( जबकि चन्द्र पिछली रात को उदय होता है ) कई कहते हैं, कि यह दूसरा पाद सूर्य देवता का है † 'भाग देवताओं को देता है आता हुआ' यह अर्धमास ( अमावस्या और पौर्णमासी) की इष्टि को अभिप्राय कर के कहा है ( उन में देवताओं का यजन होता है ) 'बढ़ाता है चन्द्रमा लंबी आयु' ( ४– ) मृत्यु मारता है, ऐसा होते हुए से, मरे हुए को ले जाता है, ( मृत+च्यु से ) यह मुद्गल का पुत्र शतबलाक्ष कहता है। उस मृत्यु की यह है ॥ ६ ॥

"परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मानः

* दिनों का झंडा=दिन के समय दीखने से अथवा प्रतिपद आदि तिथियों का बनाने वाला।

† दिनों का झंडा सूर्य जो उषाओं की मुख्यता को प्राप्त होता है क्योंकि इसी की रश्मियों से उषाएं उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार द्वितीयपाद को सूर्यपरक मानना प्रकरणानुकूल ही है, क्योंकि इससे पूर्वले मन्त्र में सूर्य चन्द्र दोनों का वर्णन है।

प्रजां रीरिषो मोत वीरान्"॥(*परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति मृत्यो मदेर्वा मुदेर्वा । तेषामेषा भवति ॥७॥

अन्यमार्ग का पीछा कर हे मृत्यो ! जो तेरा अपना मार्ग देवयान से भिन्न है । नेत्रवाले और सुनते हुए तुझ को कहता हूं मत हमारी प्रजा ( सन्तति ) को हिंसा कर, मत दूसरे वीरों (पौत्र आदि वा भृत्य आदि) को ( १०।१८।१ )

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति । या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानो-रस्तुरसनामुरुष्यथः"*)॥इति सा निगदव्याख्याता॥ विश्वानरो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति ॥ ८ ॥

यह पाठ से व्याख्यात है । विश्वानर व्याख्या किया गया है ( ७।२१ में ) इस की यह है ।

"प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे । इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः" ॥ प्रार्चत यूयं स्तुतिं महतेऽन्धसोऽन्नस्य दात्रे मन्दमानाय मोदमानाय स्तु-

---

* इस के आगे ८वें खण्ड के मन्त्र तक प्रक्षिप्त है, और असंगत है, टीकाकार ने भी नहीं छुआ, किन्तु खण्डों के अंक इसके अनुसार दिये जाते हैं. इस लिये रहने दिया है ।

यमानाय शब्दायमानायेति वा, विश्वानराय सर्वं विभूतायेन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलं महच्च श्रवणीयं यशो नृम्णं च बलं नृन्नतं द्यवापृथिव्यौ वः परिचरत इति । कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् । तस्यैषापरा भवति ॥ ९ ॥

(हे ऋत्विजो ! ) विश्वानर को (स्तुति से) पूजो, जो महान्, प्रसन्न, अन्न का दाता, सब प्रकार के ऐश्वर्यवाला है । जिस मालिक का बहुत बड़ा बल, बड़ा यश और धन है । तुम्हारी (इस स्तुति को ) द्यावापृथिवी सेवन करते हैं ( अभिनन्दन करते हैं ) [ १०।५०।१ ] पूजो [ उचारो ] तुम स्तुति, बड़े, अन्धसः=अन्न के दाता, मन्दमानाय=प्रसन्न होते हुए, वा स्तुति किये जाते हुए, वा शब्द करते हुए, सब प्रकार की विभूति युक्त विश्वानर के लिये । जिस की प्रीति में बहुत बड़ा बल, बड़ा यश, और नृम्णं=मनुष्यों की ओर झुका हुआ बल ( धन ) है । द्यावा पृथिवी तुम्हारा ( तुम्हारे स्तोत्र का ) सेवन करते हैं । मध्यम से भिन्न और किस को ऐसे ( इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहः ) कहता । उसकी यह और है ॥ ९ ॥

"उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत" । उदशिश्रियज्ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति ॥ धाता सर्वस्य विधाता । तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

( सब के ) प्रेरक विश्वानर देव ने सबलोगों की हितकर अमृत ज्योति को ऊंचा उठाया है ( उदय किया है ( ७।७६। १ ) (६–) धाता=सब का रचने वाला ( जल पूर्वक सारी रचना होने से मध्यम है ) उसकी यह है ॥ १० ॥

"धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षितम् । वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः" ॥ धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणां वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः ॥ विधाता धात्रा व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतामृचि ॥ ११ ॥

'धाता देने वाले को बहुत बढ़ी हुई, क्षीण न होने वाली जीविका देता है' उस सच्चे नियमों वाले देवकी हम शुभमति ( अनुग्रह दृष्टि ) का ध्यान करते है ( अथर्व ७।१७।२ ) ( ७ ) विधाता, धाता से व्याख्या किया गया है । उस का इस बहुत देवता वाली ऋचा में निपात ( संमेल ) है ॥११॥

"सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्माणि । तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्" ॥ इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशानभक्षयमिति । कलशः कस्मात्कला अस्मिञ्छेरते मात्राः । कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्रः ॥ १२ ॥

राजा सोम और वरुण के कर्म में ( वर्तमान हुए ) बृहस्पति और अनुमति की शरण में ( स्थित हुए ) और तेरे स्तोत्र में ( लगे हुए ) हे मघवन् ! हे धातः ! हे विधातः ! मैंने आज कलशों का भक्षण किया है ( १०।१६७।३ ) इन देवताओं से अनुज्ञा दिये हुए सोम कलशों ( जिन में सोमरस होता है ) का मैंने भक्षण किया है । कलश, किस से ? कलाएं=मात्राएं ( सोम से अलग किये हुए छोटे अवयव ) इस में रहती हैं । कलिः, और कला, कॄ ( तु० प० ) से हैं । बिखरे हुए अवयव ॥ १२ ॥

"अथातो मध्यस्थाना देवगणाः" । तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति । मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद्द्रवन्तीति वा । तेषा मेषा भवति

अब आगे मध्यस्थ देवगण ( देव समुदाय ) हैं । उन में से मरुत् प्रथमागामी हैं । मरुतः=परिमित शब्द करने वाले । वा परिमित चमकने वाले * (मि+रु से वा मि+रुच् से) अथवा बड़ा दौड़ते हैं ( महद्+द्रु से ) उन की यह है ॥ १३ ॥

"आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः"॥विद्युन्मद्भिर्मरुतः । स्वर्कैःस्वञ्चनैरिति वा, स्वर्चनैरिति वा,स्वार्चिभिरति वा । रथैरायात ऋष्टिमद्भि-

---

* कई 'अमित' पदच्छेद करके अमित शब्द वाले वा अमित चमकने वाले अर्थ करते हैं ।

रश्वपर्णैरश्वपतनैर्वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत सुमायाः कल्याणकर्माणो वा कल्याणप्रज्ञा वा ॥ रुद्रा व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥१४॥

हे मरुतो ! बड़ी चमक वाले, अच्छी गति वाले ( अथवा अच्छी पूजा वाले=स्तुति युक्त ) बरछियों वाले, घोड़ों की सी गति वाले रथों (=मेघों ) से आओ, हे अच्छे कर्मों वालो वा अच्छी प्रज्ञा वालो ( हमें देने के लिये ) बहुत बड़े अन्न के साथ पक्षियों की न्याईं उड़ते हुए आओ ( १।८८।१ ) बड़ी चमक वालों से, हे मरुतः । स्वर्कैः=अच्छी गति वाले, वा अच्छी पूजा वाले ( पूजा के योग्य ) अथवा शुभ शब्दों के साथ, रथों से आओ । बरछियों वाले । अश्वपर्णैः=घोड़ों की सी गति वालों से । ( हमें देने योग्य ) बहुत बड़े अन्न से, पक्षियों की न्याईं उड़ कर आओ । सुमायाः=अच्छे कर्मों वाले वा अच्छी पूजा वाले । ( ९- ) रुद्र व्याख्या किये गए हैं । इन की यह है ॥ १४ ॥

"आ रुद्रास इन्द्रवन्तःसजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन । इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे" ॥ आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण सहजोषणाः सुविताय कर्मण इयं वोऽस्मदपि प्रतिकामयते मतिस्तृष्णज इव दिवा उत्सा उदन्यवे । तृष्णक्तृष्यतेरुदन्युरुदन्यतेः ॥ ऋभव उरु भान्तीति

वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा। तेषामेषा भवति ॥१५॥

हे रुद्रो इन्द्र के साथ समान प्रीति वाले हुए सुनहरी रथों वाले तुम ( हमारे इस ) कर्म के लिये आओ। यह हमारी मति तुम्हारी कामना करती है, जैसे जल चाहते हुए प्यासे के लिये द्यौ से जल के स्रोत ( आते हैं वैसे आओ—८।८७।१ )। तृष्णक् तृष्यति ( तृष् दि० प० ) से, और उदन्यु उदन्य ( उदन्य, नामधातु ) से। ( १०— ) ऋभवः = बहुत चमकते हैं ( उरु+भा, से ) यज्ञ से वा सत्य से चमकते हैं ( ऋत+भा, से ) यज्ञ से वा सत्य से होते हैं ( ऋत+भू, से ) उनकी यह है ॥ १५ ॥

"विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः" ॥ कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन वोढारो मेधाविनो वा मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशिरे सौधन्वना ऋभवः सूरख्याना वा सूरप्रज्ञा वा। संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः। ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन अङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुस्तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन। तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति। आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते॥ "अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो

नानु गच्छथ" । अगोह्य आदित्योऽगूहनीयस्तस्य यदस्वपथ गृहे यावत्तत्र भवथ न तावदिह भवथेति ॥ अंगिरसो व्याख्याताः, तेषामेषा भवति ॥१६॥

मेधावी (ऋभु) कर्मों को जल्दी करके मनुष्य होते हुए अमृतत्व को प्राप्त हुए। सुधन्वा के पुत्र ऋभु सूर्य तुल्य प्रकाश (वा प्रज्ञा) वाले वरस में कर्मों से संयुक्त हुए (हविर्भागी बने) (३।११०।४) कर के कर्मों को जल्दी से (वाघतः) निवाहने वाले (यज्ञ के अनुष्ठाता) वा मेधावी। मनुष्य होते हुए अमृतत्व को प्राप्त हुए। सुधन्वा के पुत्र ऋभु सूर्यतुल्य प्रसिद्धि वाले। वा सूर्य्य तुल्य प्रज्ञा वाले, वरस में कर्मों से संयुक्त हुए। ऋभु, विभ्वा और वाज यह तीन अंगिरा के पुत्र सुधन्वा के पुत्र हुए हैं। उन में से पहले से और अन्तिम से (ऋभु वा वाज शब्द के) बहु वचन में निगम होते हैं। मध्यम के नहीं (विभ्वा बहु वचन में नहीं आता) सो यह ऋभु के बहु वचन से और चमस की स्तुति से ऋग्वेद में बहुत सूक्त हैं। * सूर्य की रश्मियें भी ऋभु कहलाती हैं। 'हे ऋभुओ (रश्मियो) छिपाने के अशक्य (सूर्य) के घर में जब सोते हो, तब तक यहां (पृथिवी पर) नहीं होते हो (१।१६१।११) अगोह्य सूर्य है, न छिपाया जाने वाला। उस के जब सोते हो घर में—जब तक वहां होते हो (रात के समय)।

* ऋभु के निगम बहु वचन में हैं। अभिप्राय ऋभु, विभ्वा, वाज तीनों से होता है। इसी प्रकार वाज के निगम भी बहु वचन में हैं। विभ्वा के निगम एक वचन में हैं। ऋभुओं के सूक्त बहुत हैं, और उन के साथ चमसों को चार बनाने की स्तुति प्रायः आती है।

नहीं तब तक यहां होते हो। (११-) अङ्गिरसः, व्याख्या किये गए हैं (३।१७ में) उन की यह है ॥ १६ ॥

"विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे" ॥ बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा। तेऽङ्गिरसः पुत्रास्तेऽग्नेरधिजज्ञिर इत्यग्निजन्म ॥ पितरो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति ॥ १७ ॥

"नाना रूपों वाले ऋषि गम्भीर कर्मों (वा बुद्धियों) वाले, वह अङ्गिरा के पुत्र हैं, वह अग्नि से उत्पन्न हुए हैं (१०।६२।५) बहु रूपों वाले ऋषि वह गम्भीर कर्मों वाले वा गम्भीर प्रज्ञा वाले, वह अङ्गिरा के पुत्र, वह अग्नि से उत्पन्न हुए। यह अग्नि से उत्पत्ति कहता है। (१२-) पितरः, व्याख्या किये गए हैं (४।२१ में) उन की यह है ॥ १७ ॥

"उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु" ॥ उदीरतामवरउदीरतां पर उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्तेऽसुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा। ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु। माध्यमिको यम इत्याहुतस्तस्मान्माध्यमिकान्पितॄन्मन्यन्ते ॥ अङ्गिरसो व्याख्याताः, पितरो व्याख्याताः, भृगवो व्याख्याताः।

अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः । तेषामेषा साधारणा भवति ॥ १८ ॥

"जो निचले पितर हैं, वह ऊंचे जाएं, जो उत्तम हैं, वह ऊंचे जाएं, जो मध्यम हैं वह ऊंचे जाएं, जो सोम के तय्यार करने वाले हैं, जो प्राणों को प्राप्त हुए हैं ( वायु रूप हैं )। विना शत्रुओं के हैं, यज्ञ के जानने वाले हैं, वह पितर हमारे बुलावों पर आवें ( ऋ० १०।१५।१ यजु १९।४९ ) यम माध्यमिक ( अन्तरिक्ष स्थानी ) हैं, ऐसा कहते हैं ( और वह पितरों का राजा है ) इस से पितरों को माध्यमिक मानते हैं। 'अङ्गिरसः' व्याख्या किये गए, 'पितरः' व्याख्या किये गए(१४-) भृगु व्याख्या किये गए ( १३- ) अथर्वाणः=न हिलने वाले। थर्वति चलने अर्थ वाला है, उस का निषेध ( अथर्वा । सो अथर्वाणः = न चलने वाले, स्थिर प्रकृति ) उन की यह सांझी ( ऋचा ) है ॥ १८ ॥

"अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम" ॥ अंगिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वाथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनस्तेषां वयं सुमतौ कल्यण्यां मतौ यज्ञियानामपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति । माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः । पितर इत्याख्यानम् । अथाप्यृषयः स्तूयन्ते ॥१९॥

जो हमारे पितर अंगिरस् हैं नई गतियों वाले, और अथर्वा और भृगु हैं सोम तय्यार करने वाले, उन यज्ञ के योग्यों की शुभ मति में हम हों, और कल्याण कारी सौमनस्य में हों (१०।१४।६ यजु १९।५० ) नवग्वाः = नई गतियों वाले, वा माखन में गति वाले ( रुचि वाले ) ( ऋभवः, अंगिरसः, भृगवः, अथर्वाणः, इन में से एक २ ) माध्यमिकदेव गण हैं, यह नैरुक्त मानते हैं। पितर हैं, यह आख्यान ( ऐतिह्य ) है। किञ्च ऋषि भी स्तुति किये जाते हैं ॥ ९ ॥

"सूर्य्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः। वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः" ॥ इति यथा ॥ आप्त्या आप्नोतेः। तेषामेव निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ॥ २० ॥

जैसे कि 'इन का ( वसिष्ठों का ) प्रकाश ( ज्योति ) सूर्य की ज्योति की न्याईं है, समुद्र की न्याईं इन की महिमा गम्भीर है, हे वसिष्ठो तुम्हारा स्तोम वायु के वेग की न्याईं किसी और से अनुसरण नहीं किया जा सकता है ( ७।३३।८ ) ( १५– ) आप्त्याः, आप् ( स्वा० प० ) से, स्तुतियों से स्तोतव्यों को प्राप्त होते हैं (आप्त्याः, एकत, द्वित, त्रित इन तीनों को कहते हैं, इन्द्र के सहचारी हैं ) उन का यह निपात है इन्द्र देवता की ऋचा में ॥ २० ॥

"स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्याना- म् । आ दर्षते शवसा सप्तदानून्प्र साक्षते प्रतिमा-

नानि भूरि" ॥ स्तोतव्यं बहुरूपमुरुभूतमीश्वरतममाप्त्यमाप्त्यानामादृणाति यः शवसा बलेन सप्त दातॄनिति वा सप्त दानवानिति वा प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि । साक्षतिराप्नोतिकर्मा ॥ २१ ॥

स्तुति के योग्य बहुत रूपों वाले, फैले हुए, बड़े स्वामी, आप्त्यों (=अ.प्त्य ऋषियों) को जो आदर करता है, उस प्राप्त होने योग्य, (इन्द्र) की ( स्तुति करता हूं ) वह अपने बल से सात दाताओं (मेघों) को (वा सात दानवों को) फाड़ता है, बहुत उपमाओं को प्राप्त होता है ( १०।१२०।६ ) साक्षति प्राप्ति अर्थवाला है ।२१।

अथातो मध्यस्थानः स्त्रियः ॥ तासामदितिः प्रथमागामिनी भवति । अदितिर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २२ ॥

अब मध्यम स्थाना वाली स्त्रियें ( कहेंगे ) उन में से अदिति प्रथमागामी है । अदिति व्याख्या की गई है ( ४।२२-२३ में ) उस की यह है ॥ २२ ॥

"दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि । अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु" ॥ दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि । विवासतिः परिचर्यायां । 'हविष्मानाविवासति' इत्याशास्तेर्वा । अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्था लघुरथोऽर्यमादित्योऽ-

रीन्नियच्छति । सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिस-न्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा । विषमरूपेषु जन्मसु कर्मसूदयेषु ॥ आदित्यो दक्ष इत्याहुरादित्य-मध्ये च स्तुतः,अदितिर्दाक्षायणी।'अदितेर्दक्षो अजा-यत दक्षाद्वदितिः परि'इति च।तत्कथमुपपद्येत। समा-नजन्मानौ स्यातामिति, अपि वा देवधर्मेणेतरेतरज-न्मानौ स्यातामितेरेतरप्रकृती॥अग्निरप्यदितिरुच्यते। तस्यैषा भवति ॥२३॥

हे अदिते, अथवा सूर्य के उदय के कर्म में तू राजा मित्र और वरुण को सेवन करती है * तब न जल्दी मार्ग वाला (नियत गति वाला),बहुत रथों वाला,सात होताओं वाला भांति २ के उदय में ( वर्तता है । १०।६४।५ ) अथवा दक्ष ( सूर्य ) के उदय में, व्रत = कर्म में (सूर्य के जन्म देते समय जो तेरा कर्तव्य है, उस में ) तू राजा मित्र और वरुण का सेवन करती है । विवासति, सेवा ( अर्थ ) में होता है । जैसे 'हविर्युक्त हुआ आकर सेवन करता है ( हे अग्ने उस को सुखी कर'–१।१२। ९ ) इस प्रार्थना से ( विवासति सेवनकर्मा प्रसिद्ध है )। अतूर्तपन्थाः = न जल्दी मार्ग वाला, बहुत रथों वाला । अ-

* अदिति यहां प्रातः काल की सन्ध्या है, मित्र और वरुण= दिन रात, प्रातः कालीना सन्ध्या दिनरात के मध्य में होने से दोनों को सेवन करती है, अथवा कहने का यह तात्पर्य है; कि अदिति को जो सूर्य की जननी कहा है, यह इस अभिप्राय से है, कि सन्ध्या के पीछे सूर्य निकलताहै,किन्तु दूसरी ओर सन्ध्यास्वयं भीसूर्यसेप्रकटीहै।

र्यमा = सूर्य, शत्रुओं को रोकता है (अन्धकारों को हटाता है अरि+यम् से)। सप्त होता = सात किरणें इस के लिये रस झुकाती हैं। अथवा सात ऋषि इस की स्तुति करते है। भांति २ के। जन्म सु = उदय के कर्मों में। सूर्य दक्ष हैं यह कहते हैं। आदित्यों (अदिति के पुत्रों) के मध्य में स्तुति किया गया है †। (प्रश्न) ‡ अदिति, दक्ष की पुत्री है 'अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई (१०।७२।४) यह (परस्पर विरुद्ध) कैसे बन सकता है (उत्तर) समान जन्म वाले (एक दूसरे के पीछे जन्म वाले) हो सकते हैं § वा देवता के स्वभाव से एक दूसरे से जन्म वाले, एक दूसरे का कारण हो सकते हैं ॥ अग्नि भी आदिति कहलाती है, उस की यह है ॥ २३ ॥

"यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता। यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम" यस्मै त्वं सुद्रविणो ददास्यनागास्त्वमनपराधत्वमदिते सर्वासु कर्मततिषु। आग

---

† "इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि। शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो न स्तुविजातो वरुण दक्षो अंशः (२।२७।१) इस मन्त्र में आदित्यों में दक्ष भी गिना है।

‡ मन्त्र में जो वा = अथवा कहा था, उसका तात्पर्य खोलते हुए परस्पर विरोध का परिहार भी दिखलाते हैं, § प्रातःकाल सूर्य सन्ध्या के पीछे आता है और सायंकाल सन्ध्या सूर्य के पीछे आती है।

॥ सूर्यकी किरणों से सन्ध्या उत्पन्न होती है, और प्रातः सन्ध्या से सूर्य निकलता है।

आङ् पूर्वाद् गमेः । एन एतेः । किल्बिषं किल्भिदं सुकृतकर्मणो भयं कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा । यं भद्रेण शवसा बलेन चोदयसि प्रजावता च राधसा धनेन ते वयमिह स्यामेति ॥ सरमा सरणात् । तस्या एषा भवति ॥ २४ ॥

हे अच्छे धन वाले ! हे अदिते * ( अग्ने ) सारे ( कर्मों ) के फैलावों में जिस को तू अनपराधता (यथा विधि कर्म पूरा करने की योग्यता ) देता है । जिस को तू कल्याण कारी बल और प्रजा युक्त धन से प्रेरता है ( अनुगृहीत करता है ) वह हम तेरे ( अनुग्राह्य ) हों ( १।९४।१५ ) आगस्, आङ् पूर्व गम् ( भ्वा० प० ) से ( अवश्य प्राप्त होता है कर्ता को ) ( प्रसंग से कहता है ) एनस्, इ ( अ० प० ) से ( अवश्य प्राप्त होता है ) । किल्बिषं = शुक्र ( पुण्य ) को नाश करता है, अथवा पुण्य कर्म को भयप्रद है ( कृ+भय ) अथवा इस की कीर्ति को नाश करता है ( कीर्ति+भिद् ) ( १७- ) सरमा, चलने से ( सृ, भ्वा० प० ) । उस की यह है ॥ २४ ॥

"किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः । कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि" ॥ किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिर्जङ्गम्यतेः पराञ्चने रचितः का

* आग्नेय सूक्त में अदिते सम्बोधन अग्नि से भिन्न और किस का हो । अदिति = अखण्डनीय अग्नि ।

तेऽस्मास्वर्थंहितिरासीत्किं परितकनम् । परितक्म्या रात्रिः परित एनां तक्म । तक्मेत्युष्णनाम तकत इति सतः । कथं रसाया अतरः पयांसीति । रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः । कथं रसानि तान्युदकानीति वा । देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम् ॥ सरस्वती व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २५ ॥

क्या चाहती हुई सरमा यहां आई है, क्योंकि दूर मार्ग है, अत्यन्त चलने वाला आगे २ चलता हुआ (पहुंचता है) क्या हम में रखा था, (जिस के लिये तू आई है) कैसी तुझे (मार्ग में) रात्रि आई, कैसे रसा के पानियों से पारहुई* (१०।१०८।१) क्या चाहती हुई सरमा यहां आई है। दूर मार्ग है। जगुरिः,जङ्गम्यति (गम यङ्न्त से)सीधी चालों से चलता हुआ।क्या तेरा हम में प्रयोजन धरा था,क्या,परितक्म्या=परितकनं=रात । दोनों ओर इसके उष्ण होता है(दोनों ओर दिन होने से दोनों ओर उष्ण होता है)तक्म उष्ण का नाम है, जाता है, ऐसा होते हुए से । कैसे रसा के पानियों से पार हुई । रसा नदी । शब्द अर्थवाले रस् ( भ्वा० प० ) से । अथवा कैसे रसिक हैं वह जल । इन्द्र से भेजी हुई देवशुनी पणिनामक असुरों के साथ संवाद करती भई, ( वह

---

* इतिहास पक्ष में पणियों से चुराई गौओं का पता लगाने के लिये इन्द्र से भेजी देवशुनी जब पणियों के पुर में पहुंची, तब पणियों ने उस से पूछा है । इस पक्ष में रसा अन्तरिक्ष की एक नदी है । नैरुक्त पक्ष में सरमा वाक् है । देर पीछे मेघ का शब्द सुन कर उसे कहा है ( दुर्गाचार्य ) ।

इस सूक्त में वर्णित है ) यह आख्यान है । ( १.८– ) सरस्वती व्याख्या की गई है ( २।२६ में ) उस की यह है ॥ २५ ॥

"पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः" ॥ पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः । तस्या एषापरा भवति ॥ २६ ॥

सरस्वती जो पवित्र करने वाली, अन्नों (हवियों) से अन्न-वाली, कर्म ( यज्ञ ) रूपी धनों वाली है वह हमारे यज्ञ की कामना करे ( १।३।१० ) उसकी यह और है ॥ २६ ॥

"महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना । धियो विश्वा वि राजति" ॥ महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वाऽइमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति । वागर्थेषु विधीयते तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते॥वाग्व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ २७ ॥

सरस्वती अपने कर्म से ( वा ज्ञान से ) बड़े जल को प्रकट करती है, और इन सारे प्रज्ञानों को चमकाती है ( १।३।१२ ) बड़े जल को सरस्वती ( माध्यमिका वाक् ) प्रचेतयति=प्रकट करती है । केतुना=कर्म से वा प्रज्ञा से । इन सारे प्रज्ञानों को चमकाती है ( वा प्रज्ञानों पर राज्य करती है = जल से अन्न,अन्न से प्रज्ञा उत्पन्न होती है ) । वाक् अर्थों में ( जल के कार्यों में ) विधान की है, इससे माध्यमिका वाणी मानते हैं । ( १.९– ) वाक् व्याख्या की गई है, उस की यह है ॥२७॥

"यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क स्विदस्याः परमं जगाम" ॥ यद्वाग्वदन्त्यविचेतनान्यविज्ञातानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा मदना। चतस्रोऽनुदिश उर्जं दुदुहे पयांसि क स्विदस्याः परमं जगामेति यत्पृथिवीं गच्छतीति वा यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा। तस्या एषापरा भवति ॥ २८ ॥

जब ( माध्यमिक ), देवताओं की ईश्वरी, ( लोगोंके ) हर्ष देने वाली ( वा तृप्त करने वाली ) वाक् अविज्ञात पदों को बोलती है, तब चारों दिशाओं के प्रति अन्न और जल बहाती है, (फिर) इस का श्रेष्ठ रूप कहां चला जाता है ( यह सब नहीं जानते हैं ) ( ८।८९।१० ) जब वाक् बोलती है, अविचेतनानि, अविज्ञात रूप, ईश्वरी देवताओं की। बैठती है। मन्द्रा=हर्ष देनेवाली वा तृप्त करने वाली। चारों दिशाओं के प्रति अन्न और जल को दुहाती है, कहां इसका श्रेष्ठरूप चला जाता है, क्या पृथिवी को चली जाती है, वा सूर्य की रश्मियें हर लेजाती हैं। उसकी यह और होती है। २८।

"देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु" ॥ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां सर्वरुपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च। सा नो मदनान्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मानु-

पैतु सुष्टुता॥ अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते॥ अनुमतिरनुमननात् तस्या एषा भवति॥ २९॥

देवताओं ने देवी वाक् को उत्पन्न किया, उसको सब प्रकार के पशु ( व्यक्त वाणी वाले मनुष्य और अव्यक्त वाणी वाले गौ आदि ) बोलते हैं *। वह हर्ष देने वाली ( वा तृप्त करने वाली ) अच्छी स्तुति की हुई धेनुरूपी वाक् अन्न और रस दुहाती हुई हमें प्राप्त हो) (८।८९।११)२०–२१–) अनुमतिः, राका, यह ( मध्यास्थानी ) देवपत्नियें हैं, यह नैरुक्त मानते हैं, (दोनों दो प्रकार की) पौर्णमासी हैं, यह है अनुमति जो उत्तरा है, जो पहली है वह राका होती है, यह जाना जाता है। अनुमति अनुमनन से (अनुमत है ऋषियों की और देवताओंकी) उसकी यह है

"अन्विदमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः"॥

अनुमन्यस्वानुमते त्वं सुखं च नः कुर्वन्नं च नोऽपत्याय धेहि प्रवर्धय च न आयुः॥ राका रातेर्दानकर्मणः। तस्या एषा भवति॥ ३०॥

हे अनुमते तू ( हमारी प्रार्थना को ) स्वीकार कर, और हमारे लिये कल्याण कर, कर्म और ज्ञान के लिये और स्फूर्ति

---

* जो वाक् देवताओं में अव्यक्त रूप है, वही रूपान्तर में पशुओं और मनुष्यों में है।

के लिये हमें उत्साहित कर, हमारे आयुओं को बढा (यजु ३४।८) हे अनुमते स्वीकार कर, हमारे लिये सुख कर, अन्न हमारी सन्तान के लिये दे, और हमारी आयुओं को बढा। (२१–) राका, दान अर्थ वाले रा ( अ०प० ) से है। उसकी यह है ॥३०॥

"राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना। सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्" ॥ राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्या ह्वये शृणोतु नः सुभगा बोधत्वात्मना सीव्यत्वपः प्रजननकर्म सूच्याच्छिद्यमानया सूची सीव्यतेः। ददातु वीरं शतप्रदमुक्थ्यं वक्तव्यप्रशंसम् ॥ सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता अमावास्ये इति याज्ञिका या पूर्वामावस्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूरिति विज्ञायते। सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती, वालिनी वा वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा। तस्या एषा भवति ॥३१॥

जिसका बुलाना शुभ है, उस राका को शोभन स्तुति से मैं बुलाता हूं। वह अच्छे धनवाली हमें सुने, और आप ( अपने कर्तव्य को ) जाने, न टूटने वाली सूई से ( सन्तानोत्पत्तिके ) कर्म को सिये, और हमें बहुत देने वाला प्रशंसा के योग्य वीर ( पुत्र ) देवे ( २।३२।४ )। अपः=उत्पत्ति का कर्म। सूची, सीव्

( दि०प० ) से है । उक्थ=कहने योग्य प्रशंसा वाले । (२२, २३– ) सिनीवाली और कुहू, यह दो देवपत्नियें हैं, यह नैरुक्त मानते हैं, दो अमावस्याएं हैं यह याज्ञिक मानते हैं । जो पहली अमावास्या है, वह सिनीवाली है, जो अगली है, वह कहू है, यह जाना जाता है । सिनीवाली=सिन अन्न होता है, क्योंकि बांधता है भूतों को ( रसआदि धातुओं से )। वाल=पर्व है, (वृ०स्वा० उ०) से ( स्वीकार करते हैं देवता उसमें हवियें ) उस ( पर्व ) में, वह अन्न ( हवि ) वाली होती है ( इसलिये सिनी वाली है ) अथवा वालिनी ( वालों वाली ), अथवा इसमें चन्द्रमा सूक्ष्म होने से वाल से मानों सेवने योग्य ( छूने योग्य ) होता है । उसकी यह है । ३१ ।

"सिनीवाली पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः" ॥ सिनीवाली पृथुजघने । स्तुकः स्त्यायतेः सङ्घातः पृथुकेशस्तुके पृथुष्टुते वा । या त्वं देवानामसि स्वसा । स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा । जुषस्व हव्यमदनं प्रजां च देवि दिश नः ॥ कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयते इति वा क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तस्या एषा भवति ॥ ३२ ॥

हे विशाल स्तुति ( वा केश भार, वा जघनों ) वाली सिनी वालि ! तू जो देवताओं की बहिन है, ( हमारे ) होमे हुए हव्य को प्रीति से सेवन कर, हे देवि (हमें) सन्तान दे ( २।३२।६, यजु

३४।१० ) हे सिनीवालि ! स्थूल जघनोंवालि ! स्तुक, स्त्यै (भ्वा०) से है। अर्थ–संघात ( ढेर ) अथवा भारे केश संघातवाली, अथवा विशाल स्तुतिवाली, जो तू देवताओं की वहिन है। स्वसा=सु+अस्+ऋन् ( उ,२। ९७ ) अथवा अपनों में बैठती है ( स्व+सद,से) सेवन कर, हव्य=भोजन को, और हे देवि हमें सन्तान दे। कुहू, गुह ( भ्वा०उ० ) से ( छिपाती है चन्द्र को )। अथवा कहां था (चन्द्रमा इस में न दीखने से ऐसा तर्क होता है) कहां हुई बुलाई जाती है, अथवा कहां होमी हवि को स्वीकार करती है। उस की यह है। ३२।

"कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि । सा नो ददातु श्रवणं पितॄणा तस्यै ते देवि हविषा विधेम" ॥ कुहूमहं सुवृतं विदितकर्माणमस्मिन्यज्ञे सुह्वानामाह्वये । सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां पित्र्यं धनमिति वा पित्र्यं यश इति वा । तस्यै ते देवि हविषा विधेमेति व्याख्यातम् । यमी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३३ ॥

अच्छे कर्मोंवाली, कर्तव्यके जाननेवाली, सुख से बुलाई जानेवाली, राका को मैं इस यज्ञ में बुलाता हूं,वह हमें अपने पितरों का ( अर्थात् कुलोचित ) यश और धन देवे। उस तुझको हे देवि ! हवि से हम सेवन करते हैं ( अथर्व ७।१०।२ ) ( २४ ) यमी व्याख्यात है। ( १०।१९ में ) उसकी यह है। ३३।

"अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते

लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्" ॥ अन्यमेव हि त्वं यम्यन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते लिबुजेव वृक्षं तस्य वा त्वं मन इच्छ स वा तवाधानेन कुरुष्व संविदं सुभद्रां कल्याणभद्राम्। यमी यमं चकमे तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यातम् ॥ ३४ ॥

उर्वशी व्याख्याता। तस्या एषा भवति ॥३५॥

अन्यपुरुष को ही हे यमि तू (आलिंगन कर) और अन्य ही तुझे आलिंगन करे जैसे बेल वृक्षको। तू उस के मन की इच्छा कर और वह तेरे मनकी इच्छा करे, तदनन्तर उत्तम कल्याणवाली मर्यादा कर (१०।१०।१४) यमी ने यम की कामना की, उस को उस ने इन्कार किया, यह आख्यान है *। (२५-) उर्वशी व्याख्यात है (५।१३ में) उसकी यह है। ३५।

"विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि। जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी

---

* तीनं देवता पक्ष में माध्यमिक यम माध्यमिक उषाको अपने से अलग सा करके, दोनों स्थानों (अन्तरिक्ष और द्यौ) वाली को कहता है, हे यमि हो चुका तेरा हमें आलिंगन करने का समय, अव प्रभात है। बेल जैसे वृक्ष को, इस प्रकार तू अब द्युस्थान को आलिंगन करने की इच्छा कर। उस (द्यौ) के मन अर्थात् प्रकाश में प्रवेश करने की तू इच्छा कर, और वह तेरे प्रकाश में प्रविष्ट हो। तब इस प्रकार मिलने से उसके साथ एक हुई लोकोपकार के लिये प्रकाश कर। संवित्=ज्ञान साधन प्रकाश (दुर्गाचार्य)

तिरते दीर्घमायुः" ॥ विद्युदिव या पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यान्युदकान्यन्तरिक्षलोकस्य यदा नूनमर्यं जायेताद्भ्योऽध्यप इति नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो नरापत्यमिति वा सुजातः सुजाततरोऽथोर्वशी प्रवर्धयते दीर्घमायुः ॥ पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥ ३६ ॥

(न=इव=सम्प्रति) अब (माध्यमिका वाक्) विद्युत हो कर गिरती हुई, अन्तरिक्ष में होनेवाली काम्यवस्तुओं (जलों) को लातीहुई, जो चमकती है। उत्पन्न हुआ है (उससे) मनुष्यों के लिये हित कारी, शुभ जन्मवाला जल, (इसप्रकार जल और जलसे अन्नद्वारा)वह दीर्घ आयुवढ़ाती है *(१०।९५।१०) बिजली की न्याई जो गिरती हुई चमकती है,लाती हुई मेरे लिये प्यारे अन्तरिक्ष के जल (आपः=अन्तरिक्षं, तत्र भवानि=अप्यानि) जब, तब निःसंदेह यह (मेघ=पुरुरवा) प्रकट होता है जलों से। नर्यः=मनुष्यों के लिये हित कारी, अथवा मनुष्य की सन्तान। सुजातः=बहुत अच्छा उत्पन्न हुआ। तब उर्वशी बढ़ाती है दीर्घ

* ऐतिहासिक पक्ष में इला का पुत्र पुरुरवा उर्वशी से वियुक्त हुआ कहता है, बिजली की न्याई गिरती हुई जो अत्यन्त चमकी अपने शरीर के सौन्दर्य से। धारण करती हुई मेरी (अप्या=प्राप्त होने योग्या) प्यारी सुहावनों (हाव भावों) को और वह गर्भवती है, इस लिए कहता हूं, होगा निश्चित (अध्यपः) अधिक कर्मों वाला, नर्यः मनुष्यों के लिए हितकारी वा मुझ नर का पुत्र, शुभ जन्म वाला। उर्वशी (हमसे ओझल हुई भी आयु वर्धक कर्मों से) उस की दीर्घ आयु बढ़ाएगी (दुर्गाचार्य)

आयु। ( २६- ) पृथिवी व्याख्यात है ( १।१४ में ) ( यहां माध्यमिका है ) उसकी यह है। ३६।

"बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि। प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि" ॥ सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनं छेदनं भेदनं बलमत्र धारयसि पृथिवी प्रजिन्वसि या भूमिं प्रवणवति महत्त्वेन महतीत्युदकवतीति वा ॥ इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति ॥ ३७ ॥

हे पृथिवि ( माध्यमिके ) तू वहां ( अन्तरिक्ष में ) सच मुच मेघों के छेदने के स्थान को धारण करती है, हे बडी ! (हे प्रवत्वति=) झुकाने वाली वा जल वाली तू जो अपनी महिमा (जल बरसाने ) से भूमि को तृप्त करती है (५।८४।१ ) सत्य तू। पर्वतानां=मेघों को। खिद्र=खेदनं=छेदन भेदन रूपी बलको, इस ( अन्तरिक्षलोक ) में धारण करती है, हे पृथिवि तृप्त करती है जो तू भूमि को ( प्रवत्वति ) झुकाने वाली वा जल वाली, महिमा से, हे बड़ी। ( ३७- ) इन्द्राणी=इन्द्र की पत्नी ( = नैरुक्तपक्ष में इन्द्र की विभूति ) उस की यह है ॥ ३७ ॥

"इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः। विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" ॥ इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमशृणवं नह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्ब्रूमः। तस्या एषापरा भवति॥

इन ( सौभाग्यवती ) नारियों में से इन्द्राणी को मैंने ( पूरे ) सौभाग्य वाली सुना है, क्योंकि इस का पति ( किसी ) दूसरे की न्याई बुढापे से नहीं मरता है, जो सब से बढ़ कर है इन्द्र ( १०।८६।१२ ) तमेतद् ब्रूमः=उस ( इन्द्र ) के विषय में हम यह कहते हैं ( यह आचार्य कहता है ) उस की यह और है ।३८।

"नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते । यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति । विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" ॥ नाहमिन्द्राणि रमे सख्युर्वृषाकपेर्ऋते यस्येदमप्यं हविरप्सु शृतमद्भिः संस्कृतमिति वा प्रियं देवेषु निगच्छति सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः॥ गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति तस्या एषा भवति ॥ ३९ ॥

हे इन्द्राणि मैं अपने सखा वृषाकपि के बिना रमण नहीं करता हूं, जिस की यह जलों में पकी हुई वा जलों से तय्यार हुई ( देवताओं की ) प्रिय हवि ( चरु पुरोडाश आदि) देवताओं में पहुंचती है । सब से बढ़ कर है इन्द्र (१० । ८६ । १२ ) (२८–) गौरी, ( माध्यमिका वाक्) चमकने अर्थ वाले रुच् ( भ्वा० आ०) से है । यह दूसरा गौरवर्ण भी इसी से ( रुच् से ) है । ( चमक वाला होने से ) प्रशंसनीय होता है । ३९ ।

"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्" ॥ गौरीर्निर्मिमाय सलिलानि

तक्षती कुर्वत्येकपदी मध्यमेन, द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च,चतुष्पदी दिग्भिरष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च,नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च, सहस्राक्षरा बहूदका परमे व्यवने। तस्या एषा परा भवति ॥ ४० ॥

गौरी ( माध्यमिका वाक् ) जलों को बनाती हुई (सब भूतों को) रचती है, वह एक पद वाली, दो पद वाली, चार पद वाली, आठ पद वाली, नौ पद वाली हुई उत्तम आकाश ( अन्तरिक्ष ) में ( विचरती है ) ( १।१६४।४१ ) गौरी रचती है जलों को तक्षती=बनाती हुई। एक पद वाली ( मध्यम वायु से ) दो पदों वाली, मध्यम और आदित्य से, चार पदों वाली दिशाओं से। आठ पदों वाली दिशाओं और अवान्तर दिशाओं से। नौ पदों वाली दिशाओं अवान्तर दिशाओं और सूर्य से। सहस्राक्षरा=बहुत जलों वाली। उत्तम, व्योम= ( सब की ) अलग २ रक्षा करने वाले (आकाश ) में। उसकी यह और है ॥ ४० ॥

"तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततःक्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति" तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति वर्षन्ति मेघास्तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि ततः क्षरत्यक्षरमुदकं तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति गौर्व्याख्याता। तस्या एषा भवति ॥ ४१ ॥

उस (गौरी) से मेघ वरसते हैं, उस (वरसने) से चारों दिशाएं जीवन लाभ करती हैं, उस से झरते हैं, जल, उस का सब भूत आश्रय लेते हैं (१।१६४।२०) उस से समुद्र=मेघ। अधिविक्षरन्ति=वरसते हैं। उन से जीते हैं। प्रदिशः दिशाओं के आश्रित प्राणी। उस से झरता है। अक्षरं=जल। उस का सब प्राणी आश्रय लेते हैं। (२९) गौः व्याख्यात है (२।५) उस की यह है ॥४१॥

"गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङकृणो-न्मातवा उ। सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः" ॥ गौरन्वमीमेद्वत्सं निमिषन्त-मादित्यमिति वा मूर्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय सृक्वाणं सरणं घर्मं हरणमभिवावशाना मिमाति मायुं प्रप्यायते पयोभिः। मायुमिवादित्यमति वा। वा-गेषा माध्यमिका। घर्मधुगिति याज्ञिकाः॥धेनुर्धयते-र्वा धिनोतेर्वा। तस्या एषा भवति ॥ ४२ ॥

गौ (माध्यमिकावाक्) (अपनी ओर) देखते हुए बछड़े (सूर्य) को लक्ष्य करके शब्द करती है, उस के सिर (पास आई रश्मियों) को हिङ् करती है (हिङ् करके चाटती है) मान के लिये, चलने वाले (रस) हरन वाले (सूर्य) को वार २ कामना करती हुई शब्द करती है और जलों से बढ़ती है (१।१६४।२८ अथ ९।२७।६) गौ बछड़े को लक्ष्य को शब्द करती है। मिषन्तं=देखते हुए अथवा आंख न झपकते हुए

गौ ( माध्यमिका वाक् ) ( अपनी ओर ) देखते हुए बछड़े ( सूर्य ) को लक्ष्य करके शब्द करती है, उस के सिर ( पास आई रश्मियों ) को हिङ्करती है ( हिं करके चाटती है ) मान के लिये, चलने वाले ( रस ) हरने वाले ( सूर्य ) को वार २ कामना करती हुई शब्द करती है और जलों से बढ़ती है ( १। १६४।२८ अथ ९।२७।६ ) गौ वत्स को लक्ष्य कर शब्द करती है। मिषन्तं=देखते हुए अथवा आंख न झपकते हुए सूर्य को। इस के सिर को लक्ष्य करके हिं करती है मान के लिये। सृकाणं=चलने वाले। घर्मं=हरने वाले ( सूर्य ) को कामना करती हुई शब्द करती है और पानियों से बढ़ती है। अथवा ( मिमाति=फेंकती है ) मायु=सूर्य=सूर्य की न्याईं ( लुप्तोपमा ) ( सूर्य की न्याईं तेज को फेंकती है )। यह माध्यमिका वाक् है। घर्मधुक् गौ* है यह याज्ञिक मानते हैं। (३०-) धे ( भ्वा० प० ) से है ( पिलाती है ) अथवा धि (स्वा० प०) से ( तृप्त करती है ) उस की यह है॥ ४२॥

"उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्। श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्म-

---

* घर्म=प्रवर्ग्य कर्म, उस के लिये जिस गौ का दूध दोहा जाए, वह घर्म धुक्। घर्मधुक् पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा। गौ देखते हुए अपने वत्स को लक्ष्य करके शब्द करती है, उस के माथे को सूंघ कर हिङ् शब्द करती है (यह गौओं का स्वभाव है) जानने के लिये ( कैसे यह मुझे जाने कि यह मेरी है )। उस चलते हुए ( दूध ) हरने वाले की वार २ कामना करती हुई शब्द करती है और दूध से बढ़ाती है।

स्तदु षु प्र वोचम्" ॥ उपह्वये सुदोहनां धेनुमेतां कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु न इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं यद्वा पयो यजुष्मदभीद्धो घर्मस्तं सु प्रब्रवीमि । वागेषा माध्यमिका घर्मधुगिति याज्ञिकाः ॥ अघ्न्याऽहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा । तस्या एषाभवति॥४३॥

अच्छा दुहाने वाली इस धेनु को मैं बुलाता हूं, अच्छे हाथों वाला गौओं का दोहने वाला इस को दोहता है। सविता (प्रेरक परमात्मा) इस श्रेष्ठ उपज की हमें अनुमति दे। प्रदीप्त हुआ है घर्म, मैं यह कहता हूं * (१।१६४।२६) श्रेष्ठं सवं = सब उपजों में से यह श्रेष्ठ है, जो जल है। अथवा यजु युक्त दूध है। यह माध्यमिका वाक् है। घर्मधुक् गौ है यह याज्ञिक मानते हैं।(३१—) अघ्न्या = न मारने योग्य होती है, अथवा पाप के नाश करने वाली होती है। उस की यह है ॥ ४३ ॥

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम । अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती" ॥ सुयवसादिनी भगवती हि भवाथे-

---

* वाक्पक्षमें । धेनु = वाक् । गोधुक् = इन्द्र । श्रेष्ठ सव = जल । प्राप्त हुआ है घर्म=गर्मी प्रचण्ड हो गई है (इस लिये अब वाक् वर्षा करे) (धेनुपक्ष में, धेनु = धेनु, बुलानेवाला होता । दोहनेवाला अध्वर्यु । श्रेष्ठं सवं । यजुर्युक्त दूध । प्रदीप्तहुआ है घर्म = महावीर पात्र, जिस में दूध होमाजाता है ।

दानीं वयं भगवन्तः स्यामाद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा पिब च शुद्धमुदकमाचरन्ती। तस्या एषाऽपरा भवति ॥

हे अघ्न्ये तू अच्छा चारा खाती हुई धनवाली हो, और हम धन वाले हों, घूमती हुई तू सदा घास खा और शुद्ध जल पी * (१।१६४।४०) इसकी यह और है।४४।

"हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्। दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय" ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥ पथ्या स्वस्तिः पन्था अन्तरिक्षं तन्निवासात्। तस्या एषा भवति ॥४५॥

हिङ् करतीहुई, धनोंकी मालिक, बछड़े को मनमे चाहती हुई आई है, यह अघ्न्या अश्वियों के लिये दूध दुहाए, वह (अघ्न्या बड़े सौभाग्य के लिये बढ़े १।१६४।२७) यह पाठ मे ही व्याख्यात है † (३२-३३-) पथ्या, स्व-

---

* गौके पक्षमें, धनवाली = दूधवाली। धनवाले = तेरे दिये दूध से दूध वाले, वा गौओंवाले, घूमतीहुई = अपनी इच्छा से वन में विचरती है। वाक् पक्षमें, चारा = जल, जो सूर्यकी रश्मियों से अन्तरिक्ष में पहुंचाया जाता है। धनवाली = जलवाली। धनवाले = तेरे दिये जलसे जलवाले। तृण = मेघ। शुद्धजल = सूर्यरश्मियों से लाया हुआ जल।

† गौपक्षमें, धन = दूध दही घी आदि। अश्वियों के लिये (होम करने के अर्थ) सौभाग्यके लिये = दूध देने और गौ सन्तति बढ़ानेके लिये। वाक् पक्षमें, हिङ् करना = कड़कना, धन = जल वा सूर्य की रश्मियें वा मरुत्। बछड़ा = सूर्य वा वायु अथवा लोग।

स्तिः * । पन्था, अन्तरिक्ष है, उसमें रहनेसे पथ्या । उसकी यह है

"स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपाः" ॥ स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वती धनवत्यभ्येति या वसूनि वननीयानि सा नोऽमा गृहे सा निरमणे सा निर्गमने पातु स्वावेशा भवतु देवी गोप्त्री देवान्गोपायत्विति देवा एनां गोपायन्त्विति वा ॥ उषा व्याख्याता । तस्या एषा भवति ॥४६॥

स्वस्ति ही उत्तम मार्ग के लिये श्रेष्ठ है, जो धन वाली (=जल वाली) सुन्दर (धन) को प्राप्त होती है, वह घर में और वही वन में हमारी रक्षा करे, वह देवी रक्षा करने वाली हमारे लिये उत्तम निवास देने वाली हो (१०।६३।१६) स्वस्ति ही अच्छे मार्ग के लिये श्रेष्ठ है, रेक्णस्वती=धन वाली। प्राप्त होती है जो प्यार करने योग्य धनों को । वह हमें । अमा=घर में । निरमणे=रमण शून्य वा घर से बाहर में, रक्षा करे । अच्छा निवास देने वाली हो । देवगोपाः=देवी रक्षा करने वाली, वा देवताओं (ऋत्विज् यजमानों को रक्षा करे)

---

अश्वि=द्यावापृथिवी वा सूर्य चन्द्र, अथवा सारे व्याप्त=स्थावर जंगम । पयः=जल । सौभाग्य=अन्न और चारे की वृद्धि ।

*पथ्या स्वस्तिं प्रथमां प्रायणीयेयजति' ऐसा देखने से दोनों पद पढ़ दिये हैं । स्वस्तिका निर्वचन सु आस्ति देखो ३।२१

वा देवता ( रश्मियें ) इस की रक्षा करें। उषा व्याख्या की है ( २।१८ में ) उस की यह है ॥ ४६ ॥

"आपोषा अनसः सरत्सम्पिष्टादह बिभ्युषी। नि यत्सीं निशिश्नथद्वृषा" ॥ अपासरदुषा अनसः सम्पिष्टान्मेघाद् बिभ्युषी । अनो वायुरनितेरपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव। अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरमनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण उपजीवन्त्येनन्मेघोऽप्यन एतस्मादेव। यन्निरशिश्नथद्वृषा वर्षिता मध्यमः। तस्या एषाऽपरा भवति॥४७॥

जब वर्षा करने वाले ( इन्द्र ) ने ( उषा के रथ = मेघ को ) तोड़ दिया, तो उस चूर्ण हुए रथ ( मेघ ) से उषा डरती हुई अलग होगई ( ४।३०।१० ) अलग होगई उषा, वायु से चूर्ण किये मेघ से, डरती हुई। अनः=वायु है, अन् ( अ०प०) से। अथवा उपमा अर्थ में हो सकता है, अनस इव = रथ से जैसे। अनः = रथ है। बन्धा हुआ होता है इस पर कपड़ा, अथवा जीवन अर्थ वाले अन् ( अ० प० ) है। इस से जीविका करते हैं। मेघ भी अनः इसी से है। जब तोड दिया वृषा ने। वृषा=बरसनेवाला=मध्यम ( इन्द्र वा वायु ) उस की यह और * है ॥ ४७ ॥

---

* उषा द्युस्थानी प्रसिद्ध है। किन्तु जो मेघ पर लाली पड़ती है, वह उषा मध्यमा है। वायु वा इन्द्र द्वारा मेघ के छिन्न भिन्न होने से वह उषा भाग जाती है, यह पूर्व और अगले मन्त्र में दिखलाया है।

"एतदस्या अनःशये सुसम्पिष्ठं विपाश्या। ससार सीं परावतः" ॥ एतदस्या अन आशेतं सुसम्पिष्टमितरदिव विपाशि विमुक्तपाशि ससारोषाः परावतः प्रेरितवतः परागताद्वा ॥ इला व्याख्याता। तस्या एषा भवति ॥४८

यह इस ( उषा ) का रथ स्थित है, जैसे ( दूसरा रथ ) चूर्ण हुआ टूटे हुए सारे बन्धनों वाला * होता है। उषा ( इस को छोड़ कर ) दूर चली गई है (४।३०।११) परावतः=प्रेरे हुए से वा दूर गए हुए से। ( ३९- ) इळा व्याख्या की गई है, उस की यह है ॥ ४८ ॥

"अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः। सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः" ॥ अभिगृणातु न इला यूथस्य माता सर्वस्य माता स्मदभि नदीभिरुर्वशी वा गृणातूर्वशी वा बृहद्दिवा महाद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य प्रभृतस्यायोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषा वोदकस्य वा सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः ॥ रोदसी रुद्रस्य पत्नी। तस्या एषा भवति ॥४९॥

यूथ ( मरुद्गण ) की माता इळा ( मध्यमा वाक् ) जलों से उत्तम शब्द करे, वा उर्वशी ( विद्युत ) उत्तम शब्द करे।

---

* विपाश्या=विपाशि+आ, आ, शये, से अन्वित होता है।

बडी दीप्ति वाली उर्वशी शब्द करती हुई (हमारे कर्म की प्रशंसा करती हुई) और दांपती हुई (तेज से) पालन किये हुए मनुष्य (वा ज्योति वा जल) को (५।४१।१९) वह (उर्वशी वा इळा) हमारे अन्न की पुष्टि को सेवन करे (५। ४१।२०) शब्द करे हमारे लिये इळा यूथ की माता=सब की माता। वा उर्वशी जलों से उत्तम शब्द करे (स्मद्=उत्तम) उर्वशी, बृहद्दिवा=बडी दीप्ति वाली। शब्द करती हुई। दांपती हुई। प्रभृथस्य=पालन किये हुए। आयोः=गतिशील=मनुष्य=ज्योति वा जल को। सेवन करे हमारे अन्न की पुष्टि को। (३६-) रोदसी=रुद्र की पत्नी उस की यह है॥ ४॥

"रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे। आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी"॥ रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वायामह आ यस्मिन्तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रोदसी ॥५०॥

यशवाले, मरुत् सम्बन्धी रथ (मेघ) को हम जल्दी बुलाते हैं। जिस (रथ) में सुरमणीय (जलों) को धारती हुई रोदसी (रुद्रपत्नी, मरुतों की माता) मरुतों के साथ बैठती है (५।५६।८)

# द्वादशोऽध्यायः

अथातो द्युस्थाना देवताः ॥ तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः । अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः । अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः । तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात्प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनुतमो भागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यः तयोरेषा भवति ॥१॥

(मध्यस्थानी देवता कह दिये ) अब आगे द्युस्थानी देवता ( कहेंगे ) । उन में दो अश्वि प्रथमागामी होते हैं (उनका काल सबसे पहले है) । ( १.–) अश्विनौ, जिसलिये व्यापते हैं सब को ( दोनों अश्वियों में से ) एक रस से ( व्यापता है ) दूसरा ज्योति से व्यापता है । घोड़ों से 'अश्विनौ' हैं ( अर्थात् घोड़ों वाले ) यह और्णभाव मानता है । वह कौन हैं 'अश्विन्' ? द्यावा पृथिवी हैं यह कई कहते हैं ( द्यौ ज्योति से व्यापता है, पृथिवी अन्न से ) । दिनरात हैं, कई यह कहते हैं (दिन ज्योति से व्यापता है, रात्रि ओस से) सूर्य चन्द्र हैं कई यह कहते हैं (सूर्य) ज्योति से व्यापता है, चन्द्र रससे ) । पुण्यात्मा दो राजे हुए हैं, यह ऐतिहासिक कहते हैं (घोड़ों वाले, यह निर्वचन करते हैं) । उन का समय है आधीरात से पीछे । प्रकाश होने का सहारा

(अन्धेरे में जब किञ्चित् प्रकाश प्रकट होता है) ( उस में ) जो तमोभाग है, वह मध्यम ( मध्यम का रूप ) है, जो ज्योतिर्भाग ( प्रकाश का अंश ) है, वह आदित्य ( आदित्य का रूप ) है। उन की यह है ॥ १ ॥

"वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव । कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम्" इति सा निगदव्याख्याता । तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवेनैषोऽर्धर्चो भवति । वासात्यो अन्य उच्यत उषःपुत्रस्त्वन्य इति।तयोरेषाऽपरा भवति॥

दो काले मेघों की न्याईं तुम दोनों रात्रियों में विचरते हो, कब हे अश्वियो ! तुम दोनों देवताओं में आए हो । यह पाठ से व्याख्यात है । उन दोनों समान काल वाले ( आधी रात से पीछे आने वाले ) समान कर्म वाले प्रायः एक साथ स्तुति वालों की यह आधी ऋचा अलग २ स्तुति से है कि 'एक रात्रि का पुत्र कहलाता है, दूसरा उषा का पुत्र' ( रात्रि मध्यम है, उस का तमो भाग मध्यम, उषा उत्तम है, उसका पुत्र ज्योतिर्भाग उत्तम ) । उन की यह और है ॥ २ ॥

"इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः । जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे" ॥ इह चेह च जातौ संस्तूयेते पापेनालिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैर्जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमो दिवोऽन्यः

सुभगः पुत्र ऊह्यत आदित्यः । तयोरेषापरा भवति ॥

इस में ( अन्तरिक्ष में) इस में ( द्यौमें ) उत्पन्न हुए तुम दोनों पाप शून्य शरीर से और अपने नामों से ( अश्विनौ, नासत्यौ इत्यादि से ) इकट्ठे स्तुति किये जाते हो । तुम दोनों में से एक ( मध्यम ) जीतने के स्वभाव वाला और बहुत बड़े बलका प्रेरक है । दूसरा जो द्यौ का पुत्र है ( आदित्य ) वह धन ( रश्मियों ) वाला जाना जाता है ( १।१८१।४ ) उन की यह और है ॥ ३ ॥

"प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम् । अस्य सोमस्य पीतये" ॥ प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनाविहागच्छतामस्य सोमस्य पानाय । तयोरेषापरा भवति ॥ ४ ॥

प्रातः काल में जुड़ने वाले ( जिन की हवि वा स्तुति प्रातः काल ही होती है ) अश्वियों को जगा, इस सोम के पीने के लिये वह यहां आवें ( १।२२।१ ) उन की यह और है ॥

"प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम् । उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्" प्रातर्यजध्वमश्विनौ प्रहिणुत न सायमस्ति देवेज्या अजुष्टमेतत् । अप्यन्योऽस्मद्यजते वि चावः । पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् विनयितृतमः । तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तस्त-

स्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते ॥ उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका । तस्या एषा भवति ॥ ५ ॥

( हे ऋत्विजो ) प्रातःकाल अश्वियों को यजन करो, भेजो ( हवि ) । सायंकाल में ( हवि ) देवगामि नहीं होती, वह ( देवताओं से ) सेवन नहीं की जाती । किञ्च हमसे भिन्न भी यजन करता है और ( हवि से ) तृप्त करता है ।' पहला पहला यजन करने वाला उत्तम पूजक है * । उनका समय है ( किञ्चित् प्रकाश से लेकर ) सूर्योदय पर्यन्त ( उससे पीछे याग काल होता है, सूर्योदय पर्यन्त स्तुति काल है ) उसमें ( अश्वियों के समयमें ) और देवता ( उषा आदि ) डाले जाते हैं ( अश्वियों की स्तुति के पीछे उषा आदि की भी स्तुति की जाती है ) । ( २–) उषाः, इच्छा अर्थवाले वश् ( अ० प० ) का है । दूसरी जो माध्यमिका ( उषा ) है, वह उच्छति का है ( जलों को निकालती है वा निकाली जाती है मेघ से इन्द्रद्वारा ) । उसकी यह है ।५।

"उषतस्तच्चित्रमा भरास्मभ्य वाजिनीवति । येन तोकं च तनयं च धामहे" ॥ उषस्तच्चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यमन्नवति येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि तस्या एषापरा भवति ॥ ६ ॥

हे उषः ! वह ( चायनीय=मंहनीय=)आदरणीय धन हमारे लिये ला, हे अन्नवाली जिससे हम पुत्रों और पोतों को पुष्ट करें ( १।९२।१३ ) उसकी यह और है ।६।

*अश्वियों की स्तुति और हवि जितनी सवेरेहो, उतनीही उत्तमहै।

"एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः" ॥ एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानमेकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्। पूर्वेऽर्धेऽन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः। निरित्येष समित्येतस्य स्थाने। 'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीवे'त्यपि निगमो भवति। प्रति यन्ति गावो गमनादरुषीरारोचनान्मातरो भासो निर्मात्र्यः॥सूर्या सूर्यस्य पत्नी,एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्या एषा भवति ॥ ७ ॥

यह वह उषाएं हैं जिन्हों ने (अन्धकार से ढके जगत् के लिये सुझाने वाला) प्रकाश किया है। अन्तरिक्ष के पूर्व अर्ध में प्रकाश के साथ प्रगट हो रही हैं। दबानेवाले (योद्धा) जैसे शस्त्रों का संस्कार करते हैं (मैल पोंछ कर चमकाते हैं) वैसे (जगत् का) संस्कार करती हुई यह चलनेवाली, चमकनेवाली, माताएं (प्रकाश के बनानेवाली) फिर लीन हो जाती हैं (१।९२।१ साम०उ० आ ८।३।१९।१) यह वह उषाएं हैं जिन्हों ने किया है। केतुं=प्रज्ञान, एक के ही आदर के निमित्त (उषसः) बहुवचन है। पूर्वआधे में अन्तरिक्ष लोक में। प्रकट होती हैं प्रकाश के साथ। संस्कार करती हुई जैसे शस्त्रों का योद्धे। ('निष्कृण्वानाः' में जो) निस् (है, यह) सम् के स्थान में है (निष्कृण्वानाः

=संस्कुर्वाणाः )। 'आ ही जाता हूं ( रुकनहीं सकता हूं ) इन (अक्षों ) के सजे हुए स्थान को, जारवाली की न्याईं ( जैसे जारवाली व्यभिचार को बुरा जान कर उससे हटना चाहती हुई भी जार से विविक्त मिलकर नहीं रुक सकती है, रुकने के लिए उस को पहलेही अत्यन्त दूर रहना चाहिये, इसी तरह जुआरिया जुए को बुरा जान करभी पास रहकर रुक नहीं सकता, उसको फिर निकट ही नहीं जाना चाहिये)(१०।३४।५)(यहां भी निष्कृतं, संस्कृतं के अर्थ में है) लीन हो जाता है। गावः=चलनेसे। अरुषीः=चमकने से। मातरः=प्रकाश के बनानेवालीं। ( ३-) सूर्या=सूर्य की पत्नी। यह ( उषा ) ही अधिक काल छोड़चुकी हुई ( सूर्योदय के निकटतम पहुंची हुई सूर्या कहलाती है ) उस की यह है।

"सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व"॥ सुकाशनं शल्मलं सर्वरूपमपि वोपमार्थे स्यात्सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति। किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः शल्मलिः सुशरो भवति शरवान्वा। आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकमुदकस्य सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व। 'सविता सूर्यां प्रायच्छत्सोमाय राज्ञे प्रजापतये वे'ति च ब्राह्मणम्। वृषाकपायी वृषाकपेः पत्न्येषैवाभिसृष्ट कालतमा। तस्या एषा भवति॥८॥

सुन्दर केसु की न्याईं (लाल ), सिंबल की न्याईं ( नर्म )

नानारूपोंवाले, सुनहरी रंगवाले, अच्छा घूमनेवाले, अच्छे पहियों वाले, ( रथ ) पर चढ हे सूर्ये, सुखकारी, जलका लोक ( अन्तरिक्ष ) अपने पति ( सूर्य ) के लिये प्राप्त करा ( १०।८५।२० ) अच्छे प्रकाशनेवाले, दूर हुए मलों वाले,सारे रूपों वाले। अथवा उपमा के अर्थ में हो सकता है। अच्छे केसू की न्याईं, सिम्बल की न्याईं। किंशुक, चमकने अर्थवाले कंश ( भ्वा०प० ) से है ( चमकती है )। शल्मलि आसानी से हिंसनीय होता है ( नर्म होनेसे )। अथवा वाणों वाला होता है ( कांटे उसके बाण हैं )। चढ हे सूर्ये, अमृतस्य=जलके लोक सुख कारी को पतिके लिये प्राप्त करा। 'सविता सूर्याको सोम राजा के लिये * वा प्रजापति के लिये देता भया' यह ब्राह्मण है। ( ४— ) वृषाकपायी=वृषाकपि ( सूर्य ) की पत्नी। यह (सूर्या) ही अधिक काल छोड़ चुकी हुई ( वृषाकपायी ) है। उसकी यह है।८।

"वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणःप्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः"॥ वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे मध्यमेन सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा। स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसानिनीति वा स्वपत्यं तत्सनोतीति वा। प्राश्नातु त इन्द्र

* ऋग् १०।८५ में सूर्या का विवाह चन्द्रसे वर्णन किया है, ( अभिप्राय सूर्य के प्रकाशसे चन्द्रका प्रकाशित होना है ) ऊपरका मन्त्र भी उसी सूक्तका है, इससे पति यहां चन्द्र लेना चाहिये; इस ब्राह्मण प्रमाण से भी यही बात झलकती है। पर सूर्या का अर्थ सूर्यपत्नी करना इस के अनुकूल नहीं पड़ता।

उक्षण एतान् माध्यमिकान्त्संस्त्यायान् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेनेति वा । प्रियं कुरुष्व सुखाचयकरं हविः सुखकरं हविः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ॥ सरण्यूः सरणात् । तस्या एषा भवति ॥ ९ ॥

हे वृषाकपायि ! हे धनवाली, हे अच्छेपुत्र ( इन्द्र ) वाली, हे अच्छी स्नुषा (माध्यमिकावाक् ) वाली तेरा इन्द्र सेचन करने वालों ( मेघसमूहों वा कुहर) को खाए, प्यारी सुख का ढेर देने वाली हवि ( जल ) हे इन्द्र सबसे बढ़ कर है ( १०।८६।१३ ) हे वृषाकपायि धनवाली हे अच्छे पुत्र वाली मध्यम ( इन्द्र ) से, हे अच्छी स्नुषा वाली माध्यमिका वाक् से । स्नुषा=भलेकाम ( श्वसुर की वंश के बढाने ) में बैठने वाली, वा भले काम को सेवन करनेवाली होती है, अथवा सु, सन्तान का नाम है, उसको सेवन करने वाली ( साधु+सद् वा साधु+सन् वा सु+सन्से ) । खावे तेरा इन्द्र ( सूर्य ) । उक्षणः=इन माध्यमिक संघातों को उक्षणः,वृद्धि अर्थवाले उक्ष (भ्वा०प) से है 'अथवा जलसे सेचन करते हैं । प्यारी ( क+आचित्+करं ) सुखका ढेरकरने वाली, सुख करने वाली हवि । सब से जो इन्द्र बढ़ कर है, उसको यह कहते हैं सूर्य को ( ९– ) सरण्यूः चलने से (वही प्रभा जब सूर्य के साथ चलती प्रतीत होती है, तो सरण्यू कहलाती है ) उस की यह है । ९ ।

"अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदद्वुर्वि-

वस्वते। उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः" ॥ अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यःकृत्वी सवर्णामदुर्विवस्वतेऽप्यश्विनाभरद्यत्तदासीदजहाद्द द्वौ मिथुनौ सरण्यूः। मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः। तत्रेतिहासमाचक्षते। त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव, स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव, ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति ॥ १० ॥

अमृता (सरण्यू ) को (रश्मियों ने) मनुष्यों से छिपा लिया, उसकी सवर्णा(तुल्य रंगवाली)करके विवस्वान् को देदी,अश्वियों को धारती भई जब वह असली रूपथी, सरण्यू जौड़े दोनों और छोड़ती भई ( १०।१७।२ ) जौड़े, मध्यम और माध्यमिका वाक् यह नैरुक्त कहते हैं, यम और यमी हैं, यह ऐतिहासिक कहते हैं। 'त्वष्टा की पुत्री सरण्यू, विवस्वान्=सूर्य से जौड़े (यम यमी) को जनती भई, तब वह दूसरी सवर्णा को अपना प्रतिनिधि बनाकर के घोड़ीका रूप बना कर भाग गई, तब वह विवस्वान् सूर्य घोड़े का रूप कर के उसके पीछे जाकर उससे संगतहुआ, तब आश्विन उत्पन्न हुए,सवर्णा में से मनु (हुआ)।उसके कहनेवाली यह ऋचा है॥

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं

समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश"॥ त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीदं विश्वं भुवनं समेतीमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश। रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते॥

सविता व्याख्यातः तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का कीर्णरश्मिर्भवति। तस्यैषा भवति॥ १२॥

त्वष्टा अपनी कन्या का विवाह करता है, तब यह सारा भुवन इकट्ठा होता है ( सब प्राणधारी इकट्ठे होते हैं। ( विवस्वान् से ) विवाही गई यम की माता ( यम, यमी की माता होकर ) महान् विवस्वान् की पत्नी ( अश्वीरूप धारकर ) छिपगई ( १०। १७।१ ) ( नैरुक्त पक्ष में रात सूर्य की पत्नी है, रात सूर्य के उदय होने पर छिपजाती है। ( ८– ) सविता, व्याख्यात है ( १०।३१ में) (उस का काल है ), जब द्यौ से अन्धकार दूर हो जाता है, और रश्मियें व्याप्त हो जाती हैं ( किन्तु पृथिवी पर अभी अन्धेरा ही होता है ) उस की यह है। १२।

"विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति"॥ सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते। मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च व्यचिख्य-

पन्नाकं सविता वरणीयः प्रयाणमनूषसो विराजति। अधोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादित्यधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्ये-तस्मात्सामान्यादधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः कस्मात्सा-मान्यादित्यग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामारमणा योपयेत न धर्माय कृष्णजातीये तस्मात् सामान्यात्। कृकवाकुः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति कालानुवादं परीत्य। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणं वचेरुत्तरम् ॥ भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। तस्यैषा भवति ॥ १३ ॥

कवि ( सर्वज्ञ,सविता ) सारे रूपों को पहनता है, दो पाओं वाले ( मनुष्य आदि ) और चारपाओं वाले ( पशुओं ) के लिये (फिरने चरने आदि विषय में ) कल्याण की अनुज्ञा देता है, स्वीकार करने योग्य सविता द्यौ को प्रकाशित करता है, उषाकी चढ़ाई के पीछे प्रकाशता है ( ५।८१।२ ) सारे प्रकाशों को पहनता है। कवि=मेधावाला, पहुंचे हुए दर्शन वाला ( सर्वज्ञ ) अथवा ( गत्यर्थक ) कवति से है ( सदा चलता है ) भरता है कल्याण, दोपाओं वाले और चारपाओं वालों के लिये। प्रका-शित करता है द्यौ को, सविता स्वीकार करने योग्य। उषा की चढ़ाई के पीछे चमकता है ( द्यौ को प्रकाशित करता है, और उषा के पीछे प्रकाशता है' कहने से सविता का काल कहा, उस को ब्राह्मण वाक्य से समर्थन करता हुआ कहता है ) नीचे से

काला (पशु) सविता का होता है, ऐसा पशु समाम्नाय में जाना जाता है। किस समानता से ( नीचे में काला पशु सविता का होता है' इसलिये, कि ) नीचे (पृथिवी पर) उस ( सविता ) के काल में अन्धेरा होता है, इस सामान्यसे। अधस्ताद्रामः=नीचे में काला, यह किस समानता से ( अर्थात् राम रमण से होना चाहिये, इसका अर्थ काला किस समानता से) 'अग्निचयन करके रामा ( शूद्रा ) को न विवाहे' रामा रमण के लिये विवाही जाती है, न कि धर्म के लिये, वह कौन ? काली जाति की स्त्री (न कि आर्य स्त्री )। इस समानता से (राम काले का नाम है)। कृकवाकु ( कुकड़ ) सावित्र ( सविता का ) होता है, यह पशु समाम्नाय में जाना जाता है, किस समानता से ? काल के कथन को जान कर ( अर्थात् वह सविता का काल बतलाता है ) कृकवाकु का पहला भाग ( कृक ) उसके शब्द का अनुकरण है, वच् ( अ० प० ) का उत्तर भाग है. कृ, क, शब्द कहता है )। भग व्याख्या कियागया है ( ३।१६ में ) उसका काल है निकलने से पहले ( सविता के पीछे )। उसकी यह है। १३।

"प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह" ॥ प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधारयिता सर्वस्याध्रश्चिद्यं मन्यमान आढ्यालुर्दरिद्रस्तुरश्चित्तुर इति यमनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णगतिर्यमो राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह। अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते। प्राशित्रमस्या-

क्षिणी निर्जघानेति च ब्राह्मणं। जनं भगो गच्छतीति वा विज्ञायते जनं गच्छत्यादित्य उदयेन ॥ सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा। तस्यैषा भवति ॥ १४ ॥

प्रातःकाल ( अन्धकार ) के जीतनेवाले, तेजस्वी भग को हम बुलाते हैं, जो अदिति का पुत्र ( जगत् का ) धारक है। जिसको मानताहुआ रंक भी, राजा भी और यम भी 'मुझे धन ( ऐश्वर्य ) दे' यह कहता है ( ७।४१।२ ) प्रातःकाल जीतने वाले भग तेजस्वी को बुलाते हैं हम, अदिति के पुत्र को जो धारण करनेवाला सबका, जिस को मानता हुआ, आध्रश्चित्=धनियों से स्पर्धावाला दरिद्र भी, तुरश्चित्=तुर, यह यमकानाम है, तॄ ( भ्वा०प० ) से ( सब को तैरजाता है ) वा त्वर ( भ्वा० आ० ) से, त्वरा से जल्दी चलता हुआ=यम। और राजा भी जिस को धन दे, यह कहता है। अन्धा है भग, यह कहते हैं ( अभिप्राय यह है कि ) न निकला हुआ ( सूर्य ) दीखता नहीं ( इसलिये उस को अन्ध=अन्धेरा वा अन्धेरे में स्थित कहते हैं, यह अभिप्राय नहीं, कि वह स्वयं नहीं देखता है यह नैरुक्त पक्ष है ऐतिहासिकपक्षमें ) 'प्राशित्र ने इस की दोनो आंखें मारदीं' यह ब्राह्मण है ( यह अर्थवाद है प्राशित्र भग के न देखने की स्तुति के लिये )। भग मनुष्य को प्राप्त होता है, यह जाना जाता है, ( अभिप्राय ) सूर्य उदय से मनुष्य को प्राप्त होता है। ( ९— ) सूर्य, सृ ( भ्वा०प० ) से है ( चलता है ) वा सू ( अ० प ) से है ( प्रेरता है सब को कार्य में ) अथवा सु+ईर् से ( अच्छी तरह प्रेरता है ) उसकी यह है। १४।

"उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ॥ दृशे विश्वाय सूर्यम्" ॥ उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति, कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत । तस्यैषापरा भवति ॥ १५ ॥

उस सब के जानने वाले ( वा जिस से धन उत्पन्न होते हैं ) सूर्य देव को सब के देखने के लिये ( सब उसे देखें, इस लिये) रश्मियें ऊंचा ले आती हैं (१।५०।१ ) सूर्य के विना और किस को ऐसे कहता । उसकी यह और है । १५ ।

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ॥ चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्वेन तेन सूर्य आत्मा जंगमस्य च स्थावरस्य च ॥ अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति । तस्यैषा भवति ॥ १६ ॥

देवताओं (रश्मियों ) का समूहरूप, पूजनीय ( सूर्य ) उदय हुआ है, जो मित्र, वरुण ओर अग्नि का चक्षु ( दर्शक ) है, द्यौ पृथिवी और अन्तरिक्ष को उस ने चारों ओर से ( अपने महत्त्व से ) पूरदिया है, ( इस हेतु से ) सूर्य जंगम और स्थावर का आत्मा है ( १।११५।१, यजु०७।४२ ) ( १.०—) अब जब रश्मियों से पुष्ट होता है, तब वह पूषा होता है, उसकी यह है ।१६।

"शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि । विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु" ॥ ॥ शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्यद्विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि । सर्वाणि प्रज्ञानान्यव-स्यन्नवन्भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु । तस्यैषा-परा भवति ॥ १७ ॥

चमकता हुआ ( लाल ) तेरा और ( रूप ) है, यज्ञ के योग्य तेरा और ( रूप ) है, भिन्न २ ( श्वेत कृष्ण ) रूपों वाले दो दिन ( दिन रात ) तेरे हैं, तू द्यौ की न्याईं ( सब का प्रकाशक ) है । हे अन्नवाले ? तू सारे प्रज्ञानों की रक्षा करता है, हे पूषन् यह तेरा भद्र दान हो ( ६।५८।१ ) 'शुक्रं ते अन्यत्= लाल तेरा और है । 'यजतं ते अन्यत्=यज्ञिय तेरा और है । विरुद्ध रूपों वाले दो दिन ( दिनरात ) तेरा कर्म है, तू द्यौ की न्याईं है, सारे प्रज्ञानों की रक्षा करता है, हे अन्नवाले, ( भद्रा ) पात्र वाला ( पात्र के योग्य ) देता है हे पूषन् यहां (तेरा) दान हो । उस की यह और है । १७।

"पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम् । स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा" ॥ पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानडर्कमभ्यापन्नोऽर्कमिति वा । स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि कर्मकर्म च नः प्रसा-

धयतु पूषेति ॥ अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा, व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति ॥१८॥

कामना से तय्यार हुआ ( स्तोता ) मार्ग २ के स्वामी पूजनीय ( पूषा ) को वचन (= स्तुति ) से व्यापता है ( वा अभ्यापन्नः=शरणागत हुआ है) वह हमें पूजनीय अग्रों वाले ( धर्म से प्राप्त और धर्म में लगने वाले ) धन देवे । पूषा हमारे कर्म कर्म को पूरा २ सफल करे ( ६।४९।८ ) ( १९–) अब जब व्याप्त होता है ( आकाश में ऊंचा चढ़ आता है ) तब विष्णु होता है, विष्णु, विश ( तु०प०) से है ( प्रविष्ट होता है आकाश के मध्य में ) अथवा वि+अश् (स्वा० आ०) ( व्यापता है ) उसकी यह है ॥

"इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे" ॥ यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णु स्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं नदृश्यते। अपि वोपमार्थे स्यात्समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा ॥ १९ ॥

विश्वानरो व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि ॥ २० ॥

विष्णु इस (जगत्) पर पाओं रखता है, वह तीन प्रकार से पाओं रखता है, धूलिवाले (अन्तरिक्ष) में ( जो ) इस का (पाओं

है, वह ) छिपा हुआ है १।२२।१.७ ) जो कुछ यह है, उस पर विष्णु पाओं रखता है ( अर्थात् सबका अधिष्ठाता है ), तीन प्रकार से पाओं रखता है। तीन प्रकार से होने के लिये, पृथिवी में ( अग्नि रूप से ) अन्तरिक्ष में ( विद्युत् रूप से ) और द्यो में ( सूर्यरूप से ) यह शाकपूणी मानता है। चढ़ने में ( एक पद ), मध्याकाश में ( दूसरा पद ), और अस्ताचल की चोटी पर तीसरा पद (यह तीन पद ) और्णवाभ ( मानता है )। 'समूढमस्य पांसुरे'= ( वर्षासे सब की ) वृद्धि करने वाले अन्तरिक्ष में ( इस का ) पद नहीं दीखता है। अथवा ( पांसुरे ) उपमा अर्थ में हो सकता है 'धूलिवाले (स्थानमें रखे पाओं) की न्याई ( जैसे वह जल्दी ही धूलसे भर जाता है ) इसका पाओं नहीं दीखता है। पांसवः = धूल। पाओं से उत्पन्न की जाती हैं (पाद+सू से) वा कणे २ हुई लेटती है। अथवा अवयव बनने योग्य होती है ( उनसे स्थूल वस्तुएं बन सकती हैं, जिन की वह अवयव हों ) ( १२-) विश्वानरः, व्याख्या किया गया है ( ७।२१ में ) ( यहां द्युस्थानी है ) उसका यह निपात है ऐन्द्री ऋचा में। २०।

"विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः। एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्" ॥ विश्वानरस्यादित्यस्यानानतस्य शवसो महतो बलस्यैवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा, चर्षणीनां मनुष्याणामूत्या च पथा रथानामिन्द्रमस्मिन्यज्ञे ह्वयामि ॥ वरुणो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ २१ ॥

( हे मरुतो ! ) तुम्हारे पति ( इन्द्र ) को जो कि विश्वानर

( सूर्य ) के न झुके हुए ( बड़े ) बल का पति है ( सूर्य के तुल्य बल वाला है ) उस को, मनुष्यों की कामनाओं ( वा रक्षाओं ) के साथ रथों ( रश्मियों ) के मार्ग से बुलाता हूं ( ८।५६।४ ) विश्वानरस्य = सूर्य के, 'अनानतस्य शवसः' बड़े बल के। एवैः = कामनाओं से, वा गतियों से, वा रक्षाओं से। चर्षणीनां = मनुष्यों की, ऊत्या च = और मार्ग से, रथों के, इन्द्र को इस यज्ञ में बुलाता हूं (१३—) वरुण व्याख्यात है, उसकी यह है। २१

"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु। त्वं वरुण पश्यसि" ॥ भुरण्युरिति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिर्भूरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा तत्सम्पाती भुरण्युरनेन पावक ख्यानेन "भुरण्यन्तं जनां अनु त्वं वरुण पश्यसि"। तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषोऽपि वोत्तरस्याम् ॥ २२ ॥

"हे पवित्र करने वाले वरुण! जिस दृष्टि से तू अपने जनों ( भक्तों ) के पीछे शीघ्र चलते हुए को देखता है" ( १।५०।६ ) भुरण्यु जल्दी का नाम है, भुरण्यु ( शीघ्रगामी ) पक्षी है ( वह यहां यज्ञ में अग्नि है ) बड़े ( = लम्बे ) मार्ग की ओर लेजाता है, स्वर्ग लोक का भी प्राप्त कराने वाला है, उससे ( अग्नि से = अग्नि में किये कर्म से ) उड़ने वाला ( यजमान भी ) भुरण्यु है, इस दृष्टि से हे पवित्र करने वाले "वरुण अपने जनों के पीछे चलते हुए को तू देखता है' ( सारा मन्त्र पढ़ कर भी वाक्य साकांक्ष रहता है, क्योंकि यत् शब्द को तत् शब्द की आकाङ्क्षा बनी है इस लिये ऊपर से वाक्य पूर्ति करते हैं ) तेरे उस दर्शन

( दृष्टि ) की हम स्तुति करते हैं, यह वाक्यशेष है । अथवा अगली ( ऋचा ) में ( इसका अन्वय है । २२ ।

"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि" ॥ "वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य" ॥ व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तँल्लोकमहानि च मिमानोऽक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यञ्जन्मानि जातानि सूर्य । अपि वा पूर्वस्याम् ॥ २३ ॥

"जिस दृष्टि से हे पावक वरुण अपने जनों के पीछे चलते हुए को तू देखता है, उस ( दृष्टि ) से तू सूर्य द्यौ और बड़े लोक ( अन्तरिक्ष ) को प्राप्त होता है ( पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों पर तेरा समान अनुग्रह है ) तू जो रातों समेत दिनों का बनाने वाला है, और सब जन्म वालों को देखता है ( सब पर अनुग्रह करता है ) । ( इस प्रकार अगली ऋचा के साथ अन्वय है ) अथवा ( इस से ) पहली ( ऋचा ) में अन्वय है ।२३

"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ प्रत्यङ्देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् । प्रत्यङ्विश्वं स्वर्दृशे" ॥ प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसीति । अपि वैतस्यामेव ॥ २४ ॥

जिस दृष्टि से तू अपने जनों के पीछे चलते को देखता है,

( उस दृष्टि से युक्त हुआ तू ) देवताओं की प्रजाओं के सम्मुख, मनुष्यों के सम्मुख, सब के सम्मुख हे स्वः ( सूर्य ) उदय होता है तू देखने के लिये ( अनुग्रह के लिये )। अथवा इसी में (अन्वय ) है । २४ ।

"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि" तेन नो जनानभिविपश्यसि ॥ केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा । तस्यैषा भवति ॥ २५ ॥

'येन चक्षसा भुरण्यन्तं अनु पश्यसि तेन नो जनानभिविपश्यसि' जिस दृष्टि से तू शीघ्रगामी को देखता है, (जो तेरा अनुग्रह उन पर है ) उस दृष्टि से हमारे जनों को देखता है । * (१४–) केशी = केश = रश्मियें, उन वाला होता है, अथवा प्रकाशने से । उस की यह है । २५ ।

"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी । केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते" ॥ केश्यग्निं च विषं च । विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य, विपूर्वस्य वा सचतेः । द्यावापृथिव्यौ च धारयति । केशीदं सर्वमिदमभिविप-

* 'उस से हमारे जनों को देखता है', यह वाक्यशेष है । पहले 'तत्ते वयं स्तुमः' इस प्रकार स्तुति से समाप्त किया था, अब आशिष से । स्तुति और आशिष का नित्य सम्बन्ध है, यह पूर्वले वाक्यशेष से इस में विशेष है ( दुर्गाचार्य )

श्यति, केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह । अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः । तेषामेषा साधारणा भवति ॥ २६ ॥

"केशी (सूर्य) अग्नि को, केशी जल को, केशी द्यावापृथिवी को धारण-पोषण करता है, केशी इस सारे जगत् को देखता है, केशी यह ज्योति (सूर्य) कहलाता है" (१०।१३६।१) केशी= अग्नि (वृष्टि से ओषधियें उत्पन्न करके इनकी आहुति द्वारा, अग्नि को धारण पोषण करता है) केशी जल को । विष,जलका नाम है, विष्णाति = विपूर्वक स्ना (अ०प०) शुद्धि अर्थ वाले से (शोधता है) अथवा विपूर्वक सच् (भ्वा०उ०) से, (लगजाता है) और द्यावा पृथिवी को धारण करता है, केशी इस मन्त्र को देखता है, केशी यह ज्योति कहलाता है, इस प्रकार सूर्य को कहता है ॥ और यह दूसरे (आग्नि और मध्यम) जो ज्योति हैं,यह भी केशी कहलाते हैं, (इन में से) आग्नि धुएं से (केशों वाला है) और मध्यम (वायु) धूलि से (केशों वाला) है । (१५—केशिनः) उन तीनों की यह सांझी (ऋचा) है । २६ ।

"त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् । विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्" ॥ त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षत कालेकालेऽभिविपश्यन्ति संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति । सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यो गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य॥

अथ यद्रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद्वृषाकपिर्भवतिवृषाकम्पनः। तस्यैषा भवति ॥ २७ ॥

तीन केशी समय समय पर देखते हैं (अपने २ कर्माधिकार को पूरा करते हुए लोक पर अनुग्रह दृष्टि रखते हैं) (इन के अलग २ कार्य कहता है) इन में से एक (अग्नि) वरस पीछे (पृथिवी पर की ओषधियों को) जलाता है (फिर नई होने के लिये)। एक (सूर्य) अपने कर्मों (प्रकाश दृष्टि आदि) से सारे विश्व को देखता है, एक की (वायु की) गति दीखती है रूप नहीं (दीखता) (१।१६४।४४) अब जब (सूर्य) (उपसंहार के समय) रश्मियों से कंपाता हुआ जाता है, तब वृषाकपि होता है। वृषा (बरसाने वाला ओस का) और कंपाने वाला (अस्त होने पर सब को अदृश्य शत्रु से भय उत्पन्न होजाता है) उस की यह है। २७।

"पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनःविश्वस्मादिन्द्र उत्तरः"॥ पुनरेहि वृषाकपे सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै य एष स्वप्ननंशनः स्वप्नान्नाशयत्यादित्य उदयेन सोऽस्तमेषि पथा पुनः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमआदित्यम् ॥ यमो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति ॥ २८ ॥

"फिर आ हे वृषाकपे (अस्त होने लगे सूर्य) जिस से हम दोनों अच्छे प्रवृत्त हुए कर्मों को पूरा करें,जो तू निद्रा का नाशक

है, वह तू अब अपने मार्ग से अस्त को प्राप्त हो रहा है, इन्द्र ( सूर्य ) सब से बढ़ कर है ( १.७– ) यम व्याख्यात है ( १०। १९ में निर्वचन से, यह सूर्य का वाचक है ) उसकी यह है।२८

"यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः । अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणां अनु वेनति" यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वापि वोपमार्थे स्याद्वृक्ष इव सुपलाश इति । वृक्षो व्रश्चनात् पलाशं पलाशनात्। देवैः सङ्गच्छते यमो रश्मिभिरादित्यस्तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत ॥ अज एकपादजन एकः पाद एकेन पादेन पातीति वैके- न पादेन पिबतीति वैकोऽस्य पाद इति वा । "एकं पादं नोत्खिदतीत्यपि निगमो भवति । तस्यैषा नि- पातो भवति वैश्वदेव्यामृचि ॥ २९ ॥

जिस अच्छे पत्तों वाले वृक्ष की नीचे की न्याईं ( शोभन छाया स्थान में बैठा ) यम ( अस्त हो चुका सूर्य ) रश्मियों के साथ संगत होता है, वहां वह प्रजापति हमारा पिता ( हमजो ) पुराने-( स्तोता हैं उन ) को कामना करे ( अनुग्रह बुद्धि से देखे ) ( १०।१३५।१ ) जिस अच्छे पत्तों वाले, वृक्ष ( पुण्यात्माओं से ) स्वीकृत निवास स्थान में। अथवा उपमा के अर्थ में होसकता है, अच्छे पत्तों वाले वृक्ष के नीचे की न्याईं । वृक्ष=काटने से ( व्रश्च्, से ) पलाश, झड़ने से (पत्ते झड़जाते हैं)। देवों के साथ संगत होता है, यम=रश्मियों के साथ सूर्य । वह सब का पालक,

हम पुराणों को कामना करें * ॥ (१८–) अज एकपाद् (सूर्य) चलने वाला अकेला पाओं †। अथवा ‡ एकपाद (एक अंश) से (सब की) रक्षा करता है, अथवा एक पाद (अंश) से पीता है (रस सारे जगत् से)। अथवा एक इस का पाद है 'एक पाद को नहीं निकालता है' यह भी निगम होता है। उसका यह निपात है विश्वेदेवों की ऋचा में। २९।

"पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवोधर्त्ता सिन्धुराप: समुद्रियाः। विश्वे देवासः शृण्वन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या" पविः शल्यो भवति यद्विपुनाति कायं तद्वत्पवीरमायुधं तद्वानिन्द्रः पवीरवान् "अतितस्थौ पवीरवानित्यपि निगमो भवति। तद्देवता वाक् पावीरवी। पावीरवी च दिव्या वाक्। तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः। अजश्चैकपाद् दिवो धारयिता सिन्धुश्चापश्च समुद्रियाश्च सर्वेच देवाः सरस्वती च सह पुरन्ध्या स्तुत्या प्रयुक्तानि धीभिः

---

* ऐतिहासिक पक्ष में–पितृराज यम जो देवों (अपने अनुचरों) के साथ पीता है, वह अच्छे पत्तों वाले वृक्ष के नीचे की न्याईं सुखनिवास वाले अपने घरों में पहुंचे हम को (उसके लोक में रहने वाले) पुराने पितरों की न्याईं कामना करे।

† सूर्य ब्रह्म का एकपाद है, जैसा कि उपनिषद् में अग्नि, वायु, सूर्य और दिशाएं चार पाद कहे हैं।

‡ अगले सारे निर्वचन एकपाद शब्द के हैं, उनके साथ अजनः = चलने वाला, यह अजः का निर्वचन सब में जोड़ते जाना चाहिये।

**कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु वचनानीमानीति ॥ पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि**

फैलाने वाली वाक्, द्यौ का धारने वाला अज एकपाद, सिन्धु, और समुद्रिय (अन्तरिक्ष में होने वाले) जल, विश्वदेव और पुरन्धि के साथ सरस्वती, कर्मों से युक्त मेरे वचनों को सुनें (१०।६५।१३) (पावीरवी=) पवि, शल्य होता है, जिस लिये 'शरीर को फोड़ता है' । वा पवीर, शस्त्र (पवि+र=पवीर= शल्यवाला शस्त्र । र मत्वर्थ में है) उस (पवीर) वाला=पवीरवान्=इन्द्र । 'दबा कर स्थित होता है, शस्त्र वाला (इन्द्र) (१० ६०।३) यह भी निगम है (जहां पवीरवान्=इन्द्र है) । वह (इन्द्र) है देवता जिस का, ऐसी वाक्=पावीरवी । पावीरवी= दिव्य वाक्, तन्यतुः=फैलाने वाली दूसरी वाक् की (उसी को मनुष्य पशु बोलते हैं) और अज एकपात् जो द्यौ का धारने वाला है, सिन्धु और समुद्र के जल, सारे देवता, सरस्वती पुरन्धि समेत । स्तुति से बोले हुए, धीभिः=कर्मों से युक्त इन वचनों को सुनें । (१९—) पृथिवी व्याख्यात है (१।१३ में) (यहां द्यौ के अर्थ में है) उसका यह निपात है इन्द्र और अग्नि की ऋचा में । ३० ।

**"यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुतस्थः । अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य" ॥ इति सा निगदव्याख्यता । समुद्रो व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवति पवमान्यामृचि ॥ ३१ ॥**

हे इन्द्राग्नी तुम दोनों यदि परम पृथिवी ( द्यौ) में हो, वा मध्यमा पृथिवी ( अन्तरिक्ष) में हो, वा निचली पृथिवी (भूमि ) में हो, हे बरसने वालो वहां से आओ और इस सोम को पियो ( १।१०८।१० ) यह पाठ से व्याख्याता है। ( २०— ) समुद्र व्याख्यात है ( २।१० में ) ( यहां सूर्य का नाम है ) उसका यह निपात है, पवमान की ऋचा में ॥ ३१ ॥

"पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् । महःसमुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्"॥पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचं । मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म । महः समुद्रं वरुणास्तिरोऽन्तदर्धात्यथ धीरा शक्नुवन्ति, धरुणेषूदकेषु कर्मण आरभमारब्धुम् ॥ अज एकपाद व्याख्यातः । तेषामेषा निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि ॥ ३२ ॥

रश्मियों वाले वाणी के चारों ओर बैठते हैं, इन का पिता पुराना अपने कर्म की रक्षा करता है, बड़े अन्तरिक्ष को वरुण ( मेघद्वारा ) ढांप लेता है, तब काम करने वाले जलों (के आने) पर ( काम ) अरम्भ करने के समर्थ होते हैं ( ९।७३।३ ) पवित्रवन्तः=रश्मियों वाले=माध्यमिक देवगण चारों ओर बैठते हैं माध्यमिक वाणी के । मध्यम पिता इनका, प्रत्नः= पुराना, रक्षा करता है, व्रत=कर्म की । बड़े अन्तरिक्ष को वरुण।

तिरोदधे=ढांप लेता है। तब धीर समर्थ होते हैं, धरुणेषु= जलों के होते हुए, काम के, आरभं=आरम्भ करने के॥ अज एकपाद् व्याख्या किया गया, पृथिवी व्याख्या की गई, समुद्र व्याख्या किया गया, उनका यह एक और बहु देवता वाली ऋचा में निपात है॥ ३२॥

"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः। विश्वेदेवा ऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु"॥ अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजश्चैकपात्पृथिवी च, समुद्रश्च, सर्वे च देवाः, सत्यवृधो वा यज्ञवृधो वा हूयमाना मन्त्रैःस्तुता मन्त्रा कविशस्ता अवन्तु मेधाविशस्ताः। दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति वा। अथर्वा व्याख्यातः। मनुर्मननात्। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्रयामृचि॥ ३३॥

किञ्च अहिर्बुध्न्य हमें सुने, तथा अज एकपाद, पृथिवी और समुद्र (सुने)। यज्ञ के (वा सत्य के) बढ़ाने वाले, (मन्त्रों से) बुलाए हुए, विश्वे देव, और कवियों से कहे हुए, स्तुति किये हुए मन्त्र हमारी रक्षा करें (६।५०।१४) (२१–) दध्यङ्=ध्यान को प्राप्त हुआ (ध्या+अञ्च से) अथवा पहुंचा हुआ है ध्यान इसमें। (२२–) अथर्वा व्याख्यात है (११।१८ में) (२३–) मनुः, मनन से (सब कुछ जानता है) उन का निपात है ऐन्द्री ऋचा में। ३३।

"यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत । तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्" ॥ यामथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियमतनिषत तस्मिन्ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्तामर्चन्योऽनूपास्ते स्वराज्यम् ॥

अथातो द्युस्थाना देवगणाः ॥ तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति । आदित्या व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥ ३५ ॥

अथर्वा, ( मनुष्यों के ) पिता मनु और दध्यङ् जो कर्म फैलाते भए, उस (कर्म) में उक्थ ( स्तुतियें ) पूर्ववत ( पहली की न्याईं) स्तुतियें इन्द्र में संगत हुई, जो (इन्द्र) अपने राजा होने का आदर करता हुआ ( दस्युओं को मारने और आर्यों को सुख पहुंचाने में ) स्थित है ( १।८०।१६ ) । अब द्युस्थानी देवगण ( कहते हैं ) उन में से आदित्य प्रथमागामी होते हैं । ( २४–) आदित्य व्याख्यात हैं ( २।१३ में ) उन की यह है । ३५ ।

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि । शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः" ॥ घृतस्नूर्घृतंप्रस्राविन्यो, घृतप्रस्राविण्यो, घृतसानिन्यो घृतसारिण्यः, घृतसानिन्य इति वा । आहुतीरादित्येभ्यश्चिरं जुह्वा जुहोमि चिरं जीवनाय, चिरं राजभ्य इति वाशृणोतु न इमा

गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोऽशश्च । अंशोऽशुना व्याख्यातः सप्त ऋषयो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति ॥३६॥

घृत के बहानेवाली ( जिन के साथ२ घृत होमा जारहा है ) यह स्तुतियें मैं आदित्य राजाओं ( अदिति के पुत्र जो राजे हैं उन ) के लिये सदा जुहू से होमता हूं, वह मित्र अर्यमा, भग सर्वत्र प्रकट होने वाला,=धाता, दक्ष, वरुण और अंश सुने (२।२७।१ ) घृत स्नुः = घृत के बहाने वाली, वा घृत के चलाने वाली, वा घृत के बांटने वाली (घृत+स्नु वा घृत+स्न वा घृत+सन से ) आहुतियें आदित्यों के लिये जुहू से होमता हू, ( सनाद=) चिरं=चिर जीने के लिये ( चिर होमना चिर जीने से ही हो सकता है ) अथवा सदासे जो राजे हैं, उनके लिये, सुने हमारी इन स्तुतियों को मित्र, अर्यमा, भग, सर्वत्र प्रकट होने वाला धाता, दक्ष, वरुण और अंश । अंश, अंशु से व्याख्यात है । ( १५–) सप्त ऋषयः, व्याख्यात हैं (सप्त ४।२६ में, ऋषि २।११ में ).( यहां रश्मियों का नाम है ) उन की यह है । ३६ ।

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ" ॥ सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं संवत्सरमप्रमाद्यन्तः सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्र-

सदौ च देवौ वाय्वादित्यावित्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं शरीर मप्रमाद्यन्ति सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे। तेषा मेषापरा भवति ॥ ३७ ॥

सातऋषि ( किरणें ) सूर्य में रखी हैं, वह, सात प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं, वही सात व्यापने वाले अस्त होते हुए के लोक ( मण्डल ) को प्राप्त होते हैं, यहां जागते हैं न सोने वाले सत्र ( यज्ञ ) में बैठे हुए दो देव ( वायु और सूर्य ) यजु० ३४। ५५) सात ऋषि रखे हुए हैं शरीर में अर्थात् रश्मियें सूर्य में सात रक्षा करते हैं सदा बिना प्रमाद के वरस की ( रक्षा करते हैं ) प्रमाद न करते हुए सात व्यापने वाले वही ( किरण ) सोते हुए के लोक को अर्थात् अस्त हुए सूर्य को प्राप्त होते हैं। यहां जागते हैं न सोने वाले सत्र में बैठे हुए दो देव अर्थात् वायु और आदित्य। यह अधिदैवत ( अर्थ ) है । अब अध्यात्म कहते हैं। सात ऋषि रखे हैं शरीर में अर्थात् छः इन्द्रियें ( पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन ) और सातवीं बुद्धि आत्मामें। 'सात रक्षाकरते हैं विना प्रमाद के' अर्थात् शरीर की प्रमाद न करते हुए। सात ( विषयों के ) व्यापने वाले यही सोते हुए के लोक को अर्थात् अस्त होते हुए ( सोते हुए ) आत्मा को प्राप्त होते हैं। यहां जागते हैं न सोने वाले सत्र में बैठनेवाले दो

देव प्राज्ञ आत्मा और तैजस (सुषुप्ति का अनुभव करने में वही प्राज्ञ, और स्वप्न का अनुभव करने में वही तैजस है)। उनकी यह और है। ३७।

"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः"॥ तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशो निहितं ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयो ये अस्य गोपा महतो बभूवुरित्यधि दैवतम्। अथाध्यात्मं तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन्यशो निहितं सर्वरूपमत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तृणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे॥ देवा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति॥ ३८॥

(रश्मि रूपी) टेढ़े छेदों वाला, ऊपर डंडी वाला यह चमस (मण्डल रूपी छत्ता) है, जिस में अनेक प्रकार का यश स्थित है। यहां सात ऋषि (सात किरणें) इकट्ठे बैठे हैं, जो इस बड़े (मण्डल) के रक्षक हैं (अथर्व १०।८।९) टेढ़े बिल वाला चमस (ऊर्ध्व बुध्नः) ऊपर बन्धन वाला, वा ऊपर स्थित हुआ (प्रकाश से) ज्ञापक। जिस में यश रखा है सब प्रकार का, यहां स्थित हैं ऋषि सात इकट्ठे अर्थात् सूर्य की रश्मियें। जो इस महान् के रक्षक हैं, यह अधि दैवत है। अब अध्यात्म कहते हैं। टेढ़े छेदों वाला चमस (शरीर)

ऊपर बन्धन वाला वा ऊपर ज्ञापक, जिस में यश रखा है सब प्रकार का, यहां स्थित हैं ऋषि सात इकट्ठे, जो इन्द्रिय हैं, वह इस ( महान् शरीर ) के रक्षक हैं, इस प्रकार आत्मगति को कहता है। (२६—) देवाः, व्याख्यात हैं (७।१५में) उन की यह है

"देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभिनो निवर्त्तताम् । देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे,, ॥ देवानां वयं सुमतौ कल्यण्यां मतावृजुगामिनामृजुगामिनामिति वा देवानां दानमभि नो निवर्त्ततां देवानां सख्यमुपसीदेम वयं देवा न आयुः प्रवर्धयन्तु चिरं जीवनाय॥ विश्वे देवाः सर्वे देवाः । तेषामेषा भवति॥३९॥

सरल गति वाले देवताओं की कल्याणी सुमति ( अनुग्रह बुद्धि ) हमारी ओर लौटे, देवताओं का दान हमारी ओर लौटे, हम देवताओं की इस मैत्री को प्राप्त हों, देवता हमारी आयु को बढ़ाएं ( चिर— ) जीने के लिये ( १।८९।२ ) ऋजूयतां = सरल गति वाले, वा समय पर जाने वाले ( यज्ञों में ) । (२७-) विश्वे देवाः * = सारे देवता । उन की यह है ॥ ३९ ॥

"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम्,, ॥ अवितारो वावनीया वा मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः

* देवाः, विश्वेदेवाः, साध्याः, वसवः, वाजिनः सब रश्मियों के वाचक हैं ( दुर्गाचार्य ) ।

सुतमिति । तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किं चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिरनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिंगाः । भूतांशःकाश्यप आश्विनमेकालिङ्गमभितष्टीयं सूक्तमेकलिंगम् ॥ साध्या देवाः साधनात् । तेषामेषा भवति ॥ ४० ॥

हे विश्वे देवो तुम जो रक्षक हो, मनुष्यों के धारकहो, और दाता हो, तुम ( हवि ) देनेवाले ( यजमान ) के निचोड़े हुए ( सोमरस ) के प्रति आओ ( १।३।७ ) ओमासः=रक्षा करने वाले, वा तृप्त करने योग्य ॥ यही एक गायत्रा तृच ( गायत्री छन्द में तीनऋचा का समुदाय ) विश्वे देवों का ऋक् शाखाओं में है पर अधियज्ञ में बहुत से वैश्वदेव मन्त्रों से प्रयोजन होता है वहां क्या करना चाहिये, इसका उत्तर देते हैं ) किन्तु जो कोई बहु देवताओं वाला मन्त्र समुदाय ( गायत्री छन्द में ) हो, वह वैश्वदेवों के स्थान लगाया जाता है । शाकपूणि कहता है, कि जिसे में विश्व शब्द हो ( वही लगाने ) चाहिये, जैसे 'ये देवा इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत'(८।३०।४) पर यह प्रतिज्ञा भूकवाली है, ( क्योंकि ८।४।२९ की ) दस दो २ पद की ऋचाएं हैं, उन में एक बभ्रु ( शब्द है, पहली ऋचा में ) ( शेष ऋचाएं ) बिना लिङ्ग ( विश्वशब्द ) के हैं, ( तौ भी सब बभ्रु देवता कहें ) तथा कश्यप का पुत्र भूतांश ( ऋषि इष्ट ) आश्विन ( सूक्त१०।१०६) एक ही लिङ्ग वाला है ( केवल ११ वें मन्त्र में आश्विन शब्द है )

तथा अभितष्टीय सूक्त * ((३।३८) एक लिङ्ग वाला है (केवल ९ वें मन्त्र में इन्द्र शब्द है ) ( सो विना शब्द के भी इन सूक्तों के सारे मन्त्र तत्तद्देवताक माने जाते हैं, इसी तरह विना भी विश्व शब्द के बहु देवताक सूक्त वैश्वदेव माने जाते हैं, इसी तरह ८। ३० सारा सूक्त ही वैश्वदेव है, न कि निरी चौथी ऋचा ) । ( २८– ) साध्याः देवाः, साधने से ( साधते हैं शुभ कार्यों को ) उन की यह है । ४० ।

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" ॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवाः 'अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त' तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' । ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ॥ वसवो यद्विवसते सर्वम् । 'अग्निर्वसुभिर्वासवः' इति

* वभ्रू सूक्त को तो दुर्गाचार्य ने लिखा ही नहीं ! न सम्पादकों ने इसको ढूंढा । अभितष्टीय सूक्त की जो ऋचा दुर्गाचार्य ने प्रमाण दी है, वह ऋग्वेद में कई जगह है । इस लिये सम्पादकों ने जो इसका पता ३।२।४।७ दिया है,उस में भूल की है, ऋचा ३।२। ४।७ ठीक है, पर वह अभितष्टीय सूक्त की नहीं । अभितष्टीय सूक्त ३।३८ है, जिस का आदि अभितष्टा है, इस सूक्त की ९वीं ऋचा यहां अभिमत है, इस लिये अंक ३।२।२३।९ होना चाहिये ।

समाख्या तस्मात्पृथिवीस्थानाः ।'इन्द्रो वसुभिर्वासवः' इति समाख्या तस्मान्मध्यस्थानः । वसव आदित्य-रश्मयो विवासनात्तस्माद् द्युस्थानाः । तेषामेषा भवति

यज्ञ से देवता यज्ञ को पूजते भए, वह कर्म मुख्य हैं, वह महिमा वाले होकर स्वर्ग का सेवन करते भए, जहां पहले साध्य देवता हैं (१।१६४।५०; १०।९०।१६ यजु ३१।१६) यज्ञ से देवता यज्ञ को पूजते भए अर्थात् अग्नि से अग्नि को पूजते भए । 'अग्नि पशु था उसको उन्होंने आलम्भन किया, उससे यजन किया' यह ब्राह्मण है । 'वह मुख्य धर्म थे' । वह महिमावाले हुए स्वर्ग का सेवन करते भए, जहां पहले 'साध्याः' अर्थात् साधना वाले देवता हैं ( वह कौन हैं ) द्युस्थानी देवगण हैं यह नैरुक्त कहते हैं । पहला देवताओं का युग था यह आख्यान ( ऐतिहासिक पक्ष है ) । ( २०–) वसवः, जिस लिये ढांपते हैं ( तीनों स्थानों में होकर सारे जगत् को ) वसुओं के सम्बन्ध से अग्नि का वासव नाम है, इस से ( वसु ) पृथिवी स्थानी हैं । वसुओं के सम्बन्ध से इन्द्र का वसु नाम है, इस से मध्यस्थानी हैं, वसु, सूर्य की रश्मियें हैं ( अन्धकार के ) निकालने से, इस से द्युस्थानी हैं । उन की यह है । ४१ ।

"सुगा वो देवाः सुपथाअकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः । जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि" ॥ स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः

खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि। तेषामेषापरा भवति ॥ ४२ ॥

हे देवताओ तुम्हारे लिये सुगम सुमार्ग बना दिये हैं, जो तुम इस यज्ञ को प्यार करते इस हुए में आए हो। सब तुम खाते और पीते हुए हे वसुओ! हम में धन स्थापन करो (यजु० ८।१८) उनकी यह और है। ४२।

"ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः॥ अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य" ॥ ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवा ज्मा पृथिवी तस्यां भवा उरौ चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त रमयन्त शुभ्राः शोभमाना अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वं शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः॥ वाजिनो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति

'पृथिवी में होने वाले जो देव वसु यहां रमण करते हैं, जो चमकते हुए विस्तृत अन्तरिक्ष में पहुंचाते हैं, हे बड़े वेग वालो (हमारे लिये) अपने मार्ग सीधे बनाओ (सीधे हमरी ओर आओ) तुम्हारे पास पहुंचे हमारे इस दूत (अग्नि) को सुनो (७।३९।३) ज्मया = ज्मा पृथिवी उस में होने वाले। मर्जयन्त = पहुंचाते हैं। (३०—) वाजिनः, व्याख्या किये गए हैं (२।२८ में) उन की यह है ॥ ४३ ॥

"शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः। जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्म-

ह्युयवन्नमीवाः" ॥ सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे मितद्रवः सुमितद्रवः। स्वर्काः स्वञ्चना इति वा, स्वर्चना इति वा स्वर्चिष इति वा। जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिप्रमस्मद्यावयन्त्वमीवा देवाश्वा इति वा ॥ देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः। तासामेषा भवति ॥४४॥

देवताओं के कर्म में (=यज्ञ में) वाजी हमारे लिये सुख कारी हों. (वाजी जो) चलने वाले, अच्छा चलने वाले, (हैं, वह) सर्प, भेड़िये और राक्षसों को नाश करते हुए जल्दी हम से रोगों को दूर करें (यजु २१।९) देवतातौ = यज्ञ में। मितद्रवः = ठीक परिमित चलने वाले। स्वर्काः = अच्छी गति वाले, वा अच्छे आदर वाले, वा अच्छी दीप्ति वाले। (३५-) देवपत्न्यः = देवताओं की पत्नियें, उन की यह है ॥ ४४ ॥

"देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवा शर्म यच्छत" ॥ देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजयेऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्माणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम्। तासामेषापरा भवति ॥ ४५ ॥

देवताओं की पत्नियें (हम से हवि) चाहती हुई हमारी रक्षा

करें। तथा हमारे पुत्र लाभ के लिये और अन्न लाभ के लिये हमारी रक्षा करें, जो तुम पृथिवी में हो और जो जलों के कर्म में (अन्तरिक्ष में) हो, वह शुभ बुलाने वाली देवियें हमें घर (वा सुख) देवें (५।४६।७) इन की यह और है ॥ ४५ ॥

"उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनानीम्" ॥ अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः। इन्द्राणीन्द्रस्य पत्न्यग्नाय्यग्नेः पत्न्यश्विन्यश्विनोः पत्नी राड् राजतेः रोदसी रुद्रस्य पत्नी वरुणानी च वरुणस्य पत्नी। व्यन्तु देव्यः कामयन्तां य ऋतुः कालो जायानाम् यः ऋतुः कालो जायानाम्*॥४६

आपिच देवताओं की पत्नियें (हवि) खाएं, अर्थात् इन्द्रकी पत्नी, अग्नि की पत्नी, अश्वियों की पत्नी रानी, रुद्र की पत्नी, वरुण की पत्नी (हमरे आह्वान को) सुने, खाएं देवियें, जो (देव) पत्नियों के खाने का समय है। (५।४६।८)

इति निरुक्तं समाप्तम्।

---

* वाक्य का दो बार पाठ ग्रन्थ की समाप्ति के लिए है।

# अथ निरुक्त परिशिष्टम् *

# त्रयोदश अध्याय

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते । अपि वा संप्रत्यय एव स्यान्माहाभाग्याद् देवतायाः । सोऽग्निमेव प्रथममाह । 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः' इति यथैतस्मिन्त्सूक्ते । 'नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे' इति वरुणस्य । अथैषेन्द्रस्य ॥१॥

अब यह अति स्तुतियें हैं यह कहते हैं। अथवा यथार्थ प्रतीति ही हो सकती है, क्योंकि देवता का ऐश्वर्य बड़ा है † वह (आचार्य)

---

* यास्क प्रणीत निरुक्त १२ वें अध्याय तक समाप्त होगया। अब यह १३ वां १४ वां अध्याय जो परिशिष्ट कहलाते हैं, यह प्रक्षिप्त हैं, यह भूमिका में उपपादन कर आए है । सो यद्यपि यह यास्कप्रणीत निरुक्त भाग नहीं, तथापि इनका विषय जानने के लिये इनकी भी व्याख्या लिखते हैं ।

† १३ वां अध्याय अतिस्तुति प्रकरण है । अतिस्तुति बढ़ कर स्तुति, अर्थात् किसी देवता की उस के अधिकार से बढ़ कर स्तुति । अग्नि आदि भिन्न २ देवता का अपना २ अधिकार नियत है, उसी से उस की स्तुति की जाती है, किन्तु जब कभी किसी दूसरे देवता के अधिकार से उसकी स्तुति की जाती है, तो वह अति स्तुति=बढ़ कर स्तुति, कहलाती है। पर वैदिक अति स्तुति लौकिक अतिस्तुति की न्याई अत्युक्ति नहीं होती है, किन्तु वेद में उस अति स्तुति से जो प्रतीति होती है, वह यथार्थ प्रतीति होती है, क्योंकि देवता का ऐश्वर्य=सामर्थ्य, बहुतबड़ा होता है, सारे देवताओं के अधिकार को पूरा करने का सामर्थ्य हर एक देवता

अग्नि को ही पहले कहता है *। जैसा कि 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः'† इस सूक्त (२।१) में है। (हे वरुण) तेरे विना आंख के झपकने पर भी कोई ईशन नहीं कर रहा है, (२।२८।६) यह ‡वरुण की (अति स्तुति) है। और यह इन्द्र की है ॥ १ ॥

"यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
नत्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी"॥
यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युर्न त्वा वज्रिन्त्सहस्रमपि सूर्या न द्यावापृथिव्यावप्यभ्यश्नुवीतामिति। अथैषादित्यस्य ॥२॥

हे इन्द्र यदि सौ द्यौ और भूमियें हों, हे वज्र वाले सहस्र भी सूर्य तुझ प्रकट हुए को नहीं पहुंचते हैं (बराबरी नहीं करते हैं) न द्यावापृथिवी (८।५९।५) यदि हे इन्द्र सौ द्यौ और भूमियें तेरे उपमान हों, नहीं तुझे हे वज्रवाले सहस्र भी सूर्य, न ही द्यावा पृथिवी भी पहुंचते हैं। (यह इन्द्र की है) अब यह सूर्य की है। २।

---

में है, वस्तुतः सारे देवता एकही आत्मा के बोधक होने से प्रसिद्ध अधिकार से बढ कर स्तुति करने में उस एक आत्मा पर दृष्टि रहती है, जिस से सब प्रकाशित हैं। इस से वह यथावत् प्रतीति है, अत्युक्ति नहीं, यह पक्ष अथवा से दिखलाया है।

* अग्निही देवगणना में पहला है।

† इस सूक्त की १६ ऋचाएं हैं, इन में अग्नि को ही इन्द्र विष्णु वरुण मित्र आदिरूपसे वर्णन किया हैयही अतिस्तुति वस्तुतः यथार्थ प्रतीति है।

‡ वरुण मध्यम है, वृष्टि आदि पर उसका आधिपत्य है। यहां जो सब पर उसका आधिपत्य दिखलाया है, यह अतिस्तुति है।

"यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन। क्व स्यः पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः"॥ यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगमत क्व स्यः पुल्वघो मृगः क्व स बह्वादी मृगः। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः। कमगमद् देशं जनयोपनः सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्। अथैषादित्यरश्मीनाम् ॥३॥

हे वृषाकपे (अस्तंगत सूर्य) इन्द्र जब तू आगे बढ़ता हुआ घर में जाता है (घर में प्रविष्ट हुए पुरुष की न्याईं बाहर वालों की आंखों से ओझल हो जाता है) (तब कहते हैं लोग) कहां है वः बहुत खाने वाला, (उदय अस्त से), लोगों को मोहने वाला मृग वह इन्द्र सब से बढ़कर है (१०।८६।२२) जब आगे बढ़ता हुआ हे वृषाकपे इन्द्र तू घर में जाता है, 'क स्यः पुल्वघो मृगः' कहां वह बहुत खाने वाला मृग (अघ, घस् से है) मृग गति अर्थवाले मृज् (अ० प०) से है। किस देश को चला गया है लोगों को मोहने वाला (उदय अस्त के तत्त्व को न जानने से लोग मोहित होते हैं)। सब से जो इन्द्र बढ़कर है, इस सूर्य रूप को (ऐसा कहते हैं)। और यह (वक्ष्यमाण) सूर्य की रश्मियों की (अति स्तुति) है ॥३॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" ॥ व्यसृक्षत हि प्रसवाय न चेन्द्रं देवममंसत यत्रामाद्यद्वृषाकपिरर्य ईश्वरः पुष्टेषु पोषेषु मत्सखा मम सखा

मदनसखा ये नः सखायस्तैः सहेति वा सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्ब्रूम आदित्यम्।अथैषाश्विनोः॥४॥

(लोगों को काम में) प्रेरने के लिये (सूर्य रश्मियों को जब) छोड़ता है (तो) वह उस इन्द्र (सूर्य) को अपना देवता (प्रकाशक) नहीं समझतीं (अपनी ही महिमा समझती हैं) जब स्वामी वृषाकपि (रश्मियों के) पुष्ट होने पर आनन्दित होता है, वह मेरा सखा इन्द्र सब से बढ़कर है (१०। ८६।१) छोड़ता है प्रेरने के लिये, पर वह सूर्य को अपना प्रकाशक नहीं समझतीं, जब वृषाकपि, अर्यः = स्वामी। पुष्टेषु = पुष्टियों पर। मत्सखा = मेरा साथी, अथवा हर्ष का साथी, अथवा जो हमारे साथी हैं, उन के साथ, सब से जो इन्द्र बढ़कर है, उस सूर्य को यह कहते हैं। अब यह (अगली) अश्वियों की (अति स्तुति) है॥ ४॥

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी फर्फरीका। उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु" ॥ सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ। नैतोशेव तुर्फरीफर्फरीका। नितोशस्यापत्यं नैतोशं। नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ। उदन्यजेव जेमना मदेरू। उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे वा जेमनं जयमने जेमना मदेरू।

ता मे जराय्वजरं मरायु । एतज्जरायुजं शरीरं शरदमजीर्णम् । अथैषा सोमस्य ॥ ५ ॥

दोनों अंकसों की न्याईं पोषण करने वाले (शत्रुओं के) मारने वाले, नितोश के पुत्र (शत्रुओं के) जल्दी मारने वाले, (शत्रुओं के) फाड़ने वाले, जल में उपजे (रत्नों) की न्याईं (निर्मल), जयशील, सदा प्रसन्न (जो अश्विन हैं) वह मेरे जेर से उत्पन्न हुए मरने वाले शरीर को अजर (बनावें) (१०। १०६।६) 'दो अंकसों की न्याईं' दो प्रकार का अंकस होता है, एक पोषण करने वाला (मत्त हाथी को एक स्थान में रोके रखने वाला) दूसरा ताड़ने वाला। वैसे अश्विन भी पोषण करने वाले हैं, यह अर्थ है। तुर्फरीतू=मारने वाले। 'नैतोशेव तुर्फरी फर्फरीका'=नितोश की सन्तान नैतोश। नैतोश की न्याईं। तुर्फरी = जल्दी मारने वाले। 'उदन्यजेव' = पानीमें उपजे दो रत्नों की न्याईं, वा चन्द्रमा की न्याईं। जेमने = जयशील। मदेरू = सदा प्रसन्न। इस जेर से उत्पन्न हुए। शरीरं= नाश होने वाले को। अजीर्ण (अजर) बनावें। अब यह (अगली) सोम की (अतिस्तुति) है। ५।

"तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।तरत्स मन्दी धावति" ॥ तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति धावति गच्छत्यूर्ध्वां गतिम् । धारा सुतस्यान्धसः । धारयाभिषुतस्य सोमस्य मन्त्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य । अथैषा यज्ञस्य ॥ ६ ॥

वह स्तोता तैर जाता है निचोड़े हुए ( सोम ) अन्न की धारा से दौड़ता है, तैरजाता है वह स्तोता दौड़ता है ( ९।५८।१) तैर जाता है वह सारे पाप को । मन्दी = जो स्तुति करता है। दौड़ता है = ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है । 'धारासुतस्यान्धसः' निचोड़ हुए = मन्त्र से छाने हुए = वाणी से स्तुति किये हुए सोम की धारा से । अब यह ( अगली ) यज्ञ की ( अति स्तुति है । ६ ।

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश" ॥ चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्तास्त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभोरोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेन मृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति । महो देव इत्येष हि महान्देवो यद्यज्ञो मर्त्या आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ७ ॥

चार इस ( यज्ञ ) के सींग हैं, तीन पाद हैं, दो सिर हैं, और सात इसके हाथ हैं । तीन प्रकार से बांधा हुआ यह बरसने वाला, ऊंचा शब्द करता है, यह बड़ा देव मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है ( ४।५८।३ ) चार सींग, वेद कहे हैं ( मुख्य अंग होने

से )। तीन इस के पाओं तीन सवन हैं ( प्रातः, माध्यन्दिन और सायं सवन, गति के साधन होने से पाओं हैं )। दो सिर प्रायणीय और उदयनीय हैं। सात हाथ सात छन्द हैं। तीन प्रकार से बांधा हुआ अर्थात् मन्त्र ब्राह्मण और कल्प ( यज्ञ पद्धति ) से बांधा हुआ। ( कामनाओं का ) बरसने वाला ऊंचा शब्द करता है। ऊंचा शब्द करना इसका सवनों के क्रम से है, ऋचाओं से यजुओं से और सामों से। क्योंकि ऋचाओं से इसके शस्त्र पढ़ते हैं, यजुओं से यजन करते हैं, सामों से स्तोत्र पढ़ते हैं। बड़ा देव = यही बड़ा देव है जो यह यज्ञ है। मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है, यही मनुष्यों में प्रविष्ट होता है यजन के लिये। अगली ( ऋचा ) इस के अधिक खोलने के लिये है ॥ ७ ॥

"स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे" ॥ स्वर्गच्छन्त ईजाना वा नेक्षन्ते तेऽमुमेव लोकं गतवन्तमीक्षन्तमिति। आ द्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इति। अथैषा वाचः प्रवल्हितेव ॥ ८ ॥

जो उत्तम विद्वान् सब ओर धारावाले यज्ञ को फैलाते हैं, वह स्वर्ग को जाते हुए ( इधर उधर ) नहीं देखते हैं, ( सीधा ) द्यौ पर चढ़ते हैं द्यावा पृथिवी की सहायता से ॥ स्वर्ग को जाते हुए, वा ( प्रकाश को प्राप्त हुए = ) यजन करने वाले। नहीं देखते हैं, वह उसी लोक में गये हुए द्रष्टा को। द्यौ पर

चढ़ते हैं' द्यावापृथिवी से । यज्ञ को जो । विश्वतोधारं = सब ओर धारा वाले को, उत्तम विद्वान् फैलाते हैं। अब यह (अगली) वाक् की पहेली सी है ॥ ८ ॥

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति"॥ चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनो गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते । गुहा गूहतेस्तुरीयं त्वरतेः । कतमानि तानि चत्वारि पदानि । ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः । मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः । ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः । सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके । पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः । अथापि ब्राह्मणं भवति सा वै वाक्सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नावथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुस्तस्माद् ब्राह्मणा

उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणामिति । अथैषाक्षरस्य ॥ ९ ॥

( सम्पूर्ण ) वाक् के चार पद गिने गए हैं ( पांचवां पद कोई नहीं ) उनको समझते हैं जो मेधावी ब्राह्मण हैं । (इस के) तीन ( पद ) गुफा में दबे हुए नहीं प्रकाशते हैं, वाक् के चौथे भाग को मनुष्य बोलते हैं ( १।१६४।५ ) चार वाक् के गिने गए हैं पद, उन को समझते हैं ब्राह्मण जो मेधावी हैं, गुफा में तीन दबे हुए अर्थ को नहीं जितलाते हैं । गुहा, गुह (भ्वा०उ०) से । तुरीयं, त्वर (भ्वा० आ०) से है । कौन है वह चार पद ? ( इसका उत्तर बहुतों ने अपने २ मतानुसार दिया है सो दिखलाते हैं ) ओंकार और महाव्याहृतियें ( भूः भुवः स्वः ) यह आर्ष मत है । नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात यह वैयाकरण ( मानते हैं )। मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और चौथी लौकिकी है, यह याज्ञिक (मानते हैं ) । ऋचाएं, यजु, साम और चौथी लौकिकी है, यह नैरुक्त ( मानते हैं ) । सांपों की वाक्, पक्षियों की, छोटे २ रींगने वालों की और चौथी व्यावहारिकी है, यह भी कई ( मानते हैं ) । ( ग्राम्य– ) पशुओं में, पक्षियों में, मृगों ( वनपशुओं ) में और अपने आप ( मनुष्य ) में यह आत्मवाद है । किञ्च ब्रह्मण है ( इस विषय में, कि ) वह वाक् रचित हुई चार प्रकार से फैली, इन्हीं लोकों ( पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ) में तीन, चौथी पशुओं में । जो पृथिवी में है, वह वह है, जो अग्नि में है, वही रथन्तर में है, जो अन्तरिक्ष में है, वह वह है जो वायु में है, वही वामदेव्य साम में है । जो द्यौ में है, वह वह है, जो सूर्य में है, वह बृहत् साम में है, वह

मेघ में है। अब पशुओं में, इन से जो वाक् बढ़कर रही, उसको ब्राह्मण में स्थापन किया। इस कारण से ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाक् को बोलते हैं, जो देवताओं की है ( वैदिक ) और जो मनुष्यों की है ( लौकिक )। अब यह ( अगली ) अक्षर की ( अतिस्तुति ) है ॥ ९ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति विदुष उपादिशति। कतमत्तदेतदक्षरम्। ओमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचश्च ह्यक्षरं परमे व्यवने धीयन्ते नानादैवतेषु च मन्त्रेषु। एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रतीति च ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

ऋचाएं सब से ऊंचे रक्षक में हैं, जिस में सारे देवता स्थित हैं, जो उस ( अक्षर ) को नहीं जानता है, वह ऋचा से क्या करेगा, जो इस को जानते हैं, वही भली भांति स्थित होते हैं ( १।१६४।३९ ) ऋचाएं अक्षर में, सबसे उत्तम रक्षक में, जिस में सारे देवता स्थित हैं। जो उसको नहीं जानता है, वह ऋचा से क्या करेगा, जो इस को जानते हैं, वही भली भांति स्थित हैं, यह (चौथापाद ) विद्वानों को उपदेश करता है ( इसका अधियज्ञ, आधि दैव और अध्यात्म तीन प्रकार का अर्थ क्रमशः

दिखलाते हैं ) कोन सा यह अक्षर है ? ओम् है, यह शाकपूणि मानता है, ऋचाएं इस सर्वोत्तम रक्षक अक्षर ( ओम् ) में स्थित हैं, और नाना देवताओं वाले मन्त्रों में (स्थित) हैं । ओम् सारे मन्त्रों का सार होने से मन्त्र प्रतिपाद्य सब देवता ओम् का वाच्य हैं, यह है यह अक्षर ( ओम् ), जो कि सारी त्रयी विद्या का प्रतिनिधि है, यह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

"आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेरेषग्र्भवति यदेनमर्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणि भूताणि तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि तस्य यदविनाशिधर्म्म तदक्षरं भवतीन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते यान्यस्मिन्नात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मप्रवादाः ॥ ११ ॥

( अधि दैव अर्थ—) आदित्य है ( अक्षर ) यह शाकपूणि का पुत्र ( मानता है ) । यह ऋचा है जिस से इस को पूजते हैं । अलग २ ऋचाएं, सब प्राणधारी हैं ( जो सूर्य के आश्रित हैं ) इस का जो मन्त्रों से अलग स्वरूप है, वह अक्षर है, रश्मियें यहां देवता कहलाती हैं, जो इसके आश्रित हैं, यह अधि दैवत है । अब अध्यात्म ( कहते हैं ) शरीर यह ऋचा कहलाता है, जिस से इसे पूजते हैं, अलग २ ऋचाएं सारे इन्द्रिय हैं, उस का जो अविनाशि धर्म चेतनातत्व है, वह अक्षर है. इन्द्रिय यहां

देवता कहलाते हैं,जो इसके आश्रित हैं,यह आत्मप्रवाद है * ॥११

अक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाक्षरं भवति वाचोऽक्ष इति वा।अक्षो यानस्याञ्जनात्तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादिति । अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो नतु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यमृषेरतपसोवा, पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात् । मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥ १२ ॥

---

* तीनों पक्षों में अलग २ पूरा अर्थ—परम रक्षक अक्षर ( ओंकार ) में सारी ऋचाएं स्थित हैं, जिस ( ओंकार ) में सारे देवता स्थित हैं ( मन्त्रों का निष्कर्ष ओम् होने से मन्त्र प्रतिपाद्य देवता ओम में आजाते हैं ) जो इस अक्षर को नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा, जो इस को जानते हैं, वही भली भांति स्थित हैं (सद्‌गति पाते हैं) ( २ ) ऋचाएं ( सब प्राण धारी ) परम रक्षक अक्षर ( सूर्य ) के आश्रित हैं, जिसके आश्रित सारी किरणें हैं, जो उस सूर्य को नहीं जानता, वह ऋचाओं ( प्राण धारियों ) से क्या करेगा, जो इस को जानते हैं, वही भली भांति स्थित हैं ( ३ ) शरीर परम रक्षक आत्मा में स्थित आत्मा के आश्रित हैं, जिस के आश्रित सब इन्द्रिय हैं, जो उस आत्मा को नहीं जानता,वह इन्द्रियों से क्या करेगा जो इस को जानते हैं, वही भली भांति स्थित हैं।

अक्षर ( किस से ? ) नहीं बदलता है ( न+क्षर से ) अथवा नाश नहीं होता है ( न+क्षि, से ) अथवा वाक् का निवास है (वाक्+क्षय, से) अथवा वाक् का अक्ष होता है। अक्ष (धुरा) छकड़े का ( किस से है ? ) मलने से ( तेलादि से मला जाता है )। उसके स्वभाव वाला दूसरा अक्षर ( स्वर ) है, वर्तने की समानता से, स्वरों पर चढ़े हुए व्यञ्जन रहते हैं ), इस प्रकार यह मन्त्रार्थ सोचने की स्फूर्ति दिखलाई है। चाहे श्रुति ( ब्राह्मण ग्रन्थ ) से (चाहे तर्क से ( मन्त्र का निर्वचन करे ) किन्तु ( प्रकरण से) अलग करके मन्त्रों को न खोले, प्रकरणानुसार ही खोले। इन ( मन्त्रों ) में ( अर्थ ज्ञान का ) प्रत्यक्ष उस को नहीं होता है, जो स्वयं ऋषि न हो, वा तपस्वी न हो। परम्परागत ( अर्थ) के जानने वाले विद्वानों में से अधिक विद्या वाला ( बहु श्रुत ) ही प्रशंसा के योग्य होता है, यह पूर्व ( १।१६ में ) कहा है। पूर्व काल में ऋषियों के उठजाने पर मनुष्य देवताओं से बोले, कौन हम में से ऋषि होगा? उनको उन्होंने यह तर्क ऋषि दिया अर्थात् मन्त्रार्थ विचार का फुरना, इस लिये जो कुच्छ एक पूर्ण देवज्ञ तर्कना करता है, वह आर्ष होता है ॥ १२ ॥

"हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे" हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते समानख्याना ऋत्विजोऽत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिरोहब्रह्माण ऊहब्रह्माण ऊह एषां ब्रह्मेति वा। सेयं विद्या श्रुतिमति-

बुद्धिः तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यं तदिदमायुरि-
च्छता न निर्वक्तव्यं तस्माच्छन्दस्सु शेषा उपेक्षित-
व्याः । अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्या-
स्ताद्भाव्यमनुभवत्युनुभवाति ॥१३॥

(स्वयं वेद भी इस विषय को कहता है) हृदय (बुद्धि) से सूक्ष्म किये हुए मन के वेगों (विचारों) में जब ब्राह्मण (वेदज्ञ) साथी हुए मिलकर यजन करते हैं, वहां (ब्राह्मण समुदाय में) जानने योग्य (प्रवृत्तियों) से एक को पीछे छोड़ते हैं, और दूसरे फुरने वाले (सब बातों में बराबर) पहुंचते हैं, १०।७१।८) हृदय से सूक्ष्म किये हुए मन के वेगों में जब ब्राह्मण मिलकर यजन करते हैं, समान ख्याति वाले ऋत्विज् । वहां एक (अल्पश्रुत) को वेद्याभिः=जानने योग्य प्रवृत्तियों से (पीछे छोड़ते हैं) । ओह ब्राह्मणः=तर्क से वेदज्ञ, अथवा तर्क (तर्क से जानने योग्य) है वेद इनका । सो यह विद्या (वेद विद्या) श्रुति मति बुद्धि है (श्रुति तर्क और बुद्धि से जानने योग्य है) तप से इसका पार पाने की इच्छा करनी चाहिये । इस लिये आयु चाहने वाले को यह (शास्त्र विना तपके) नहीं खोलकर कहना चाहिये (क्योंकि वह तत्व को नहीं पा सकता है) । इसी से (पूरा जानने के लिये इस शास्त्र में दिये) छन्दों में शेष (मन्त्र शेष और प्रकरण के लिये सूक्त शेष) जानने चाहिये ।अब आगम है (निरुक्त शास्त्र का फल बोधक) 'जिस २ देवता का निर्वचन करता है, उस २ के ऐश्वर्य को अनुभव करता है अनुभव करता है ॥ १३ ॥

---

# चतुर्दशोऽध्यायः ।

## द्वितीय परिशिष्टम् *

व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च । अथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः । सूर्य आत्मेत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा । अथैतदनुप्रवदन्त्यथैतं महान्तमात्मानमेषर्गणः प्रवदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरिति । अथैष महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाचाग्निरस्मि जन्मना जातवेदा अहमस्मि प्रथमजा इत्येताभ्याम् ॥ १ ॥

व्याख्या किया गया है दैवत प्रकरण और यज्ञांग ( अतिस्तुति ) प्रकरण । अब आगे ऊर्ध्वगति मार्ग बतलाएंगे । 'सूर्य आत्मा' है (१।१।१५।१) क्योंकि हर एक जन्मे हुए के कर्मों का साक्षी है । इसका प्रवचन करते हैं ( मन्त्रों से ) इस महान् आत्मा को यह ऋग् समुदाय बतलाता है 'इन्द्र, मित्र, और वरुण कहते हैं' ( १।१६४।४६ ) यह महान् आत्मा आत्मजिज्ञासा से अपना प्रवचन करता है 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः' 'अहमस्मि प्रथमजाः' इन दो ऋचाओं से ॥ १ ॥

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् । अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो

---

* इस परिशिष्ट का पाठ बहुत स्थानों में संदिग्ध है । कथञ्चित् व्याख्यान किया है ।

धर्मो हविरस्मि नाम"॥ "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः। यो मा ददाति स इदेव मावा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" ॥ इति स ह ज्ञात्वा प्रादुर्बभूवैवं ते व्याजहारायंतमात्मानमध्यात्म-जमन्तिकमन्यस्मा आचचक्षेति ॥ २ ॥

'मैं अग्नि हूं जन्म से ही उत्पन्न हुए ज्ञान वाला (स्वाभाविक ज्ञान वाला) हूं, घृत (प्रकाशक ज्वालाओं का जनक होने से) मेरा नेत्र ( स्थानी ) है, अमृत ( अविनाशि ज्योति ) मेरे मुख में है। तीन अवयवों वाला ( प्राण, अपान, व्यान रूप से वर्तमान ) प्राण मैं हूं, अन्तरिक्ष का मापने वाला ( वायु ) मैं हूं, निरन्तर ताप देने वाला ( सूर्य ) मैं हूं, जो नाम हवि है, सो मैं हूं (अर्थात् अग्नि वायु आदि समस्त जगत् का आश्रय हूं ) ( ३।२६।७ ) "मैं ऋत ( सत्य = मूर्त अमूर्त जगत् ) का प्रथमजा (बड़ा भाई) हूं, देवताओं से पहले मैं अमृत का नाभि ( केन्द्र ) हूं। जो मुझे देता है ( मेरे विषय में मनुष्य की जो भूल है उसे दूर करता है ) वही मेरी रक्षा करता है, मैं अन्न हूं, अन्न खाते हुए को खाता हूं ( तै० उ० भृगुव० १० ) निःसंदेह वह जानकर प्रकट हुआ, इस प्रकार उस को बतलाया, यह उस आत्मा को अध्यात्म में अपने निकटवर्ती अन्य को बतलाता है ॥ २ ॥

"अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः" ॥ आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तरिस्य-

थैष महानात्मा सत्वलक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं तदरसं तद्गन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रं तज्ज्ञानात्क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकम्। अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति सत्वं रजस्तम इति। सत्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठत्यभितो रजस्तमसी। रज इति कामद्वेषस्तम इत्यविज्ञातस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते प्रतिभातिलिङ्गो महानात्मा तमोलिंगो विद्या प्रकाशलिंगस्तमोऽपि निश्चयलिङ्ग आकाशः ॥३॥

मैं ने देखा है उस को रक्षा करने वाला, नीचे न गिरने वाला, ( *आकाश–* ) *मार्गों से सम्मुख आता हुआ और परे* जाता हुआ, वह सीधी और तिरछियों ( दिशाओं और कोणों ) को पहने हुए सारे भुवनों के अन्दर बार २ घूमता है(१।१६४। ३१;१०।१७७।३ ) भुवनों के अन्दर बार २ घूमता है (कौन?) यह महान् आत्मा सत्त्व स्वरूप ( महत् तत्त्व ), वह पर है, वह ब्रह्म ( बड़ा ) है, वह सत्य है, वह सलिल ( एक रूप है ) वह अव्यक्त ( अ प्रकट ) है, वह अस्पर्श है, वह अरूप है, वह अरस है, वह अगन्ध है, वह अमृत है, वह शुक्र है. उस पर सहारा लिये है भूतात्मा ( शरीर ), यह सब भूतों की प्रकृति है, यह कई कहते हैं। वह क्षेत्र है, उस के ज्ञान से क्षेत्रज्ञ ( जीवात्मा ) को प्राप्त होकर निरात्मक ( स्वयं आत्मा, न कि शरीर

वत् सात्मक ) होता है ( अर्थात् प्रकृति को जान कर जीवात्मा को जानता है )। यह महान् आत्मा तीन प्रकार का है, सत्त्व, रजस्, तमस्। इन में से सत्त्व शुद्धस्वरूप मध्य में ठहरता है, दोनों ओर उस के रजस् तमस् ठहरते हैं। रजस् कामना है, तमस् द्वेष है * ॥ ३ ॥

आकाशगुणः शब्द आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेनाद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन पृथिव्या भूत ग्रामस्थावरजंगमास्तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति।तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नंगानि प्रत्याहरति भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति पृथिव्यप आपो ज्योतिषं ज्योतिर्वायुं वायुराकशमाकाशो मनो मनो विद्यां विद्या महान्तमात्मानं महानात्मा प्रतिभां प्रतिभा प्रकृतिं सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः। तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्त्तते स कालस्तदेतदहर्भवति ॥ युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ॥ रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः इति ॥ ४ ॥

आकाश का गुण शब्द है, आकाश से वायु, दो गुणों वाला स्पर्श से, वायु से तेज तीन गुणों वाला—रूप से, तेज से जल चार गुणों वाला—रस से, जलों से पृथिवी पांचगुणों वाली—गन्ध

* अविज्ञातस्य इत्यादि का अर्थ समझ में नहीं आता है।

से । पृथिवी से प्राणि समूह स्थावर जंगम जो है, सो यह एक (ब्राह्म) दिन अर्थात् सहस्र (दैव-) युग जागता है, उसके अन्त में सोने लगा अंगों को समेटता है, तब प्राणि समुदाय पृथिवी में लीन होते हैं, पृथिवी जलों में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश मन में, मन ज्ञान में, ज्ञान महान् आत्मा में, महान् आत्मा प्रतिभा में, प्रतिभा प्रकृति में, वह (प्रकृति) सोती है सहस्र युग (वा सारी ब्राह्मी) रात । यह दिन रात लगातार घूमते रहते हैं, यह काल है । यह दिन है । सहस्र युग ब्रह्मा का दिन जानते हैं, सहस्र युग पर्यन्त रात जानते हैं, वह दिन रात के जानने वाले हैं ॥ ४ ॥

तं परिवर्त्तमानमन्योऽनुप्रवर्त्तते स्रष्टा द्रष्टा विभक्तातिमात्रोऽहमिति गम्यते समिथ्यादर्शनेदं पावकं महाभूतेषु चिरोण्वाकशाद्वायोः प्राणश्चक्षुश्च वक्तारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्त्तिः। पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान्विद्यात्त्रीन्मातृतस्त्रीन्पितृतोऽस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसशोणितानि मातृतोऽन्नपानमित्यष्टौ सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः ॥ ५ ॥

उस (दिनरात) के घूमने के साथ दूसरा (जीव) घूमता है, जो (अपने कर्मों द्वारा) रचने वाला (शरीर आदि का) देखने वाला, बांटने वाला, मात्राओं से परे, 'मैं' इस प्रकार जाना जाता है, वह मिथ्या ज्ञान से महाभूतों में लिप्त आकाश से अवकाश, वायु से प्राण, तेज से नेत्र और वाक्, जलों से स्नेह और पृथिवी से (ठोस) मूर्ति (को पाता है)। आठ

पार्थिव गुणों को जाने, जिन में से तीन पिता से आते हैं, हड्डी, नाड़ी और चर्बी, तीन माता से त्वचा, मांस और रुधिर। और अन्न और पान यह आठ हैं। सो यह पुरुष सर्वमय ( मनुष्य पशु पक्षि सरीसृप ओषधि वनस्पति आदि स्थावर जंगम सारे शरीरों वाला ) और ( देखना सुनना आदि ) सारे ज्ञानों वाला माना गया है ॥ ५ ॥

स यद्यनुरुध्यते तद्भवति । यदि धर्मोनुरुध्यते तद् देवो भवति, यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति, यदि काममनुरुध्यते संच्यवते । इमां योनिं सन्दध्यात्तदिदमत्र मतम् । श्लेष्मा रेतसः सम्भवति, श्लेष्मणो रसो, रसाच्छोणितं,शोणितान्मांसं,मांसान्मेदो मेदसः स्नावा स्नाव्नोऽस्थीनि,अस्थिभ्यो मज्जा,मज्जातो रेतस्तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति । शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति, द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति, शुक्रभिन्नेन यमो भवति, शुक्रशोणितसंयोगान्मातृपितृसंयोगाच्च । तत्कथमिदं शरीरं परं संयम्यते, सौम्यो भवति । एकरात्रोषितं कललं भवति, पंचरात्राद् बुद्बुदाः, सप्तरात्रात् पेशी द्विसप्तरात्रादर्बुदः,पंचविंशतिरात्रःस्वस्थितो घनो भवति, मासमात्रात्कठिनो भवति द्विमासाभ्यन्तरे शिरः सम्पद्यते, मासत्रयेण ग्रीवाव्यादेशो

मासचतुष्केण त्वगव्यादेशः पञ्चमे मासे नखरोमव्यादेशः षष्ठे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रं च सम्भवति सप्तमे चलनसमर्थो भवति, अष्टमे बुद्ध्याध्यवस्यति नवमे सर्वांगसम्पूर्णो भवति ॥

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः । नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः । मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।सांख्यं योगं समभ्यस्येत्पुरुषं वा पञ्चविंशकम्" इति ॥ ततश्च दशमे मासे प्रजायते । जातश्च वायुना स्पृष्टस्तन्न स्मरति जन्ममरणम् । अन्ते च शुभाशुभं कर्मैतच्छरीरस्य प्रामाण्यम्

वह यदि कामना वाला होता है, तो ( तदनुकूल ) बन जाता है, यदि धर्म की कामना वाला होता है, तो देवता बनता है, यदि ज्ञान की कामना वाला होता है, तो अमृत होता है, यदि विषयों की कामना वाला होता है, तो गिर जाता है । इस योनि को ऐसा समझे, यह इस विषय में मत है, कि वीर्य से श्लेष्मा ( कफ ) होता है, श्लेष्मा से रस, रससे रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस् ( चर्बी ) मेदस् से स्नावा ( नाड़ी ), स्नावा से हड्डियें, हड्डियों से मज्जा, मज्जा से वीर्य, यह वीर्य योनि में सेचन किया हुआ पुरुष बनता है । वीर्य की अधिकता में

नर होता है, रुधिर की अधिकता में नारी होती है, दोनों की समता में नपुंसक होता है, वीर्य के भेद से जोड़ा होता है, माता पिता के संयोग से रुधिर वीर्य के संयोग से कैसे यह शरीर आगे बनता है। पहले सौम्य होता है, एक रात रहकर कलिल ( मिश्रित ) होता है, पांच रात से बुद्बुदे होते हैं, सात रात से पेशी ( बोटी ) होती है, दो सप्ताह में अर्बुद ( लोथड़ा ) पच्चीस रातों में घन, महीने से काठिन, दो महीने के अन्दर सिर बनता है, तीन महीने से ग्रीवा का विभाग होता है, चार महीने से त्वचा का विभाग होता है, पांचवें महीने नख रोमों का विभाग होता है। छटे मुख नासा नेत्र श्रोत्र उत्पन्न होता है, सातवें चलने के समर्थ होता है, आठवें बुद्धि से निश्चय करता है, नवें सर्वांग सम्पूर्ण होता है॥ मैं मरा और फिर जन्मा और फिर मरा, नाना प्रकार की सहस्रों योनियों में मैंने वास किया अनेक प्रकार के आहार भोगे, नाना प्रकार के स्तन पिये, बहुत प्रकार के माता पिता और सुहृद देखे॥ ( गर्भ में ) जीव नीचे मुख किये हुए पीड़ित हुआ सांख्य योग का और ( तत्त्वों में ) पचीसवां जो पुरुष है; उस का अभ्यास करता है॥ तब दसवें महीने उत्पन्न हुआ जब वायु से स्पर्श किया जाता है, तो फिर उस जन्म मरण को नहीं स्मरण करता है। अन्त में शुभाशुभ कर्म ( उसका साथी होता है ) यह शरीर का प्रामाण्य है। ६।

अष्टोत्तरं सन्धिशतमष्टाकपालं शिरः सम्पद्यते, षोडश वपापलानि नव स्नायुशतानि सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणामर्धचतस्रो रोमाणि कोट्यो हृदयं ह्यष्ट-

कपालानि द्वादशकपालानि जिह्वा वृषणौ ह्यष्टसुपर्णौ तथोपस्थगुदपाय्वेतन्मूत्रपुरीषं कस्मादाहारपानासिक्तत्वादनुपचितकर्माणावन्योन्यं जयेते इति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च महत्यज्ञानतमसि मग्नो जरामरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोहमदभयमत्सरहर्षविषादेर्ष्यासूयात्मकैर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्मादार्जवजवीभावानां तन्निर्मुच्यते सोऽस्मायान्तं महाभूमिकावच्छरीरान्निमेषमात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय तस्य संक्षये पुनरिमंल्लोकं प्रतिपद्यते ॥७॥

एक सौ आठ जोड़ होते हैं. आठ कपालों वाला सिर बनता है, नौसौ स्नायु होते हैं. एक सौ सात पुरुष के मर्म होते है, साढ़े चार करोड़ रोम, हृदय, जिह्वा, दो वृषण आठ पर्वों वाला, तथा उपस्थ, गुदा यह मूत्र मल (के इन्द्रिय)। (जन्म में) उस को उपासना कर्म और पूर्व प्रज्ञा सहारा देते हैं, वह अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ जरा मरण भूख प्यास शोक क्रोध लोभ मोह मद भय मात्सर्य हर्ष विषाद ईर्ष्या असूया रूप द्वन्द्वों से दबाया हुआ, वह इस से सरलता के तीन भावों के सहारे छूटता, है वह (नट से ग्रहण की हुई) भूमिका की न्याई शरीर से निमेषमात्र से तैजस शरीर करके कमाई के अनुरूप फल भोग कर उस के नाश में फिर इस लोक को प्राप्त होता है। ७।

अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्ते-

पिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्द दक्षिणायनं दक्षिणायनात्पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेरोषधयश्चैतद्भूत्वा तस्य संक्षये पुनरिमँल्लोकं प्रतिपद्यते ॥

अब जो हिंसा का आश्रय ले विद्या (आत्मसाक्षात) को छोड़ कर बहुत तप तपते हैं, वा देर तक वेदोक्त कर्म करते हैं, वह धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन को, दक्षिणायन से पितृलोक को पितृ लोक से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से वायु, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से ओषधियों को, यह सब होकर उस के नाश में फिर इस लोक को ही प्राप्त होता है । ८ ।

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषेऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद् देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान् मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति ते न पुनरावर्त्तन्ते । शिष्टा दन्दशूका यत इदं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यम् । अथाप्याह ॥ ९ ॥

और जो हिंसा को त्याग कर विद्या का आश्रय ले बड़ा तप तपते हैं वा ज्ञानकाण्डोक्त कर्म करते हैं, वह अर्चि (ज्वाला) को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तारायण को, उत्तरायण से देवलोक को, देवलोक से सूर्य को, सूर्य से विद्युत् को, विद्युत् से मानस (लोक) को, मानस पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, वह फिर नहीं लौटते हैं, शेष (दोनों मार्गों से भ्रष्ट) दन्दशूक (सर्पआदि) होते हैं, क्योंकि वह इसको नहीं जानते, इसलिये इसको जानना चाहिये। किञ्च कहा भी है। ९।

"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं वभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशा-सश्चरन्ति" ॥ न तं विद्यया विदुषो यमेवं विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिमन्यद्युष्माकमन्तरमन्यदेषाम-न्तरं वभूवेति नीहारेण प्रावृतास्तमसा जल्प्या चासुः तृप उक्थशासः प्राणं सूर्यं यत्पथगामिनश्चरन्ति। अविद्वांसः क्षेत्रज्ञमनुप्रवदन्ति। अथाहो विद्वांसः क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते तस्य तपसा सहाप्रमादमत्यथाप्तव्यो भवति तेनासंततमिच्छेत्तेन सख्यमिच्छेदेष हि सखा श्रेष्ठः सञ्जानाति भूतं भवद्भविष्यदिति। ज्ञाता कस्मा-ज्ज्ञायतेः सखा कस्मात्सख्यतेः,सह भूतेन्द्रियैः शेरते महाभूतानि सेन्द्रियाणि,प्रज्ञया कर्म कारयतीति वा।

तस्य यदापःप्रतिष्ठाशीलमुपशम आत्मा ब्रह्मेति स ब्रह्म-
भूतो भवति साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठतेऽबन्धो ज्ञानकृतः॥
अथात्मनो महतः प्रथम भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः

जिसने इन ( भुवनों ) को उत्पन्न किया है, वह तुम्हारे अन्दर तुमसे अलग है, पर तुम उसको नहीं जानते हो, क्योंकि तुम कुहर ( अविद्या ) से ढपे हुए, कहने मात्र से ढपे हुए ( परोपदेश कुशल), प्राणों में तृप्त ( न कि आत्मा के प्यासे ) और उक्थ कहने वाले ( निरे स्तोत्र पढ़ने वाले ) बन कर विचरते हो ( १०।८२।७) तुम उसको विद्या से नहीं जानते हो, जिसको विद्वान् अविनाशी और वेद का पति कहते हैं । वह तुम्हारे अन्दर तुमसे अलग है, इन सबके अन्दर अलग है, कुहर से= अन्धेरे से ढके हुए, और कहने मात्र से, प्राणों में तृप्त होने वाले, और उक्थ के कहने वाले । अब महत् जो पहला प्रादुर्भाव है उसके नाम अनुक्रम से कहेंगे ।१०।

"हंसः । घर्मः । यज्ञः । वेनः । मेधः । कृमिः । भूमिः । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । राभुः । वधकर्मा । सोमः । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । यशः । महः । स्वर्णीकम् । स्मृतीकम् । स्वृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् गह्वरम् । कम् । अन्नम् । हविः । सद्म । सदनम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्ययोनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् ।

बर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । तपः । तेजः । सिन्धुः । अर्णवः । नाभिः । वृक्षः । ऊर्ध्वः । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हंसः । आत्मा । भवति । बधन्त्यध्वानम् । यद्वाहिष्या । शरीराणि । अव्ययं च संस्कुरुते । यज्ञः । आत्मा । भवति । यदेनं तन्वते ॥ अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचोऽनुप्रवदन्ति*

"सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः" ॥ सोमः पवते सोमः सूर्यः प्रसवनाज्जनिता मतीनां प्रकाशकर्मणामादित्यरश्मीनां दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनां पृथिव्याः प्रथनकर्मणामादित्यरश्मीनामग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां सूर्यस्य स्वीकरणकर्मणामादित्यरश्मीनामिन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनां विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनामित्यधिदैवतम् । अथा-

* यह सब नाम हैं. अथैतं का अर्थ-और इस महान् आत्मा को यह सूक्त और यह ऋचाएं प्रवचन करती हैं ।

ध्यात्मं सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १२ ॥

सोम झरता है जो मतियों का जनक, द्यौ का जनक, पृथिवी का जनक अग्नि का जनक, सूर्य का जनक, इन्द्र का जनक, और विष्णु का जनक है (९।९६।५)। सोम सूर्य है, प्रेरने से, उत्पन्न करने वाला, मतीनां=प्रकाश करने वाली सूर्य की रश्मियों का। दिवः=प्रकाश करने वाली सूर्य की रश्मिओं का, पृथिव्याः=फैलने वाली सूर्य की रश्मियों का, अग्नेः=गति कर्म वाली सूर्य की रश्मियों का। इन्द्रस्य=ऐश्वर्य कर्म वाली सूर्य की रश्मियों का, विष्णोः=व्यापने वाली सूर्य की रश्मियों का, यह अधि दैवत है। अब अध्यात्म ( कहते हैं ) सोम आत्मा है इसीसे (प्रेरने से )। इन्द्रियों का जनक अथवा सारी विभूतियों ( मति की जनकता आदि ) से विभूततम है आत्मा, इस प्रकार आत्म गति को कहता है। १२।

"ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् । श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्" ॥ ब्रह्मा देवानामित्येष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामादित्यरश्मीनां पदवीः कवीनामित्येष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनामृषिर्विप्राणामित्येष हि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनां महिषो मृगा-

णामित्येष हि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणा-
मादित्यरश्मीनां श्येनो गृध्राणामिति श्येन आदित्यो
भवति श्यायतेर्गतिकर्मणो गृध्र आदित्यो भवति
गृध्यतेः स्थानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति स्वधिति-
र्वनानामित्येष हि स्वयं कर्माण्यादित्यो धत्ते वनानां
वननकर्मणामादित्यरश्मीनां सोमः पवित्र मत्येति
रेभन्नित्येष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमान एष
एवैतत् सर्वमक्षरमित्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं ब्रह्मा
देवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणा-
मिन्द्रियाणां, पदवीः कवीनामित्ययमपि पदं वेत्ति
कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणामृषिर्विप्राणामि-
मित्ययमपि ऋषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणा-
मिन्द्रियाणां महिषो मृगणामित्ययमपि महान्भवति
मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां,श्येनो गृध्राणामि-
ति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणो गृध्राणी-
न्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति
स्वधितिर्वनानामित्ययमपि स्वयकर्माण्यात्मनि धत्ते
वनानां वननकर्मणामिन्द्रियाणां सोमः पवित्रमत्येति
रेभन्नित्ययमपि पवित्रमिन्द्रियाण्यत्येति स्तूयमानोऽय-
मेवैतत्सर्वमनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १३ ॥

सोम देवताओं में ब्रह्मा है, कवियों में पदवी, विप्रों में ऋषि, मृगों में महिष, गृध्रों में श्येन, वनों में स्वधिति है, वह शब्द करता हुआ पवित्र को उलांघ जाता है ( ९।९६।६ ) यही ब्रह्मा है। देवानां=प्रकाश करने वाली सूर्य की रश्मियों का, यही पद का जानने वाला है, कवीनां=शब्द करने वाली सूर्य की रश्मियों का, यही गति वाला है, विप्राणां=व्यापने वाली सूर्य की रश्मियों का, यही महिष=महान् है, मृगाणां=ढूंढने वाली सूर्य की रश्मियों का, श्येन=सूर्य है, गति अर्थ वाले श्यै (भ्वा०आ०) से। गृध्र सूर्य होता है स्थिति अर्थ वाले गृध्यति से, जिस लिये इस के आश्रय ठहरता है, ( जगत् )। स्वधिति सूर्य होता है, क्योंकि स्वयं कर्मों को धारता है, वनानां=सेवने वाली सूर्य की रश्मियों का, सूर्य पवित्र है, रश्मियों का, उलांघ जाता है स्तुति किया हुआ। यही यह अक्षर है, यह अधिदैवत है। अब अध्यात्म ( कहते हैं )— (अध्यात्म में सूर्य के स्थान आत्मा और रश्मियों के स्थान इन्द्रिय लगाते जाएं अर्थ अधिदैवतवत् )।१३।

"तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः" ॥ वह्निरादित्यो भवति स तिस्रो वाचः प्रेरयत्यृचो यजूंषि सामान्यृतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतान्येष एवैतत्सर्वमक्षरमित्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मं वह्निरात्मा भवति स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमतां

मृतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतान्ययमेवैतत्समनु-
भवत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १४ ॥

वन्हि ( सूर्य वा आत्मा ) तीन वाणियों ( ऋचा, यजु, साम) वा विद्या मति बुद्धि ( को प्रेरता है, ऋत ( सूर्य वा आत्मा ) के कर्मों का और वेदके ज्ञानों को प्रेरता है, गौएं (रश्मियें वा इन्द्रिय) गोपति ( सूर्य वा आत्मा ) को पूछती हुई प्राप्त होती हैं। कामना करती हुई मतियें ( स्तोत्र वा ज्ञान ) सोम ( सूर्य वा आत्मा ) को प्राप्त होते हैं ( ९।९७।३४ ) * । १४ ।

"सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः । सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमं अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते" ॥ एत एव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामयमाना आदित्यं यन्त्येवमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमाना कामयमाना आदित्यं यन्त्येवमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमान एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च सन्नवन्ते तत एतस्मिन्नादित्य एकं भवन्तीत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्ममेत एव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्त्येवमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छमानानि काम-

* अधिदैवत और अध्यात्म भेदसे दो अर्थ किये हैं, पहला अधिदैवत, दूसरा अध्यात्म, निरुक्त इसका इसीमें चरितार्थ है। इसी प्रकार आगे जानो ॥

यमानान्यात्मनं यन्त्येवगेव सोमः सुतःपृय्येतअज्य-मान इममेवात्मा च सप्त ऋषयश्च सन्नवन्ते तान्ये-तस्मिन्नात्मन्येकं भवन्तीत्यगतिमाचष्टे ॥१५॥

चाह से भरी हुई दुधारू गौएं ( रश्मियें वा इन्द्रिय ) सोम ( सूर्य वा आत्मा ) को प्राप्त होते हैं। सोम को विप्र ( रश्मियें वा इन्द्रिय ) बुद्धिमानों से पूछते हुए प्राप्त होते हैं, सोम रस निचोड़ा हुआ और सेचन किया हुआ ( इसी सूर्य वा आत्मा को ) प्राप्त होता है, सोम ( सूर्य वा आत्मा ) में त्रिष्टुभ् मन्त्र सारे ( वा सात ऋषि) एक होते हैं ( ९।०७।३५)। १५।

"अक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः"॥ अत्यक्रमीत्समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यधिदैवतम्। अथाध्यात्ममत्यक्रमीत्समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

भुवन का राजा समुद्र (सूर्य) वर्षा से प्रजा को उत्पन्न करता हुआ मुख्य रक्षक ( द्यौ ) में चला, वह ( कामनाओं का ) बर-साने वाला, इन्दु ( ऐश्वर्य वाला ) सोम ( प्रेरक सूर्य जगत को)

प्रेरता हुआ रक्षा करने वाला पवित्र चोटी के ऊपर बहुत बढ़ा ( यह अधि दैवत है ) ( और यह अध्यात्म है ) सब का राजा समुद्र ( आत्मा, ज्ञान द्वारा ) प्रजा को उत्पन्न करता हुआ मुख्य रक्षक ( महान् आत्मा ) में चला, वह बरसने वाला इन्द्र, सोम (इन्द्रियों) को प्रेरता हुआ रक्षा करने वाली पवित्र चोटी (महान् आत्मा) के ऊपर बहुत बढ़ा (आत्मगति को पहुंचा—९।९७।४०)

"महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् । अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः" ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवानामाधिपत्यमदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुरादित्य इन्दुरात्मा ॥

उस महान् प्रेरक ने यह बड़ा काम किया, कि जलों का गर्भ होकर ( सूर्य पक्ष में प्रकृति से निकल कर, आत्मपक्ष में, शुक्रशोणित द्वारा प्रकट होकर ) देवताओं ( के आधिपत्य ) को स्वीकार किया, पवित्र होकर इन्द्र में उसने बल दिया, ऐश्वर्य वाले ने सूर्य में ज्योति को उत्पन्न किया(९।९७।४१)।१७।

"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार । देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः"॥ विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति सद्यो म्रियते स दिवा समुदितेत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं महान्तं

पलित आत्मा गिरति रात्रौ म्रियते रात्रिः समुदिते-त्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १८ ॥

कंपाने वाले, युद्ध में बहुतों को दमन करने वाले, युवा होते हुए ( पूर्ण हुए चन्द्र ) को, वृद्ध ( सूर्य ) निगलता[1] है, देव के बड़े सामर्थ्य को देखो, वह ( सूर्य ) आज मरता है, ( अस्त होता है ) कल फिर जीने लगता है ( यह अधि दैवत है, अब अध्यात्म कहते हैं ) कंपाने वाले, युद्ध में ( नित्य के देवासुर संग्राम में ) बहुतों को दमन करने वाले, युवा होते हुए ( इन्द्रिय ग्राम ) को वृद्ध ( आत्मा ) निगलता है। देव ( आत्मा ) की महिमा को देखो, वह आज मरता है ( रात को ) कल फिर जीता है ( १।०५५।५ ) । १८'।

"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति । तेषा मिष्टानि विहितानि धामशःस्था-त्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः" ॥ सहजातानां षण्णा-मृषीणामादित्यः सप्तमः स्तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्यो-तींषि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्य-धिदैवतम् । अथाध्यात्मं सहजातानां षण्णामिन्द्रिया-णामात्मा सप्तमस्तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्ता-नि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वान्नेन सह

सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥

इकट्ठे उत्पन्न हुओं में, सातवें को अकेला उत्पन्न हुआ कहते हैं। देवता से उत्पन्न हुए छः ऋषि जोड़े हैं। उनके प्यारे रूप अपने २ स्थान में रक्खेगए हैं, यह भिन्न २ आकारों वाले ठहरे हुए के लिये अलग २ रूप से कांपते हैं (१।१६४।१५) साथ उत्पन्न हुए वा अभिमत वा झुके हुए। जलके साथ आनन्द मनाते हैं, जहां सात ऋषि=नक्षत्र, उन से परे सूर्य उसमें यह एक होते हैं, यह अग्नि दैवत हैं। अब अध्यात्म कहते हैं साथ उत्पन्न हुए छः इन्द्रियों में आत्मा सातवां है, उन के इष्ट अन्न के सात आनन्दित होते हैं, जहां यह सात ऋषि इन्द्रिय, इनसे परे आत्मा, उस में यह एक होते हैं, इस प्रकार आत्मगति को कहता है *१९

"स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत" ॥ स्त्रिय एवेति ताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यस्ता अमुं पुंशब्द-

* इस परिशिष्टपाठ में बहुत गड़बड़ है। 'तपामिष्टानि' से लेकर जो भाष्य लिखा है, वह १०। २६ से उठा कर यहां रखदिया है, जो तेपा मिष्टानि समिपा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्, पर एक माहु' का भाष्य है। यहां व्याख्या तो इस की उस के समान हो सकती थी। किन्तु आगे यहां 'विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः' में से एक अक्षर की व्याख्या नहीं, व्याख्या किसकी करदी 'समिपामयदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एक माहुः' की। क्या कहें परिशिष्ट हो तो है।

निराहारः प्राण इति पश्यन्कष्टान्न विजनात्यन्धः कविर्यः पुत्रः स इमा जानाति, यः स इमा जानाति स पितुष्पिताऽसादित्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २० ॥

स्त्रियें होते हुए उन को मुझे पुरुष बतलाते हैं। ( इस तत्त्व को ) देखता है आंखों वाला, नहीं जानता है अन्धा। विद्वान् है वह जो इसे जानता है, जो इसको जानता है, वह पिता का पिता होता है ( पिता का भी माननीय होता है ) ( १।१६४।१६ ) स्त्रियें ही हैं यह शब्द, स्पर्श,रूप, रस, गन्ध लेजाने वाली, उनको पुरुष शब्द से, निराहार प्राण है ऐसा देखता है * बड़े कष्ट से, अन्धा नहीं जानता है। जो कविपुत्र वह इन को जानता है, जो इनको जानता है, वह पिता का पिता होता है, इस प्रकार आत्मगति को कहता है। २०।

"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि। तेधीतिभिर्मनसा ते विपिश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः" ॥ सप्तैतानादित्यरश्मीनयमादित्यो गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दो यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति परिभुव परिभवन्ति सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणेत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मं सप्तेमानीन्द्रिया-

---

* चेतन को स्त्री देह में स्त्री और पुरुष देह में पुरुष कहते हैं,मानों स्त्रियों को ही पुरुष कहते हैं,वस्तुतः वह न पुरुष है न स्त्री है

ण्ययमात्मा गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दो यान्यस्मिं-स्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्ययन्ति परि भुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणे-त्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २१ ॥

सात ( रश्मियें वा इन्द्रिय ) आधे भाग ( अन्तरिक्ष, वा सिर ) में गर्भ वत् वर्त्तमान, जोकि भुवन का सारांश है, वह विष्णु ( सूर्य वा आत्मा ) के धारने के काम में अपने २ स्थान से खड़े होते हैं। वह जो कि समझ वाले हैं, और इधर उधर ( सर्वत्र ) हैं, वह कर्म से और बुद्धि से चारों ओर फैले हुए हैं ( यह अधिदैवत और अध्यात्म है ) (१।१६४।३६) ।२१।

"न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि । यदामागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वा चोऽश्नुवे भागमस्याः" । न हि विजानान्बुद्धिमतः पुत्रः परिवेदयन्तेऽयमादित्योऽयमात्मा ॥ २२ ॥

नहीं मैं जानताहूं, जो रूप यह मैं हूं, ( अपने आप से ) छिपा हुआ मन से बन्धा हुआ ( इन्द्रियाधीन हुआ ) विचरता हूं। जब मुझे ऋत ( सत्य आत्मा ) का पहले पहल उत्पन्न हुआ ( अनुभव ) होगा, तभी इस वाक् ( वेद ) का भाग भोगूंगा ( वेद का परम फल भोगूंगा ) ( १।१६४।३७ ) । २२ ।

"अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य,न्यं

चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्" ॥ अपाङ्याति प्राङ्याति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह। तौ शश्वद् गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसमित्यधिदैवतम् । अथाध्यात्ममपाङ्याति प्राङ्याति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह। तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा पश्यात्यात्मानं न मन इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २३ ॥

न मरने वाला (सूर्य वा आत्मा) मरने वाले (चन्द्रमा वा मन) के साथ एक स्थान (द्यौ वा शरीर) में रहता हुआ स्वधा (हवि वा भोग) से वश किया हुआ नीचे जाता है ऊपर आता है (अस्त और उदय होता है, वा अधोगति और ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है)। वह दोनों * सदा चलने वाले, सब ओर चलने वाले और बहुत चलने वाले हैं, उन में से एक (सूर्य वा आत्मा) को देखते हैं, दूसरे (मन वा चन्द्र) को नहीं देखते हैं (१।१६४)। २३।

"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः" ॥ तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णो दीप्तिनृम्णः सद्यो

---

* आधि दैवत में दोनों=सूर्य चन्द्र, अध्यात्म में आत्मा और मन

जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वाऽनुमदन्ति यं विश्व ऊमा इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं तद्भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति। रिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वानुमदन्ति यं सर्वं ऊमा इत्यात्मगतिमाचष्ट ॥२४॥

वह है भुवनों में सब से बड़ा ( ब्रह्म ) जिस से उत्पन्न हुआ है तेजस्वी चमकते बलवाला ( आदित्य ) उत्पन्न होते सार ही वह शत्रुओं को नष्ट करता है. सब प्राणी जिस के उदय पर प्रसन्न होते हैं वा चमकते हैं ( यह अधिदैवत है, अब अध्यात्म कहते हैं ) वह भूतों में सब से बड़ा है ( अव्यक्त ) जिस से प्रकट होता है तेजस्वी ज्ञान बल वाला ( आत्मा ) प्रकट होते सार ही वह शत्रुओं को नाश करता है, उसके पीछे सब प्राणी आनन्द मनाते हैं वा चमकते हैं ( १०।१२०।१ )। २४।

"को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् । आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्" ॥ क आदित्यो धुरि गा युङ्क्ते रश्मीन्कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षानसून्यसुनवन्तीषूनिषुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि य इमं सम्भृतं वेद कथं स जीवतीत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं क आत्मा धुरि गा युङ्क्त इन्द्रियाणि कर्मवतो

भानुमतो दुराधर्षानसून्यसुनवन्तीषुनिषुणवन्ती मयो भुनि सुखभूनिय इमं सम्भृतं वेद चिरं स जीवतीत्यात्मगतिमाचष्ट ॥२५॥

सुख रूप ( सूर्य ) आज धुरा में उन गौओं ( रश्मियों ) को जोड़ता है, जो कर्म वाली, प्रकाश वाली, दुर्धर्ष ( न दबने वाली) प्राण वाली, गति वाली, सुख उत्पन्न करने वाली हैं' जो इन के पालन पोषण की स्तुति करता है, वह जीता है ( यह अधि दैवत है, अब अध्यात्म कहते हैं) सुख रूप ( आत्मा ) आज धुरा में उन गौओं ( इन्द्रियों ) को जोड़ता है, जो कर्म वाले हैं, प्रकाश वाले, दुर्धर्ष, प्राण वाले, गति वाले, सुख उत्पन्न करने वाले, जो इन के पालन को जानता है, वह चिर जीता है ( १।८४।१६ )॥२५॥

"क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति । कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे२ को जनाय" ॥ क एव गच्छति को ददाति को बिभेति को मंसते सन्तमिन्द्रं कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय ॥२६॥

इन्द्र के पास होते हुए कौन ( यजमान ) भागता है, कौन देता है, कौन डरता है, कौन मानता है । कौन सन्तान के लिये, कौन हाथी के लिये, कौन धन के लिये, कौन शरीर के लिये और कौन जन के लिये कहे ( बिन कहे ही इन्द्र अपने जनों का रक्षक होता है ) ( १।८४।१७ ) ॥ २६ ॥

"को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता

ऋतुभिर्ध्रुवेभिः । कस्मै देवा आवहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः" क आदित्यं पूरयाति हविषा च घृतेन च स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति । कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान्को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेव इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मं क आत्मानं पूरयाति हविषा च घृतेन च स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिती । कस्मै देवा आवहानाशु-होमार्थान्को मंसते वीतिहोत्रः सुप्रज्ञः कल्याणप्रज्ञ इत्यात्मगतिमाचष्ट ॥२७॥

कौन सूर्य ( वा आत्मा ) की स्तुति करता है, कौन अटल ऋतुओं सहित उसको स्रुच के साथ घृतरूपी हवि से यजन करता है, किस के लिये देवता जल्दी होम ( धनों ) को लाते हैं, कौन प्राप्त हुए होत्र वाला, अच्छे देवता वाला ( वा अच्छे ज्ञान वाला । ) उसे जानता है ( १।८४।१८ ) ॥ २७ ॥

"त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघवन्नास्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः" ॥ त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ मर्त्यं न त्वदन्योऽस्ति मघवन् पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयितावेन्द्र ब्रवीमि ते वचः स्तुतियुक्तम् ॥२८॥

हे बलवत्तम इन्द्र तू देवता हुआ मनुष्य ( अपने स्तोता ) की प्रशंसा करता है, हे इन्द्र तेरे विना और कोई सुख देने वाला ( वा रक्षक वा जीतने वाला ) नहीं है, इस लिये हे इन्द्र तेरे आगे वचन कहता हूं ( १।८४।१९ )।२८।

"हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदातिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्" ॥ हंस इति हंसाः सूर्यरश्मयः परमात्मा परं ज्योतिः पृथिवी व्याप्तेति व्याप्तं सर्वं व्याप्तं वननकर्मणानभ्यासेनादित्यमण्डलेनेति त्ययततीति लोको त्ययततीति हंसयत्ययतीति हंसा परमहंसा परमात्मा सूर्यरश्मिभिः प्रभूत गभीर वसतीति त्रिभिर्वसतीति वा रश्मिभिर्वसतीति वा वह्निर्वसतीति वा सुवर्णरेताः पूषा गर्भा रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरत्पथान्तरिक्षा चरदिति दिवि भुवि गमनं वा सुभानुः सुप्रभूतो होतादित्यस्य गता भवन्त्यतिथिर्दुरोणसत्सर्वे दुरोणसद् द्रवं सर्वे रसा विकर्षयाति रश्मिर्विकर्षयति वह्निर्विकर्षयति वननं भवत्यंश्वगोजा अद्रिगोजा धरित्रिगोजा सर्वे गोजा ऋतजा बहुशब्दा भवन्ति निगमो निगमव्यातिभवत्यूषे निर्वचनाय ॥ २९ ॥

वह ( ब्रह्म ) हंस ( सूर्य ) है चमकते हुए द्यौ में रहने

वाला, वह वसु (वायु) है अन्तरिक्ष में रहने वाला, वह होता (अग्नि) है, वेदि में रहने वाला, वह अतिथि (सोम) है दुरोण (कलश-सोमपात्र)में रहनेवाला वह मनुष्यों में रहता है,श्रेष्ठों (देवों) में रहता है, ऋत (वा यज्ञ) में रहता है, आकाश में रहता है, वह जलों में प्रकट होता है, पृथिवी में प्रकट होता है, पर्वतों में प्रकट होता है, वह सत्य स्वरूप है * (४।४०।५) २९।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति" ॥ द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते। सुपर्णा सयुजा सखायेत्यात्मानं दुरात्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते वृक्षं रक्ष शरीरं वृक्षं पक्षौ प्रतिष्ठापयति तयोरन्यद्भुक्त्वान्नमनश्नन्नन्यां सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेदान्नमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ ३० ॥

दो पक्षी जो सदा साथ रहने वाले मित्र हैं, दोनों एक वृक्ष को आलिंगन किये हुए हैं, उनमें से एक स्वादु फल को खाता है, दूसरा न खाता हुआ केवल देखता ही है (१।१६४।२०) दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं, वृक्षशरीर है, जिस पर इन दोनों का घोंसला है। जीवात्मा इस में अपने कर्मों के फल भोगता है और परमात्मा उसे देखता है (भाष्य यहां अस्पष्ट है)।३०।

---

* ब्रह्म सर्वत्र प्रकट है, और सबका आश्रय है, यह आशय है। इस का भाष्य बहुत फिसला हुआ है।

"आयाहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व । तृप्तां जुहुर्मातुळस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव" ॥ आगमिष्यन्ति शक्रो देवतास्तास्त्रिभिस्तीर्थैभिः शक्रप्रतैरीलितेभिस्त्रिभिस्तीर्थैर्यज्ञमिमं नो यज्ञभागमग्नीषोमभागाविन्द्रो जुषस्व तृप्तामेवं मातुलयोगकन्या भागं सर्तृकेव सा या देवतास्तास्तत्स्थाने शक्रं निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

आ हे इन्द्र स्तुति किये हुए मार्गों से यह यज्ञ जो तेरा भाग है इस को सेवन कर । ३१ ।

"विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये । अग्निं गीर्भिर्हवामहे" ॥ विप्रं विप्रासोऽवसे विदुर्वेद विन्दते वेदितव्यं विमलशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितमकारसंहितमुकारं पूरयेन्मकारनिलयं गतं विप्रं प्राणेषु विन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजःप्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरममृतजातस्थितममृतवाचामृतमुखे वदन्ति । 'अग्निं गीर्भिर्हवामहे' । अग्निं सम्बोधयेदग्निः सर्वा देवता इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय

मेधावी मनुष्य हम मेधावी अग्नि देवको तृप्त करने के लिये और अपनी रक्षा के लिये स्तुतियों से बुलाते हैं (८।११।६)

"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः" ॥ जातवेदसे इति जातमिदं

सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायनाच्छाय सुनवाम सोममिति प्रसवेनाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मो निश्चये निदहाति दहति भस्मीकरोति सोमो ददादित्यर्थः। स नः पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि नावेव सिन्धुं यथा कश्चित्कर्णधारो नावेव सिन्धोः स्यन्दनान्नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति दुरितात्यग्निरिति तानि तारयति। तस्यैषापारा भवति ॥ ३३ ॥

जातवेदा के लिये हम सोम बढ़ाएं, वह कंजूसों के धन को जलाता है, वह हमें सारे संकटों और सारे पापों से पार पहुंचाए, जैसे नौका से नदी के पार पहुंचाते हैं (१।१०।१२) जातवेदसं जात यह सब सचराचर, जो स्थिति उत्पत्ति और प्रलय क्रम से चल रहा है। 'सुनवामसोमं' वस्त्रपूत सोम राजा को बढ़ाएं। यज्ञ के लिये न देने वाले (कंजूसों)की, निदहाति=भस्म करता है, वह हमें दुर्गम स्थानोंसे तारता है। नावेवसिन्धुं=जैसे कोई मल्लाह नौका से बड़े किनारे वाली बहती हुई नदी के पार उतारता है। उसकी यह और है।

"इदं तेऽन्याभिरसमानमभिद्र्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः। सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य" ॥ इदं तेऽन्याभिरसमानाभिर्याः काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्त्याप आप्नोतेः। तासामेषा भवति ॥३४॥

यह तेरा और जलों से निरालापन, जो कोई सिन्धु की ओर (सिन्धु को पति बनाकर) नदियें बहती हैं। सिर समेत पहुंचकर पाप को छोड़ता है, जैसे सांप जीर्ण त्वचा को॥ *उनकी यह और है॥

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात्"॥ त्र्यम्बको रुद्रस्तं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्। सुगन्धिं सुष्ठुगन्धिं पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकमिवोरुकमिव फलं बन्धनादारोधनात् मृत्योः सकाशान्मुञ्चस्व मां कस्मादित्येषापरा भवति॥ ३५॥

हम (अग्नि चन्द्र और सूर्य इन) तीन नेत्रों वाले रुद्र (परमात्मा) को पूजते हैं, जो पुण्यगन्ध से युक्त है (धनधान्यादि) की पुष्टि का बढ़ाने वाला है। (जिस से कि उस की कृपा से) खरबूज़े की न्याईं हम बन्धन से छूटें मत अमृत से (७।५९।१२) उसकी यह और है। ३५।

"शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्। शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः" ॥ शतं जीव शरदो वर्धमान इत्यपि निगमो भवति। शतमिति शतं दीर्घमायुर्मरुत एना वर्धयन्ति शतमेनमेव शतात्मानं भवति शतमनन्तं भवति शतमैश्वर्यं भवति शतमिति शतं दीर्घमायुः॥ ३६॥

सौ शरद् सौ हेमन्त सौ वसन्त बढ़ता हुआ जी। इन्द्र अग्नि

* न यह वेदमन्त्र है, न अगली ऋचा जलों के विषय में है।

सविता बृहस्पति सौ बरस की आयु रूप हवि से इस जन को फिर देवें(१०।१६१।४)सौ दीर्घ आयु होता है,मरुत इसको बढ़ाते हैं,सौ अनन्त का नाम है,सौ ऐश्वर्य होता है। सौ दीर्घ आयु है।

"मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदा चना दभन्। विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ" ॥ मा च ते धामानि मा च ते कदा-च नः सरिषुःसर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय मनुष्यहितो ऽयमादित्योऽयमात्मा। अथैतदनुप्रवदन्त्यथैतं महा-न्तमात्मानमेषर्ग्गणः प्रवदति वैश्वकर्मणे देवानां नु वयं जानानासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति च न-पात्मजिज्ञासा सेषा सर्वभूतजिज्ञासा ब्रह्मणः सार्ष्टिं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद नमो ब्रह्मणे नमो महतेभूताय नमः पारस्कराय नमः यास्काय ब्रह्मशुक्र मसीय ब्रह्म शुक्र मसीय ॥३७॥

हे दयालो मत तेरे धाम मत तेरी रक्षाएं हमें कभी धोखादें, हे मनुष्यों के हितो सब प्रकार के धन हम मनुष्यों के लिये ला (१।८४।८) मत तेरे धाम और मत तेरे सारे प्रज्ञान कभी हमें। मनुष्य का हितो है यह सूर्य, यह आत्मा। इस का प्रवचन करते हैं। इस महान् आत्मा को यह ऋगगण प्रवचन करता है। देवताओं की उत्पत्ति—न उस समय असत् था न सत् था। यह आत्म जिज्ञासा, यह सब भूतों की जिज्ञासा। (इस को जानकर) वेद के उत्तम सार सरूपता सलोकता को प्राप्त होता है, जो ऐसे जानता है। नमस्कार है ब्रह्म के लिये, नमस्कार है महान्भूत के लिये, नमस्कार है पारस्कर के लिये, नमस्कार है यास्क के लिये, शुक्रब्रह्म होवें शुक्रब्रह्म होऊं। ३७।

## (ग) ११ उपनिषदें ।

| | |
|---|---|
| १—ईश .... .... =) | ७—ऐतरेय .... .... ≡) |
| २—केन .... .... =) | ८—छान्दोग्य .... २) |
| ३—कठ .... .... ।−) | ९—बृहदारण्यक .... १॥=) |
| ४—प्रश्न .... .... ।) | १०—श्वेताश्वतर .... ।)॥ |
| ५—६ मुण्डक औरमाण्डूक्य ।−) | ग्यारह इकट्ठी लेने में ५॥) |
| ७—तैत्तिरीय .... ।≡) | |

(घ) उपनिषदों पर बड़े उत्तम २ विचार के ग्रन्थ—

**(१) उपनिषदों की भूमिका**—उपनिषदों के सभी विषय और उपनिषदों पर विचार करने वाले पुराने सभी आचार्यों के सिद्धान्त इस में दिखलाए गए । ।)॥

**(२) उपनिषदों की शिक्षा**—इस में सारी उपनिषदों के वाक्य देकर एक २ विषय ऐसा पूर्ण बना दिया गया है, कि पढ़ने वाला गद्गद हो जाता है । इसके चार भाग हैं । (१) **पहला भाग**—निरा परमात्मा के वर्णन में—परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े २ अद्भुत ३७ प्रकार के विचार हैं ॥=) (२) **दूसरा भाग**—आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ६८ प्रकार के विचार ॥) (३) **तीसरा भाग**—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म, चरित और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में ५२ प्रकार के विचार ॥) (४) **चौथा भाग**—उपासना, उपासना का फल, और मुक्ति के सम्बन्ध में ८१ प्रकार के विचार ॥=)

(ङ) वेदों के उपदेश—(१) **वेदोपदेश** पहला भाग परमात्मा की महिमा वेद मन्त्रों से ।॥) (२) **स्वाध्याय**—नित्य पाठ के लिये वेद के उपदेश ।॥) (३) **आर्य पञ्चमहायज्ञपद्धति**

पांचमहायज्ञों के सारे मन्त्रों के पूरे२अर्थ और उन पर विचार ।)॥

(च) दर्शन शास्त्र (१) वेदान्तदर्शन दो भागों में—पहला भाग १।।।=) दूसरा भाग १।।।=) दोनों इकट्ठे ३॥)(२) योग दर्शन बड़ा खोलकर समझाया हुआ ।।।) नवदर्शन संग्रह—चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय और वेदान्त इन नौ दर्शनों के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन १)

(४) सांख्य शास्त्र—के तीन प्राचीन ग्रन्थ ॥=)

पारस्कार गृह्यसूत्र—संस्कारों की पद्धतियां,मन्त्रों के अर्थ और हवाले सब कुछ इसमें है।हरएक गृहस्थके पास रहने योग्यहै१॥)

(जे) स्वामी शंकराचार्य का जीवन चरित्र—इसी में कुमारिल भट्टाचार्य, और मण्डन मिश्र का जीवन चरित्रभी है॥)

(झ) धर्म के उपदेश—(१) उपदेश सप्तक ।–) (२) वासिष्ठ धर्मसूत्र–।)॥ (३) प्रार्थना पुस्तक –) (४) ओंकार की उपासना और माहात्म्य –) (५) वेद और रामायण के उपदेश –) (६) वेद और महाभारत के उपदेश –) (७) वेद, मनु और गीता के उपदेश –)। (८) सामाजिक स्तुति प्रार्थना –)। मजिल्द =)

(ञ) स्कूली पुस्तकें—(१) बाल-व्याकरण—संस्कृत का बड़ा सरल हिन्दी व्याकरण, इस पर २००) इनाम मिला है और टेक्स्टबुक कमेटी ने मिडल स्कूलों की पढ़ाई में दाखिल किया है मूल्य ।=)॥ (२)हिन्दी की पहली पुस्तक, यह भी टेक्स्ट बुक है )॥ हिन्दी गुरुमुखी )॥

निरुक्त—श्रीयास्कमुनि प्रणीत वेदों का कोष, जिस में वैदिक शब्दों के अर्थ, वैदिक देवताओं का निर्णय, और बहुत से वेदमन्त्रों का भाष्य है सूचीपत्र बड़े अच्छे बनाए गए हैं,मू.४)

पता—मैनेजर आर्षग्रन्थावलि, लाहौर ।